# अनुत्तर योगी :
## तीर्थंकर महावीर

वीरेन्द्रकुमार जैन

श्री वीर निर्वाण ग्रंथ-प्रकाशन समिति, इन्दौर

मंत्री बाबूलाल पाटोदी,
श्री वीर निर्वाण ग्रंथ-प्रकाशन समिति,
५५, सीतलामाता बाज़ार
इन्दौर-२, मध्यप्रदेश

आवरण-चित्र : झालावाड़ के अतिशय क्षेत्र चाँदखेड़ी के मन्दिर में विराजमान मूलनायक भगवान् ऋषभदेव के भव्य मुख-मण्डल का पार्श्वभाग (प्रोफाइल)। इस दुर्लभ फोटो-मुद्रा के लिये हम गुना के श्री मिश्रीलाल जैन एडवोकेट के अत्यन्त आभारी हैं। प्रभु की तीर्थंकरी भंगिमा का इससे अधिक भव्य-दिव्य रूप और क्या हो सकता है।



□ अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर
उपन्यास
वीरेन्द्रकुमार जैन

□ प्रकाशक : श्री वी. नि. ग्रं. प्र. समिति,
५५, सीतलामाता बाजार, इन्दौर-२

□ प्रथम आवृत्ति
वीर निर्वाण सम्वत् २५०८
ईस्वी सन् १९८१

□ मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक
नईदुनिया प्रिन्टरी
इन्दौर-९

वर्तमान में चाँदनपुर में जीवन्त विराजमान
त्रैलोक्येश्वर श्री महावीर प्रभु के चरणों मे :
विश्वधर्म के अधुनातन मंत्रद्रष्टा
पूज्य एलाचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी के
सारस्वत कर-कमलों मे

नर मे चुपचाप अवतरित नारायण जैसे, अपने ही आत्म-स्वरूप
लगते प्यारे भाई माणकचन्द पाण्ड्या के वत्सल हाथों मे
जिनमे अनायास सम्यक् चारित्र्य नितरते देखा,
और जो 'अनुत्तर योगी' के जनक-जनेता है

परमात्मीय अग्रज श्री राजकुमारसिंह कासलीवाल के लिये, जिनके सुहृद् सहयोग और समर्थन के बिना 'अनुत्तर योगी' की यह सुदीर्घ कथा-यात्रा सम्भव न हो पाती

चतुर्थ खण्ड

# अनन्त पुरुष की जय-यात्रा

मेरी बाला-तपस्विनी, सर्वस्व-त्यागिनी माँ
स्वस्ति श्री चम्पा-बा के योग्य,
जिनसे पायी दृष्टि-प्रधान अध्यात्म की मंत्र-दीक्षा
'अनुत्तर योगी' मे शब्द-देह धारण कर सकी है

## अनुक्रम

# १

## वैशाली का भविष्य

आज से बाईस वर्ष पूर्व की बात है। वैशाली के यायावर राजपुत्र वर्द्धमान तब पहली और अन्तिम बार वैशाली आये थे। अपने ही द्वार पर अतिथि की तरह मेहमान थे। अपने ही घर के उस अयाने बेटे की वह निराली भंगिमा देख कर सारी वैशाली पागल हो उठी थी। विदेह देश की प्रजाओं को लगा था, कि उनका एकमेव राजा आ गया, एकमेव प्रजापति आ गया। जिसकी उन्हें चिरकाल से प्रतीक्षा थी।

फिर महावीर सथागार में बोले थे। तो इतिहास की बुनियादों में विप्लव के हिलोरे दौड़े थे। वैशाली के गौरव को उन्होंने झझोड़ कर जगाया था। बेहिचक अपने ही घर में आग लगा दी थी। तब सथागार में प्रबल आवाज उठी थी 'आर्य वर्द्धमान वैशाली के लिये खतरनाक है। उन्हें वैशाली से निर्वासित हो जाना चाहिये।'

और वर्द्धमान ने हँस कर प्रतिसाद दिया था 'मेरा चेतन कब से वैशाली छोड़ कर जा चुका। अब यह तन भी वैशाली छोड़ जाने की अनी पर खड़ा है। लेकिन भन्ते गण सुनें, वैशाली का यह राजपुत्र, उससे निर्वासित हो कर उसके लिये और भी अधिक खतरनाक हो जायेगा।'

आज वैशाली का वह बागी बेटा, तीर्थंकर हो कर प्रथम बार वैशाली आ रहा है। इस खबर से लिच्छवियों के अष्ट-कुलक सहम उठे हैं। गण-राजन्यों की भृकुटियों में बल पड़ गये हैं। राज्य-सभा संकट की आशंका से चिन्ता में पड़ी है। वयोवृद्ध गणपति चेटक सावधान हो कर सामायिक द्वारा समाधान में रहना चाहते हैं।

लेकिन जनगण का आनन्द तो पूर्णिमा के समुद्र की तरह उछल रहा है। विदेहों का सदियों से संचित वैभव और ऐश्वर्य पहली बार एक साथ बाहर आया है। वैशाली के सहस्रों सुवर्ण, रजत और ताम्र कलशों की गोलाकार पंक्तियाँ अकूत रत्नों के शृंगार से जगमगा उठी है। आकाश का सूर्य धरती के हीरों में प्रतिबिम्बित हो कर, सौ गुना अधिक प्रतापी और जाज्वल्य हो उठा है।

सारे नगर में व्याप्त रंगारंग फूलों, पानों, रत्नों के तोरणों, बन्दनवारों और द्वारों तले, रात-दिन हजारों नर-नारी नाच-गान में डूबे रहते हैं। हर चौक-चौराहे पर, उद्यानों और चौगानों में नाट्य और संगीत का अटूट सिलसिला जारी है। सारे विदेह देश की असूर्यंपश्या सुन्दरियाँ जाने किस अमोघ मोहिनी से पागल हो कर, सरे राह गाती-नाचती निकल पड़ी हैं। शंख, घंटा-घड़ियाल, तुरही, शहनाई और जाने कितने प्रकार के विचित्र वाजित्रों की समवेत ध्वनियों से सारा महानगर सतत गुंजायमान है।

प्रत्याशा है, कि भगवान् के आगमन के ठीक मुहूर्त की सूचना मिलेगी ही। देवों के यान उतरते दीखेंगे। दिव्य दुंदुभियों के घोष सुनाई पड़ेंगे। और तब वैशाली अपूर्व सुन्दरी नववधू की तरह सर्वांग शृंगार कर अपने प्रभु के स्वागत को द्वार-देहरी पर आ खड़ी होगी। सहस्रों कुमारिकाएँ परस्पर गुँथ-जुड़ कर, अनेक पंक्तियों में ऊपरा-ऊपरी खड़ी हो कर, श्री भगवान का प्रवेश-द्वार हो जायेंगी। गान्धारी रोहिणी मामी वैशाली के सूरज-बेटे की आरती उतारेंगी। सूर्यविकासी और चन्द्रविकासी कमलों के पाँवड़ों पर बिछ-बिछ कर, अनेक रूपसियाँ उनके पग-धारण को झेलती हुई, उन्हें संथागार में ले जायेंगी।

ऐसे ही रंगीन सपनों में बेसुध वैशाली न जाने कितने दिन उत्सव के आल्हाद में झूमती रही। लेकिन श्री भगवान् के आगमन का कोई चिह्न दूर दिगन्तों तक भी नहीं दिखायी पड़ता था। सारा जन-मन चरम उत्सुकता की अनी पर केन्द्रित और व्याकुल था। सिंह-तोरण के झरोखे में बजती शहनाई अनन्त प्रतीक्षा के आलाप में बजती चली जा रही थी। लेकिन उत्सव की धारा अब उत्तरोत्तर मन्थर होती हुई अलक्ष्य में खोई जा रही थी।

तब भी सारे दिन तोरण-द्वार के आगे कुमारिकाओं की गुँथी देहों के द्वार, अदल-बदल कर फिर बनते रहते हैं। श्री भगवान् जाने किस क्षण आ जायें।

जाने कितने दिन हो गये, गान्धारी रोहिणी मामी सिंह-तोरण पर मंगल-कलश उठाये खड़ी हैं। निर्जल, निराहार उनकी इस एकाग्र खड्गासन तपस्या से राजकुल त्रस्त है, और प्रजाएँ मन ही मन आकुल हो कर धन्य-धन्य की ध्वनियाँ कर रही हैं। सेवकों ने देवी पर एक मर्कत-मुक्ता का शीतलकारी छत्र तान दिया है। उनके पीछे, बैठने को एक सुखद सिंहासन बिछा दिया है। पर देवी का सुध-बुध ही नहीं है। उन्हें नहीं पता कि वे बैठी हैं, कि खड़ी हैं, कि लेटी हैं, कि चल रही हैं, कि लास्य-मुद्रा में लीन हैं। उनकी यह अगवानी मानो चेतना के जाने किस अगोचर आयाम और आस्तरण पर चल रही है।

एक दोपहर अचानक सेनापति सिंहभद्र का घोड़ा सिंह तोरण पर आ कर रुका। एक ही छलांग में उतर कर कोटिभट सिंहभद्र देवी रोहिणी के सम्मुख

अनजाने ही नमित से खड़े रह गये। योद्धा का कठोर हृदय पसीज आया। भरभराये कण्ठ से बोले

'देवी, यह सब क्या है? महावीर इसे सह सकता है, हम मनुष्य हो कर तुम्हारे इस कायोत्सर्ग को कैसे सहें? हम कैसे खायें, कैसे पियें, कैसे जियें, कैसे अपना कर्तव्य करें। भदन्त महावीर '

और एक आकस्मिक उल्कापात-सा देवी का स्वर फूटा

'सावधान सेनापति! भदन्त महावीर नहीं, भगवान् महावीर, त्रिलोकपति महावीर!'

'देवी के भक्तिभाव का आदर करता हूँ। मगर तुम्हारे भगवान् के श्रमण और तीर्थंकर रूप को मगध ने देखा है, वैशाली का वैसा सौभाग्य कहाँ?'

'आपकी ईर्ष्या नग्न हो गई, आर्य सेनापति! उन सर्वदर्शी प्रभु के भीतर तो भूमि और भूमिज को लेकर कोई भेदाभेद नहीं। उन समदर्शी भगवान् तक से आपको ईर्ष्या हो गई? आप उनके प्रताप को सह नहीं सकते? श्रमण भगवान् तो अपने तपस्याकाल में भी कई बार वैशाली आये। लुहारों, चर्मकारों, चाण्डालों, महामानी नवीन श्रेष्ठि तक को वे अपनी कृपा से धन्य कर गये। लेकिन महासेनापति सिंहदेव को राज्य और युद्ध से कहाँ अवकाश?'

'क्षत्रिय अपने कर्तव्य पर नियुक्त है, कल्याणी। श्री भगवान् की कृपा-दृष्टि हम पर कभी न रही। वे पञ्चशैल में ही तपे, और मगध में ही उनकी चरम समाधि हुई। वहीं वे अर्हन् केवली हो कर उठे। वहीं के विपुलाचल पर तीर्थंकर महावीर का प्रथम समवसरण हुआ। वैशाली उनकी चरण-धूलि होने योग्य तक न हो सकी। हमारा महा दुर्भाग्य, और क्या कहें!'

रोहिणी का स्वर कातर होते हुए भी, कठिन होता आया। वे बोलीं

'विपुलाचल का समवसरण तो त्रिलोक के प्राणि मात्र का आवाहन कर रहा था। सारा जम्बूद्वीप वहाँ आ कर नमित हुआ। लेकिन आप और आपका राजकुल वहाँ न जा सका। अपने सूर्यपुत्र तीर्थंकर बेटे को देखना लिच्छवियों को न भाया। लेकिन वैशाली की प्रजाओं ने अपने प्रजापति के, इन्द्रों और माहेन्द्रों से सेवित त्रैलोक्येश्वर रूप का दर्शन किया है। उस ऐश्वर्य और सत्ता का वर्णन नहीं कह सकती!'

'क्या गान्धार-नंदिनी ने भी तीर्थंकर महावीर के दर्शन किये हैं?'

'उनके दर्शन न किये होते, तो मैं क्यों कर जीती, क्यों कर यहाँ खड़ी रह सकती!' देवी का गला भर आया। आँखें बह आईं।

'कभी तुमने बताया नहीं, रानी! मुझसे भी छुपाया?'

'बता कर क्या करती, स्वामी ! जानती थी, तुम साथ नही चलोगे। और यह भी जानती थी, कि मेरे वहाँ जाने और लौट कर सम्वाद देने से भी तुम्हे प्रसन्नता न होगी। कितना जी टूटा, कि बताऊँ तुम्हे, क्या देख आई हूँ। लेकिन तुम्हारी तनी भृकुटि मे अपनी उस निधि को मलिन नही होने देना चाहती थी। सो चुप रही, और वह छबि आँख से पल भर भी ओझल न हो सकी।'

'परम सत्ताधीश महावीर की वह छबि, जिसने वैशाली के कट्टर शत्रु श्रेणिक बिम्बिसार को शरण दी ! उसे आगामी उत्सर्पिणी का प्रथम तीर्थंकर घोषित किया ! वैशाली को हरा कर, स्वयम् हार कर वैशाली के बेटे ने हमारे प्राणो के हत्यारे को त्रिलोकी के सिहासन चढा दिया ! उस छबि के आगे तुम अपने धनुष-बाण फेक आयी, वीरांगना गान्धारी ? धन्य है तुम्हारा वीरत्व !'

'मैने पराजय का नही परम विजय का दृश्य देखा, सेनापति। मैने महावीर के एक कटाक्षपात तले श्रेणिक बिम्बिसार को धूल मे लोटते देखा। मैने महावीर का वह गुरुज-युद्ध देखा, जिसकी साक्षी रहने का आमत्रण वे मुझे दे गये थे। मैने देखा, कि अयुद्धयमान महावीर ने महायोद्धा श्रेणिक को पलक मात्र मे पछाड दिया है। मै इन्ही आँखो से देख आयी हूँ, आर्यपुत्र, कि श्रेणिक भम्भासार ने अपना वीरत्व, सम्राटत्व, सिहासन, सम्पदा सब कुछ महावीर के चरणो मे हार दिया। वे खाली हो कर महलो मे लौटे, और भीतर झाँका तो पाया कि पोर-पोर मे महावीर भर उठा है। मै वापसी मे राजगृही के महालय गई थी, और चेलना बुआ से मिलती हुई लौटी थी। बताया उन्होने कि सम्राट तो प्रभु के प्रेम मे पागल हो गये है। सारे दिन चेलना बुआ को बाँहो मे भर—मेरे भगवान मेरे प्रभु मेरे महावीर—पुकारते रहते है। महानायक सिहभद्र सुने, श्रेणिक ने सिहासन-त्याग कर दिया है ! मगध की गद्दी सूनी है। नि सन्देह चम्पा मे हमारे दौहित्रलाल अजातशत्रु राज कर रहे है। लेकिन मगध का साम्राजी सिहासन खण्डित और सूना पडा है !'

'श्रेणिक और सिहासन-त्याग ? क्षमा करे देवी, मेरी समझ काम नही करती।'

'यह समझ की नही, बोध की भूमि है, आर्यपुत्र। महाभाव मे ही यह अनुभूयमान है। आप आँखो से देख कर भी विश्वास न कर सकेगे। तो उपाय क्या ?'

'त्रिलोकपति तीर्थंकर महावीर कभी वैशाली नही आयेगे, यह तुम मुझसे जान लो, देवी !'

...और ठीक तभी मध्याह्न का घंटा राज-द्वार में बज उठा। और गान्धारी रोहिणी अचानक आविष्ट-सी हो कर फूट पड़ी

'ओह तुम'' तुमने मुझे धोखा दे दिया, भगवान्? तुमने मेरी सारी अगवानियों को ठुकरा दिया? निष्ठुर तुम तुम आ गये मेरे नाथ! लेकिन '

सिंह सेनापति फटी आँखों से ताकते रह गये। अबूझ है यह लीला!

और ठीक तभी, अपनी मूर्च्छाओं में भी निरन्तर बेचैन आम्रपाली ने, अपने प्रासाद के अत्यन्त निजी कक्ष की शैया में करवट बदली। मूर्छित आम्रपाली ने अनुभव किया कि—उसके वक्षोज-मण्डल पर कमलों की चरण-चाप धरता यह कौन चला आ रहा है? उसने चौंक कर आँखें खोलीं 'ओह, तुम आ गए! सिंह द्वार से नहीं आये? मेरे द्वार से मेरी राह आना तुमने पसन्द किया? अभी-अभी तुम इस सप्तभूमिक प्रासाद के आगे से निकलोगे। कैसे करूँ तुम्हारी अगवानी? क्या है इस वारवनिता के पास, तुम्हें देने को? एक कलंकित रूप, सुवर्ण के नीलाम पर चढ़ी भोगदासी!' और आम्रपाली रो आई। उसका जी चाहा कि ठण्डी रत्न-शिलाओं पर सर पछाड़ दे। क्या करे वह? नहीं, आज क्षोभ नहीं। मेरा भवन तुम्हारी अगवानी करेगा। लेकिन मैं? पता नहीं

और अगले ही क्षण देवी आम्रपाली की आज्ञा सप्तभूमिक प्रासाद के खण्ड-खण्ड में सक्रिय हो गयी। विपल मात्र में सारे महल में सुन्दरियों और परिचारिकाओं के आवागमन, और मंगल आयोजन का उत्सव मच गया। राशिकृत पुष्पमालाओं और बन्दनवारों से सारा महल रंगीन हो कर महक उठा। वातायनों से प्रवाहित अष्टगंध धूप की सुगन्ध ने सारे वातावरण को पावनता से प्रमादित कर दिया। मुख द्वार के गवाक्ष में शहनाइयों, शंखनादों और दुंदुभियों की ध्वनियाँ गुंजन लगीं। देवी आम्रपाली के प्रासाद के सारे द्वार, वातायन, गवाक्ष और छज्जों पर फूलों में बिछलती सुन्दरियाँ नृत्य कर उठीं। और प्रासाद के जाने किस अज्ञात गोपन कक्ष में से 'शिवरंजिनी' की धीर प्रीत-रागिनी वीणा में समुद्र-गर्भा हो कर गहराती चली गयी।

सारी वैशाली चकित हो गयी। देवी आम्रपाली के घर आज किसकी पहुनाई है, वैशाख की इस सन्नाटेभरी तपती दोपहरी में? लेकिन हाय, हमारे प्रभु नहीं आये! वे जाने कहाँ अटके हैं? जन-जन के हृदय ने पीड़ा की एक टीसती अंगड़ाई भरी। हाय, हमारे भगवान् नहीं आये! सिंह तोरण पर बजती शहनाई में प्रतीक्षा की रागिनी अन्तहीन रुलाई हो कर गूँज रही है।

○ ○ ○

और ठीक तभी वैशाली के पश्चिमी द्वार पर एक दस्तक हुई।

जब से मगध के साथ वैशाली का शीत-युद्ध जारी है, बरसों से नगर के उत्तर, दक्षिण और पश्चिम के द्वार बन्द हैं। परकोट सेनाओं से पटे हैं, और बन्द द्वारों पर कीले भाले और बल्लम गडे है। केवल पूर्वीय सिंहतोरण से ही सारा आवागमन होता है। और श्री भगवान् का आगमन भी नगर के पूर्वीय और प्रमुख तोरण-द्वार से ही तो हो सकता था। सो वहीं तो सारे स्वागत के आयोजन थे। वहीं कुमारी देहो के तोरण तने थे, वहीं रोहिणी मामी अविचल पग, मंगल-कलश को साजे खड़ी थी। इस क्षण वे मूर्छित हो गयी है। और देवी को वहाँ से उठाने की हिम्मत, स्वयम् उनके आर्यपुत्र सिंह सेनापति भी नहीं कर पा रहे हैं।

मध्याह्न का सूर्य आकाश के बीचोंबीच तप रहा है। और ठीक उसके नीचे सहस्रार के चन्द्रमण्डल-सा एक दिगम्बर पुरुष, वैशाली के शूलों और साँकलों जड़े बन्द पश्चिमी द्वार के सम्मुख आ खड़ा हुआ है। उसने सहज आँखें उठा कर द्वार की ओर देखा। और विपल मात्र में सामने जड़े शूल और साँकल फूलमाला की तरह छिन्न हो गये। अर्गलाएँ पानी की तरह गल कर ढलक पड़ी। और वे प्रचण्ड वज्र-कपाट हठात् यों खुल गये, जैसे सूर्य की प्रथम किरण पड़ते ही नीहारिका सिमट जाती है। और एक विशाल डग भर कर वह शलाका पुरुष वैशाली में प्रवेश कर गया।

हठात् यह क्या हुआ, कि एक नीरवता जादुई सम्मोहन की तरह सारी वैशाली पर व्याप गई। जनगण के हृदय में दिनों से उमड़ती जयकारें भीतर ही लीन हो रही। समस्त पौर-जनों की चेतना एक गहरी शांति में स्तब्ध होकर श्रीभगवान् के उस नगर-विहार को देखने लगी। एक गहन चुप्पी के बीच सहस्र-सहस्र सुन्दरियों की गोरी बाँहें भवन-वातायनों से श्रीभगवान् पर फूल बरसाती दिखायी पड़ी।

हजारों-हजारों मुण्डित श्रमणों से परिवरित श्रीभगवान् वैशाली के राज-मार्ग पर यों चल रहे हैं, जैसे सप्त सागरों से मण्डलित सुमेरु पर्वत चलायमान हो। हिमालय और विन्ध्याचल उनके चरणों में डग भर रहे हैं। कभी वे कोटि सूर्यों की तरह जाज्वल्यमान लगते हैं, कभी कोटि चन्द्रमाओं की तरह तरल और शीतल लगते हैं। मानवों ने अनुभव किया कि आँख और मन से आगे का है यह सौन्दर्य जो प्रति क्षण नित नव्यमान है।

सब से आगे चल रहा है, हिरण्याभ सहस्रार के समान धर्मचक्र। भगवती चन्दनबाला की उद्बोधक अंगुलि पर मानो उसकी धुरी घूम रही है। और पुण्डरीक के उज्ज्वल वन जैसी सहस्रों सतियाँ भगवती को घेर कर चल रही है। और मानो कि श्रीभगवान् और उनके सहस्र-सहस्र श्रमण उनका अनुसरण

कर रहे है। महाकाल शकर ने जैसे शक्ति को सर्पमाला की तरह अपने गले में धारण किया है।

घर-घर के द्वारो से नर-नारी के प्रवाह निकल कर नदियो की तरह, इस चलायमान महासमुद्र मे आ मिले हैं। जहाँ से श्रीभगवान् अपने विशाल श्रमण-सघ के साथ गुजर जाते है, पुरजन और पुरागनाएँ वहाँ की धूलि मे लोट-लोट कर अपनी माटी को धन्य कर रहे है। और अथाह नीरवता के बीच यह शोभा-यात्रा चुपचाप चल रही है।

अनेक चक्रपथो को पार करती हुई यह शोभा-यात्रा, वैशाली के प्रमुख चतुष्क मे प्रवेश करती हुई मथर हो चली है। सप्तभौमिक प्रासाद के सामने आ कर श्रीभगवान् हठात् थम गये! सुवर्ण-मीना खचित इस वारागना-महल के प्रत्येक द्वार, वातायन, गवाक्ष और छज्जे पर से अप्सरियां जैसी हजारो सुन्दरियाँ फूलो और रत्नो की राशियाँ बरसाती हुई अधर मे झूल-झूल गईं। प्रमुख द्वार उत्कट प्रतीक्षा की आँखो-सा अपलक खुला है। समस्त पुरजनो की दृष्टि द्वार पर एक टक लगी है। कि अभी-अभी देवी आम्रपाली वहाँ अवतीर्ण होगी। वे अपनी कर्पूरी बाँहे उठा कर श्रीभगवान् की आरती उतारेंगी। लेकिन उस द्वार का सूनापन ही सर्वोपरि हो कर उजागर है।

श्रीभगवान रुके हुए है। तो काल रुक गया है। सारी स्थितियाँ और गतियाँ स्तम्भित हो कर रह गयी है। मानव मात्र मानो मनातीत हो कर केवल देखता रह गया है।

सप्तभौमिक प्रासाद के द्वार-पक्ष मे अन्तरित कगन का एक नीलाभ हीरा चमका और ओझल हो गया। सहस्रदीप आरती का नीराजन उठा कर देवी आम्रपाली ने डग भरनी चाही। लेकिन उनका वह पद्मराग चरण हवा मे टँगा रह गया।

किवाड की पीठ पर टिकी ठुड्डी और छाती पर एक बडी सारी आँसू की बूद ढरकती चली आयी। एक सिसकी फूटी। और आरती उठाई बाँहे छिन्नीभिन्न हो रही। 'नही मैं तुम्हारे योग्य न हो सकी। मै तुम्हारी आरती कौन-सा मुह ले कर उतारूँ। तुम सारे जगत के भगवान् हो गये, लेकिन मेरे भगवान् न हो सके। वैशाली का सूर्यपुत्र मेरा न हो सका, तो भगवान् को ले कर क्या करूँगी! भगवान् नही मनुष्य चाहिये मुझे। मेरा एकमेव पुरुष। जो मुझे छू सके, मै जिसे छू सकूँ। जो मुझे ले सके, मैं जिसे ले सकूँ। तुम तो आकाश हो कर आये हो, तुम्हे कहाँ से पकडूँ। नही नही नही मै तुम्हारे सामने नही आऊँगी!'

देवी आम्रपाली का द्वार स्वागत-शून्य ही रह गया। वहाँ श्रीभगवान् की आरती नहीं उतारी जा सकी। अगले ही क्षण श्रीभगवान् चल पड़े। काल गतिमान हो गया। इतिहास वृत्तायमान हो गया। शोभा-यात्रा श्रीभगवान् का अनुसरण करने लगी। नगर के तमाम मण्डलों, चौराहों, त्रिकों, पण्यों, अन्तरायणों को धन्य करते हुए प्रभु, अविकल्प क्रीडा भाव से वैशाली की परिक्रमा करने चले गये।

अपराह्न बेला में श्रीभगवान् वैशाली के विश्व-विश्रुत सथागार के सामने से गुज़रे। असूर्यपश्या सुन्दरियों की उन्मुक्त देहों से निर्मित द्वार में प्रभु अचानक रुक गये। गान्धारी रोहिणी मामी ने जाने कितने भवों में बलखाते, नम्रीभूत होते हुए माणिक्य के नीराजन में उजलती जोतों से प्रभु की आरती उतारी। उसकी आँखें आँसुओं में डूब चलीं। श्रीभगवान् के अमिताभ मुख-मण्डल को हजारों आँखों से देख कर भी वह न देख पायी।

देवी रोहिणी ने कम्पित कण्ठ से अनुनय किया :

'वैशाली के सूर्यपुत्र तीर्थंकर महावीर, फिर एक बार वैशाली के सथागार को पावन करें। यहाँ की राजसभा प्रभु की धर्मसभा हो जाये। प्रभु वैशाली के जनगण को यहाँ सम्बोधन करें।'

सुन कर वैशाली के अष्टकुलक राजन्यों को काठ मार गया। उन्हें लगा कि वैशाली के महानायक की अर्द्धांगना स्वयम् ही वैशाली के सत्यानाश को न्योता दे रही है। अचानक सुनाई पड़ा :

'महावीर के सूरज-युद्ध की साक्षी हो कर भी रोहिणी इतनी छोटी बात कैसे बोल गयी ! जानो गान्धारी, दिगम्बर महावीर अब दीवारों में नहीं बोलता, वह दिगन्तों के आरपार बोलता है। तथास्तु देवी ! तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। शीघ्र ही वैशाली मुझे सुनेगी। मैं उसके जन-जन की आत्मा में बोलूँगा !'

अचानक सब तक व्याप्त निस्तब्धता टूट गई। असंख्य और अविराम जयकारों की ध्वनियों में वैशाली के सुवर्ण, रजत और ताम्र कलशों के मण्डल चक्राकार घूमते दिखायी पड़ने लगे।

और भगवान् नाना वादित्र ध्वनियों से घोषायमान, सुन्दरियों की कमानों से आवेष्टित वैशाली के पूर्व द्वार को पार कर, 'महावन उद्यान' की ओर गतिमान दिखायी पड़े।

और तभी हठात् वैशाली के आकाश देव-विमानों की मणि-प्रभाओं से चौंधिया उठे। और देव-दुन्दुभियों तथा शंखनादों से वैशाली के गर्भ दोलायमान होने लगे।

○ ○ ○

९

अगले दिन सूर्योदय के साथ ही सारी वैशाली में जंगली आग की तरह यह सम्वाद फैल गया, कि कठोर कामजयी महावीर, वैशाली के जगत्-विख्यात केलि-कानन 'महावन उद्यान' में समवसरित हुए हैं। मदिरालय, द्यूतालय, वेश्यालय, देवालय से लगा कर भद्र जनों के लोकालय तक में एक ही अपवाद फैला हुआ है। जिस महावीर की वीतरागता लोकालोक में अतुल्य मानी जाती है, वह कुलिश-कठोर महावीर वैशाली के विश्व-विश्रुत प्रमदवन की रागरंग से आलोड़ित वीथियों में विहार कर रहा है!

वैशाली का तारुण्य इस घटना से सन्त्रस्त और भयभीत हो उठा। क्या महावीर ने हमारी प्रणय-केलि के प्रमदवन को हम से छीन लेना चाहा है? क्या वे हमारे युवा मन के मदन की विदग्ध और मादिनी लीला का मूलोच्छेद करने आये हैं? ऐसे महावीर हमारे क्रीड़ाकुल तन और मन के भगवान् कैसे हो सकते हैं? प्राण मात्र की सब में बड़ी ह्लादिनी शक्ति है काम। महाकाल शंकर ने परापूर्व काल में जब क्रुद्ध हो कर काम का दहन कर दिया था, तो सारी सृष्टि उदास हो गयी थी। शाश्वत संसार की लीला रुक गयी थी। काल की गति मूर्छित हो गयी थी। तब जगत् की धात्री पार्वती ने दारुण तपस्या करके, फिर से शंकर को आह्लादित और प्रसन्न किया था। जगज्जननी ने दुर्द्धर्ष विरागी जगदीश्वर शंकर के मनातीत चैतन्य को फिर अपनी मोहिनी से अवश कर दिया था। तब फिर से कण-कण में कामदेव उन्मेषित हो कर जाग उठे। शंकर की गोद में शंकरी उत्संगित हुई, और सकल चराचर में फिर से प्राण की धारा प्रवाहित हो उठी। जगत् उस महाप्रसाद से प्रफुल्लित और लीलायमान हो उठा। जीवन की धारा फिर अस्खलित वेग से बहने लगी।

मदन-दहन महेश्वर ने जिस काम के बीज को ही भस्मीभूत कर दिया था, उससे आखिर वे धूर्जटि स्वयम् भी हार गये। क्या उसी काम का मूलोत्पाटन करने आये हैं तीर्थंकर महावीर? तो उन्हें एक दिन निश्चय ही उससे हार जाना पड़ेगा। और इस भावधारा के साथ ही वैशाली के युवजनों और युवतियों का काम पूर्णिमा के समुद्र के समान सम्पूर्ण वेग से उद्वेलित होने लगा। आह, यह कैसा परस्पर विरोधी चमत्कार है?

और महावन उद्यान के समवसरण में अनाहत ओंकार ध्वनि के साथ, श्रीभगवान् के प्रभा-मण्डल में से लोहित, पीत, कृष्ण, नील और श्वेत ज्योति से स्फुरित 'ॐ' के असंख्य विग्रह ग्रह-नक्षत्रों की तरह प्रवाहित होने लगे। और हठात् वह अनहद ओंकारनाद शब्दायमान हुआ :

'सत्य-प्रकाश : सत्य-प्रकाश, सत्यानाश : सत्यानाश, यही महावीर है, यही महेश्वर है। महेश्वर शंकर ने मदन-दहन किया था, सृष्टि में कुण्ठित हो गये

सहज काम को निर्ग्रंथ और मुक्त करने के लिये। विकृत हो गई रति को, प्रकृत और सम्वित् बनाने के लिये। पतित हो गये काम के पुनरुत्थान के लिये। तब पार्वती की आत्माहुति में से नूतन और मुक्त काम उत्थायमान हुए। सृष्टि फिर सहज और प्रसन्न हो गई। '

श्रीभगवान् एकाएक चुप हो गये। एक सन्नाटा वातावरण में कोई अपूर्व सम्वेदन उभारने लगा। मौन इससे अधिक गर्भवान शायद पहले कभी न हुआ। अनायास पारमेश्वरी दिव्य-ध्वनि उच्चरित होने लगी

'ओ वैशाली के तरुणों, तुम महावीर से नाराज हो गये? सुनो मेरे प्रियतम युवजनो, कल की सन्ध्या में वैशाखी पूर्णिमा का उदीयमान पीताभ चन्द्रमण्डल 'महावन' में झाँकता दिखायी पड़ा। परम प्रिया के आनन का दर्शन पाया। प्रमदवन की कोयल ने डाक दी। उसके आम्रवनों की अँबियों ने मुझे अपने में खींचा। अचानक ही एक बाला किसी आम्र-डाल में अँबिया-सी चू पड़ी। वह अँगड़ाई लेती हुई उठी, और नाना भंगों में अपने तन को तोड़ती हुई, सारे महावन में एक उन्मादक लास्य-नृत्य करने लगी। अचूक था अनंग का वह आवाहन। और अनंगजयी महावीर बरबस ही मोहरात्रि के उस महा-कान्तार में प्रवेश कर गया। अखण्ड रात उसके मेचक केशों की शैया में महावीर अधिक से अधिकतर दिगम्बर होता गया। यहाँ तक कि उसका तन ही तिरोधान पा गया। केवल एक नग्न लौ उस निखिल-मोहिनी के वक्षोज-मण्डल पर खेलती रही। और उसमें वह परम कामिनी गलती रही, गलती रही और अन्ततः निरी नग्न विदेहिनी हो कर उस नग्न जोत में मिल गई। '

और श्रीभगवान सहसा ही चुप हो गये। किन्तु एक महाशून्य अनेक मण्डलों में उत्थान करता हुआ सृष्टि के भाल पर नये बीजाक्षर लिखता रहा। श्रीभगवान का क्षण मात्र का मौन, निर्वाण का तट छू कर फिर मुखरायमान हुआ

'वैशाली के विलासियो, वारांगनाओ, प्रणयाकुल युवा-युवतियो, मैं तुम्हारे केलि-कानन में चला आया, तो कल साँझ तुम वज्राहत से रह गये। अपने मनों को मार कर महावन के किनारों से ही लौट आये। मेरे वहाँ होते, तुम्हें अपने प्रमदवन में प्रवेश करने की हिम्मत न हुई। तुम खिन्न और उदास हो गये।

तो क्या मान लूँ कि तुम्हारा प्रमदवन पापवन है? मान लूँ कि सन्ध्याओं और रात्रियों में तुम वहाँ रमण करने नहीं आते, प्यार करने नहीं आते, पाप करने आते हो? जहाँ पाप हो, वहीं दुराव हो सकता है। जहाँ आप हो, वहाँ दुराव कैसे हो सकता है?

'सुनो ! वैशाली की तरुणाई, उसका तारुण्य मैं हूँ, उसकी काम-केलि मैं हूँ। मेरे कैवल्य से बाहर कुछ भी नहीं। मुझ से तुम क्या छुपाना चाहते हो? मुझ में तुम्हारा पाप भी नहीं छुपा, आप भी नहीं छुपा। तुम्हारे अस्तित्व का कण-कण, क्षण-क्षण मेरे ज्ञान में तरंगायित है। फिर मुझ से कैसा विलगाव, मुझ से कैसा दुराव?

'मेरे परम प्रिय प्रेमिक जनो, सुनो। तुम्हारे तारुण्य और काम का प्रेमी है महावीर, इसी से वह कामेश्वर सदा तरुण है। मेरा कौमार्य वीतमान नहीं, नित नव्यमान है। सदा-वसन्त है अर्हत् की चेतना। परात्पर चैतन्य के भीतर से ही वह काम प्रवाहित है जिसने तुम्हें इतना अवश कर दिया है। काम की एकमात्र अभीप्सा है—अपनत्व, आप्त भाव, किसी के साथ अत्यन्त तदाकार, एकाकार, अभिन्न हो जाना। मैं तुम्हारे उस काम का अपहरण करने नहीं आया, उसका वरण करके, उसे परम शरण कर देने आया हूँ। क्या तुम्हें अपनी प्रियाओं की गोद में वह परम शरण कभी मिली? मिली होती, तो ऐसी सर्वनाशी जलन और भटकन क्यों होती? तुम्हारी प्यास का अन्त नहीं, पर तुम्हारे विलास का क्षण मात्र में अन्त आ जाता है। उत्संग भंग हो जाता है। तुम परस्पर से बिछुड़ कर, पल मात्र में परस्पर को पराये और अजनबी हो जाते हो। जो सम्भोग भंग हो जाय, स्खलित हो जाये, वह सम-भोग कैसे हो सकता है, सम्पूर्ण भोग कैसे हो सकता है? वह तो विषम और अपूर्ण भोग ही हो सकता है। तुम्हारा रमण अपने में नहीं, पराये में है। कुछ पर है, पराया है, अन्य है, इसी से तो ऐसी अदम्य विरह-वेदना है। तुम्हारा रमण स्व-भाव में नहीं, पर-भाव में है। इसी से वह पराधीन है, परावलम्बी है। पराधीन प्यार को एक दिन टूटना ही है, पराजित होना ही है। जिसमें स्खलन है, वह रमण नहीं, विरमण है। जिसमें योग नहीं, वह भोग नहीं, वियोग है।

'सुनो देवानुप्रियो, महावीर तुम्हारे काम को छीनने और तोड़ने नहीं आया, उसे अखण्ड से जोड़ कर अटूट, अक्षय्य, अस्खलित कर देने आया है। वह तुम्हारे आलिंगनों और चुम्बनों का भंग करने नहीं, उन्हें अभंग और अनन्त कर देने आया है। सत्य-काम वह, जिसमें अन्तर न आये, जिसमें अवरोध और टकराव न आये। जिसमें रक्त-मांस और हड्डियाँ न टकरायें। सच्चा काम तो अगाध और अक्षय्य मार्दव और सौन्दर्य है। उस सत्य-काम के आलिंगन में अन्यत्व नहीं, अनन्य एकत्व होता है। उसमें होता है एक अव्याबाध लोच, लचाव, नम्यता, सुरम्यता, सामरस्य। उसमें देह, प्राण, मन और इन्द्रियाँ—सब स्व-भाव में लीन होकर अपने ही में शांत शयित हो रहते हैं। ऐन्द्रिक विषय मात्र तन्मात्रा में सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो कर, अन्ततः चिन्मात्रा में

स्तब्ध हो जाता है । परमानन्द के चरम पर जिस मिलन-सुख की धारा स्खलित हो जाये, उसे आनन्द कैसे कहे, प्रेम कैसे कहे, सौन्दर्य कैसे कहे ? जो अविरल है, जो निरन्तर है, जो अव्याबाध है, वही एक मात्र सच्चा काम है, मिलन है, आनन्द है अनाहत सौन्दर्य और प्रेम है । जो मैथुन विरल है, भंगुर है, जिसमें पर है और अन्तर है, जिसम सदा परायेपन की शंका है, भय है । जिसम सदा खो जाने का, बिछुड जाने का दश है, जिसमें सदा पर-भाव का आतंक है, संदेह है, उद्वेग है, व्याकुलता है, वह काम नही, कर्दम है वह प्रेम नही पीडन है, पराजय है, पाप है । वह अपने आप से बिछुड जाता है ।

वैशालको, आप हुए बिना पाप से निस्तार नही। तुम्हारा काम, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारा राज्य, तुम्हारा सुख, तुम्हारा विलास, सभी कुछ तो परतन्त्र है । परतन्त्र न होता तो भयभीत क्यो होता ? तुम्हारा प्रणयकाम स्वतन्त्र होता तो वह कायर हो कर 'महावन' के अन्धकारो म चोरी-चोरी क्यो क्रीडा करता ? तुम्हारा राज्य स्वतन्त्र और निर्भय होता तो तुम्हारे नगर-प्राचीर सैन्यों और शस्त्रो से पटे क्यो होते ? तुम्हारा सुख और विलास स्वतन्त्र होता, तुम्हारा ऐश्वर्य और वैभव स्वाधीन होता, तो वह लक्ष-लक्ष जन के शोषण और पीडन पर निर्भर क्यो होता ' तुम्हारा सब कुछ पराधीन है, तुम कैसे स्वतन्त्र, तुम कैसे प्रजातन्त्र ? जिस वैशाली का सहज काम भी गुलाम है, उसकी स्वतन्त्रता शून्य का अट्टहास्य मात्र है ।'

श्रीभगवान् हठात् चुप हो गये । तभी एक वैशालक युवा सामन्त का तीव्र प्रतिवाद स्वर सुनाई पडा

'वैशाली का काम गुलाम नही, भन्ते महाश्रमण, उसका प्रेम पराधीन नही, भन्ते भगवान् । स्वतन्त्रता ही हमारे विदेह देश की एक मात्र आराध्य देवी है । सर्वप्रिया देवी आम्रपाली हमारी उस स्वतन्त्रता का मूर्तिमान विग्रह है । वे साक्षात् मुक्तिरूपा है । उन पर किसी एक का अधिकार नही हो सकता । सब उन्हे प्यार करने को स्वतन्त्र है । स्वातन्त्र्य का इसस बडा आदर्श पृथ्वी पर कहाँ मिलेगा भगवन् ?'

'क्या देवी आम्रपाली भी किसी को प्यार करने को स्वतन्त्र है ?'

'वे एक मात्र सब को प्यार करने को स्वतन्त्र है।'

'केवल, बेदाम ?'

सामन्त निरुत्तर हो कर शून्य ताकता रह गया । प्रभु प्रश्न उठाते चले गये

'क्या देवी आम्रपाली अपना प्रियतम चुनने को स्वतन्त्र है ? क्या वे चाहे तो किसी अकिंचन चाण्डाल या निर्धन, निर्वसन भिक्षुक को प्रेम कर सकती है ?'

मारे लिच्छवियों की तहें काँप उठीं। भगवान् बोलते चले गये

'तुम्हारे सुवर्ण-रत्नों की साँकलों में जकड़ी है, आर्यावर्त की वह सौन्दर्य-लक्ष्मी। तुम्हारे राज्य में सुवर्ण ही सौन्दर्य का एक मात्र मूल्य है। वही प्रेम-प्यार और परिणय का निर्णायक है। तुम्हारे यहाँ चैतन्य काम भी जड़ कांचन का कैदी है। तुम्हारे यहाँ जड़ का निर्णायक चैतन्य नहीं, चैतन्य का निर्णायक जड़ पुद्गल है। जहाँ गणमाता गणिका हो कर रहने को विवश है, वह गणराज्य नहीं, गणिका-राज्य है!'

एक प्रलयंकर सन्नाटे में गण राजन्यों के क्रोध का ज्वालामुखी फट पड़ने को कसमसाने लगा। तभी सेनापति सिंहभद्र का रोषभरा तीखा प्रश्न सुनाई पड़ा

'वैशालक तीर्थंकर महावीर वैशाली के प्रति इतने निर्दय, इतने कठोर क्यों हैं? अहिंसा के अवतार कहे जाने महावीर को वैशाली के प्रति इतना वैर क्या है?'

'अहिंसा के अवतार से बड़ा हिंसक और कौन हो सकता है? क्यों कि वह स्वयम् हिंसा का हिंसक होता है!'

'तो उसका आखेट वैशाली क्यों हो?'

'क्यों कि वैशाली महावीर न हो सकी, पर महावीर वैशाली हो रहने को बाध्य है। लोक में विश्वरूप महावीर वैशाली का प्रतिरूप माना जाता है। क्यों कि वह वैशाली की मिट्टी में से उठा है। वह अपनी जनेत्री धरित्री को इतनी कदर्य और कुशील नहीं देख सकता। जो पूर्णत्व मुझ में से प्रकट हुआ है, वह वैशाली का अणु मात्र अपूर्णत्व भी सह नहीं सकता। तो वह वैशाली के पतन को कैसे सहे। वह इतनी जघन्य कुत्सा और कुरूपता को कैसे स्वीकारे?'

'दया के अवतार महावीर वैशाली पर दया तो कर ही सकते हैं।'

'महावीर सब पर दया कर सकता है, पर अपने ऊपर नहीं। वह सर्व को क्षमा कर सकता है, पर अपने को नहीं। इसी से महावीर अपने हत्यारे और बलात्कारी श्रेणिक को क्षमा कर सका, लेकिन वैशाली को क्षमा न कर सका। सारे जम्बूद्वीप में आज वैश्य और वेश्या-राज्य व्याप्त है। लेकिन अपनी जनेता वैशाली को महावीर वेश्या नहीं देख सकता। भगवती आम्रपाली का सौन्दर्य जहाँ एक हजार सुवर्ण के नीलाम पर चढ़ा है, वहाँ भगवान् महावीर का वीतराग सौन्दर्य भी शर्त और सौदे की वस्तु हो ही सकता है! उसके अभिषेक और पूजा की भी यहाँ बोलियाँ ही लगायी जा सकती हैं।

जो सब से बडी बोली लगा दे, वही महावीर का प्रथम अभिषेक और पूजन करे।'

रुदन मे फूटते कण्ठ से रोहिणी चीत्कार उठी

'त्रिलोकीनाथ का यह अत्याचार अब और नही सहा जाता। वैशाली की लक्ष-लक्ष प्रजा तुम्हारे पगो मे पाँवडे हो कर बिछी है, उसकी ओर तुमने नही देखा। क्या अष्ट कुलक गणराजा ही वैशाली है, यह विशाल प्रजा वैशाली नही?'

'वैशाली की धरती पर इसकी प्रजा का राज्य नहीं, राजवशी अष्टकुलक राज्य करते है। यहाँ व्यवस्था उनकी है, प्रजा की नही। प्रजा की छन्द-शलाकाएं (मतदान), उनके धूर्त और वचक गणतन्त्र का मुखौटा मात्र है। वैशाली और अम्बपाली को किसी चाण्डाल या चर्मकार या कुम्भार ने वेश्या नही बनाया, उसे वेश्या बनाया है, उनके सत्ताधारियो और साहुकारो ने। उन्होंने, जो सृष्टि के कोमलतम हृदय और सौन्दर्य को भी क्रय-विक्रय के पण्य मे ले आते है। जहाँ पुरुष स्त्री से सम्भोग नही करता, सुवर्ण ही सुवर्ण से सम्भोग करता है। जिनके कानून मे मनुष्य, मनुष्य को प्यार नही करता, पैसा ही पैसे को प्यार करता है। जहाँ अघोर चैतन्य पर घनघोर जडत्व का फौलादी पजा बैठा हुआ है। जहाँ अर्हन्त का सौन्दर्य भी काचन की कसौटी पर ही परखा जा सकता है। उसे यहाँ कौन पहचानेगा? फिर भी लाखो वैशालक उसे पहचानते हैं और प्यार करते हैं। लेकिन उनकी पहचान और प्यार यहाँ निर्णायक नही। वह मूल्य और व्यवस्था का मान-दण्ड नहीं।'

क्षणैक चुप रह कर श्रीभगवान् फिर बोले

'अर्हत् महावीर अपने पूर्ण सौन्दर्य के मुख-मण्डल को देखने का दर्पण खोज रहा है। वैशाली के काचन-कामी दर्पण मे वह चेहरा नही झलक सकता। तमाम प्रजाओ की असख्य आँखो मे मेरे सौन्दर्य का दर्पण खुला है, निःसन्देह। लेकिन सत्ता और सम्पत्ति के खूनी व्यापारो और युद्धो ने उसे अन्धा कर रक्खा है। निर्दोष और घायल प्रजाएँ, अपने भगवान् प्रजापति को प्यार करने और पहचानने से वचित और मजबूर कर दी गई हैं। महावीर अपना चेहरा देखने को एक अविकल दर्पण खोज रहा है। क्या वैशाली वह दर्पण हो सकेगी?'

सर्वशक्तिमान वीतराग प्रभु का स्वर कातर और याचक हो आया। और वैशाली के लाखो प्रजाजन सिसक उठे। उनके घुटते आक्रन्द मे ध्वनित हुआ 'झांक सको तो हमारे इन फटते हृदयो मे झाँको, देख सको तो देखो इनमे अपना चेहरा!'

और गाधारी रोहिणी स्त्री-प्रकोष्ठ से छलाग मार कर गन्ध-कुटी के पादप्रान्त मे आ खडी हुई। और पुकार उठी

'रोहिणी यहाँ भी नि शस्त्र नहीं आई, नाथ, जहाँ हर कोई अपना शस्त्र बाहर छोड आने को बाध्य है। लेकिन रोहिणी अपना अन्तिम तीर ले कर यहाँ आयी है। ताकि उसकी नोक मे तुम अपना चेहरा देख सको।'

और रोहिणी ने अपनी बाहु के धनुष पर उस तीर को तान कर, उससे अपनी ही छाती बीध लेनी चाही।

'रोहिणी, तुम्हारा यह तीर महावीर की छाती छेदने को तना है। महावीर प्रस्तुत है, जो चाहो उसके साथ करो !'

रोहिणी चक्कर खा कर, वही चित हो गयी। तीर अधर मे स्तम्भित रह गया। और रोहिणी के हृदय-देश से रक्त उफन रहा था। श्रीभगवान् ने अपने तृतीय नेत्र से उसे एकाग्र निहारा। वह रक्त एक रातुल कमल मे प्रफुल्लित हो उठा।

माँ वैशाली के हृदय मे महावीर ने अपना अमिताभ मुख-मण्डल देखा। जनगण की असख्य आँसू भरी आँखो मे केवल महावीर झाँक रहा है। तीर्थंकर महावीर कृतकाम हुआ। उसे अपना दर्पण मिल गया। मुझे लो, वैशालको। मुझे अपने मे ढालो। मुझे अपने मे आश्रय दे कर, इस अन्तरिक्ष-चारी को धरती दो, आधार दो। मेरी कैवल्य-ज्योति को सार्थक करो।'

लाखो अश्रु विगलित कण्ठो से जयध्वनि गुजायमान हुई

"परम क्षमावतार, प्रेमावतार, अहिसावतार भगवान् महावीर जयवन्त हो !'

एक महामौन मे श्रीभगवान् अदृश्यमान होते-से दिखायी पडे। और लक्ष-कोटि मानवो ने अनुभव किया, कि वे उनके हृदयो मे भर आये है। अचानक सुनाई पडा

महावीर की अहिंसा वैशाली मे मूर्त हो। महावीर की क्षमा वैशाली की धरित्री हो। महावीर का प्रेम वैशाली मे राज्य करे। वह उसे विश्व की सर्वोपरि सत्ता बना दे। वैशाली की प्रजा ही यह कर सकती है, उसका राज्य नही, उसका सत्ता-सिंहासन नहीं।'

तभी जनगण का एक तेजस्वी युवा, तरुण सिंह की तरह कूद कर सामने आया :

'वैशाली मे गृह-युद्ध की आग धधक रही है, भगवन्। महावीर को यहाँ मूर्त करने के लिये, यह गृहयुद्ध हमे लड लेना होगा। हम इसी क्षण प्रस्तुत है। श्रीभगवान् आज्ञा दे, तो गृहयुद्ध का शखनाद करूँ, और हम इन राजन्यो मे वैशाली की सड़को पर निपट ले। वैशाली के भाग्य का फैसला हो जाये।'

'गृहयुद्ध अनिवार्य है, युवान्। वह सर्वत्र है। उसे लड़े बिना निस्तार नही। हर मनुष्य अपने भीतर एक गृहयुद्ध ले कर जी रहा है। रक्त, मास, हड्डी, मज्जा, मस्तिष्क, हृदय, प्राण, मन, माँस और बहत्तर हज़ार नाडियाँ—सब एक-दूसरे के साथ निरन्तर युद्ध लड रहे है। माँस और माँस के बीच युद्ध है। घर-घर मे गृहयुद्ध अनिर्वार चल रहा है। मनुष्य और मनुष्य के बीच, मित्र और मित्र के बीच, आत्मीय स्वजनो के बीच भी निरन्तर गृहयुद्ध बरकरार है। वस्तुओ और व्यक्तियो के बीच हर समय लडाई जारी है। हम एक-दूसरे के घर मे घुसे बैठे है। हम पर-नारी पर बलात्कार करने की तरह, एक-दूसरे के भीतर बलात् हस्तक्षेप कर रहे है। हम अपने घर मे नही दूसरे के घर मे जीने के व्यभिचार मे निरन्तर पीडित है। तेजस्वी युवान्, अपने मे लौटो, अपने साथ शान्ति स्थापित करो। अपने स्व-भाव के घर मे ध्रुव और स्थिर हो कर रहो। अपने आत्मतेज को अपराजेय बना कर, निश्चल शान्ति मे वैशाली के सथागार का द्वार तमाम प्रजाओ के लिए खोल दो। वहाँ विराजित प्रजापति ऋषभदेव के सिहासन पर से अष्ट कुलक नही, वैशाली का जनगण राज्य करे। अपने भाल के सूरज को उत्तान करके लडो युवान्, ताकि राजन्यो के सारे शस्त्रागार उसके प्रताप मे गल जाये। और उस गले हुए फौलाद मे, हो सके तो महावीर को ढालो। उस वज्र मे महावीर के मार्दव, आर्जव, प्रशम, प्यार और सौन्दर्य को मूर्त करो।'

तभी जनगण का एक और युवान् वह्निमान हो कर उठ आया

'वैशाली मे रक्त-क्रान्ति हो कर रहेगी, भगवन्! उसके बिना जन-राज्य सम्भव नही। राज्य-दल और उसके पृष्ठ-पोषक श्रेष्ठी-साहुकार एक ओर है, और समस्त सामान्य प्रजाजन दूसरी ओर एक जुट कटिबद्ध है। बरसो हो गये, प्रजा की इच्छा के विरुद्ध राज्य ने उस पर युद्ध थोप रक्खा है। प्रजा युद्ध नही चाहती सैनिक युद्ध नही चाहते, यह केवल सत्ता-सम्पत्ति के लोभी गृद्धो का आपसी युद्ध है। और निर्दोष प्रजा उसमे पिसते ही जाने को मजबूर है। वैशाली के हजारो-लाखो मासूम जवान इस युद्ध की आग मे झोक दिये गये है। हम इस युद्ध को अब और नही सहेगे, भगवन्। रक्तक्रान्ति अनिवार्य है, स्वामिन्। हम इन राजन्यो का खून वैशाली की सडको मे बहा कर, अपने मासूम खून का बदला इनसे भुना कर रहेंगे। आज्ञा दे भगवन्, तो रक्त-क्रान्ति की घोषणा कर दूँ।'

बन कर, तुम वैशाली के तोरण पर ताण्डव करोगी । सत्यानाश सत्यानाश, सत्य-प्रकाश सत्य-प्रकाश ! तथास्तु, प्रियाम्बा रोहिणी देवी । जयवन्तो, जयवन्तो, त्रिकाल में जयवन्त होओ ।'

इस कुलिश-कोमला वाणी से, पृथ्वी के धारक कुलाचल पर्वतो की चूले थर्रा उठी। देव, दनुज, मनुज के सारे दर्प और अहकार धूल मे लोटते दिखायी पडे। भगवती ने प्रलय के नाशोन्मत्त समुद्र की तरग-चूडा पर से, मनुष्य की जाति को उद्बोधन दिया था। भयभीत, सत्रस्त मानवो ने इस भूकम्प मे आश्वासन और आधार पाने के लिये श्रीभगवान् की ओर निहारा। और सहसा ही भगवान् अपने रक्त कमलासन से उठ कर, गन्धकुटी के पश्चिमी सोपानों पर ओझल होते दिखायी पडे। सहस्रो घुटती आहो की मूक चीत्कार ने वातावरण को सत्रस्त कर दिया।

श्रीभगवान् हमे पीठ देकर चले गये !

○ ○ ○

सबेरे की धर्म-पर्षदा मे, वैशाली के गणपति चेटकराज आख मीच कर जबरदस्ती सामायिक मे लीन रहे। फिर भी उनकी आँख आत्म पर नही, बाहर के आवर्तनो पर लगी थी। वे सब देख और सुन रहे थे। श्रीभगवान् और भगवती चन्दनबाला के पुण्य-प्रकोप मे उनकी तहे हिल उठी थी।

अपराह्न की धर्म-पर्षदा मे, श्रीभगवान् का मौन अन्तहीन होता दिखायी पडा। ओकार ध्वनि भी गुप्त और लुप्त हो रही। वृद्ध और जर्जर गणपति चेटकेश्वर का आसन डोल रहा है। उनका अग-अग थरथरा रहा है। उन्हे पल को भी चैन नही। श्रीभगवान् अपलक उन्हे अपने नासाग्र पर निहारते रहे।

एकाएक सुनाई पडा

'गणनाथ चेटकराज, सामायिक जबरदस्ती नही, वह सहज मस्ती है, स्वरूप-स्थिति है। वह प्रयास नही, अनायास आत्म-सहवास है। सामायिक करने से नही होता। भगवान् आत्मा जब प्रकट हो कर स्वयम् अपने ऊपर प्रसन्नादय होते है, तब वह आपोआप होता है। सम होने पर ही सामायिक हो सकता है। जहाँ इतना विषम है, वहाँ सम कहाँ। जहाँ स्वामित्व है, वहाँ समत्व कैसे प्रकट हो। और सम नही, तो सामायिक कैसे सम्भव हो ?'

चेटकराज के भारी आर डूबे गले से आवाज फूटी

'मगधेश्वर श्रेणिक से अधिक विषम और कुटिल और कौन हो सकता है, भन्ते ? उसे वीतराग अर्हन्त ने समत्व के सिंहासन पर चढा दिया। उसे भावी

हठात् रोहिणी का रुदनाकुल, प्रेमाकुल कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा

'सृष्टि और मनुष्य की माँ हूँ मैं, हे परमपिता त्रिलोकीनाथ ! भावी के सारे युद्धो और रक्त-क्रान्तियो को सहूँगी अपनी इस छाती पर। और सारे रक्तपातो और हत्याओ के बीच भी, सर्वकाल तुम्हारे चरणों के कमल मेरे वक्षोजो से फूटते रहेगे। और उनमे अनाथ, पराभूत और घायल मानवता को, सदा प्यार की परम शरण गोद प्राप्त होती रहेगी। हर बार वहाँ से उठ कर मनुष्य का आत्महारा बेटा, उत्क्रान्ति और उत्थान के उच्च से उच्चतर शिखरो पर आरोहण करता जायेगा। श्रीभगवान् के पग धारण को, मेरी यह छाती सदा इतिहास के शूलो पर बिछी रहेगी। मैं नारी हूँ, भगवन्। मैं माँ हूँ—सकल चराचर की, यह मेरी परवशता है। समर्पित हूँ प्रभु, मुझे अगीकार करे, मुझे अपनी सती बना ले। मुझे पारमेश्वरी दीक्षा दे कर, अपनी सहधर्मचारिणी बना ले।'

'तुम शाश्वती मे चिरकाल सत्ता की परम सती के ध्रुवासन पर बिराजोगी, रोहिणी। भगवती चन्दन बाला मनुष्य की माँ के भावी पथ का अनुसन्धान करे।'

एक अव्याहत मौन लोकान्तो तक व्याप गया।

और औचक ही महासती चन्दन बाला के करुण-मधुर कण्ठ की सान्द्र वाणी उच्चरित हुई

'आर्यावर्त की महाचण्डिका रोहिणी सन्यासिनी नहीं होगी। वह शिवकरी हो कर, भव-त्राण मे चिर काल नियुक्त रहेगी। वह भगवान् की महा-शक्ति है। अन्धकार की दानवी शक्तियो की मुण्डमाला अपने गले मे धारण कर, वह अनाथ सृष्टि को सदा अपनी सर्ववल्लभा छाती मे अभय और शरण देती रहेगी। वह सहस्र शीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्र बाहु, सहस्र पाद होकर रहेगी। अपने हजारो हाथो मे, हजारो अस्त्र-शस्त्र धारण कर, वह जगत को नि शस्त्र कर देगी। अपने हजारो पैरो से असुर-वाहिनियो का निर्दलन करती हुई, वह भगवती अहिंसा का साक्षात् विग्रह हो कर चलेगी सर्वकाल इस पृथ्वी पर। नारी का दूसरा नाम ही अहिंसा है। माँ हिंसक कैसे हो सकती है। युद्धा-क्रान्त वैशाली के लक्ष-कोटि नर-नारी तुम्हारी भवतारिणी, सुन्दर बाँहो मे शरण खोज रहे है, देवी। तुम्हारी दायी भुजा मे वैशाली का उत्थान है, तुम्हारी बायी भुजा मे वैशाली का पतन है। वैशाली के सत्ताधारी तुम्हे पहचान सके, तो वैशाली के संथागार मे आदि प्रजापति वृषभनाथ का धर्म-वृषभ अवतरित होगा। और वह सारी पृथ्वी पर संचरित हो कर, इस धरित्री को प्राणि मात्र की कामधेनु बना देगा। और नही तो प्रलय की सहस्रचण्डी

बन कर, तुम वैशाली के तोरण पर ताण्डव करोगी । सत्यानाश सत्यानाश, सत्य-प्रकाश सत्य-प्रकाश… ! तथास्तु, प्रियाम्बा रोहिणी देवी । जयवन्तो, जयवन्तो, त्रिकाल में जयवन्त होओ ।'

इस कुलिश-कोमला वाणी से, पृथ्वी के धारक कुलाचल पर्वतो की चूलें थर्रा उठीं। देव, दनुज, मनुज के सारे दर्प और अहंकार धूल में लोटते दिखायी पड़े। भगवती ने प्रलय के नाशोन्मत्त समुद्र की तरग-चूड़ा पर से, मनुष्य की जाति को उद्बोधन दिया था। भयभीत, संत्रस्त मानवो ने इस भूकम्प मे आश्वासन और आधार पाने के लिये श्रीभगवान् की ओर निहारा। और सहसा ही भगवान् अपने रक्त कमलासन से उठ कर, गन्धकुटी के पश्चिमी सोपानो पर ओझल होते दिखायी पड़े। सहस्रों घुटती आहो की मूक चीत्कार ने वातावरण को सत्रस्त कर दिया।

श्रीभगवान् हमे पीठ देकर चले गये !

○ ○ ○

सबेरे की धर्म-पर्षदा मे, वैशाली के गणपति चेटकराज आँख मीच कर जबरदस्ती मामायिक मे लीन रहे। फिर भी उनकी आँख आत्म पर नही, बाहर के आवर्तनो पर लगी थी। वे सब देख और सुन रहे थे। श्रीभगवान् और भगवती चन्दनबाला के पुण्य-प्रकोप से उनकी तहें हिल उठी थी।

अपराह्न की धर्म-पर्षदा मे, श्रीभगवान् का मौन अन्तहीन होता दिखायी पडा। ओंकार ध्वनि भी गुप्त और लुप्त हो रही। वृद्ध और जर्जर गणपति चेटकेश्वर का आसन डोल रहा है। उनका अंग-अंग थरथरा रहा है। उन्हें पल को भी चैन नही। श्रीभगवान् अपलक उन्हें अपने नासाग्र पर निहारते रहे।

एकाएक सुनाई पडा

'गणनाथ चेटकराज, सामायिक जबरदस्ती नही, वह सहज मस्ती है, स्वरूप-स्थिति है। वह प्रयास नही, अनायास आत्म-सहवास है। सामायिक करने से नही होता। भगवान् आत्मा जब प्रकट हो कर स्वयम् अपने ऊपर प्रसन्नोदय होते है, तब वह आपोआप होता है। सम होने पर ही सामायिक हो सकता है। जहाँ इतना विषम है, वहाँ सम कहाँ। जहाँ स्वामित्व है, वहाँ समत्व कैसे प्रकट हो। और सम नही, तो सामायिक कैसे सम्भव हो ?'

चेटकराज के भारी और डूबे गले से आवाज़ फूटी.

'मगधेश्वर श्रेणिक से अधिक विषम और कुटिल और कौन हो सकता है, भन्ते ? उसे वीतराग अर्हन्त ने समत्व के सिंहासन पर चढ़ा दिया। उसे भावी

हठात् रोहिणी का रुदनाकुल, प्रेमाकुल कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा

'सृष्टि और मनुष्य की माँ हूँ मैं, हे परमपिता त्रिलोकीनाथ! भावी के मारे युद्धों और रक्त-क्रान्तियों को सहूँगी अपनी इस छाती पर। और सारे रक्तपातों और हत्याओं के बीच भी, सर्वकाल तुम्हारे चरणों के कमल मेरे वक्षोजों से फूटते रहेंगे। और उनमें अनाथ, पराभूत और घायल मानवता को, सदा प्यार की परम शरण गोद प्राप्त होती रहेगी। हर बार वहाँ से उठ कर मनुष्य का आत्महारा बेटा, उत्क्रान्ति और उत्थान के उच्च से उच्चतर शिखरों पर आरोहण करता जायेगा। श्रीभगवान् के पग धारण को, मेरी यह छाती सदा इतिहास के शूलों पर बिछी रहेगी। मैं नारी हूँ, भगवन्। मैं माँ हूँ—सकल चराचर की यह मेरी परवशता है। समर्पित हूँ प्रभु, मुझे अंगीकार करें, मुझे अपनी सती बना लें। मुझे पारमेश्वरी दीक्षा दे कर, अपनी सहधर्मचारिणी बना लें।'

'तुम शाश्वती में चिरकाल सत्ता की परम सती के ध्रुवासन पर विराजोगी, रोहिणी। भगवती चन्दन बाला मनुष्य की माँ के भावी पथ का अनुसन्धान करें।'

एक अव्याहत मौन लोकान्तों तक व्याप गया।

और औचक ही महासती चन्दन बाला के करुण-मधुर कण्ठ की मान्द्र वाणी उच्चरित हुई

'आर्यावर्त की महाचण्डिका रोहिणी सन्यासिनी नहीं होगी। वह शिवकरी हो कर, भव-त्राण में चिर काल नियुक्त रहेगी। वह भगवान् की महा-शक्ति है। अन्धकार की दानवी शक्तियों की मुण्डमाला अपने गले में धारण कर, वह अनाथ सृष्टि को सदा अपनी सर्ववल्लभा छाती में अभय और शरण देती रहेगी। वह सहस्र शीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्र बाहु, सहस्र पाद होकर रहेगी। अपने हजारों हाथों में, हजारों अस्त्र-शस्त्र धारण कर, वह जगत को निःशस्त्र कर देगी। अपने हजारों पैरों से असुर-वाहिनियों का निर्दलन करती हुई, वह भगवती अहिंसा का साक्षात् विग्रह हो कर चलेगी सर्वकाल इस पृथ्वी पर। नारी का दूसरा नाम ही अहिंसा है। माँ हिंसक कैसे हो सकती है। युद्धा-क्रान्त वैशाली के लक्ष-कोटि नर-नारी तुम्हारी भवतारिणी, सुन्दर बाँहों में शरण खोज रहे हैं, देवी। तुम्हारी दायी भुजा में वैशाली का उत्थान है, तुम्हारी बायीं भुजा में वैशाली का पतन है। वैशाली के सत्ताधारी तुम्हें पहचान सके, तो वैशाली के संथागार में आदि प्रजापति वृषभनाथ का धर्म-वृषभ अवतरित होगा। और वह सारी पृथ्वी पर सचरित हो कर, इस धरित्री को प्राणि मात्र की कामधेनु बना देगा। और नहीं तो प्रलय की सहस्रचण्डी

क्यो ? औरो को लेकर इतना आरत क्यो ? वह हर व्यक्ति और वस्तु पर अपने आधिपत्य की छाप क्यो लगाना चाहता है ? अपने-पराये का हिसाब-किताब क्यो करता है ? व्रत अपने से अन्य तमाम जीवो को ले कर है। इसी से अन्य के साथ के अपने सम्बन्धो मे वह आचरित न हो, तो वह आत्मिक मुक्ति के नाम पर अन्यों को, और सब से अधिक अपने को, धोखा देना है। वह आत्म-साधना की आड मे निरी आत्म-छलना है।

'पूछता हूँ देवानुप्रिय, क्या आपने कभी गण की चाह को जाना है, उसकी पीडा को पहचाना है ? उसकी पुकार को सुना है ? क्या वैशाली का जनगण यह वर्षों व्यापी युद्ध मगध के साथ चलाना चाहता है, जिसे वैशाली के शासक चला रहे है ? मै फिर पूछता हूँ, वैशाली के यहाँ उपस्थित जनगण से—क्या वह युद्ध चाहता है ?'

लाखो कण्ठो ने प्रतिसाद किया

'नही, नही, नही ! हम युद्ध नही चाहते। यह युद्ध राजाओ का है, प्रभुवर्गो का है प्रजाओं का नही। प्रजाएँ कभी युद्ध नही चाह सकती। यह युद्ध बन्द हो, बन्द हो, तत्काल बन्द हो !'

श्री भगवान् ऊर्जस्वल हो आये

'जनगण के प्रचण्ड प्रतिवाद को सुना आपने, महाराज ? जिसमे प्रजा की इच्छा सर्वोपरि न हो, वह गणतंत्र कैसा ? वह तो अधिनायकतंत्र है। इसमे और अन्य साम्राजी तंत्रो मे क्या अन्तर है ? यह गणतत्र नही, निपट नग्न राजतंत्र है। इसे साक्षात् करें, राजन्, इससे पलायन न करे। प्रत्यक्ष देखे, गणेश्वर कि यहाँ शासक और शासित के बीच परस्पर उत्तरदायित्व नही है। जो राज, समाज और व्यवस्था जन-जन के प्रति उत्तरदायी नही, वह व्यवस्था प्रजातांत्रिक नही, राज्यतांत्रिक है। वैशालीनाथ चेटक देखे, उनकी वैशाली कहाँ है ? कहाँ है उसका अस्तित्व ? यदि जनगण वैशाली नही, तो जिसे आप और आपके सामन्त राजवी हमारी वैशाली कहते है, वह निरी मरीचिका है। वह प्रजातंत्र नही, प्रजा का निपट प्रेत है। इस प्रेत-राज्य की रक्षा आप कब तक कर सकेंगे, महाराज ? धोखे के पुतले को कब तक खडा रखेंगे ?'

श्री भगवान् चुप हो गये। कुछ देर गहन चुप्पी व्याप रही। उस अथाह मौन को भग करते हुए, चेटकराज जाने किस असम्प्रज्ञात समाधि मे से बोले

'मै निर्गन हुआ, मै उद्गत हुआ, भगवन्। मै सत्य को सम्यक् देख रहा हूँ, सम्यक जान रहा हूँ, सो सम्यक् हो रहा हूँ। देख रहा हूँ प्रत्यक्ष, महावीर

'वे, जो सत्ता की मूर्धा पर बैठे हैं। वे ही यदि स्वच्छ न हो, तो शासन कैसे स्वच्छ रह सकता है, महाराज। और शासन स्वच्छ न हो, तो प्रजा कैसे स्वच्छ रह सकती है। पहले शासक भ्रष्ट होता है, तब प्रजा भ्रष्ट होती है। भ्रष्टाचार का मूल मूर्धन्य सत्ताधीश मे होता है। वह मूलत शासन मे नही, शासित मे नही, सत्ताधारी मे होता है। पहले वह अपना निरीक्षण करे, तो पायेगा कि उसके भीतर न्यस्त स्वार्थ के कैसे-कैसे गुप्त और सूक्ष्म अँधेरे सक्रिय हैं। वही पाप के विषम अँधेरे सारे राष्ट्र की नसो मे व्याप्त हो कर, उसे घुन की तरह खा जाते है। इस भ्रष्टाचार के मूलोच्छेद की पहल कौन करे, देवानुप्रिय चेटकराज?'

'आजीवन जिनेश्वरो का व्रती श्रावक चेटक, वीतराग केवली महावीर की दृष्टि मे भ्रष्टाचारी है? तो बात समाप्त हो गयी, भगवन्!'

वृद्ध गणपति का गला भर आया। श्रीभगवान् अनुकम्पित हो आये

'भ्रष्टाचारी आप स्वयम् नही, गणनाथ। आप स्वयम् तो स्फटिक की तरह निर्मल है, महाराज। लेकिन अष्टकुलक राजन्यो ने आपके सरलपन का लाभ उठा कर, आपको अपने हाथो का हथियार बना रक्खा है। आपकी स्थिति धर्मराज युधिष्ठिर जैसी है। जो स्वयम् धर्म का अवतार होकर भी, स्व-कर्त्तव्य से पराङ्मुख होता गया। आप उस मूर्च्छा मे जागे, और पहल कर के इस कूट चक्र को तोड दे, तो वैशाली मे क्रान्ति आपोआप हो जायेगी।

'क्या मेरा व्रती जीवन ही अपने आप मे एक पहल नही?'

'क्षमा करे गणेश्वर चेटकराज! आपका व्रत तो कही वैशाली मे फलीभूत न दीखा। व्रत अन्यो को ले कर है, पर सापेक्ष है। अन्यो के साथ सम्बन्ध-व्यवहार मे वह प्रकट न हो, तो व्रत कैसा? अपने से इतर के साथ हमारा सम्यक् सम्बन्ध और आचार क्या हो? उसी का निर्णायक तो व्रत है। सम्यक् निश्चय ही सम्यक् व्यवहार का निर्णायक है। असम्यक् निश्चय मे से, सम्यक् व्यवहार कैसे प्रकट हो सकता है।

श्रीभगवान् का स्वर गभीर होता आया

'व्रती वह, जो विरत हो। व्रत की आड मे विरति यदि कुछ विशिष्ट प्रतिज्ञाओ मे बँध कर जड हो जाये, तो समूचे जीवन-व्यवहार मे वह जीवन्त और प्रतिफलित कैसे हो? जो विरति, जो व्रत व्यक्ति मे ही बन्द रह कर अलग पड जाये, तो वह विरति नही आत्म-रति है। लोक से विच्छिन्न हो कर, वह लोक मे प्रकाशित कैसे हो सकती है? और यदि व्रत केवल अपने ही वैयक्तिक आत्मिक मोक्ष के लिये हो, तो फिर व्रती जीवन में इतना रत

क्यो ? औरो को लेकर इतना आरत क्यो ? वह हर व्यक्ति और वस्तु पर अपने आधिपत्य की छाप क्यो लगाना चाहता है ? अपने-पराये का हिसाब-किताब क्यो करता है ? व्रत अपने से अन्य तमाम जीवो को ले कर है। इसी से अन्य के साथ के अपने सम्बन्धो मे वह आचरित न हो, तो वह आत्मिक मुक्ति के नाम पर अन्यो को, और सब से अधिक अपने को, धोखा देना है। वह आत्म-साधना की आड मे निरी आत्म-छलना है।''

'पूछता हूँ देवानुप्रिय, क्या आपने कभी गण की चाह को जाना है, उसकी पीडा को पहचाना है ? उसकी पुकार को सुना है ? क्या वैशाली का जनगण यह वर्षों व्यापी युद्ध मगध के साथ चलाना चाहता है, जिसे वैशाली के शासक चला रहे है ? मैं फिर पूछता हूँ, वैशाली के यहाँ उपस्थित जनगण मे—क्या वह युद्ध चाहता है ? '

लाखो कण्ठो ने प्रतिसाद किया

'नही, नही, नही ! हम युद्ध नही चाहते। यह युद्ध राजाओ का है, प्रभुवर्गों का है, प्रजाओ का नही। प्रजाएँ कभी युद्ध नही चाह सकती। यह युद्ध बन्द हो, बन्द हो, तत्काल बन्द हो ! '

श्री भगवान् ऊर्जस्वल हो आये

'जनगण के प्रचण्ड प्रतिवाद को सुना आपने, महाराज ? जिसमे प्रजा की इच्छा सर्वोपरि न हो, वह गणतत्र कैसा ? वह तो अधिनायकतत्र है। इसमे और अन्य साम्राजी तत्रो मे क्या अन्तर है ? यह गणतत्र नही, निपट नग्न राजतत्र है। इसे साक्षात् करे, राजन्, इससे पलायन न करे। प्रत्यक्ष देखे, गणेश्वर, कि यहाँ शासक और शासित के बीच परस्पर उत्तरदायित्व नही है। जो राज, समाज और व्यवस्था जन-जन के प्रति उत्तरदायी नही, वह व्यवस्था प्रजातात्रिक नही, राज्यतात्रिक है। वैशालीनाथ चेटक देखें, उनकी वैशाली कहाँ है ? कहाँ है उसका अस्तित्व ? यदि जनगण वैशाली नही, तो जिसे आप और आपके सामन्त राजवी हमारी वैशाली कहते है, वह निरी मरीचिका है। वह प्रजातत्र नही, प्रजा का निपट प्रेत है। इस प्रेत-राज्य की रक्षा आप कब तक कर सकेंगे, महाराज ? धोखे के पुतले को कब तक खडा रक्खेंगे ?'

श्री भगवान् चुप हो गये। कुछ देर गहन चुप्पी व्याप रही। उस अथाह मौन को भग करते हुए, चेटकराज जाने किस असम्प्रज्ञात समाधि मे से बोले

'मै निर्गत हुआ, मै उद्गत हुआ, भगवन्। मैं सत्य को सम्यक् देख रहा हूँ, सम्यक् जान रहा हूँ, सो सम्यक् हो रहा हूँ। देख रहा हूँ प्रत्यक्ष, महावीर

'वे, जो सत्ता की मूर्धा पर बैठे है। वे ही यदि स्वच्छ न हो, तो शासन कैसे स्वच्छ रह सकता है, महाराज। और शासन स्वच्छ न हो, तो प्रजा कैसे स्वच्छ रह सकती है। पहले शासक भ्रष्ट होता है, तब प्रजा भ्रष्ट होती है। भ्रष्टाचार का मूल मूर्धन्य सत्ताधीश मे होता है। वह मूलत शासन मे नही, शासित मे नही, सत्ताधारी मे होता है। पहले वह अपना निरीक्षण करे, तो पायेगा कि उसके भीतर न्यस्त स्वार्थ के कैसे-कैसे गुप्त और सूक्ष्म अँधेरे सक्रिय है। वही पाप के विषम अँधेरे सारे राष्ट्र की नसो मे व्याप्त हो कर, उसे घुन की तरह खा जाते है। इस भ्रष्टाचार के मूलोच्छेद की पहल कौन करे, देवानुप्रिय चेटकराज?'

'आजीवन जिनेश्वरो का व्रती श्रावक चेटक, वीतराग केवली महावीर की दृष्टि मे भ्रष्टाचारी है? तो बात समाप्त हो गयी, भगवन्!'

वृद्ध गणपति का गला भर आया। श्रीभगवान् अनुकम्पित हो आये

'भ्रष्टाचारी आप स्वयम् नही, गणनाथ। आप स्वयम् तो स्फटिक की तरह निर्मल है, महाराज। लेकिन अष्टकुलक राजन्यो ने आपके सरलपन का लाभ उठा कर, आपको अपने हाथो का हथियार बना रक्खा है। आपकी स्थिति धर्मराज युधिष्ठिर जैसी है। जो स्वयम् धर्म का अवतार होकर भी, स्व-कर्त्तव्य से पराङ्मुख होता गया। आप उस मूर्च्छा मे जागे और पहल कर के इस कूट चक्र को तोड दे, तो वैशाली मे क्रान्ति आपोआप हो जायेगी।'

'क्या मेरा व्रती जीवन ही अपने आप मे एक पहल नही?'

'क्षमा करे गणेश्वर चेटकराज! आपका व्रत तो कही वैशाली मे फली-भूत न दीखा। व्रत अन्यो को ले कर है, पर सापेक्ष है। अन्यो के साथ सम्बन्ध-व्यवहार मे वह प्रकट न हो, तो व्रत कैसा? अपने मे इतर के साथ हमारा सम्यक् सम्बन्ध और आचार क्या हो? उसी का निर्णायक तो व्रत है। सम्यक् निश्चय ही सम्यक् व्यवहार का निर्णायक है। असम्यक् निश्चय मे से, सम्यक् व्यवहार कैसे प्रकट हो सकता है।

श्रीभगवान् का स्वर गभीर होता आया

'व्रती वह, जो विरत हो। व्रत की आड मे विरति यदि कुछ विशिष्ट प्रतिज्ञाओ मे बँध कर जड हो जाये, तो समूचे जीवन-व्यवहार मे वह जीवन्त और प्रतिफलित कैसे हो? जो विरति, जो व्रत व्यक्ति मे ही बन्द रह कर अलग पड जाये, तो वह विरति नही आत्म-रति है। लोक से विच्छिन्न हो कर, वह लोक मे प्रकाशित कैसे हो सकती है? और यदि व्रत केवल अपने ही वैयक्तिक आत्मिक मोक्ष के लिये हो, तो फिर व्रती जीवन मे इतना रत

# २

## तुम्हारी कुँवारी सती, 'मैं आम्रपाली'

देवी आम्रपाली ने जलजुही और जल–चमेली की बहुत हलकी चादर अपने ऊपर से दूर फेंक कर, आँखें खोली। मानो शून्य में से आकार ले कर प्रकट हुई हो। लगा, जैसे कासनी रोशनी के समुद्र में से उठ कर उसने दिक्-चक्रवाल पर पैर रक्खा हो। और वहाँ से उतर कर, वह कहाँ आ गई है?

कोई दूसरा ही विश्व है यह। तीसरा, चौथा, पाँचवाँ विश्व। नहीं, यह किसी गणना में नहीं आता। यहाँ कोई परिमाण नहीं, आयाम नहीं। बेशुमार आयाम हैं यहाँ। एक के बाद एक खुलते असंख्य दलों का यह कमल-कोश। यहाँ दृष्टि ही आयाम हो गई है। हर बार दृष्टि उठने पर हर तरफ, हर जगह, एक नया और अपूर्व आयाम खुलता है।

और देवी आम्रपाली अपने भीतर अपने ही को सुनने लगी

लगता है कि अन्तरिक्ष में उत्तोलित हूँ। उसी की बनी हूँ, उसी में लुप्त हो कर, उसी में से फिर आकृत हो आई हूँ। फिर भी निरी वायवीय नहीं हूँ। प्राग्भार होते हुए भी, एक अज्ञात गुरुत्वाकर्षण से बँधी हूँ। किसी ठोस आलय में हूँ, कक्ष में हूँ। मेरा अपना कितना निजी कक्ष, अपने से भी अधिक अपना! फिर भी कितना अज्ञात, अज्ञेय। अत्यन्त सुपरिचित हो कर भी, कितना अपरिचित, कितना विदेशीय। फिर भी कितना स्वकीय, स्वदेशीय।

इतनी निर्भार हो कर भी, किसी शून्य में नहीं हूँ। नितान्त पृथ्वी पर हूँ। किसी भी जानी हुई पृथ्वी से अधिक ठोस, सघन, ऊष्मायित, ममतायित पृथ्वी। आलय में आलय है, आलय में आलय है। भवन में भवन, उसमें से खुलते नव-नूतन भवन। कक्ष के भीतर कक्ष के भीतर कक्ष के भीतर कक्ष और यह कोई मेरा अन्तिम कक्ष है!

मैं कौन हूँ? अनामा, अनजानी, अनपहचानी। कोई चिर काल की विदेशिनी। फिर भी कितनी प्राजल और प्रत्यक्ष है मेरी इयत्ता। विदेहिनी-सी हो कर भी, अत्यन्त सघन देह में उपस्थित। आकाशिनी अदिति, पृथ्वी से परिवलयित। शून्य की बेटी, रक्त-मांस के सारभूत शरीर में रूपायित। हाँ, मैं ही तो हूँ आम्रपाली।

'सत्यानाश' सत्यानाश। सत्य-प्रकाश 'सत्य-प्रकाश। सत्यानाश 'सत्या-नाश। सत्य-प्रकाश '' सत्य-प्रकाश !'

कल्पान्तकाल के उस समुद्र-गर्जन मे, सारे जम्बूद्वीप के सत्तासिंहासन उलट-पलट होते दिखायी पड़े।

अकस्मात् श्री भगवान् का रक्त कमलासन शून्य दिखायी पड़ा। उन्हें किसी ने वहाँ से उठ कर सीढ़ियाँ उतरते नही देखा।

असंख्य-जिह्व ज्वालाओ का एक सहस्रार समवसरण के तमाम मण्डलो में मँडलाता दीखा।

और श्री भगवान् का धर्मचक्र, महाकाल के मेरुदण्ड को भेद कर, दिक्काल का अतिक्रमण कर गया। □

# २

## तुम्हारी कुँवारी सती, 'मैं आम्रपाली'

देवी आम्रपाली ने जलजुही और जल-चमेली की बहुत हलकी चादर अपने ऊपर से दूर फेंक कर, आँखें खोली। मानो शून्य में से आकार ले कर प्रकट हुई हो। लगा, जैसे कासनी रोशनी के समुद्र में से उठ कर उसने दिक्-चक्रवाल पर पैर रक्खा हो। और वहाँ से उतर कर, वह कहाँ आ गई है ?

कोई दूसरा ही विश्व है यह। तीसरा, चौथा, पाँचवाँ विश्व। नहीं, यह किसी गणना में नहीं आता। यहाँ कोई परिमाण नहीं, आयाम नहीं। बेशुमार आयाम है यहाँ। एक के बाद एक खुलते असख्य दलो का यह कमल-कोश। यहाँ दृष्टि ही आयाम हो गई है। हर बार दृष्टि उठने पर हर तरफ, हर जगह, एक नया और अपूर्व आयाम खुलता है।

और देवी आम्रपाली अपने भीतर अपने ही को सुनने लगी

लगता है कि अन्तरिक्ष मे उत्तोलित हूँ। उसी की बनी हूँ, उसी मे लुप्त हो कर, उसी में मे फिर आकृत हो आई हूँ। फिर भी निरी बायवीय नही हूँ। प्राग्भार होते हुए भी, एक अज्ञात गुरुत्वाकर्षण से बँधी हूँ। किसी ठोस आलय मे हूँ, कक्ष मे हूँ। मेरा अपना कितना निजी कक्ष, अपने से भी अधिक अपना ! फिर भी कितना अज्ञात, अज्ञेय। अत्यन्त सुपरिचित हो कर भी, कितना अपरिचित, कितना विदेशीय। फिर भी कितना स्वकीय, स्वदेशीय।

इतनी निर्भार हो कर भी, किसी शून्य मे नहीं हूँ। नितान्त पृथ्वी पर हूँ। किसी भी जानी हुई पृथ्वी से अधिक ठोस, सघन, ऊष्मायित, ममतायित पृथ्वी। आलय मे आलय है, आलय मे आलय है। भवन मे भवन, उसमें से खुलते नव-नूतन भवन। कक्ष के भीतर कक्ष के भीतर कक्ष के भीतर कक्ष और यह कोई मेरा अन्तिम कक्ष है !

मैं कौन हूँ ? अनामा, अनजानी, अनपहचानी। कोई चिर काल की विदेशिनी। फिर भी कितनी प्राजल और प्रत्यक्ष है मेरी इयत्ता। विदेहिनी-सी हो कर भी, अत्यन्त सघन देह मे उपस्थित। आकाशिनी अदिति, पृथ्वी से परिवलयित। शून्य की बेटी, रक्त-मास के सारभूत शरीर मे रूपायित। हाँ, मैं ही तो हूँ, आम्रपाली।

'सत्यानाश सत्यानाश। सत्य-प्रकाश सत्य-प्रकाश। सत्यानाश 'सत्या-नाश। सत्य-प्रकाश सत्य-प्रकाश!'

कल्पान्तकाल के उस समुद्र-गर्जन में, सारे जम्बूद्वीप के सत्तासिंहासन उलट-पलट होते दिखायी पड़े।

अकस्मात् श्री भगवान् का रक्त कमलासन शून्य दिखायी पड़ा। उन्हें किसी ने वहाँ से उठ कर सीढ़ियाँ उतरते नहीं देखा।

असंख्य-जिह्व ज्वालाओं का एक सहस्रार समवसरण के तमाम मण्डलों में मँडलाता दीखा।

और श्री भगवान् का धर्मचक्र, महाकाल के मेरुदण्ड को भेद कर, दिक्काल का अतिक्रमण कर गया। □

के हर अवसर को मुकर दिया था, तब भी उसकी भोग्यता ने मुझे इतना सम्मोहन-कीलित कर दिया था, कि यहाँ का कुछ भी मेरा भोग्य न रह पाया।

ओह, मेरी त्रिवली मे यह कैसी विदग्ध कजरारी याद टीस उठी है? स्वप्न-तन्द्रा टूट गई है। तुम्हारे अलौकिक माया-राज्य की कारा से बाहर निकल आई हूँ। ठीक मानवी नारी रक्त-मास से स्पन्दित रमणी। निर्लज्ज हो कर कहती हूँ, ओ निर्दय वीतराग, मैं हूँ तुम्हारी कामिनी। तुम्हारी अन्तरिक्षा ब्राह्मी नही ठीक ठोस पृथ्वी—मै आम्रपाली।

काश, तुमने मेरी व्यथा को समझा होता! सुनोगे आज मेरी कथा? सुनो या न सुनो, आज बन्ध टूट गये है, और सुनाये बिना न रह सकूँगी।

कल पहली बार तुम्हारे रूप की झलक देखी। और देखते ही एक ऐसा वैद्युतिक रोमाचन हुआ, कि देह हाथ से निकल गई। तुम्हारी वह चितवन एक बार मेरे द्वार की ओर उठी, और किवाड की ओट अपलक थमी मेरी आँखो पर जैसे एक अप्रतिवार्य मोहिनी का उल्कापात-सा हुआ। हठात् जगत् के तमाम रूपाकार लुप्त होते दिखाई पडे। अपने ही रूप को विलय होते प्रत्यक्ष देखा। और जैसे किसी ने महसा ही मुझ से मेरा शरीर छीन लिया। तुमने? पता नही। मेरी मुँद गई आँखो मे सौन्दर्य की ऐसी आँधियाँ उठी, कि वे मुझे निरी हवा बना कर उडा ले गई। और उस उडान मे से मुड़ कर मैने पीछे देखा, तो पाया कि आम्रपाली द्वार की शालभंजिका की तरह शिलीभूत हो कर, किवाड की ओट की दर्पणी दीवार मे मूर्ति की तरह जडी रह गई है। एक विचित्र विदग्ध त्रिभगी मुद्रा मे नम्रीभूत, और अचल है उसके हाथ का सहस्रदीप नीराजन। तुम जा चुके थे। लेकिन उसके पहले ही एक इन्द्रजाली की जादुई माया मुझे उडा ले गई थी। बलात् मेरा हरण कर गयी थी।

उसके बाद क्या हुआ, मुझे पता नही। मेरी उस मूर्च्छित काया को कब किसने उठाया, कहाँ लिटाया, कब और कौन मुझे यहाँ लाया, क्या उपचार परिचर्या हुई। कुछ पता नही। आम्रपाली की सेवा मे परिचारिका न हो, ऐसा कभी हुआ नही। मेरे अन्तिम एकान्त के क्षणो मे भी, कही नेपथ्य मे कोई चारिका सदा प्रस्तुत रही। लेकिन आज इस भीतर से अर्गलित कक्ष मे, निपट अकेली छोड दी गयी हूँ। किसी सग या सेवा की चाह भी नही है। मगर स्पष्ट देख रही हूँ, कि शासन यहाँ मेरा नही, किसी दूसरे का है। दुनिया की कोई सत्ता आज तक आम्रपाली पर शासन न कर सकी। लेकिन आज? आज मै किसी के कारागार की बन्दिनी हूँ!

जान-बूझ कर तो तुम कुछ करते नही। वीतराग अकर्त्ता हो। पर अनजाने ही सृजन, स्थिति, सहार, निग्रह और अनुग्रह रूप, परमेश्वर के पच कृत्य तुमसे होते रहते है, ऐसा मैने वेद के महाज्ञानियो से सुना है। लेकिन यह

"'पलंग के पास पडी वैदूर्य रत्न' की चौकी पर, सूर्यकान्त मणि के प्याले मे कल्प-लता की मदिरा उफन रही है। कितने दिन हो गये सुरापान किये, याद नहीं आता। मेरे हृदय के अनाहत कमल मे दिन-रात कोई ऐसी वारुणी स्वत प्रस्रवित होती रहती है, कि मेरा अग-अंग वायुमान हो कर सदा झूमता रहता है। आँखो मे खुमार के रतनारे समुद्र मचलते रहते है।

सारे कक्ष मे केतकी के पीले पराग की नीहार-सी छायी हुई है। उद्यान मे झीमते कचनारो की बनफशई गन्ध से, सारा वातावरण कैसी वाष्पित ऊष्मा से व्याकुल हो उठा है। ऐसे मे कोई कैसे इस देह की मासल सीमा-बद्धता को सहे ? जी चाहता है कि भाग कर चली जाऊँ कही, पृथ्वी और आकाश के पार, लोक के तनु-वातवलयो के पार। अलोकाकाश की निश्चेतन शून्यता मे विसर्जित हो कर खो जाऊँ। पर इस बन्द कक्ष मे, जाने कौन एक अनिर्वार उपस्थिति मुझे चारो ओर से अपने बाहुबन्ध मे जकडे हुए है। हाय, कितना निर्दय है वह कोई, जिसके आश्लेष की जकडन तो महसूस होती है, लेकिन वह प्रकाम्य सुन्दर बाहुबन्ध मेरी आँखो से छीन लिया गया है। एक विचित्र अदृश्यता के लीला-चचल प्रदेश मे, अचिन्त्य निगूढ सम्भावनाओ के प्रकम्पनो से घिरी हूँ। मानो कि अभी कोई यवनिका किसी भी परमाणु पर से उठ सकती है, और जाने क्या-क्या दिखाई-सुनाई पड जायेगा !

अज्ञान्त दूरान्तो मे से यह कैसी संगीत ध्वनि आ रही है। जैसे गन्ध-मादन पर्वत पर रक्खी सामुद्रिकवीणा की पानीली गहनता मे से, आपोआप 'पूरिया-धनाश्री' की विरह-विकल रागिनी उठ रही है। नेपथ्य मे यह कौन किन्नरी, रात-दिन करुण विहाग गाती रहती है ?

○ ○ ○

कुछ याद-सा आ रहा है। कुछ देखा है मैने कही, कभी भी। नही, अभी-अभी। अभी और यहाँ। कल, परसो, जन्मान्तर मे, या इस क्षण—क्या अन्तर पडता है। क्यो कि जो देखा है, वह समय, दिशा, काल से बाहर होकर भी, ठीक समय मे है, रूप मे है, पिण्ड मे है। इन्द्रिय-गोचर है, अत्यन्त पार्थिव और लौकिक है। मेरे इस शरीर, इस सारे रूपोमय जगत् से अधिक इन्द्रिय-ग्राह्य और प्रत्यक्ष। बाहर के इन सारे रूपो को हम छू कर भी जैसे छू नही पाते। ये परोक्ष है, और हमारी छुवन को हर पल धोखा देते रहते है। हम इन्हें पकडे रहने की भ्रान्ति मे होते है, और ये लहरों की तरह हमारी उँगलियो के बीच से फिसल कर जाने कहाँ लुप्त होते रहते है। लेकिन जो देखा है, वह इतना प्रत्यक्ष, गोचर और अनुभव्य है, कि मेरी इस देह के अपने ही स्पर्श से भी कई गुना अधिक स्पृश्य ग्राह्य और ज्ञेय है। ससार के चरम भोग्य से हजार गुना अधिक भोग्य। इसीलिये तो जब उसे देखा नहीं था, देखने

के हर अवसर को मुकर दिया था, तब भी उसकी भोग्यता ने मुझे इतना सम्मोहन-कीलित कर दिया था, कि यहाँ का कुछ भी मेरा भोग्य न रह पाया।...

ओह, मेरी त्रिवली मे यह कैसी विदग्ध कजरारी याद टीस उठी है? स्वप्न-तन्द्रा टूट गई है। तुम्हारे अलौकिक माया-राज्य की कारा से बाहर निकल आई हूँ। ठीक मानवी नारी रक्त-मास से स्पन्दित रमणी। निर्लज्ज हो कर कहती हूँ, ओ निर्दय वीतराग, मैं हूँ तुम्हारी कामिनी। तुम्हारी अन्तरिक्षा ब्राह्मी नही ठीक ठोस पृथ्वी—मैं आम्रपाली।

काश, तुमने मेरी व्यथा को समझा होता! सुनोगे आज मेरी कथा? सुनो या न सुनो, आज बन्ध टूट गये है, और सुनाये बिना न रह सकूँगी।

कल पहली बार तुम्हारे रूप की झलक देखी। और देखते ही एक ऐसा वैद्युतिक रोमाचन हुआ, कि देह हाथ से निकल गई। तुम्हारी वह चितवन एक बार मेरे द्वार की ओर उठी, और किवाड की ओट अपलक थमी मेरी आँखो पर, जैसे एक अप्रतिवार्य मोहिनी का उल्कापात-सा हुआ। हठात् जगत् के तमाम रूपाकार लुप्त होते दिखाई पडे। अपने ही रूप को विलय होते प्रत्यक्ष देखा। और जैसे किसी ने सहसा ही मुझ से मेरा शरीर छीन लिया। तुमने ? पता नही। मेरी मुँद गई आँखो मे सौन्दर्य की ऐसी आँधियाँ उठी, कि वे मुझे निरी हवा बना कर उडा ले गई। और उस उडान मे से मुड कर मैने पीछे देखा, तो पाया कि आम्रपाली द्वार की शालभजिका की तरह शिलीभूत हो कर, किवाड की ओट की दर्पणी दीवार मे मूर्ति की तरह जडी रह गई है। एक विचित्र विदग्ध त्रिभगी मुद्रा मे नम्रीभूत, और अचल है उसके हाथ का सहस्रदीप नीराजन। तुम जा चुके थे। लेकिन उसके पहले ही एक इन्द्रजाली की जादुई माया मुझे उडा ले गई थी। बलात् मेरा हरण कर गयी थी।

उसके बाद क्या हुआ, मुझे पता नही। मेरी उस मूर्च्छित काया को कब किसने उठाया, कहाँ लिटाया, कब और कौन मुझे यहाँ लाया, क्या उपचार परिचर्या हुई। कुछ पता नही। आम्रपाली की सेवा मे परिचारिका न हो, ऐसा कभी हुआ नही। मेरे अन्तिम एकान्त के क्षणो मे भी, कही नेपथ्य मे कोई चारिका सदा प्रस्तुत रही। लेकिन आज इस भीतर से अर्गलित कक्ष मे, निपट अकेली छोड दी गयी हूँ। किसी सग या सेवा की चाह भी नही है। मगर स्पष्ट देख रही हूँ, कि शासन यहाँ मेरा नही, किसी दूसरे का है। दुनिया की कोई सत्ता आज तक आम्रपाली पर शासन न कर सकी। लेकिन आज? आज मैं किसी के कारागार की बन्दिनी हूँ!

जान-बूझ कर तो तुम कुछ करते नही। वीतराग अकर्त्ता हो। पर अनजाने ही सृजन, स्थिति, सहार, निग्रह और अनुग्रह रूप, परमेश्वर के पच कृत्य तुमसे होते रहते हैं, ऐसा मैंने वेद के महाज्ञानियो से सुना है। लेकिन यह

पलग के पास पडी वैदूर्य रत्न की चौकी पर, सूर्यकान्त मणि के प्याले में कल्प-लता की मदिरा उफन रही है। कितने दिन हो गये सुरापान किये, याद नही आता। मेरे हृदय के अनाहत कमल मे दिन-रात कोई ऐसी वारुणी स्वत प्रस्रवित होती रहती है, कि मेरा अग-अग वायुमान हो कर सदा झूमता रहता है। आँखो मे खुमार के रतनारे समुद्र मचलते रहते है।

सारे कक्ष मे केतकी के पीले पराग की नीहार-सी छायी हुई है। उद्यान मे झीमते कचनारो की वनपशई गन्ध से, सारा वातावरण कैसी वाष्पित ऊष्मा से व्याकुल हो उठा है। ऐसे मे कोई कैसे इस देह की मासल सीमा-बद्धता को सहे? जी चाहता है कि भाग कर चली जाऊँ कही, पृथ्वी और आकाश के पार, लोक के तनु-वातवलयों के पार। अलाकाकाश की निश्चेतन शून्यता मे विसर्जित हो कर खो जाऊँ। पर इस बन्द कक्ष मे, जाने कौन एक अनिर्वार उपस्थिति मुझे चारो ओर से अपने बाहुबन्ध मे जकडे हुए है। हाय, कितना निर्दय है वह कोई, जिसके आश्लेष की जकडन तो महसूस होती है, लेकिन वह प्रकाम्य सुन्दर बाहुबन्ध मेरी आँखो से छीन लिया गया है। एक विचित्र अदृश्यता के लीला-चचल प्रदेश मे, अचिन्त्य निगूढ सम्भावनाओ के प्रकम्पनो से घिरी हूँ। मानो कि अभी कोई यवनिका किसी भी परमाणु पर से उठ सकती है, और जाने क्या-क्या दिखाई-सुनाई पड जायेगा!

अश्रान्त दूरान्तो मे से यह कैसी सगीत ध्वनि आ रही है। जैसे गन्ध-मादन पर्वत पर रक्खी सामुद्रिकवीणा की पानीली गहनता मे से, आपोआप 'पूरिया-धनाश्री' की विरह-विकल रागिनी उठ रही है। नेपथ्य मे यह कौन किन्नरी, रात-दिन करुण विहाग गाती रहती है?

○ ○ ○

कुछ याद-सा आ रहा है। कुछ देखा है मैने कही, कभी भी। नही, अभी-अभी। अभी और यहाँ। कल, परसो, जन्मान्तर मे, या इस क्षण—क्या अन्तर पडता है। क्यों कि जो देखा है, वह समय, दिशा, काल से बाहर होकर भी, ठीक समय मे है, रूप मे है, पिण्ड मे है। इन्द्रिय-गोचर है, अत्यन्त पार्थिव और लौकिक है। मेरे इस शरीर, इस सारे रूपोमय जगत् से अधिक इन्द्रिय-ग्राह्य और प्रत्यक्ष। बाहर के इन सारे रूपो को हम छू कर भी जैसे छू नही पाते। ये परोक्ष है, और हमारी छुवन को हर पल धोखा देते रहते है। हम इन्हें पकडे रहने की भ्रान्ति मे होते है, और ये लहरो की तरह हमारी उँगलियों के बीच से फिसल कर जाने कहाँ लुप्त होते रहते है। लेकिन जो देखा है, वह इतना प्रत्यक्ष, गोचर और अनुभव्य है, कि मेरी इस देह के अपने ही स्पर्श से भी कई गुना अधिक स्पृश्य ग्राह्य और ज्ञेय है। ससार के चरम भोग्य से हज़ार गुना अधिक भोग्य। इसीलिये तो जब उसे देखा नही था, देखने

रखने को मै लाचार हो गई। और वही किवाड की ओट मर रही। मगर तुमने वैशाली की सरे राह मेरी लाज का आँचल उतार कर, उसकी चिन्दियाँ उडा दी। और अपने अन्तरिक्ष-पथ पर बेखटक और निर्मम भाव से आगे बढ़ गये। खुले चौराहे पर तुम मेरा अपमान कर गये। मेरे सामने न आने पर, सारे भद्र लोक के मन मे यही तो लगा होगा, कि कलकिनी वेश्या है न, कौन-सा मुँह ले कर कलमुँही पापिन भगवान् के सामने आती ? ठीक है, मेरी लाज, मेरा मान तुम हो, और तुमने उसके साथ मनमानी की, तो उसमे मेरा क्या दखल है, क्या बस है ? और मेरी लाज लुटी, मेरा मान खण्डित हुआ, तो क्या तुम्हारी ही लज्जा नही लुटी, तुम्हारा ही मान चूर-चूर न हुआ ? लेकिन भूल गई, तुम तो वीतराग हो। वीतराग को लज्जा कैसी, मान कैसा ?

तुम्हारी ठोकर झेलने को तो यह छाती जन्मी ही है। लेकिन किसी भगवान् की ठोकर सहने को आम्रपाली पृथ्वी पर नही आई है। लोक तुम्हे अब केवल भगवान् के रूप मे जानता है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर के रूप मे पूजता है। लोक के और मेरे बीच, तुम एक स्पर्शातीत, ऊर्ध्वासीन परम परमेश्वर बन कर खडे हो। वहाँ तुम्हारे साथ मेरा कोई सम्बन्ध नही हो सकता। कोई निजत्व, कोई अपनत्व भगवत्ता मे सम्भव नही। तुम मेरे लिये अनिवार्य हो सकते हो, लेकिन मैं तुम्हारे लिये अनिवार्य नही हो सकती। तुम केवल सब के हो सकते हो, किसी एक के हो कर नही रह सकते। लेकिन मै केवल तुम्हारी हो कर रहने को मजबूर हो गई !

और मेरी ऐसी लाचारी हो गई, कि मै एकान्त रूप मे तुम्हारी हो कर रह गई। बिन जाने, बिन देखे, बिन सुने, बिन बूझे, अनजाने ही तुम्हे अनन्य भाव से अपना मान बैठी। और वही सबसे बडी त्रासदी हो गई। केवल वैशाली की ही नही, सारे आर्यावर्त की सुवर्ण-क्रीता लोक-वधू, वेश्या, वारागना—और त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर को प्यार करने की हिमाकत करे ? सकल चराचर के समान प्रेमी भगवान् पर अपना अधिकार जमाये ? बस, एक नादानी अनजान मे, जाने किस बेबूझ, निगूढ परवशता मे हो गई, और मेरा बिछौना सदा के लिये काँटो और लपटो पर बिछ गया।

○ ○ ○

उस दिन के बाद तुम्हारे और मेरे बीच एक नगी तलवार लटक गई। एक ज्वालाओ की दीवार खडी हो गई। एक सन्यानाशी हुताशन हमारे बीच खेलता रहा। तुम्हे प्यार करना मेरे लिये, आकाश के पलँग पर वासुकी नाग से रमण करने जैसा ही दुर्वह, दुःसह और भयावह हो गया।

मैं तो वेश्या हूँ, वही जन्मी हूँ। मेरे लिये लज्जा क्या, मर्यादा क्या ? निर्लज्ज होने के लिये ही तो मै पैदा हुई हूँ। मै तो चौराहो पर नगी की

जाती हूँ। तुम्हारे गणराज्य की गणिका जो ठहरी मैं ! लेकिन तुम्हें ले कर मेरी लज्जा का पार नही था। मेरे अनजाने ही, तुम मेरी लाज के स्वामी जो हो गये थे। इतने, कि तुम्हारे सामने आना तक मेरे लिये असम्भव हो गया। इसी से उस दिन संथागार मे भी न आ सकी, जब तुम पहली बार वैशाली आये थे। तुम्हारे दर्शन तक को तरस कर रह गई। उसके बाद भी, अपने तपस्या काल के परिव्राजन मे तुम अनेक बार वैशाली आये। मेरी योनि कसक कर मुझे बता देती थी, कि तुम आये हो। और आखिर एक बार किसी इन्द्रजाली की तरह, कोई ऋद्धि-शरीर धर कर तुम मेरे पास आने को विवश हो ही गये थे। लेकिन कितने दुर्लभ, कितने अस्पृश्य और अग्राह्य। और पल मात्र मे अन्तर्धान हो गये थे। मैं हार कर अपने मे ही मर रही। तुम मेरी वेदना को अनन्त गुना करके चले गये। मुझे अपनी होमाग्नि के हुताशन पर लिटा गये।

वैशाली मे किसी को भी तुम्हारे आगमन का पता नही लग पाता था। पर जाने कैसे मुझे प्रत्यक्ष दीख जाता था, कि तुम आये हो, और किस विजन मन्दिर या खण्डहर मे ठहरे हो। चाहती, तो मैं तुम्हारे उन एकान्तो मे तुम्हारा पीछा कर सकती थी। तुम्हारे सामने उपस्थित हो कर, तुम्हारी एकाकी समाधि पर टूट सकती थी। और तुम्हारी कायोत्सर्ग मे लीन समाधिस्थ काया को, अपनी छाती मे भर कर अपने महल मे उठा लाती, और तुम्हारे साथ मनमानी कर लेती। क्या तुम मुझे मने कर सकते थे ? नही, मेरी गोद मे शिशु की तरह लुढक कर सो जाते, और मैं तुम्हे अपने अतल गर्भ मे खीच कर बन्दी बना लेती। तुम मेरा आँचल झटक कर जा नही सकते थे। मुझ से तुम्हारे लिये कही बचत नही थी। वह तुम्हारी नियति नही, वह तुम्हारा स्वधर्म नही। इस बात को मुझ से अधिक कौन जान सकता है !

लेकिन नही, मैं तुम्हारे पीछे नही आयी। मैंने स्वेच्छाचार नही किया। क्यो कि तुम मेरी लज्जा थे, और मैं तुम्हारी मर्यादा थी। यह मेरा शरीर तक जानता था। तुम सकल चराचर के थे। तो इतनी अधम कैसे होती, कि तुम्हे अपने अन्तर्वासक (अधोवसन) की पटली मे कैद कर लेती, अपनी कंचुकी मे समेट कर, अपने सघन स्तनो के बीच की बिस-तन्तु गहिरिमा मे लुप्त और गुप्त कर देती सदा के लिये। आम्रपाली की मोहिनी मे कुछ भी अशक्य नहीं था। लेकिन नही, मैं अपने विराट् पुरुष को इतना छोटा कैसे कर सकती थी। तुम्हारी प्रिया हो कर इतनी नीच कैसे हो सकती थी, कि जड-जगम प्राणि मात्र से तुम को छीन कर, तुम्हें अपनी तिजोरी मे बन्द कर देती। अपने हिमवान् को, अपनी गंगोत्री की गुहा मे कैसे पूर सकती थी, कैसे रूंध सकती थी। तुम्हें गंगा बन कर त्रिलोकी मे बहा देना ही, मेरा एक मात्र सुख हो सकता था।

यह तो तुमसे अनजाना नही, कि सारे जम्बू द्वीप के सम्राट और साम्राज्य मेरे कदमो मे बिछे रहते थे, पर मैंने आँख उठा कर भी उनकी ओर नहीं देखा। यों भी वेश्या को लज्जा क्या, फिर तुम्हारे सामने निर्लज्ज न होऊँ, तो और कहाँ नग्न होने का अवसर है मेरे लिये। इसीलिये आज लज्जा त्याग कर कहती हूँ, कि मैं केवल तुम्हारी कुँवारी सती हो कर रह गई! विचित्र है मेरा यह शरीर। सारा जगत् इस पर से पानी की तरह बह गया, पर वह मेरी त्वचा तक को न छू सका, भिगो देना तो दूर की बात। मेरी गोपन गुहा को द्रवित कर सके, ऐसा कोई अन्य पुरुष अभी पृथ्वी पर नही जन्मा। सिवाय एक के। छोड़ो वह बात।

जगज्जयी श्रेणिक बिम्बिसार, मेरे लिये अगम वीरानो की खाक छानते फिरे। प्रतिहिंसक हो कर, अभेद्य अरण्यो मे अहेरी की तरह भकटते फिरे, और निर्दोष प्राणियो का आखेट करते रहे। अनावश्यक युद्धो के बर्बर कत्ले-आम चला कर, आम्रपाली को न पा सकने की अपनी असह्य कचौट को पहाडो पर पछाडते फिरे। आम्रपाली हाथ न आई, तो एकान्त अटवी मे ध्यानस्थ यशोधर मुनि को ही महावीर समझ कर, तुम्हारी हत्या तक को उद्यत हुए। अनेक बार वेश बदल कर वे मेरे परिवेश मे आये, मेरे सामने तक आये। विन्ध्याचल में उनके वीणा-वादन पर आम्रपाली ऐसी नाची, कि नृत्य-कला की पराकाष्ठा हो गई। उसने देव-गन्धर्व विश्वावसु तक का आसन हिला कर, उसे वहाँ आने को विवश कर दिया। सम्राट की वीणा के तार, उनकी अँगुलियो के उत्कट वासनाकुल दवावो से टूट गये, उनकी अँगुलियाँ लहूलुहान हो गई। वे आम्रपाली के चरण पकड लेने को धरती पर लोट गये। विश्वावसु ताकता रह गया। और आम्रपाली कब की वहाँ से जा चुकी थी!

अवन्तिपति चण्डप्रद्योत ने तुम्हारी मौसी शिवादेवी को अपदस्थ कर, मुझे उज्जयिनी की पट्टमहिषी बनाने के पैग़ाम भेजे। भुवन-मोहन उदयन के शूरातन, सौन्दर्य और सगीत पर मुग्ध हो कर, आम्रपाली ने मुस्करा भर दिया। तो अनम्य वत्सराज ने उसके चरणो की महावर हो जाना चाहा। उसका लोहित चुम्बन हवाओ पर व्यर्थ होता रहा। अम्बा की पगतलियाँ, वहाँ कही नही थी! पारस्य के शाहे-आलम ने अपने अकूत खजानो की कुजियाँ मुझे सौग़ात मे भेजी, कि वे मेरी करधौनी पर लटक जायें। आम्रपाली ने उठा कर वे कुजियाँ अपनी एक दासी के पैरो मे डाल दी, कि चाहे तो वह पारस्य की दन्तकथा-बनी निधियो को लूट कर, पारस्य की महारानी हो जाये!

आर्यावर्त के पूर्वीय और पश्चिमीय सीमान्तो के सत्ताधीशो ने अपने मुकुट अम्बा के चरण-प्रान्त मे रगडे। सारे जम्बू द्वीप के सत्ता और सम्पत्ति के सिंहासन आम्रपाली की भाँवरे देते रहे। अरबो-खरबोपति सार्थवाहो के

रत्न-सुवर्ण से भरे पोतो ने, मेरे तटो पर अन्तिम लगर डाल दिये। सोलोमन की सुवर्ण-खदानो का स्वामित्व मेरे सौन्दर्य का याचक हो कर आया। यूनान के समुद्रजयी योद्धाओ ने, आम्रपाली तक पहुँचने के लिये अज्ञात बीहड सागरो की तहें उलटी। यूनान के कवियो ने अम्बा के अनदेखे सौन्दर्य पर महाकाव्य रचे, और वहाँ के दुर्द्धर्ष ज्ञानियो ने उसे अपने प्रणय का स्वप्न बना कर, नये सौन्दर्य-शास्त्र और जीवन-दर्शन आविष्कृत किये। लेकिन आम्रपाली अपने आकाश-वातायन से यह सब देख कर केवल मुस्कराती रही, और जब चाहा, मनुष्य के हर पुरुषार्थ और पराक्रम की पहोच से वह बाहर हो गयी।

वारागना आम्रपाली के सान्ध्य-दरबार के द्वार, हर सहस्र सुवर्ण देने वाले के लिये खुले थे। चाहे-अनचाहे, उस सान्ध्य-सभा मे आ कर गाने और नाचने को वह बाध्य थी। क्यो कि वह एक गणतत्र की नगर-वधू थी। हर सुवर्णपति क्रेता का उस पर बोली लगाने का अधिकार था। उन सभाओ मे कितने ही छद्मवेशो मे, जाने कितने न शूरमा, सम्राट, धन्ना सेठी, ज्ञानी, तपस्वी, ऋषि, योगी न आये होगे। मेरे कटाक्षो तले जाने कितनी न लाशें बिछी होंगी। लेकिन डरावान् समुद्र की जाया अप्सरा, आज तक कब किसी की अधिकृता हो कर रह सकी है ! जगत् के सारे सिहासनो और वैभवो को व्यर्थ और पराजित करने के लिये ही तो, वह जल-कन्या यहाँ अवतरित होती है।

अपनी सान्ध्य-सभाओ के अपने लीला-लास्य का, मै स्वयम् देख कर चकित रह जाती थी। मेरे कटाक्षो और मुस्कानो की मोहिनी, मेरे तमाम अतिथियो के होश छीन लेती थी। मुँह-माँगा द्रव्य द कर वे मेरे विलास-कक्ष मे आते थे। वे इस भ्रम मे होते थे कि आम्रपाली उनकी बाँहो मे आ गई है, मगर वे नही जानते थे कि आम्रपाली वायु-शरीरी है, जल-जाया है। वह मनुष्य की मास-गर्भ-जात कन्या नही, आकाश की बेटी है। वह किसी की हुई नही, हो सकती नही। वे सुवर्ण, सुरा और शरीर की मूर्च्छा मे डूब जाते थे, और अबा के परिरम्भण सुख मे मगन होने की भ्रान्ति मे होते थे। और अम्बा जाने कब अन्तरिक्षा हो कर, उनके ठोस शरीरो की जकडनो को बेमालूम बीध कर, हवाओ मे गायब हो जाती थी। लेकिन ठीक तभी आम्रपाली, अपने अप्रवेश्य एकान्त कक्ष की शैया मे, जाने किस अनदेखे पुरुष के विरह मे छटपटाती हुई, करवटे बदलती रहती थी !

शरीरो तक को भेद जाने की ऐसी सर्वमोहिनी सामर्थ्य ले कर यदि मै चाहती, तो क्या तुम्हे अपने बाहुपाश मे अन्तिम रूप से नही बाँध सकती थी ? लेकिन हाय, अपने असीम को सीमा मे कैसे बाँधती ! अपने ही विराट् को मास मे कैसे कैद करती ? सो तुम्हारे सामने आने के हर अवसर को मै चूकती ही चली गई।

'लेकिन कल तो तुम स्वयम् ही मेरे द्वार पर आ खड़े हुए थे। अपनी इच्छातीत वीतरागता को तुम जानो। मगर कल तुम ठीक मेरे ही लिये, सारी मर्यादाएँ तोड कर आये थे, इसे किसी तर्क से नकारा नही जा सकता। तब मेरा अधिकार तुम पर प्रत्यक्ष हो गया था। और मै चाहती, तो आ कर तुम्हारे चरणो को अपनी बाहुओ मे समेट कर, अपनी छाती मे सदा-सदा के लिये जकड लेती। मेरी छाती उस धातु से बनी है, जिससे छूट कर तुम जा नही सकते थे। क्यो कि यह छाती केवल तुम्हारे चरणो को झेलने के लिये बनी है। और सर्वमोहिनी वेश्या हो कर, यह मुझ से छुपा नही रह गया था, कि सर्वमोहन महावीर की नियति-वधू केवल मैं हो सकती हूँ। क्यो कि हम दोनो ही एकाधिकार से ऊपर है। हाय, तुमने मेरे वेश्यापन को भी सार्थक कर दिया। विचित्र है तुम्हारी लीला!

जाने कब से जान गई थी, कि मैं जन्मान्तरो से तुम्हारी दासी और स्वामिनी एक साथ हूँ। इसी जन्मसिद्ध अधिकार की प्रत्यभिज्ञा के बल पर, तुम्हारे अनन्तकाल व्यापी विरह को सहते जाने की शक्ति मै पा गयी थी। कल अन्तिम अवसर था, तुम्हे पा लेने का, वह भी मै चूक गई। अब शायद कभी भी मै तुम्हारे सन्मुख न हो सकूँगी। परसन तो तुम्हारा अकल्पनीय है। भगवान् को भला कौन छू सकता है? लेकिन क्या तुम्हारे दर्शन तक की प्यास का ले कर ही मुझे मर जाना होगा?

ऐसा कोई निष्ठुर भगवान् कभी मेरी समझ मे न आ सका, जो हर किसी के प्रेम का एकान्त अधिकार तो भोगता है, लेकिन हर कोई जिसके प्यार पर अपना एकान्त अधिकार नही रख सकता। क्षमा करोगे मुझे, मगर यह मुझे सर्वशक्तिमान भगवान् का बलात्कार और व्यभिचार लगता है। तो व्यभिचारिणी तो मै भी हूँ ही। (फिर हमारे बीच अन्तर कैसा? मुझ जैसी एक चरम व्यभिचारिणी ही, क्या तुम्हारे जैसे परम व्यभिचारी की एक मात्र वधू होने की अधिकारिणी नही? आज मेरी पीडा पार-वेधक हो उठी है) उसी रोष और कटुता मे, शायद मै बहुत बडा सत्य बोल गयी हूँ!

पूछती हूँ, नर-नारी की ऐकान्तिक प्रीति की चाह क्यो है अस्तित्व मे, यदि वह मिथ्या-माया है? यदि उसे व्यर्थ ही होना है, तो प्रणय-सम्वेदना का उद्भव कर के, उसके चक्रावर्त्तनो और लीलाओ को पूरा अवसर दे कर, जगत् के स्रष्टा ने मनुष्य के साथ बड़ा क्रूर मज़ाक किया है। यदि नर-नारी की ऐकान्तिक मानुषी प्रणय-लीला माया है, झूठ है, भ्रान्ति है, भग होना ही उसकी एक मात्र नियति है, और केवल सर्व-प्रेमिक भगवान् को प्रेम करना और समर्पित होना ही एकमेव सत्य और सार वस्तु है, तो ऐसे दुहरे और द्वद्वात्मक प्रपच के परिचालक किसी सर्व-सत्ताधीश भगवान् को स्वीकारना,

मानवी--और वह भी वेश्या आम्रपाली के लिये सम्भव नहीं है। यह प्रश्न मेरे लिये नया नहीं। जब से तुम्हें चाहने की त्रासदी मुझ से हुई, तभी से यह प्रश्न मुझे हर पल कचोटता और खाता रहा है। लेकिन शायद इसका उत्तर तुम्हारे पास नहीं !

जान पड़ता है, भगवान् केवल प्रश्न खड़े करता है, वह स्वयम् एक महाप्रश्न है। उत्तर देने का कष्ट करना शायद उसे गवारा नहीं।"

○ ○ ○

फिर भी पूछती हूँ

*नर-नारी के भीतर जो आत्म है, वही क्या भगवान् नहीं है ?*
*फिर उनके बीच, किसी अन्य पुरुष बाहरी भगवान् के*
*खड़े होने की क्या ज़रूरत है ?*
*क्यों प्रणय-कामी युगल स्वतन्त्र नहीं, एक-दूसरे के भीतर*
*अपने ही आप्त-स्वरूप को पा लेने के लिये ?*
*क्यो नर-नारी ही एक-दूसरे के आत्म-दर्पण नही हो सकते ?*
*क्यो नर-नारी ही एक-दूसरे के*
*भगवान् और भगवती नही हो सकते ?*
*उनके बीच*
*क्यो एक बाहरी भगवान् आयात करना जरूरी हो ?*
*क्या हर स्त्री-पुरुष अपने आप मे ही आप्तकाम नही ?*
*फिर यह भगवान् की उपाधि हमारे बीच क्यों ?*
*जो भगवान् पुरुष और योषिता को*
*अनन्त वियोग के समुद्र मे डुबा देता है,*
*वह मुक्ति नही, बन्धन है।*
*वह तारक नही, मारक है।*

इसी से आज भगवान् मात्र को अपने बीच से हटा कर, मै तुम से एक निपट मानवी नारी की तरह, सीधी और साफ बात कर लेना चाहती हूँ। इस क्षण तक भी लज्जा का कोई सूक्ष्म अज्ञात आवरण हमारे बीच रहा है। अब मैं सारे आवरणो को छिन्न करके, आज परम निर्लज्ज रूप मे तुम्हारे सामने आना चाहती हूँ। तुम तो त्रिकाल-द्रष्टा, सर्वदर्शी केवलज्ञानी हो। तुम्हारे उस अव्याबाध ज्ञान मे तो अनाद्यन्त देश-कालो की सारी लीलाएँ हर क्षण झलक रही है। तो सम्भव नही, कि तुम इस वक्त इस कक्ष मे

नही हो, और मेरी इस अन्तिम निर्लज्जता और नग्नता के साक्षी नही होओगे।

मेरी व्यथा-कथा का अन्तिम निवेदन सुनो, महावीर! आम्रवन के तलदेश मे अनाथ पडी पायी गयी शिशु अम्बा, जब महानाम सामन्त के घर में पल कर परमा सुन्दरी किशोरी हो गई, तभी से सारी वैशाली की गृद्ध दृष्टि, उसे अपने गण की जनपद-कल्याणी बनाने को तुल रही थी। और सोलहवें बरस की सोलहो कलाओ मे विकसित अपने रूप और यौवन पर, मैंने, जब हजारो पुरुषो की आँखो मे एक ही पशु झाँकता देखा, तो उस बाल्य वय मे ही पुरुष मात्र के प्रति मुझे घृणा हो गई। उन्ही दिनो महानाम बापू, वैशाली के यायावर राजपुत्र महावीर के दु माहसिक भ्रमण-वृत्तान्त मुझे सुनाया करते थे। सुनती थी, कि तुम्हारे दर्शन तक दुर्लभ हैं। वैशाली के देवाशी राज पुत्र ने, कभी वैशाली का मुँह तक नही देखा। वह गुजान अगम्य अरण्यो मे, और अजेय पर्वत-शृगो पर सिहो से खेलता है, और उन पर सवारी करता है। उसके बालापन मे, जनपद की हर कुमारिका और रमणी, उसे अपना स्तनपान कराने को तरसती, और उसके पीछे भागी फिरती थी। तुम्हारा हर कदम एक उपद्रव होता था। तुमने राजमहालय की सारी मर्यादाएँ तोड दी। अन्त्यज चाण्डालो और कसाइयो तक के घर-आँगनो मे तुम खेलते थे। तुमने कुण्डपुर के महालय का प्राणि-उद्यान लीला मात्र मे उजाड दिया। तुमने वैशाली को गणतत्र नही, राजतत्र प्रमाणित किया। तुम अपने ही कुल-गोत्र, घर-परिवार और अपने ही राज्य तथा सिहासन के विरुद्ध उठे। सुनग्ना प्रकृति के विराट् सौन्दर्य-प्रदेशो मे, अवारित भ्रमण ही तुम्हारी एक मात्र क्रीडा थी।

इन सारी कथाओ ने जिस एक कुमार की छबि मेरी आँखो आगे खडी कर दी थी, उसने मानो त्रिकाल के पुरुष मात्र को मेरी निगाहो से ओझल कर दिया। मेरी योनि पुकार कर कह उठी, यही मेरा एकमेव पुरुष है! यही मेरी त्रिवली के चित्रकूट का एकमात्र विजेता है! देह, प्राण, इन्द्रिय, मनस्, चेतस् और चैतन्य आत्मा के सारे भेदाभेदो से अपरिचित, मै निरी एक तीव्र सवेदनशील लडकी थी। मेरी देह ही इतनी सस्पर्शी थी, कि उसी के रोम-रोम से मैं सृष्टि को छू लेती थी, पीती रहती थी। सो मेरी देह के हर परमाणु मे, अनुक्षण, दिन-रात तुम्ही रमण करने लगे। जब कि तुम मेरे लिये मात्र दन्त-कथाओ के अवास्तविक पुरुष थे।

फिर मेरे नगरवधू चुने जाने का मुहूर्त आया। वैशाली की सडको मे खूँखार भेडियो को, मैंने अपने रूप के लिये लडते देखा। गणतत्री लिच्छवियो के सथागार मे वृषभदेव के सिहासन पर मेरी बलिवेदी बिछाई गई। और ठीक एक बलि-पशु की तरह, आदि ब्रह्मा ऋषभनाथ के साक्ष्य से मुझे वैशाली

की और जगत् की चिर बभुक्षित वासना का आखेट बना दिया गया। इस निर्णय के पहले, जाने कितने महीनो की राते मैंने जिस नारकीय यातना मे काटी, उसे पुरुष की जाति कभी नही समझ सकेगी। लेकिन तुम? जगत् के तमाम पुरुषत्व से पीठ फेर कर, तुम्हे मैंने अपने एकमेव नियोगी पुरुष के रूप मे स्वीकारा था। क्या तुम भी अनुमान कर सकोगे, मेरी उन अनाथ रातो के आर्त्त क्रन्दन और मूक घुटते विलापो का? केवल तुम्हारा ही तो नाम अपनी हर साँस मे पुकार रही थी। क्या तुमने सुना नही? तो फिर क्यो न आये मेरे परित्राण को? शायद तुम उन दिनो हिमवान्, विन्ध्याचल और विजयार्द्ध की अभेद्य अटवियो मे, अपनी किसी स्वप्न-प्रिया को खोज रहे थे!

ं ं ं

फिर तो तुम वैशाली आये ही। मेरा स्वप्न-पुरुष मेरे नगर मे पहली बार आया। तुम्हारे आगमन के उदन्त की वह पहली रात कितने दारुण द्वंद्व मे बितायी थी मैने। मेरे प्राणो मे उमगो और सपनो के तूफान उठ रहे थे। कल मै अपने उस 'एकमेव अपने' को देख सकूँगी? और दूसरी ओर सारी वैशाली का वासना-मत्त यौवन मेरे हृदय पर आरियाँ चला रहा था। गुर्राते तेन्दुओ की सर्वभक्षी डाढो के बीच, तुम्हारे सामने आना मुझे न भाया। तुम्हारी और मेरी आँखो के प्रथम दृष्टि-मिलन के बीच, हिंस्र वासना का धधकता जगल मुझे सह्य न हो सका। अपने से भी अधिक, वह मुझे तुम्हारा अपमान लगा। तुम्हारी कुँवारी सती हो कर जो रह गयी थी। एकान्त रूप से तुम्हारी योषिता नारी, जन्मजात केवल तुम्हारी। उसे ठीक तुम्हारी आँखो आगे, हजारो लम्पट पुरुषो की आँखे घूरे, यह मै कैसे सह सकती थी। सो अपने प्राण की उमगो और सपनो का मैने गला घोट दिया। मै नही आई सथागार मे। प्राणहारी वेदना के उन क्षणो मे, एक पत्र लिख कर तुम तक अपना निवेदन पहुँचाया। उत्तर मे तुम्हारे शब्द पाये। उस दिन जो मुक्ति का सुख अनुभव किया था, वह अनिर्वच है।

तुमने सथागार की भरी सभा मे एक वेश्या को अपने माथे पर चढाकर, उसकी महिमा को सारे जगत् के सामने उजागर किया। तुमने सत्ता और सम्पत्ति के सिंहासनो को, लीला मात्र मे उलट कर, उनके भीतर बैठे दानव को नगा कर दिया। तमाम जम्बूद्वीप की धरतियो मे भूकम्पी बिजलियो के विस्फोट हुए। मुझ कलकिनी के नाम के साथ तुम्हारा हिमोज्ज्वल नाम जोड कर, आसमुद्र पृथ्वी के बाजारो मे खुले आम गाया गया। लेकिन तुम जो लौट गये अपनी राह, तो फिर मुड कर इस जगत् के कोलाहलो की ओर तुमने नही देखा।

मेरे पत्र द्वारा मेरा दरद बेशक तुम तक पहुँचा। उत्तर मे तुम्हारे शब्दो मे, वह अचूक आश्वासन तो था ही, जो कोई भी भावी भगवान् दे

सकता है । यह भी स्पष्ट सम्वेदित हुआ था, कि तुमने मुझे अपनाया है। यहाँ तक भी लगा, कि तुमने मुझे चुना है । नही तो सारा गणतंत्र एक ओर, सारी वैशाली एक ओर, और एक अकेली गणिका आम्रपाली दूसरी ओर, ऐसा नही हो सकता था । लेकिन वह हुआ । तुमने मुझे चुना, इतना ऐकान्तिक रूप से, यह कोई साधारण सौभाग्य नही था, किसी भी नारी के लिये । फिर मैं तो एक वेश्या थी ।

लेकिन फिर भी, एकमेव पुरुष की एकमेव नारी, और एकमेव नारी का एकमेव पुरुष, आमने-सामने नही हो सके । तुम्हारी चेतना मे शायद वह एक अनहोनी थी । तुम्हारे भागवत मन मे भला, ऐसा भाव उठ ही कैसे सकता था !

और फिर तो तुम महाभिनिष्क्रमण कर गये । गृह-त्याग कर अनगार, असिधारापथचारी सन्यासी हो गये । जब यह उदन्त मेरे कान पर पडा, तो मेरा नारीत्व सदा के लिये चूर-चूर हो गया । एक दिन अपने एक मात्र पुरुष को आत्मार्पण करने की, जो रक्त-कमल-सी विदग्ध लौ मेरे हृदय के गोपन मे निरन्तर जल रही थी, उस पर तुषारपात हो गया । मेरा गर्भ जैसे विस्फोटित हो कर पृथ्वी मे लुप्त हो गया । मेरे भीतर की विकल कामिनी रमणी, अपनी अन्तिम मौत मर गई ।

फिर भी यह कौन है, कौन योषा है, जो अब भी जीवित है, और अपनी व्यथा की तहे उलट रही है ? अपने गोपन मर्मो को एक-एक कर उघाडने को इस क्षण आतुर हो उठी है । चिरन्तन् नारी ! उसे कौन मिटा सकता है ? और क्या तुम आज भी मेरे चिरन्तन् पुरुष नही ? तुम्हे मुझसे कौन छीन सकता है ?

वही शाश्वती नारी, आज अपने शाश्वत पुरुष के आगे, अपनी अन्तिम पीडा खोल देने को प्रस्तुत है। जानो महावीर मैंने तुम्हे अपनी योनि के भीतर से प्यार किया है। तुम्हारे हर स्मरण के साथ, मेरी योनि मे ऐसे विदग्ध माधुर्य का रोमाचन और सिचन होता है, कि उसके आगे मुझे उप-निषदो का ब्रह्मानन्द फीका जान पडता है। तुम्हे प्यार करने के दौरान, मेरी योनि को ही बार-बार मेरा हृदय हो जाना पडा है मेरे हृदय को ही मेरी योनि हो जाना पडा है। तुम्हारे साथ एकात्म, एक-देह होने की अनिवार्य व्याकुलता के चलते, देह और आत्मा का भेद-विज्ञान मुझे अज्ञान प्रतीत हुआ है। मैं एक ऐसे एकत्व और अनन्यत्व मे तुम्हारे साथ जीती चली गयी हूँ, कि उस चेतना-स्तर पर कोई भी भेदाभेद और द्वद्व मुझे छूछा और असत्य प्रतीत होता है तुम्हारे लिये तडपने मेरे वक्षोजो और बाहुओ के

आलोड़न में, बारम्बार आत्मा ही देह हो गयी है, और देह ही आत्मा हो गयी है। मैंने तुम्हें ज्ञान से नहीं चाहा, प्राण से चाहा है। मेरी देह का रोयाँ-रोयाँ आत्मा होकर, तुम्हारे आलिंगन को तड़पा है।

आज साफ़ सुन लो मेरे स्वामी, मैंने तुम्हें नितान्त ठोस, सघन, रक्त-मांस के शरीर से चाहा है। अपने रक्त के असह्य उत्ताप और देह के कम्पनों और स्पन्दनों से, मैंने तुम्हें आर-पार संवेदित किया है। आज स्पष्ट कहने को जी चाहता है, कि वैशाली तो क्या, तमाम वर्तमान के लोक में, मुझे कोई ऐसा पुरुष न दीखा, जो मेरे योग्य हो सके, जो मेरा पाणि-ग्रहण कर सके, जो मेरा एकान्त प्रीतम हो सके, मैं जिसकी एकान्तिनी प्रिया या वधू हो सकूँ। तुम्हें छोड़, कभी किसी के लिये मेरे तन-मन में सत्य-काम न जाग सका। सत्य-प्रीति की ऐसी उमड़न, और किसी के लिये मेरे इस कुमारी हृदय को आलोडित न कर सकी। अपने समय के एकमेव सूर्य महावीर के अतिरिक्त, आम्रपाली के लिये कोई पुरुष कहीं जन्मा ही नहीं।

सुनो महावीर, मेरी निर्लज्जता अब मेरे नारीत्व की मर्यादा लाँघ कर तुम्हारे सामने आ जाना चाहती है। देखो, देखो, मेरे मूलाधार के मेदुर धरामण्डल में से, यह कैसा उत्तान अम्भोज फूट कर चीत्कार रहा है। कि उसके लिये सारी पृथ्वी को फट कर पानी हो जाना पड़ा है। एक जल-प्रलय के बीच, सुनो सुनो यह कौन तुम्हें पुकार रही है? कौन तुम्हें खींच रही है?

कि कल तुम मेरी राह आने को मजबूर हुए। यह मैं नहीं, मेरी आत्मा नहीं, यह मेरा गर्भ है चिरन्तन् नारी का गर्भ, जो तुम्हारे तेजस् के अमृत-सिंचन के लिये फूट कर आक्रन्द कर उठा है। हाँ, मैं तुम्हारी एकमेव नारी, ओ मेरे एकमेव पुरुष, मैं केवल तुम्हें अपने गर्भ में धारण करना चाहती हूँ। आम्रपाली का गर्भाधान कर सके, ऐसा अन्य कोई पुरुष इस पृथ्वी तल पर आज विद्यमान नहीं। त्रैलोक्येश्वर का अजित वीर्य ही आम्रपाली झेल सकती है। कामदहन, दुर्दान्त ब्रह्मचारी शंकर के अक्षर वृष्ण-निषेक को धारण करने के लिये, केवल पार्वती ही जन्मी थी। और वही दुरत्यय असुर शक्तियों का पृथ्वी से उन्मूलन करने के लिये, देव-सेनापति कुमार-स्कन्द को जन्म दे सकती थी। ऐसे किसी कार्तिकेय की माँ होना ही, मेरे नारीत्व की एक मात्र नियति हो सकती है।

तुम कहोगे, कि पार्वती ने उसके लिये हिमालय के घर जन्म लिया था। और उसने परम शिव के अजेय वीर्य को धारण करने के लिये, सर्वस्व आहुतिनी तपस्या की थी। तपस्या तो मैंने हिमालय में जाकर नहीं की, और ना मैं देवात्मा हिमालय की बेटी होने का सौभाग्य पा सकी। लेकिन

मैं निराधार आकाश की बेटी ज़रूर हूँ। मेरे माता-पिता कौन थे, कोई थे या नहीं, कोई नहीं जानता। अमराई तले अँबिया-सी टपक पड़ी थी। और दुर्दैव का ऐसा व्यंग्य हुआ, कि वह अनाथिनी बड़ी होकर भुवन-मोहिनी रम्भा के रूप में प्रकट हुई। हर किसी की केवल भोग्या। किसी की समर्पिता वधू होने का भाग्य उसका न हो सका।

तब उसने तुम्हारा नाम सुना, तुम्हारी कथाएँ सुनीं। और वह मन ही मन, तुम्हारी एकान्त कुँवारी सती हो रही। फिर भी वह विलास की सहस्रों रातों में बिकी, और भोगी गई। जगत् इसके सिवाय क्या जानता है। तुम्हारी एकान्त पतिव्रता दासी को यहाँ कौन पहचानता है। वह केवल तुम्हारी अछूती रजस्वला हो कर रही। उसके पेलव अन्तर-पद्म की कर्णिका तक, संसार का कोई पुरुष न पहुँच सका। वह आज भी तुम्हारे लिये वैसी ही कुँवारी, ताज़ा, और अस्पर्शिता है। मेरी देह का रोम-रोम, आज भी तुम्हारे लिये अछूता है। मेरे कंचुकि-बन्ध और नीवी-बन्ध का जो उन्मोचन कर सके, ऐसा पौरुष अभी तक मेरे देखने में न आया।

और कोई तपस्या मैं नहीं जानती, मेरे नाथ, मेरे महेश्वर, कि जिसके बल मैं तुम्हारी पार्वती हो सकूँ।

○ ○ ○

भगवती उमा की तरह, हिमवान् के गौरी-शंकर शिखर पर नागकेशर के वृक्षों की घनी झाड़ियों के भीतर, कठोर शिलातल पर बैठ कर मैंने तपस्या नहीं की। तुम्हारे गृह-त्याग करते ही, जिस महाशून्य में अधर अकेली छूट गई थी, उसकी कल्पना किसी मानुषी चेतना से सम्भव नहीं है। मनुष्य की प्रीति और सहानुभूति में मैं परे जा चुकी थी। सचराचरा पृथ्वी की सारी रमणीयताएँ मुझसे दूर दूर दूर चली गईं थीं। यह सारा लीला-चंचल जगत्, अपने तमाम सुख-भोगों, उल्लासों और सम्भावनाओं के साथ मेरी दृष्टि में ओझल हो गया था।

ज्ञातृखण्ड उद्यान की सूर्यकान्त शिला पर, झाँय-झाँय करती सूनकार रात में तुम्हें एकाकी खड़ा देख रही थी। तब मैं उस महाविजन का भेंकार सूनापन हो कर रह गयी थी। वह हो कर ही मैं तुम्हें छू सकती थी, तुम्हें चारों ओर से घेर कर रह सकती थी। उस अफाट अन्धकार की चिह्नहीन दूरियों में, जो अनेक भयावनी आकृतियाँ उठ रही थीं, वह मेरे ही भयार्त्त मन की छाया-खेला थी। मेरा भय ही मुझे बेबस करके, तुम्हारे अभय राज्य में ले आया था। आज अभिज्ञा हो रही है, कि हर विकार परा सीमा पर पहुँच कर, पूर्ण अविकार में परिणत और विश्रब्ध हो ही जाता है। फिर किसी भी अभाव या आक्रान्ति में, डरने का क्या कारण हो सकता है।

तुम तो सदा के लिये मुझ से दूर, बहुत दूर चले गये थे। हमारे बीच, चरम वियोग के एक अभेद्य शून्य के सिवाय और बचा ही क्या था। तुम्हें कभी भी, अपनी इन्द्रियों के संवेदन में पाने की सारी आशा समाप्त हो चुकी थी। फिर भी क्या हुआ यह, कि तुम जितने ही अधिक अप्राप्य होते गये, मेरी इन्द्रियाँ उतनी ही अधिक सतेज और विकल होती गईं। तुम जितने ही अधिक कामजयी हुए, मैं तुम्हारे लिये उतनी ही अधिक कामार्त्त होती गई। ऐसा लगता था, जैसे एक अदम्य इन्द्र-शक्ति ने मुझ पर अधिकार कर लिया था। मेरी हर इन्द्रिय की वासना सौ गुनी हो गयी थी।

अपने ऐश्वर्य-कक्ष की शैया हो, या उद्यान के सुरम्य फूल-बन हों, क्रीडा-सरोवर हो, कि अपने स्नानागार के एकान्त में अपने साथ नग्न रमने के क्षण हों, कि निर्जन अरण्यों में एकाकी विचरण हो, कि सान्ध्य-सभा के सुरा-पान और नृत्य-गान हों, कि मुस्कानों के धनुष हों और कटाक्षों के तीर हों, कि प्रकृति के अपार सौन्दर्य के बीच, षड् ऋतुओं का उत्सव हो। इन सारी ही लीलाओं में, केवल वही एक अन्तःसार वृष्णीन्द्र खेल रहा था, और उसके रूपों और शरीरों का अन्त नहीं था। शैया के मसृण तकिये, मखमली गद्दे, विजन की चट्टान, ठँठ झाड का कठोर तना, सबको मैं एक-सी ही विह्वलता में छाती में चाँप-चाँप लेती थी। कहीं भी गलबाँही डाल देती थी, तो चौंक कर पाती थी, कि चन्दन वृक्ष से लिपटी मेरी बाँह से सर्प लिपट गया है। या कोई चट्टान मेरी छाती की रगड से छिल कर लहूलुहान हो गई है, और मेरी बाँहों पर बिच्छू रेंग रहे हैं। भय नहीं होता था, एक अनूठी अनिरुक्त ऊष्मा से सारा तन-बदन भर उठता था।

अपनी असह्य स्पर्शाकुलता में बेचैन होकर, तकिये को छाती में दाब जब औंधी लेट कर शैया के गहराव में गडती ही चली जाती थी तो अचानक पाती थी, कि किसी निविड सौरभ के सरोवर में उतराती चली जा रही हूँ। मेरी नाडियों में जाने कैसी तंत्रिया, बडी कोमल अश्रुत लय में बजने लगती थी। और अचानक किसी कठोर शिला से टकरा जाती थी। कटीली झाडियों में बिंध जाती थी। शोणित में नहाई मैं, आँखें उठा कर देखती, तो पाती कि उस शिला पर तुम ध्यानावस्थित हो। तुम्हारी परम मार्दवी देह का एक मात्र प्रसाद था मेरे लिये चट्टान की पछाड, काँटों की रगड, और रक्त-भीनी काया। लेकिन यह सब सुगन्ध और संगीत के सरोवर में डूब कर ही पाती थी।

आज हर पल ऐसे दरद और बेचैनी का है, कि खडे नहीं रहा जाता है। अस्तित्व को हर दिन सहना, एक और मृत्यु से पार होना है। फिर भी, मेरे काम की उद्दामता बढती ही जा रही है। प्रत्येक इन्द्रिय की कामना

इतनी तीव्र और असीम हो गयी है, कि वह अपने मे नही रह पाती है। सारी इन्द्रियो मे परस्पर होड मची है, उसी एक मात्र काम्य और भोग्य के सारे विषयो को स्वयम् ही भोग लेने के लिये। श्रवण मे नयन फूट पड़ते है, नयन मे श्रवण उभर आते है। सारी त्वचा जाने किस रस के आस्वादन से रसनाभूत हो उठती है। घ्राण की गन्ध नाद बन कर गूँजने लगती है। मै सगीत को देखने लगती हूँ, अस्पृश्य आकाश मुझ मे मासल और पेशल हो जाता है। मै हवा मे, सुगन्धो के रगो और वीणा की सुरावलियो से चित्रसारी करती हूँ। मुझे जाने कैसे अनदेखे, अनसुने नीलमी जल-फूलो की गन्ध आने लगती है, जो कही है ही नही।

मैने रेवा तट के जम्बू कुजो को, पहले बादल की घनी जल-छाँव मे गाते सुना है, और मेरा सारा बदन जामुनी श्यामलता के रस से जाने किसी के लिये उमड आया है। मै अपने और तुम्हारे अवगाढ स्पर्श की नील-लोहित रक्त गध को अपने शरीर मे मे महकती पाकर, अतिचेतना के मोहन वनो मे मूर्च्छित हो गई हूँ। एक ऐसा स्पर्श, जो त्वचा से कभी हुआ नही, होगा नही, उसकी रक्तगध कैसी खट-मीठी और कसैली है। जैसे आम्र-मँजरियो की गन्ध, कच्ची अँबियो की गन्ध। और तब मेरे सूने झरोखे तले की अमराई मे, नीरव सन्ध्या मे कई बार कोयल ने टहुक कर मुझे टोका है। वह मेरी आवाज का दरद होकर रह गयी है।

इन आशाहीन वर्षों के सारे दिन-रातो मे, सेज तो बेशक शूली पर रही। लेकिन मेरी इन्द्रियाँ ऐसी महीन, सूक्ष्म, परस्पर मे आलोडित हो गईं, कि मेरा मन ही सारे विषयो का स्रष्टा और भोक्ता स्वयम् आप हो कर रह गया। इन्द्रियाँ तो बस, मानो दर्पण-वाहिनी चेरियाँ भर रह गई। फुलैलो की रत्न-मजूषा खुलते ही, जाने किन विदेशिनी फूल-घाटियो की मादन पराग सारे कमरे मे झरने लगती है।

मै अमराइयो की बेटी हूँ, और मेरा सारा जीवन विपुल ऐश्वर्य और भोग-विलास के बीच बीता है। सुगन्धित मदिराओ के मणि-चित्रित प्यालो पर मेरी सन्ध्याएँ सदा फूलो मे बिछलती रही, सगीत और लास्य के उद्दाम प्रवाहो पर बहती रही। पृथ्वी पर जो कुछ परम भोग्य है, वह सब मैंने भोगा है। मिस्र की नील नदी से आए ताजा फूलो से मेरी शैयाएँ सजी है। गन्ध-मूर्च्छित सर्पों से आवेष्टित प्रकृत चन्दन के पर्यको पर मै सोई हूँ। मै ऐसे तकियो पर लेटी हूँ, जिन पर सर रखते ही, कानो मे सगीत की अति-महीन सुरावलियाँ गूँजने लगती है, और उन स्वरो के साथ विचित्र अनाघ्रात गन्धो की अनुभूति होती है। पृथ्वी, समुद्र और पर्वत-गर्भ के श्रेष्ठतम मात्रिक रत्नो से मैने सिगार किया है। रत्नो की विचित्र नक्षत्री शक्तियो के बल,

मैंने देश-काल मे चल रही दूर तक की लीलाओ को अपने कक्ष में बैठ कर देखा है। शृंगार, प्रसाधन, फूल-फुलैल, देवभोग्य भोजन, कल्प-लताओं जैसे विचित्र वसन, देश-देशान्तरो के विलक्षण और विविध रत्न-अलकार, और सेवा मे सदा प्रस्तुत शृगारिका सैरन्ध्रियाँ।

पर इस सब मे, मैं कहाँ हूँ और कहाँ नही हूँ, इसका मुझे कोई भान नही है। मैं जैसे हर भोग मे हूँ, और तभी वहाँ से गायब हूँ। उचाट हो कर मन जाने किस वीराने मे, जाने किसे खोजने लगता है। मेरे जीवन का हर दिन नित्य वसन्त है, नित-नव्य उत्सव है। पर इस तुमुल क्रीडा-कोलाहल के बीच मैं कितनी अकेली हूँ, कौन जान सकता है। निर्जन की एक अन्त सलिला नदी, जिसके तट पर कभी कोई नही आया। फिर भी कौन कह सकता है, कि आम्रपाली अनुपस्थित है। उसकी उपस्थिति का अहसास मात्र, वैशाली की तारुण्य चेतना को सदा तरो-ताज़ा रखता है।

○ ○ ○

और मेरे इस निभृत अनजान कक्ष का वैभव, एक अपार्थिव रहस्य से अभिभूत-सा लगता है। मानो कि इस रत्न-माया मे, कई जादुई लोको के पर्दे रह-रह कर हटते रहते है। और जो सिंगार इस क्षण मेरे शरीर पर है, वह कितना उत्तीर्ण और मानवेतर-सा लग रहा है। यह किसी सैरन्ध्री का प्रसाधन नही, यह मेरी अपनी शृगारकला का साराशभूत सौन्दर्य होकर भी, मेरा किया हुआ नही है। मेरे गहरे जामुनी उत्तरासग (अधोवस्त्र) की रेशमीनता मे ऐसी गुदगुदी भरी, गद्दर रिलमिलाहट है, ऐसी उन्मादक लहरावट है, कि जैसे मेरी जघाओ म रह-रह कर सुचिक्कण काले सर्प लहरा जाते है। पम्पा-सरोवर के पद्म-वनो मे टँगे ऊर्णनाभ के जालो को, महीतम चीनी अशुक के तन्तुओ मे बुन कर बनाया गया उत्तरीय, मेरे कन्धो पर झूल रहा है। सर्प-निर्मोक को कमल-नाल के तन्तुओ मे गूँथ कर बुनी गई कचुकी, मेरे अद्वय उरोज-मण्डल के समुद्र को बाँधे रखने की विफल चेष्टा कर रही है। मेरे गुल्फ-चुम्बी कुन्तलो के भँवराले छल्लो म, जैसे अम्बावन कोयलो से टहुक रहे है। सहकार मँजरियो के कर्णफूलो मे, यह कौन झूले की पैंग भर जाता है ? कदम्ब और केतकी के केसरभीने अगराग मे, छहो ऋतुओ की संयुक्त फूल-गन्धे महक रही है।

कृष्णागुरु, शुक्लागुरु और रक्त-गोरोचन मे, मेरे उभराते स्तन-तटो पर पत्र-लेखा रची गई है। नवीन यवाकुर और पाटल-किसलय के झूमको से मडित मेरे मुखमण्डल को चिबुक से उचका कर, किसने मेरी लिलार पर गीले हरिताल और मन शिला के कल्क से मगल-तिलक कर दिया है ? मैं उस प्रीतम की सोहागन हूँ, जो कभी मेरे इस बासरकक्ष मे नही आयेगा।

इतनी अकेली हूँ, कि इस कक्ष मे होकर भी जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र की कज्जल वेला पर लेटी हूँ। और जाने किन अचीह्नी दूरियो मे बही जा रही हूँ।

ऐसी अविरल प्रवाही हो गई है मेरी चेतना, कि जो देखती हूँ, वही हो रहती हूँ। एक साथ नदी भी होती हूँ, तट का वृक्ष भी होती हूँ, और दूर जाती हवा भी होती हूँ। और ऊपर घिरता जामुनी बादल भी होती हूँ। वे सारे कदम्ब, केतकी, कर्णिकार और मालती कुंज हो जाती हूँ, जहाँ कभी विहार किया है। चारो ओर बेतहाशा, निहग विहगम की तरह लेटी हूँ। अनजान दिगन्तहीन पानियो पर बेसुध पडी हूँ, और मेरे नदीवाही शरीर के रोधस् नितम्बो से जल-वसन स्रस्त हो गया है। मेरे मन का दुरगम वेग, ऐसा अप्रतिवार्य है, कि मेरी इन्द्रियाँ और शरीर, उसमे फूलो की रज की तरह बेमालूम हो कर जाने कहाँ झर जाते है।

यह सारी विषयोपभोग की रचना, किसकी अवहेलित पूजा होकर रह गई है? ऐसा सिंगार, स्वयम् तुम्हारे सिवाय दूसरा कौन मेरा कर सकता है। ओ निर्मम शिल्पी, तुमने क्यो मुझे ऐसे अलौकिक सौन्दर्य और लावण्य से रचा? केवल अछूती छोड कर चले जाने के लिये? असख्य जन्मो मे केवल तुम्हारी रह कर, तुम्हारे वियोग मे छटपटाते रहने के लिये?

तुम्हारे महाभिनिष्क्रमण कर जाने के बाद से, देखती हूँ, मेरा मन, मेरा प्राण, मेरी इन्द्रियाँ बाहर कही भी नही रह गये है। सारी इच्छाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ भीतर की ओर मुड गई है। सारी इन्द्रियाँ मेरे हृदय-पद्म की उस मुद्रित कर्णिका मे सगोपित हो गई है, जहाँ तुम्हारा अन्त पुर है, जहाँ केवल तुम विलास कर सकते हो। पर जिस पर पैर धर कर तुम किसी ऐसे अकूल समुद्र मे प्रस्थान कर गये हो, जिसका यात्री कभी लौटता नही है।

मै कोई विरागन नही, जोगन नही, तापसी पार्वती नही। मैं एक निरी कामिनी हूँ, जिसके कामवेग को लोकाग्र की सिद्धशिला भी नही रोक सकती है। मेरी इस उद्दामता ने लोक के अन्तिम वातवलय को तोड कर, उसके बाहर के सत्ताहीन अलोकाकाश तक को उद्वेलित कर दिया है। इन तमाम भोग-विलासो की सारी रतियो और आरतियो को अपनी कसको और आहो से पी कर भी, बाहर की ओरसे कितनी विरत-सी हो गयी हूँ। बस, भीतर एक ऐसी अनाहत रति, अखण्ड जोत-सी जल रही है, कि बाहर के मेरे सारे भोग उसी मे पल-पल हवन होते रहते हैं। कौन समझेगा मेरे प्राण की इस अनिर्वार काम-वेदना को, इस आकाशवाही मदनाकुलता को।

भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, सुख-दुख, कुछ भी अनुभव नही होता। दिव्य कल्प-भोजनो के थाल अछूते लौट जाते है। सोम-कुम्भो की मदियो पुरानी मदिराओ के उपल चषक मेरा मुंह ताकते रह जाते है। सुबह-सांझ सैरन्ध्रियाँ स्नान-सिंगार करा देती है। टीसते हृदय की पीडा को चचल हँसी मे बदल कर पूछती हूँ उनसे 'किस प्रीतम के लिये मेरा शृंगार करती हो ?' मेरे प्रश्न का वे क्या उत्तर दे ? बस, अजीब व्यग्य से खिल-खिला कर हँस पडती है। एक नगर-वधू का शृंगार, भला किस प्रीतम के लिये हो सकता है ?

तुम ज्ञानी हो, मै निरी कामिनी हूँ। तुम यदि पूर्णकाम हो, तो मै भी पूर्णकामिनी हूँ। क्या अपने एकमेव काम-पुरुष के भीतर ही, मै सम्पूर्ण चेतना से नही जी रही ? तुम वीतराग हो, तो मै पूर्णराग हूँ। तुम ज्ञान-योगी हो, तो मै काम-योगिनी हूँ। तुम त्रिलोक और त्रिकाल को हर क्षण देख और जान रहे हो, तो मै केवल तुम्हे हर क्षण देख और जान रही हूं। इस कदर, कि मै नही रह गयी हूँ, केवल तुम्ही रह गये हो। तुम्हे देखने, जानने और पूर्ण पा लेने की इसी अभग तन्मयता ने, मेरे 'मै' को मिटा कर केवल 'तू' बना दिया है। ऐसा लगता है हर पल, कि मेरा काम ही मेरा ज्ञान हो गया है मेरा ज्ञान ही मेरा काम हो गया है। परम एकाग्रता और सयुति के इस मासल काम-तट पर ही, मेरे लिये काम और ज्ञान का भेद और विरोध समाप्त हो गया है।

तुम न भी आओ कभी मेरे पास, तुम न भी बँधो कभी मेरे बाहु-बन्ध मे, लेकिन मेरे इस अप्रतिवार्य काम को तुम कहाँ से तोडोगे, जो तमाम चराचर मे व्याप्त हो गया है, और जो लोकालोक की सीमाएँ लाँघ गया है। जो स्वयम् महासत्ता को, शेषनाग के सहस्र-फणो से घेरे बैठा है। तुम्हारी वह अर्द्धचन्द्रा सिद्धशिला भी मेरे महाकाम के इस नागचूड मे मुक्त नही, जहाँ सिद्ध हो कर तुम आरूढ होने वाले हो, और जन्म-मरण से परे जा कर, जहाँ से तुम कभी फिर उस रूप मे लौटने वाले नही हो, जिस रूप ने मेरे काम को ऐसा दुर्दान्त और अनन्त बना दिया है।

लेकिन सुनो मेरे मोक्षगामी स्वामी, मेरे श्रोणि-फलक पर के आम्रकूट को जय किये बिना, तुम अपने मोक्ष की उस सिद्धशिला के मणि-पद्म पर आरोहण न कर सकोगे। इरावान् समुद्र की इरावती बेटी आम्रपाली के अतल देश की फणिधर-मण्डित गोपन गुहा-मणि को बीधे बिना, तुम अपनी चिर चहेती प्रिया मुक्ति-सुन्दरी का वरण न कर सकोगे। मेरे काम को सम्पूरित किये बिना, तुम्हारा कैवल्य आप्तकाम न हो सकेगा। मुझे अपनी अर्द्धांगिनी बनाये बिना, तुम अपने सिद्धालय की मुक्ति-रमणी के उत्सग मे आरूढ न

हो सकोगे। मेरी वासना के इस मानुषोत्तर समुद्र तट पर, अब और कहने को रह ही क्या जाता है?

○ ○ ○

· मानुषोत्तर समुद्र के अन्तिम तट पर, अन्तिम शब्द बोल कर चुप हुई, कि अचानक यह क्या हुआ मेरे साथ? चेतना के जाने कितने ही पटल एक-एक कर छिन्न होते गये। और मै अनायास एक श्वेत तन्द्रा के वन मे लुप्त हो गयी। और अब फिर जागी हूँ, तो इस कक्ष मे हो कर भी, मानो सृष्टि के तमाम मण्डलो मे भटक रही हूँ। ऐसा लग रहा है, जैसे कोडा-कोडी पल्यो और सागरो के आरपार, देश और काल के अमाप विस्तारो में यात्रित होकर लौटी हूँ। निगोद, नारक, तिर्यंच, मनुज और देवो की जाने कितनी योनियो मे अनन्त काल परिभ्रमण कर आई हूँ। कोई कालमान या स्थान हाथ नही आ रहा है। कुछ ही क्षण बीते उस तन्द्रा मे, कि अनगिनत कल्प, कि जन्मान्तर बीत गये, कोई अनुमान शक्य नही है।

क्या मुझे नीद आ गई थी? पर मुझे नीद कहाँ? वह तो जाने कब से अनजानी हो गयी है। जिस दिन तुम आगार और शैया छोड गये, उसी दिन मेरी नीद भी तुम्हारे साथ चली गयी। सुनती हूँ, नीद तुम्हे आती ही नही। नन्द्यावर्त की मसृण सुखद शैयाओ मे भी तुम कब सोये या जागे, आज तक कोई नही जान पाया है। सुनती हूँ, तुम जागते हुए भी सोये रहते हो, सोये होकर भी जागत रहते हो। ऐसे मे मै सो कैसे सकती हूँ? लगता है, अनादिकाल मे तुम्हारे पायताने बैठी, तुम्हारे इस सोने और जागने के बीच के अन्तरालो मे छटपटाती रही हूँ। न सो पाती हूँ, न जाग पाती हूँ। कई बार अपने होने तक पर सन्देह हो जाता है। मै हूँ कोई, यह तक विस्मरण हो जाता है। बस, एक जोत तुम्हारे पायताने अखण्ड जलती रहती है। और मै न रह कर भी, उसे देखती रहती हूँ।

मेरा घर? कहाँ है वह? सप्त भौमिक प्रासाद के इन अनेक ऐश्वर्य-भवनो मे? विभिन्न ऋतु-आवासो मे? इस कक्ष मे? नही, कोई घर मेरा अब नही रहा। यो तो वस्तुत वह कभी था ही नही। एक वेश्या का घर कैसा? घर तो गृहिणी का होता है। योनि मात्र होकर जनमने और जीने को अभिशप्त, एक वारवनिता का घर से क्या लेना-देना। फिर भी जब तक तुम नन्द्यावर्त मे थे, तो मैं भी सप्त भौमिक प्रासाद को अपना घर मान कर उसमे टिकी थी। इस आशा से, कि एक दिन कभी तो ऐसा आयेगा, कि अपने महल के किसी गोपनतम मनस्कान्त-मणि-कक्ष मे, स्फटिक के पर्यंक पर, मन्दार फूलो की शैया मे तुम्हारे साथ मैं तुम्हारे साथ· क्या हो जाऊँ, क्या करूँ, कैसे कहूँ! एक लज्जातीत निगूढ़ लज्जा से मर रहती हूँ आज भी, वह सब

याद आने पर। विदेह हो कर, एक क्षितिजहीन वीरान में, किसी प्रेतात्मा-सी भटकने लगती हूँ।

सो घर कहाँ मेरा? और जिस दिन तुम घर छोड़ कर चले गये, उसी दिन मेरा भी घर कहीं नहीं रह गया। एक वेश्या होकर, मेरा अपना तो कोई जीवन कभी था ही नहीं। लेकिन इस सप्तभौमिक प्रासाद में सुरा, संगीत, शृंगार, लास्य का एक जीवन हर पल आगे के लिये जीने को मजबूर तो हुई ही हूँ। फिर भी ओ मेरे अन्तर्यामी, यह क्या तुम से छुपा है, कि तुम्हारे गृह-त्याग के बाद, आज तक मैं इस संसार में कहीं, किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ घर पर नहीं हूँ।

जागृति और प्रसुप्ति के बीच चल रहे, अपने इस अनवरत जीवन-क्रम में, चाहे जब किसी विचित्र कर्वुर तन्द्रा के वन में निर्वासित हो जाती हूँ। नीले, नारंगी, रक्तिम, केसरी, पीले, हरे, बादली, श्वेत––जाने कैसे अनेक तन्द्राओं के अविज्ञात प्रदेश, अनप्रवेशित लोक-लोकान्तर। एक के बाद एक नाना रंगी ज्योतियों के द्वीप और देशान्तर। एक रत्न-प्रच्छाय इन्द्रधनुष के नव-नव रंगीन नीहार-कक्षों में संक्रमण, अतिक्रमण, देशाटन, लोकान्तर, देहान्तर, जात्यन्तर। भटकन भी क्यों नहीं?

तो वह अन्तिम शब्द बोलकर, मैं कहाँ खो गई थी? कौन मेरा हरण कर गया था? तुम्हारे सिवाय कोई और तो मेरी चेतना के साथ ऐसे मन-माने खेल नहीं खेल सकता। इस सुख-शैया में लेटा मेरा सारा शरीर एक साथ अकल्प्य वेदनाओं और ज़ख्मों से टीस रहा है। इन कुछ क्षणों में, तुम्हारी सत्यानाशी तपस्या के उन साढ़े बारह वर्षों को एक बार फिर पूरा जी कर लौटी हूँ।

○ ○ ○

विनाश और मौत की अन्धी घाटियों में, तुम अकेले ही नहीं विचरे हो। तुम तो वज्र शरीरी हो, जन्म से ही अघात्य हो। पर मैं तो निरी एक मर्त्य और पल-पल घात्य अबला नारी हूँ। फिर भी तुम्हारे तमाम उपसर्गों की आक्रान्तियों को, अपनी इस पद्म-पेलव काया में झेलने को मैं अभिशप्त रही हूँ। तुम्हारे अनगार होते ही, ऐसा लगा कि मैं तुम्हारे शरीर में प्रवेश कर गई हूँ, तुम मेरे शरीर में प्रवेश कर गये हो। नीतिमानों और चरित्र-वानों के इस भद्र मर्यादाओं से वर्जित-बाधित लोक में तो तुम्हारे साथ एक-शरीर होना सम्भव ही कैसे होता। यों बिन देखे भी तुम्हारे साथ एकात्म तो थी ही। लेकिन जब लोकालय की सारी मर्यादाएँ तोड़ कर, तुम विवर्जित अवधूत दिगम्बर हो कर निकल पड़े, तो उस महा-निर्वासन में तुम्हारे शरीर के भीतर जी चाहा खेलने से मुझे कोई रोक न सका। मगर विलास के

पर्यंको पर नही। सत्यानाश की बिजलियो पर, कल्पान्तकाल की अग्नि-वर्षाओ तले, प्रलय-समुद्र के मरण-भँवरो में, तुम हर पल मेरे बाहुबन्ध में जकड़े थे। लोक की एकमेव सबसे नगी औरत, फिर भी काचन के कंचुक की बन्दिनी। लेकिन जब तुम निहग नग-धडग होकर, मानुषहीन बियाबानो मे अकेले निकल पडे, तो मुझे अवसर मिल गया। तुम्हे पकडने का नही, तुम्हारा शरीर हो रहने का। तुम्हारे पिण्ड के एक-एक परमाणु मे प्रवेश कर, तुम्हारी बहत्तर हजार नाडियो मे स्पन्दित होने का।

'रगीन नीहारो के वे तन्द्रावन, क्रीडा-केलि के नही थे। उनमे अतिक्रमण कर, मुझे विनाश और मृत्यु के सीमाहीन अन्धकारो मे खो जाना होता था। तुम्हारी खोज मे, कि तुम कहाँ होगे इस वक्त, इस क्षण? एक साँस मे हजार बार जन्म-मरण करती मै, तमसा के सागरो को चीरती मैं, उस तट पर तुम्हारे चरणो मे आ पडती थी, जहाँ तुम मानुष नही होते थे, निरे कूटस्थ पाषाण या स्थाणु होते थे।

तुम्हारे गृह-त्याग के दूसरे ही दिन, अपने कक्ष के दर्पण के सामने सान्ध्य श्रृगार कर रही थी, कि अचानक मूर्च्छा के हिलोरे आने लगे। एक रक्तिम आधी मुझे जाने कहाँ उडा ले गई। किसी चरागाह मे ला पटका। और हठात् मुझ पर बँटी हुई मोटी रस्सी के कोडे बरसने लगे। पता नही कौन मार रहा था? लेकिन उस मार की वेदना असह्य होते भी, उसे सहना मुझे अच्छा लग रहा था। हाय, कौन है यह क्रूर उपकारी, जो मेरी खाल उधेड कर मुझे इस कलकिनी काया मे मुक्त कर रहा है? मैं बहुत कृतज्ञ हुई। कोडे की मार अचानक रुक गई। अपनी छाती मे बहते रुधिर को देखा। अपने लहूलुहान अगो को देखा। अपने ही हृदय-देश से उफनते रक्त मे उँगली डुबा कर, अपने भाल पर तिलक लगा लिया। उसी से अपनी माँग भर ली। कि अचानक पाया, कि तुम्हारा खून से लथपथ शरीर मेरी गोद मे लेटा है। और सामने एक ग्वाला, वह रस्सी का कोडा फेंक कर तुम्हारे आगे चरणानत है, और दो बैल पास ही खडे टुकुर-टुकुर आँसू टपकाते हमे देख रहे है। तुम्हारे खून मे मेरा खून बहा, और केवल वे पशु उसके साक्षी हुए। मै तुम्हारी हो गई। फिर भी आज तुम से चिरकाल के लिये बिछुड कर, इस फूलो के कारागार मे कैद पडी हूँ।

फिर एक मध्याह्न बेला मे, कैसी सर्पगन्धा तन्द्रा मे मैं अचानक डूब गई। और हठात् एक सहस्र फण भुजगम, मेरी जाँघो को अपनी कुण्डलियो मे कस कर, मेरे हृदय का दश करने लगा। मेरे आँचल दूध से उमड आये। और वह काल-सर्प, निवान्त निश्चिन्त होकर, एक निर्दोष शिशु की तरह मेरे स्तनो को पीता ही चला गया।' और अचानक क्या देखती हूँ, कि तुम रक्त-झरते

चरण मेरी छाती पर धरते निकल गये, और एक उजाड़ बनान्तर में ओझल हो गये।

ऐसे प्रसगों के बाद, होश मे आने पर पाती थी, कि अपनी शैया में जख्मों से टीसती लेटी हूँ। भिषग् कुमारभृत सेवा मे उपस्थित होते। अनेक शीतोपचारो, आलेपनो, मरहमो, शामक औषधियो से मेरा उपचार चलता रहता। किसी की हिम्मत नही होती थी पूछने की, कि किस हत्यारे ने ऐसी मार मुझे मारी है। एक वेश्या के खरीदार प्रीतम, उस पर हर जुल्म ढाने का परवाना रखते है। समझने मे दिक्कत ही क्या थी!

○ ○ ○

एक आधी रात अपनी शैया के रत्न-प्रदीप को अकारण ताकती पडी थी। कि आँखें अनिमेष खुली रह गईं, समय-भान चला गया। और जैसे एक प्रकाण्ड आवाज के साथ, चेतना के पटल खटाखट बदलते चले गये। और जहाँ पहुँची, वहाँ पाया कि एक फाँसी के फन्दे मे मेरी गर्दन झूल रही है। दो चण्डाकार भयकर वधिक, दोनो ओर खडे फाँसी के फन्दे खीचने को तत्पर थे। फाँसी के फदे खिंचे, नीचे से तख्ता हटा लिया गया। मेरी भिचती गर्दन से एक चीत्कार निकल पडी। मै चिल्ला कर जाग उठी—पाया कि अपनी शैया मे हूँ, एक भयकर दुःस्वप्न मे जागी हूँ। लेकिन मेरी कण्ठ-नलिकाएँ जैसे टूट गई है, गर्दन मृतक की तरह एक ओर लुढकी पडी है। और मेरे सर के नीचे एक नग्न पुरुष की गोद है शायद। और उसका हाथ मेरी ग्रीवा को सहला रहा है।

और अगले ही दिन खबर मिली थी, कि कही किसी राजाज्ञा से तुम्हे फाँसी पर चढाया गया था। लेकिन फन्दो पर चाण्डालो का वश न रहा। वे फन्दे मेरी गर्दन पर थे, मेरे केशो मे थे, मेरी बाँहो मे थे। मैं तुम्हारी फाँसी बन गई थी, और तुम मेरी फाँसी बन गये थे। उसके बिना तुम्हे पाने का उपाय ही क्या था?

कई दिनो, महीनो भूख-प्यास लगती ही नही थी। किसी की दरदभरी याद के भीने बादल, सारे मन-प्राण पर छाये रहते थे। उस निर्मम की याद, जो किसी को याद रखता ही नही। याद करना या रखना, जिसका स्वभाव नही, स्वधर्म नही। किसी भी पर्याय या अवस्था मे जो ठहरना नही, बस केवल देखता है—हर गुजरती अवस्था को, और उसके साथ तद्रूप हो कर, उसे अपने साथ बहा ले जाता है। लेकिन उसकी हर अवस्था पर, मेरी निगाह समयातीत भाव से लगी रहती थी। मै स्वयम् ही उसकी भूख-प्यास हो रहती थी। वह स्वयम् ही मेरी भूख-प्यास हो रहता था। तो मेरे दरद मे से ही ऐसा कोई मकरन्द झरता था, कि उसमे प्लावित होकर, मैं परम तृप्त हो

रहती थी। कल्प-भोजनो के सामने पड़े सुवर्ण थाल अछूते पड़े रहते। वे स्वयम् ही क्षुधा बन कर मेरा आहरण कर लेते, मेरे रक्त-धातु में आत्मसात् हो जाते। क्षीरोद सरोवर के शीतल गन्ध-जल, फल-वनो के फलो से सीधी नितारी गई सुगन्धित मधु मदिराएँ, स्वयम् ही प्यासी हो कर मुझे अपने मे डूबो लेती। भोक्ता, भोग्य और भोग का अन्तर ही समाप्त हो गया था।

महीनो मे कभी बडी विप्लवी भूख-प्यास लग आती। तो सारा वातावरण अपूर्व पक्वान्नो की केशर-मेवा सुगन्धो से भर उठता। आज तक अनास्वादित वारुणियो का खुमार, मेरे अग-अग को उन्मत्त कर देता। तब एक बच्चे की तरह इतना सारा भोजन-पान कर लेती, कि सेविकाएँ देख कर चकित हो जाती। उनके लिये वह बडे हर्ष का दिन होता था, कि उनकी स्वामिनी ने आज जी भर खाया-पिया है। तभी उदन्त सुनाई पडता था, कि महीनों निर्जल निराहार रहने के बाद तुमने अमुक के द्वार पर, एक अजुलि पयस् का पाणि-पात्र आहार ग्रहण किया है।

हर ऋतु की दुरन्त नई हवा जब चलती, तो मेरे प्राण चचल हो उठते। अपने रथ का स्वयम् ही सारथ्य करती हुई, निर्लक्ष्य यात्रा पर निकल पडती। ग्रीष्म की लू भरी दाहक हवाएँ जब सारी प्रकृति को झुलसा देती, तो किसी अगारो-से दहकते पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर जा लेटती। उसके प्रतप्त पाषाणो से छाती बीध कर, मैं जाने किस वज्राग पुरुष को गला देना चाहती। आधी वर्षा की उद्दण्ड तूफानी रातो मे, हहराते भयावह अरण्यो को अपनी बाँहो मे भीच-भीच लेती। हिम-पाले की शिशिर रात्रियो मे, बर्फ की शिला पर सो कर ही कुछ चैन पाती थी। और वसन्त की मलय हवाओ से मदनाकुल हो कर, कुँवारी प्रकृति के जाने किन अनप्रवेशित फूल-वनो मे चली जाती। सारे वसन-आभरण मेरे लास्य के उन्माद मे उतर पडते। मेरे सारे अङ्गाङ्ग नाना रगी फूल-पल्लवो से शृगारित हो जाते। वनकदली के पेशल कुज मे जाने कौन मुझे खीच ले जाता। एक अदृश्य, अस्पृश्य मार्दव की अगाधता मे, जाने कौन मिथुन केलि-क्रीडा मे आत्मसात् हो जाता। और सारे वन मे, फूलो से झरते केसर-पराग के मदभीने बादल छा जाते।

○ ○ ○

और ऐसी ही वसन्त ऋतु की एक मलयानिल से पुलकित रात मे, अचानक मेरे कक्ष मे एक विकराल दैत्य-छाया मँडलाती दिखायी पडी। हठात् रत्नदीप बुझ गये। कक्ष जाने कहाँ लुप्त हो गया। एक भयावह निर्जन अटवी मे अकेली ला पटकी गयी। और सारा आकाश हजारो डाढो से लपलपाता, हुकारता, एक दुर्वार दानव हो कर मुझे चारो ओर से दबोचने लगा। उसने जाने कैसे नागपाशो मे मुझे जकड़ लिया। और मुझे उठा कर एक उत्तुग

पर्वत की चोटी से, नीचे की अतल पाताली खन्दक मे फेक दिया। वहाँ असख्य रात्रियो के पुजीभूत अन्धकार जैसी रज मुझ पर धारासार बरसने लगी। मेरी इन्द्रियाँ कही किसी केन्द्र मे कीलित हो गई। और फिर नाना अत्याचारो, प्रहारो, पीडनो का एक अटूट सिलसिला चल पडा।

मेरे रोम-रोम मे हजारो लाल चीटियाँ चिटकती हुई रेगने लगी। मेरी जाँघो मे कनखजूरो, केकडो, मगर-मच्छो, गोहो, छिपकलियो के जगल उग आये। मेरी शिरा-शिरा मे दश करते बिच्छुओ की नदियाँ-सी बहने लगी। मेरी कटि मानो पाताली अजगरो की गुजलक मे जकड गई। मेरे नाभिदेश मे से उठी आ रही नागिनो पर कई नकुल टूट पडे, और उन नागिनो को निगल कर उनके विष को वे अपने तीखे दाँतो से मेरी नाभि मे सीचने लगे। भयकर फणिधर भुजगम मेरी छाती और भुजमूलो मे लिपट कर, एक अदम्य वासना से मेरी रग-रग मे दश करने चले गये।

देखो देखो वह सब मै इसी क्षण फिर झेल रही हूँ। चिघाडते व्याघ्र और भेडिये मुझ पर टूट रहे है। एक दिगन्त व्यापी पिशाच की कराल कैंची जैसी जाँघो मे, मैं जकडी और कतरी जा रही हूँ। कोई मेरे पैरो को चूल्हा बना कर, उस पर भात पका रहा है। ब्रह्माण्डो को उलटते-पलटते काल-चक्र मे मुझे डाल कर, काई मुझे यमलोक की मरण-चट्टान पर पछाड रहा है।

यह क्या देख रही हूँ मै ! सारी वैशाली प्रलयकारी आग की लपटो म धू-धू जल रही है। और आम्रपाली दुर्दान्त रुद्राणी की तरह, एक तुग काय दिगम्बर पुरुष की छाती पर पैर धर कर ताण्डव नृत्य कर रही है। स्वामी, स्वामी, त्राण करो, उगारो मुझे इस पैशाची लीला मे ! मेरी इन अपावन टाँगो ने अपनी छाती का दलन करवा कर, तुम क्या सारी वैशाली को अपनी तपाग्नि से भस्म कर देना चाहते हो ? केवल मुझे बरसो-बरसो, कल्पो तक जला कर, क्या तुम्हारा महाकाल शकर तृप्त न हो सका ? अरे अरे देखो न, यह क्या किया तुमने ? तुम्हारे एक इगित पर सारे देव, दनुज, मनुज--पुरुष मात्र, एकाकिनी आम्रपाली की छाती पर चढ कर, उसके साथ बलात्कार कर रहे है। मुझे सारी त्रिकालिक सृष्टि की वासना का हवन-कुण्ड बना दिया तुमने ?

नही, नही, झूठ है यह। कोई दानव-लीला है यह। नही, तुम नही, तुम नही, तुम्हारा रूप धर कर कोई असुर ये सारे अत्याचार मुझ पर कर रहा है। पूर्ण प्रत्यय होते ही मै स्थिर, शान्त निश्चल हो गई हूँ। मेरी साँसे मुक्त हो गई है। मैं अपनी मन्दार-शैया मे वैसी ही सुखासीन लेटी हूँ। कि यह कौन कामदेव सहकार मँजरियो का धनुष ताने, मुझ पर आक्रमण कर रहा है ? अरे, यह तो तुम्ही हो। तुम्हारा ही वह जितानग सौन्दर्य ! और तुम तुम यह सब क्या कर रहे हो मेरे साथ ? अकल्पित, अतर्क्य। 'नही,

तुम ऐसा नही कर सकते मेरे साथ ! तुम इतने कुत्सित, असुन्दर नही हो सकते। नही, यह तुम्हारी ऊष्मा नही, यह तुम्हारा मदन नही। यह तुम्हारी रक्त-गध नही। यह तुम्हारा बाहुपाश नही। मैंने उछल कर एक ठोकर मारी इस छलिया बहेलिये को। और वह अन्तरिक्ष मे जाने कहाँ बिलीन हो गया ।

और तभी एक देव मेरे चरण प्रान्तर मे आ पडा। विह्वल अनुताप से रो कर क्षमा याचना करने लगा 'मै सगम देव, तुम्हारा शरणागत हुआ, देवी ! मेरे पापो का अन्त नही। अन्तिम नरक मे भी मुझे ठौर नही। मैने लोकालोक के नाथ महावीर के अनाहत पराक्रम और पौरुष को पराजित कर, देवो की मत्ता को मृत्युजयी अर्हत् पर स्थापित करना चाहा। और मैंने देखा, कि देवी आम्रपाली पर मेरे सारे प्रहार उतर रहे है। और प्रभु ? प्रभु तो देवी के हृदय के अनाहत चक्र मे, अचल कायोत्सर्ग मे लीन है। देवी, मुझे क्षमा न करे, मुझे निरस्तित्व कर दे !' और सहसा ही वह सगम देव, मेरी पगतलियो मे जाने कहाँ लुप्त हो गया।

○ ○ ○

ओ मेरे एकमेव काम-पुरुष, विचित्र है तुम्हारी लीला। जानती हूँ अब कभी तुम्हारा श्रीमुख-दर्शन भी मुझे नसीब न होगा। लेकिन मै मरण और विनाश की घाटियो मे तुम्हारी सहचरी होकर रह गई। तुम मारजयी हुए। लेकिन मै ? तुम्हारी तपस्या के सारे अघमर्षण अग्नि-स्नानो मे तुम्हारे साथ जल कर भी, मैं तो निरी कामिनी ही रह गयी। निश्चय ही, तुमने सचराचर सृष्टि के काम को जय किया। लेकिन याद दिलाती हूँ, आम्रपाली के काम पर अभी तुम विजय नही पा सके हो। मेरे आम्रकूट की मँजरियाँ अभी भी अछूती है। तुम्हारी त्रिभवन जयी चरण-चाप, अभी उनका भजन नही कर सकी है। सुनो, जानो, ओ त्रिगुणातीत, त्रिपुरारि परशिव, सदाशिव, मृत्यजयी महेश्वर महावीर ! तुम्हारे द्वारा भस्मीभूत किया गया काम, तुम्हारी इस पार्वती की सर्पिल कचकी मे नवजन्म ले कर अभी भी सुरक्षित है। उसको पूर्णकाम किये बिना, तुम्हारे युग-तीर्थ की नूतन सृष्टि का उत्थान और प्रवर्त्तन सम्भव न हो सकेगा।

हाय, मेरी वासना सृष्टि के कण-कण मे सुलग रही है। और देखो, देखो, मेरे मूलाधार की पृथ्वी, कमल कोरक की तरह फूटने को आकुल हो उठी है। इसकी मद्रित कर्णिका मे वैश्वानर धधक रहे है। क्या तुम कभी नही आओगे मेरे पास ? लेकिन अनिवार है मेरा यह आत्म-स्फोट। यह मृत्यु से भी बाधित नही। तुम सर्वज्ञ होकर भी, त्रिकाल-ज्ञानी होकर भी, क्या इस अनिवार्यता को नही देख रहे ? हाय, मेरी त्रिवली टूटी जा रही है !

□

३

# नहीं, अब मैं कभी, कही भी, अकेली नहीं हूँ

ओह, मेरी शैया किसने छीन ली? सारी सृष्टि जल-प्लावन की उत्ताल तरंगों मे बदल गई है। एक अथाह जल-लोक मे उतरी चली जा रही हूँ। एक कोमल कमनीय, फिर भी कराल नागकुमार की बाँहो मे जकडी हूँ। तात्त्विक जल का सीमाहीन अन्धकार राज्य। भय के मारे गला भिच गया है। कैसे चीख कर पुकारूँ ओ मेरे त्राता, तुम कहाँ हो? उस फाँसी मे अचानक मेरी आंखे ऊपर की ओर खुल गई है, अपार जल-पटलो को भेद कर। देख रही हूँ एक विशाल नाव, नर-नारी बालको से खचाखच भरी, गगा के विस्तीर्ण पाट को पार कर रही है पर पार जाने के लिये। हठात् पानी भरी आँधियाँ, मेघो के उमडते पहाड, उनमे कडकडाती बिजलियाँ। और प्रलयकर तूफान मे नाव, प्रचण्ड तरगो मे उलटने-पलटने लगी। यात्रियो की त्राहि माम् चीत्कारे इस प्रलय मे डूबी जा रही है। और एक तुगकाय नग्न पुरुष, नाव की ठीक नोक पर निश्चल मेरु की तरह खडा है। उसकी अकम्प छाती मे, तूफान जैसे मानुषोत्तर पर्वत से टकरा कर पराजित हो रहा है।

अचानक वह पुरुष, सनसनाता हुआ जललोक के तल मे उतर आया। और भुजाएँ पसार कर, उसने सारे जल-जगत को अपने आलिंगन मे बाँध लिया। मेरे शरीर को एक विराट् जल-शरीर ने कटिमात् कर लिया। क्रोध से फुकारता नाग कुमार एक अद्भुत् मुक्ति की ऊष्मा मे जाग उठा। निवेदित हो कर बोल उठा 'ओह, तुम इतने कोमल, इतने प्रेमल, इतने प्रबल? इस जलराज्य का स्वामी मै नहीं, तुम हो। तुम, जो तत्त्व मात्र के एकराट् सत्ताधीश हो। मै शरणागत हूँ।' और वह नाग कुमार मेरी गोद मे शिशुवत् सो गया। मैंने आँखे उठाईं, तो तुम वहाँ नही थे। चटक धूप मे नाव गगा पार के तट पर जा लगी है। हर्ष की किलकारियाँ करते मानवो का कोलाहल।

और हठात् पाया, कि मैं अपने कक्ष मे फर्श पर औंधी पडी हूँ। कितनी अकेली। फूट कर रोती हुई। और वह सारा तूफान मेरी धमनियो मे बन्दी हो कर गरज रहा है। तूफ़ान नही, मेरा अपना ही काम है यह। हाय, मेरे मानुष-तन के सीमान्त टूट रहे हैं। और तुम्हारे बलात्कार का अन्त नही।'

*और इसके कुछ दिन बाद ही, सुदंष्ट्र नाग कुमार ने जो उपसर्ग तुम पर किया था, उसकी वार्त्ता सुनी थी। छाती टूक-टूक हो गयी थी।* अथाहो में तुम्हारे साथ चल कर भी, कितनी अकेली हूँ। तुमने तो अपना चेहरा तक मुझ से छीन लिया है। हाय, तुम्हारा वह निर्बन्धन् रूप, मेरी आँखों और यादो मे कैसे रुक सकता है। निखिल चराचर के त्राता हो, प्रीतम हो, पिता हो। लेकिन अत्याचार करने के लिये केवल मुझे ही तो चुना है। जानती हूँ, तुम्हारे सत्यानाश को मेरे सिवाय और कौन सहेगा ?

याद आ रही है, हेमन्त की वह हिम-पाले की रात। सारी नग्न प्रकृति ठिठुर कर अपने ही मे धँसी जा रही थी। तभी अचानक केशर-कस्तूरी की सुगन्धो मे बसी अपनी नर्म-गर्म शैया, और शाल्मली रूई की रजाई मुझे असह्य हो गई। शीत हवाओ के इस प्रभजन मे तुम कहाँ खडे होगे इस वक्त ? मैं भाग कर उद्यान के बर्फानी सरोवर मे उतर गई। वस्त्र इतने असह हो गये, कि आप ही गल गये उस बडवानल मे। एक अनन्त नग्नता मे, मेरी नग्नता निमज्जित हो गयी। ओह, कैसी अथाह ऊष्मा है यह ! परम सुरक्षा का अन्तिम निलय अपना एक मात्र घर।

ओ मेरे हिमवान् पुरुष, तुम तो बाहर खडे हो, सृष्टि के सारभूत शीत को झेलते हुए। नही चाहिये मुझे तुम्हारी यह ऊष्मा, जो इतनी अरूप और विदेह है कि मेरे काम को चरम तक उद्दीप्त कर, मेरी बँधने को आकुल छाती को भेद कर, अन्तरिक्ष मे लीन हो जाती है। मुझे जला कर भस्म कर दो अपनी शीताग्नि मे, ओ मेरे हिम-पुरुष ! और लो, मै भस्मीभूत हो कर तुम्हारी निरजन देह पर आलेपित हो गई। पर, मेरी भस्म मे गुप्त आग को तुम सह न पाये। लेकिन इसमे बच कर अब तुम जा नही सकते। मगर तुम जा चुके थे। और मै हिम के सरोवर मे नही, गर्म बिस्तरे की ऐन्द्रिक ऊष्मा मे ला पटकी गई थी। अपने ही अङ्गाङ्ग मे दहकती आग क्या कम थी मेरे लिये ?

पीछे पता चला था, ये उस रात की बात है, जब तुम पर कटपूतना बाण-व्यन्तरी ने हिमपात् का उपसर्ग किया था।

अपने उद्यान की एक ऊँची स्फटिक छत पर खडी हूँ। हाथ के लीला-कमल से, शरद ऋतु के पारदर्श नीलाकाश मे कोई छबि आँक रही हूँ। कोई ऐसा रूप, जो हर क्षण एक नये लावण्य की आभा मे उभरता है। वह मेरे इस नीलाकाश के फलक मे कैसे बँधे। और सहसा ही उस घनीभूत नीलिमा मे, एक महामस्तक उत्तान खडा दिखायी पड़ा। मेरा वक्षमण्डल उद्भिन्न हो कर, ऊपर उठता ही गया, उस मस्तक का अवलम्ब हो जाने के लिये। और वह मस्तक

मेरे हर आरोहण के साथ, मेरे वक्ष की पहोच और छुवन से बाहर होता गया। मै हारी, हताहत ताकती रह गई।

अकस्मात् एक ब्रह्माण्डीय विस्फोट हुआ। तमाम चराचर थर्रा उठा। और मैंने देखा, उस आकाशी महामस्तक के दोनो कानो के आरपार एक प्रकाण्ड शलाका भोक दी गई है। एक मानुषी वेदना की चीत्कार, अनहद नाद हो कर जीव मात्र के प्राण को बीध गई। ऊर्ध्व मे से ढलक कर, वह वेधित महामस्तक मेरे वक्षोजों पर आ ठहरा। मैने उसे अपनी बाँहो मे समेट कर, उसके रक्त-भीगे चेहरे को प्यार करना चाहा। तो उसके कर्णो मे बिधी वह शलाका, मेरी छाती को छेद कर, सन्नाती हुई निकल गई। उस शलाका-वेध मे, मै तुम्हारे साथ क्षण भर को गुँथ गई। एकीकृत हो गई। तुम्हारी शलाका से आरपार बिधे बिना, तुम्हारे साथ आश्लेषित नही हुआ जा सकता, ओ मेरे शलाका-पुरुष !

सुरम्य सुमेरु-शिखर-सा तुम्हारा वह आकाशगामी मस्तक, ऊर्ध्व के जाने किस चन्द्रवलय मे अन्तर्धान हो गया। और और तुम्हारी शलाका मेरी देह के अतल-वितल, तलातल को गहरे मे गहरे भेदती चली जा रही है। यह वेदना मृत्यु से आगे की है। यह वेदना तुम्हारे केवलज्ञान से भी परे की है। यह एक विशुद्ध सम्वेदन की अथाह प्रसव-वेदना है। मेरी इस रजस्वला पीर मे, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एक नया जन्म लेने को कसक रहे है।

○ ○ ○

हठात् पृथ्वी का सबसे भीतरी कुम्भ विस्फोटित हो उठा। आह मेरे अतल मे से यह कैसी सर्पिणी लहरा उठी है। सारी सृष्टि लुप्त हो कर, लहरो और प्रकम्पनो के सीमाहीन विद्युत्-प्रसार मे बदल गयी है। निरन्तित्व हो जाने की अनी पर हूँ। सचराचरा धरा जलौघ मे मग्न हो गई है। और मै उसके बीच, एक वराह के एकाकी दाँत पर खड़ी अपने को देख रही हूँ। और देखते-देखते मै कच्छप की तरह अपने भीतर सिमट गई। अपने पृथुल नितम्बो की सन्धि-गुहा मे सकोचित हो गई। और औचक ही मैंने, अपने मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक फैले मेरुदण्ड के, विभिन्न मणि-प्रभाओं से भरे पोलान को आर-पार देखा। सारी सृष्टि अपने मूल रूप मे अपने भीतर देखी, और अनुभूत की।

हठात् अपने को अपने मूलाधार पर खड़े पाया। उसके किसी अदृष्ट उत्स मे प्रस्फुटित हो कर, बहत्तर हजार नाड़ियाँ ऊर्णनाभ के जाल की तरह मेरी सारी देह मे छा गयी है। और उनके बीच से उठ रही है, तीन प्रमुख नाड़ियाँ। चन्द्रमा-सी चमकती पाण्डुर वर्णी चित्रिणी। सूर्यरूपा वज्रिणी, अनार-फूल की पाँखुरियो जैसी प्रभा वाली। उनके बीच रक्तवर्णी सुषुम्ना, सिन्दूरी लपट-सी लहराती हुई। वासनाकुल नारी-सी कम्पनवती। चन्द्र, सूर्य, अग्नि की

संयुक्त विग्रह-रूपा। और उसके भीतर लहराती वह मृणाल तन्तु जैसी तनीयसी तन्वगी नागिन। एक साक्षात्कार मानो ध्वनित हुआ . कुण्डलिनी ! प्रहर्षण के हिलोरो से मेरी देह उन्मादित हो उठी।

देख रही हूँ, यह मूलाधार-कमल सुषुम्ना से जुडा है। उसके फलावरण मे अति कोमल सुन्दर सतत द्युतिमान त्रिकोण। अरे, यह तो कामरूप त्रिपुर है सत, रज, तम का सयुक्त प्रदेश। यहाँ सदा कन्दर्प वायु प्रवाहित है, जो बन्धूक पुष्प की पराग जैसी गहरी रक्तवर्णी है। दस हजार दामिनियो-सी दमकती, प्राणियो की स्वामिनी। देख रही हूँ, काम-बीज पर आसीन है सविद्रूपा महामाया। त्रिकोण मे अपने लिग रूप मे विराजित है स्वयम्भू। तरल प्रवाही सुवर्ण-से कान्तिमान। उस लिग पर साढे तीन आँटे मार कर लेटी बिस-तन्तु-तनीयसी कुण्डलिनी, अपनी पूँछ को अपने मुँह मे दबाये है। ससार को पागल कर देने वाली सर्व मोहिनी ललिता ! ब्रह्मद्वार अवरुद्ध करके लेटी है वह तन्वगी महीयसी। प्रणयाकुल मधुपो के गुजन जैसी मधुर मर्मर ध्वनि उसमे से सतत उठ रही है। उसे सुन कर मेरी शिराओ मे काव्य और सगीत की नदियाँ बह निकली है। और मूलाधार के मर्म मे से निरन्तर परावाक् नाद गुजायमान है।

अहो, विचित्र है यह कुण्डलिनी, जो मेरे और सृष्टि के आरपार लहरा रही है। इसने मुझे अपने मे समेट लिया है। और उसी क्षण वह प्रसुप्त पडी है—गहरे खुमार मे। लिग-मूल को अपनी कुण्डली मे कस कर आवेष्ठित किये। मै स्वय आम्रपाली। ठीक ऐसी ही तो हूँ सारे जगत् मे चचल बिजलियो-सी खेल रही हूँ। फिर भी अपने योनि-पद्म मे गहरी समाधिस्थ हूँ, अपने ही को हर पल निगलती हुई।

मूलाधार मे से अचानक, उद्गीर्ण हो आया चतुर्दल बैजनी कमल। उसकी चारो पखुरियो से ध्वनित होते—व, श, ष, स—चार मूलाक्षर सुवर्ण रगी। कमल के फलावरण मे, चतुष्कोण धरामण्डल। ओ, यही है अनादि, आदिम, तात्त्विक पृथ्वी। उसके अधोभाग मे धराबीज 'ल' का अनाहत भ्रमर-गुजन। उस मण्डलाकार सगीत मे मूर्च्छित हो कर, मै लिग-मूल मे लिपटी कुण्डलिनी के साथ अधिक-अधिक एकतान होती गयी।

कि हठात् एक धक्का अतल मे आया। मै जाग कर, उस नागिन मे लहरा कर, अपने उपस्थ योनि-पद्म मे आरोहण कर गयी। ओ, स्वाधिष्ठान चक्र का प्रदेश ! श्वेत प्रभास्वर वरुण का जल-राज्य। अर्द्ध-चन्द्राकार। उसके मध्य मे उत्फुल्ल षट्दल कमल। उसकी छह पाँखुरियो से ध्वनित होते—ब, भ, म, य, र, ल—बीजाक्षर। आदि वीणा पर गाती हुई विद्युल्लेखा। फला-वरण के जल-प्रदेश मे, मकर पर आरूढ है जल-बीज 'व'। उसके गहराते

गर्जन में से अवतीर्ण नीलकान्त श्रीहरि। तारुण्य और प्रणय की चेतना के अधीश्वर। पीताम्बर धारी। श्रीवत्स, कौस्तुभ चिह्नित वक्ष। पास ही बैठी है नीलोत्पला राकिनी। उस त्रिनेत्रा ने मुझ पर एक भ्रू-निक्षेप किया। कि तत्काल मेरा 'मैं' समाप्त हो गया। केवल 'वह' हो रही। राकिनी, रमा, नारायणी, आम्रपाली। एक ही चित्कला मै, कितने रूप, नाम, आकारों मे खेल रही हूँ। और मेरे गर्भ मे ओंकारनाद के साथ एक अनाहत डमरू बजने लगा। मेरी जघाओ मे दुदुभि घोष के साथ बादल गरजने लगे।

बिजलियो से रमण करते उन साँवले मेघो से लिपट कर, मैं गगन मे घहराने लगी। गगन का पहला पटल मेरे कामार्त्त नाद से भिद गया। मै छलाँग मार कर, नाभि के दश-दल कमल पर आरूढ हो गई। ओ, मणिपूर चक्र का प्रदेश! जलभार मे भरित, वर्षा के मेदुर मेघो जैसे वर्ण का है यह कमल। अग्नि का त्रिकोणाकार राज्य। उदीयमान सूर्य की तरह प्रोद्-भासित। कमल की दस पाँखुरियो से निनादित होते—त,थ,द,ध,न,प,फ,ड,ढ, ण—अग्नि-बीजो का वैश्वानर माम-सगीत। उनकी नीलकान्ति मे से उठती सृजन की लोहित ज्वालाएँ। अग्नि का रक्ताभ प्रदेश। स्वस्तिक चिह्नो मे अंकित त्रिकोणाकार। त्रिकोण के भीतर अग्नि-बीज 'र'। वह रातुल प्रभा से दमकता, मेष पर आरूढ है।

वह्नि-बीज की गोद मे विराजित है रक्तकान्ति रुद्र, वृषभ पर आरुढ, भस्म-चर्चित श्वेनाभ। उनकी गोद मे खेल रही है नीलकान्ता लाकिनी त्रिमुखी, त्रिनयना, चतुर्भुजा, वज्र और शक्ति अस्त्रों से मडित, अभयदान और वरदान की मुद्रा मे हाथ उठाये। सृष्टि के सहारक पुरातन-पुरुष रुद्र की प्रिया, कराली महाकाली। आम्रपाली! ओ मेरे महारुद्र, तुम्हारे तृतीय नेत्र मे खेल रही ह सर्वसंहारिणी अग्नि-लेखा। वह मै ही तो हूँ, आम्रपाली! तुम लेट गये, और मै तुम्हारे भस्मालेपित विराट् वक्षदेश पर उद्दण्ड, उद्दाम, निर्बन्ध वह्निमान् नागिन-सी, सहार-नृत्य करने लगी। मेरी सर्वदाहक वासना, तुम्हारी ऊर्ध्व-रेतस् काया पर दिगम्बर ज्वाला-सी ताण्डव करती हुई, ऊर्ध्वों के अभेद्य वलयो को भेदने लगी।

सहसा ही क्या देखती हूँ, कि अन्तरिक्ष के केन्द्र मे हिल्लोलन के आवर्त उठने लगे। दहराकाश का आभोग पटल विदीर्ण हो गया। और मै प्रियगु लता की तरह उछल कर, पद्मराग मणि जैसे रातुल कमल पर आरूढ हो गई। अहो, यह हृदय का 'अनाहत कमल' है। यह कल्पवृक्ष की तरह सर्वकाम पूरन है। कामी की हर कामना से शतगुना अधिक काम्य यह देता है। यह कपोत-कुर्बुर वायु का प्रदेश है। मेघ-वल्ली जैसी धूमिल, गहरी भीजी सवेदनाओ का अश्रु-व्याकुल मण्डल। प्यार का अव्याबाध मोहन-राज्य। इसकी रक्तिम-

केशरी बारह पखुरियो पर से—क,ख,ग,घ,ङ ,च,छ,ज,झ,ञ,ट,ठ—मवाक्षर कुंकुमी राग में गा रहे है। कलावरण मे षट्कोण वायु-मण्डल जल-छाया से कान्तिमान है। उस पर त्रिकोणाकार सूर्य-मण्डल, दस हजार विद्युल्लेखाओ से जाज्वल्यमान है। उसके ऊपर जलकान्त श्यामल वायु-बीज 'य', कृष्णसार मृग पर आरूढ हैं। प्रीति की कस्तूरी का मर्म-देश !

देख रही हूँ, वायु-बीज की गोद मे हंसोज्ज्वल, त्रिनयन ईश बिराजित हैं। उनकी गोद मे रक्त-पद्म पर बैठी है काकिनी शक्ति। उसका हृदय अमृतपान से सदा आर्द्र, आप्लावित रहता है। वह सदा अमृत-सुरा के नशे मे झूमती रहती है। उसके योनि-पद्म पर बानलिंग के रूप में विराजित है, परशिव महेश्वर। मस्तक पर बिन्दु-संयुक्त अर्द्धचन्द्र धारण किये, वे कामोद्गम से उल्लमित है। मेरे हृदय के कमल-कोरक मे से उद्भिन्न मेरे कामेश्वर ! मेरे ही आत्मज, मेरे उत्संग के स्वामी। असख्य कामिनियो के स्वप्न-पुरुष, जिनके चरणो पर लोक का समस्त नारीत्व पल-पल निछावर है। त्रिलोक और त्रिकाल का एकमेव मदनमोहन मेरे हृदय-पद्म पर सदा के लिये आसीन ! इसकी मोहिनी दिव्य-ध्वनि से, तमाम चराचर के हृदय जलौघ की तरह हिल्लोलित होने लगते है। परम काम और प्रेम से उल्लमित होने लगते है। इसकी वाणी से कण-कण रोमाचित हो जाता है। वह त्रिलोकी का वल्लभ, आज केवल मेरे उरोजो पर आरूढ ! मै आम्रपाली, लक्ष्मी, शिवानी ? कोई नही केवल ह्लादिनी शक्ति। परात्परा नारी।

और तुम्हारे पद्मासन मे आलोडित मेरे उरोज, अन्तरिक्षो को अपनी विशुद्ध वासना से विक्षुब्ध करने लगे। वे अगम्य ऊर्ध्वो के मण्डलो को आर-पार वेधने लगे।

○ ○ ○

अरे, यह कौन मुझ मे आकण्ठ भर आया है ? जाने कैसी परा सम्वेदना मे मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो गया है। मेरी ग्रीवा मे ऐसा वेगीला कम्पन है, डोलन है, कि जैसे मेरा मस्तक गले मे उच्छिन्न हो कर, किसी ऊपर के वलय मे उत्क्रान्त हो जाना चाहता है। मेरे प्राण ने अपना स्थान छोड दिया है। मेरी साँसें रुद्ध हो कर, मूलाधार के कुम्भक मे स्तब्ध हो गई है। नही, अब 'अनाहत हृदय-कमल' मे रुकना सम्भव नही। वह सम्वेदन पीछे छूट गया है। एक ओंकार ध्वनि मे से उठती शलाका मेरी ग्रीवा को भेद रही है, छेद रही है। कण्ठ-वेध, कण्ठ-वेध, कण्ठ-वेध ! मेरी कम्बु-ग्रीवा का शख घनघोर नाद करके फूट पडा। मैं एक क्षीर-समुद्र मे मग्न हो गई। और हठात् उसमे से उन्मग्न हो कर ऊपर उठ आई। तो पाया, कि एक धूमिल बैजनी रग के प्रान्तर मे खडी हूँ। अहो, 'विशुद्ध चक्र' का प्रदेश ! सामने देख रही हूँ, सोलह पाँखुरियो

वाला षोडष-दल कमल। उसकी बहुत महीन, कचनार फूलो के रग की हलकी जामुनी पाँखुरियो के केसर-तन्तु रक्ताभ है। इस कमल के सोलह दलो पर अंकित सिंदूर वर्णी सोलह स्वर—अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ऋं,ऋ़,लृ, लृ,एं,ऐ, औ,अ,अ —केशर की महक जैसी ध्वनि मे गुंजित हो रहे हैं।

फलावरण मे देख रही हूँ नभो-मण्डल, अन्तरिक्ष देश। पूर्ण चन्द्र-सा गोलाकार उज्ज्वल, श्वेताभ। हिम-श्वेत हाथी पर अम्बर-बीज 'ह' आरूढ है। श्वेताग, श्वेत-वसन, अन्तरिक्ष से आवरित। उसकी गोद मे विराजित है कर्पूर-गौर, हिम-कान्ति सदाशिव महादेव। त्रिनयन, पचमुख, दशभुज, व्याघ्र-चर्म धारण किये हुए। वे अर्धनारीश्वर, गिरिजा के उत्सग मे नित्य निरन्तर आलिंगित है। उनका आधा शरीर हिमानी रग का है, और दूसरा अर्द्धांग केशरिया सुवर्ण कान्ति से दीप्त है। ये भस्मालेपित, सर्पमाला धारण किये शिव वृषभारूढ है अपनी दश-भुजाओ मे त्रिशूल, परशु, खड्ग, वज्र, आग्नेयास्त्र, नागेन्द्र, घण्टा, अकुश तथा पाश धारण किये है। और अभय मुद्रा मे एक हाथ उठाये है। इस कमल की अधीश्वरी शाकिनी शक्ति, उनके वामाक म विराजित हैं, और सान्द्र स्मित से मुस्करा रही है। उनके पीत वसनो से केशर सुवासित हो रही है। फलावरण मे है सम्पूर्ण चन्द्र-मण्डल शशक-चिह्न से मुक्त, अकलक।

मेरे कण्ठ मे यह कैसा अमृत-सा मधुर मकरद झर रहा है! सारी चेतना, इन्द्रियाँ, शरीर उसमे भीज कर, अपने ही आप मे लीन एकस्थ, एकाग्र हो गये है। मैं ही नारी, मैं ही पुरुष। मै ही योनि, मै ही लिग। बाहर से कही कुछ पाने को शेष नहीं। और तुम मेरे स्वामी, तुम ' मेरी ही आत्म-योनि के सरोवर से उद्‌भिन्न एक कमल-कोरक। जिसने मुझ कामागिनी मे रमणी देह धरना स्वीकार कर लिया है। मै ही रमणी, मै ही रमण। अपने को देख रही हूँ, कि तुम्हे देख रही हूँ, कहना सम्भव नही रह गया है। और इस अपलक निरन्तर अवलोकन मे, त्रिकाल और त्रिलोक एक चित्रावली से खुलते जा रहे है।

महसा ही यह क्या हुआ, कि तुम्हारे ग्रीवालिगन मे गुँथ गई हूँ। और तुम्हारी भस्मालेपित जटाओ मे सोये सर्प जाग कर, सौ-सौ फणाएँ उठा कर फूत्कारते हुए अन्तरिक्षो पर पछाडे खा रहे है। मेरे विप्लवी दिगम्बर, तुम्हारे पुण्य-प्रकोप से तीनो लोक कम्पित हो रहे है। तुम्हारे भ्रूभग से प्रस्फोटित वह्नि मे, आसुरी सत्ता और सम्पत्ति के दुर्ग भस्ममात् हो रहे है। ब्रह्मा, विष्णु, हरिहर, सूर्य, कार्त्तिकेय, इन्द्र—कोई तुम्हारे इस वैश्वानर को प्रतिरुद्ध नही कर सकता।

अहा, तुम अनाचार के तमाम भेदी खूनी अन्धकारो को विदीर्ण कर, सत्यानाशी वात्याचक्र की तरह नाच रहे हो। मेरी कटि को अपने पदागुष्ठ

से चाँप कर, तुमने ब्रह्माण्डो के गर्भ उलट दिये है। अन्तरिक्षो की अनाहत शान्ति को विक्षुब्ध कर दिया है।

तुम्हारे दबाव तले चूर-चूर हुई जा रही हूँ। और मेरी कटि पर आरोहण कर, तुम किसी ऊर्ध्वान्ति को अपने त्रिशूल से भेद रहे हो। और मेरा छिन्न-भिन्न नाडी-मण्डल सकोचित हो कर, तुम्हारे बाहुमूल मे सगोपित हो गया है। असह्य है तुम्हारे ये अन्तरिक्ष-भेदी आघात। मृणाल तन्तु-सी तन्वगी यह कुण्डलिनी, इन्हे कैसे सहे। आनन्द-वेदना से मातुल हो कर, वह उत्सर्पिणी उत्तान हो लहरा उठी है।

और एकाएक यह क्या हुआ, कि मै तुम्हारे भ्रूभग की अग्नि मे कूद पडी। और देखा कि वहाँ, एक दो दलो वाला कमल फूट आया है। सुनाई पडा 'यह आज्ञाचक्र का प्रदेश है!' इन दो दलो पर कर्बुर वर्ण के—ह और क्ष—अक्षर अंकित है। फलावरण मे विराजित है इस चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति हाकिनी। श्वेतागी, षट्मुखी, त्रिनयना, षट्भुजा, श्वेत कमलासीन। वह अभय-मुद्रा, वरमुद्रा, रुद्राक्ष माला, नर-कपाल, डमरू और पुस्तक धारण किये है। उसके ऊपर के त्रिकोण मे काल का अतिक्रमण करते इतर शिव विश्वनाथ, योनि से उद्‌भिन्न लिग-स्वरूप मे विराजित है। मेरे ही उरु-मण्डल से उत्थाय-मान तुम, मेरे स्वामी!

वे सर्वगामी पुरुष अनायास मेरे शरीर मे प्रविष्ट हो गये। मेरे गोपन-तम भवनो और अन्त पुरो मे घुम कर वे खेलने लगे। मेरे रक्त-कोषो मे वे सर्प-राशियो की तरह समरित, अभिसरित होने लगे। मेरे आसपास के वात-मण्डल मे चिनगारियो जैसे ज्योति के विन्दु तैर रहे हैं। उनके बीचोबीच कोटि सूर्यो को समाहित किये, एक निवात निष्कम्प जोत जल रही है। और मैं उसके आलोक मे, मूलाधार मे ब्रह्म-रन्ध्र तक के बीच चल रही जाने कितनी रहसिल अदृश्य क्रियाओ और रग-सृष्टियो को प्रत्यक्ष देख रही हूँ।

ओ मेरे योगीश्वर, हठात् तुम मेरी पहोच से बाहर हो गये। मुझ से निष्क्रान्त हो गये। अपनी निरालम्बपुरी मे छलाँग मार कर, अपने अधरासीन भवन के कपाट तुमने मुद्रित कर लिये। मैं तुम्हारी मनोजिनी नारी हूँ, तुम्हारी एकमेव मानसी। लेकिन यह क्या हुआ, कि तुम एकाएक मुझ से और मेरे इस प्रिय जगत से, मनस् और भाव के सारे सम्बन्ध विच्छिन्न कर गये! तुमने मुझ से मेरा मन छीन लिया, तो उससे आविर्भूत सारा जगत् भी अदृश्य हो गया। लेकिन मै दृष्टि मात्र रह कर, तुम्हारे सुन्न महल मे जोत-सी चक्कर काट रही हूँ। देख रही हूँ तुम्हे, तुम अनन्त मे आसीन आकाशभाषी

पुरुष हो। आकाश-मूर्ति की तरह निश्चल खड़े हो। और तुम्हारे चारो ओर आनन्द का निःसीम समुद्र उछाले मार रहा है। मृत्यु और विनाश, मृत सर्प और मकर की तरह तुम्हारे चरणो मे लुढके पड़े हैं।

○ ○ ○

लेकिन यह क्या देख रही हूँ, कि तुम से भी ऊपर एक अतिमनस् का राज्य है। वहाँ एक विराट् चन्द्रमण्डल के भीतर से 'हस' की अनाहत ध्वनि निरन्तर उठ रही है। उसमे परशिव अपनी शिवानी के साथ एक अपूर्व युगल-लीला मे अवतीर्ण होते दिखाई पड रहे है। वैश्विक 'आज्ञाचक्र' के पार, बिन्दु के भीतर शत कोटि योजन के विस्तार वाला एक अन्तरिक्षीय, अवकाश देख रही हूँ। असख्य सूर्यों की प्रभा से यह तरगायमान है। यहाँ शान्ति से भी परे के परमेश्वर, शान्त्यातीतेश्वर, नव-ऊषा की गुलाबी कोर की तरह मुस्कराते विराजमान ह। उनके वामाक मे विराजित है शान्त्यातीता मनोन्मनी। उन्हे नव-नव्यमान सृष्टियो के कई नीलाभ मण्डल घेरे हुए है। यह बिन्दु-तत्त्व की शुद्ध चिन्मय कला और लीला है। इसके ऊपर है अर्द्ध चन्द्र का मण्डल, जिसके दोनो छोर अति सूक्ष्म चित्कला मे जुड कर अतिमानसी क्रिया के नील-लोहित अन्तरिक्ष को उभार रहे है। यह चितिशक्ति का विलास-महल है। इसमे ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, कान्ति, सुप्रभा और विमला नामा पाँच कलाएँ जामुनी अम्भोजो पर खडी नृत्य कर रही है।

अर्द्ध चन्द्र के ऊपर है निर्बोधिका, जिसमे––बधति, बोधिनी, बोधा, ज्ञान-बोधा तथा तमोपहा नामा कलाएँ उन्मन उन्मत्त हो कर क्रीडा कर रही हे। निर्बोधिका के ऊपर है नाद, घहराते मेघो का एक अमूर्त, छोरहीन प्रसार। उसमे इन्धिका, रेचिका ऊर्ध्वगा, त्रासा तथा परमा नामा कलाएँ है, जो विशुद्ध और प्रवाही चेतना के स्पन्दनो मे, मौलिक सर्जन, काव्य और सगीत के इन्द्र धनुष बन रही है। नाद के आभोग मे से उद्भिन्न है एक अनन्त-गामी आकाश-कमल। उसके निलय मे आसीन है, परम सम्वेदनीय परमेश्वर वीतराग और पूर्णराग की ज्ञानातीत सयुति। वे अनगिन योजनो मे विस्तृत है। वे पास से भी पास, और दूर से भी दूर है। उनके मुख-मण्डल मे से उत्तरोत्तर सहस्रो चन्द्रमा उदय हो कर, अपरिमेय विस्तारो मे व्याप रहे है। एक साथ उनके कितने-कितने मुख, मस्तक, नयन, बाहु और पाद चक्राकार प्राकट्यमान है। उनके कुचित केशो मे सारे समुद्र समाहित खेल रहे है। वे त्रिशूलधारी, दिगम्बर, ऊर्ध्वगामी है। उनके उत्सग मे ऊर्ध्वगामिनी सौन्दर्य-कला नव-नव्य कटाक्षो के साथ विलास कर रही है।

गन्धकुटी के रक्त-कमलासन पर आसीन तुम्हारे नित नवरमणीय मुख-मण्डल को शायद कभी न देख सकूँगी। लेकिन इस क्षण तुम्हारे पद्मासन

के पाणि-सम्पुट मे जो बिस-तन्तु तनीयसी सर्पिणी रमणलीन है, उसे पहचानते हो? तुम्हारी नासाग्र दृष्टि मे क्या वह कभी झलकी है? वह तुम्हारे हृदय की एक अनामा, अविज्ञात, अज्ञेय कला है। वेश्या का क्या नाम हो सकता है, क्या पहचान हो सकती है, जिसे हर नये पुरुष के साथ बदल जाना होता है। जिसे हर अन्य शरीर के साथ, एक नये शरीर मे जन्म लेना होता है। वही अनामा, इयत्ताहीना कला हूँ मै तुम्हारी, तुम से भी शायद अनजानी। इसी से तो देख कर भी, अनदेखी कर गये। मेरे द्वार पर आ कर भी, मेरे भवन मे, मेरे पास आने को विवश न हो सके!

न सही, पर अपनी एकान्त योगिनी रति मे, मै तुम्हारे इस अचल पद्मासन को अपने आँसुओ मे गला दूँगी। लो आई मैं, ओ अभेद्य, तुम्हारी विष्णु-ग्रंथि और ब्रह्म-ग्रंथि को मैं भेद कर ही चैन लूंगी।

और लो, मै तुम्हारे मेरु-दण्ड के सारे चक्रो को भेद कर, परम व्योम, परा शून्य मे अतिक्रान्त हो गयी हूँ। मै शखिनी नाडी पर आरूढ हूँ। मेरे विसर्ग के तल मे है सहस्रदल कमल। इसके प्रत्येक दल मे अनन्त कोटि चन्द्र मण्डल झलमला रहे है। इस शुभ्र निरजन उज्ज्वलता की उपमा नही। यह रग-रूपातीत हो कर भी, इसमे इन्द्र धनुषो के बहुरगी जल लहराते दीखते है। स्वरूप के दर्पण-महल मे द्रव्य की विचित्र छाया-खेला। अधोमुख है यह सहस्रार। इसमे से सम्मोहन बरसता रहता है। इसकी गुम्फित पाँखुरियाँ बालारुण के राग से रजित है। अकार से आदि लेकर आद्योपान्त अक्षरो से इसकी देह भास्वर है।

बडी शीतल चम्पक आभा वाली इसकी हजारो पाँखुरियो के वन मे खोती चली जा रही हूँ। शान्ति, आनन्द और अमृत की कैसी मधुर आर्द्र फुँहारो मे भीज रही हूं। क्षीर समुद्र की चाँदनी मे नहा रही हूं। सौरभ और सगीत के नीरव मान्द्र कम्पनो मे तैर रही हूँ। अननुभूत है यह सम्वेदन, रोमाचन, विगलन। मै बस चन्द्रमा म उत्सगित अमृत के समन्दर की लहरे मात्र हो रही। और बहती हुई, हजारो घनीभूत बिजलियो से जाज्वल्यमान एक त्रिकोण मे पहुँच गई। और सहसा ही कोई मुझे जाने कहाँ उठा ले गया।

एक भास्वर महाशून्य के महल मे, अन्तरिक्ष के चिद्घन पर्यंक पर लेटी हूँ। मेरे दिगम्बर परशिव मेरी योनि के रक्त-कमल पर, स्पर्शातीत अधर मे आसीन हैं। शिव और शक्ति के रमण की एकीभूत निश्चल अवगाढ़ता का यह सुख, नाद, बिन्दु और कला से अतीत है। मैथुन मैथुन ··· मैथुन, अनन्त और निरन्तर मैथुन। अजस्र और अद्वैत सम्भोग।

मेरे शिव, मै तुम्हारी ह्लादिनी शक्ति, तुम्हारी लीला-सहचरी शिवानी। हमारे आत्म-रम्मण से क्षरित हो रहे अमृत से, नित-नूतन सृष्टियाँ झड रही हैं। हमारे इस पर्यंक के परिवेश मे, अपने मौलिक उद्भव मे वे सृष्टियाँ कितनी सुन्दर, सम्वादी, पवित्र, समजस और निर्मल है। सदा कुँवारी की तरह ताजा है। अविक्षत है।

लेकिन पृथ्वी पर उतर कर वे कितनी कुरूप, विषम, बेसुरी और क्रूर हो गई है। वे मेरी कोख मे जन्मी है, और उनकी यातना के नरको को मैं तुम्हारे आलिगन के इस अक्षय्य सुख मे भी भूल नही सकी हूँ। तुम्हारे अथाह मार्दव मे गुम्फित मेरी छाती मे, मेरी चिर निपीडिता मर्त्य पृथ्वी निरन्तर कसक रही है। जितना ही अधिक चिद्घन और प्रगाढ है तुम्हारे उत्सग का यह सुख, उतनी ही अधिक आर्त्त है मर्त्य पृथ्वी के लिये मेरी चीत्कार। मेरी परम रति की सीत्कार ही, यहाँ मेरी चीत्कार हो उठी है।

नही, मै तुम्हारी द्यावा के इस महासुख-कमल मे, अपनी मृत्तिका को भूल कर रमणलीन नही रह सकती। आकाश की जाया हो कर भी, मैं शाश्वत पृथ्वी हो रहने को अभिशप्त हूँ। तुम्हारी सृष्टि की महाकाम लीला की धुरी पर खडी, मैं हूँ तुम्हारी महाकामिनी। कामार्त्त मानव मात्र की कामायनी। वेश्या, विशुद्ध पृथ्वी, पिण्ड मात्र की गर्भधारिणी एकमेव माँ। मुझे चारो ओर से घेरे है, मर्त्य, पीडित, विनाश-सघर्ष और मृत्यु से ग्रस्त चिरकाल का अनाथ जगत्। वह मेरा यह अमृत भीजा आँचल खीच रहा है। मेरे रूप के सदा प्यासे, आदि वासनार्त्त मानव-जन।

नही, मै नही रुक सकती तुम्हारे इस महासुख-कमल की अनाहत मिलन-शैया मे। चिरकाल की वियोगिनी पृथ्वी मैं, मेरी विरह-वेदना का पार नही है। तुम्हारी अन्तरिक्षी रति की निरवच्छिन्न अवगाढता मे भी, मेरी रक्त-मास की पृथ्वी-काया प्यासी तड़प रही है।

मैं तुम्हारे लिये ऊपर चढती हुई यहाँ तक चली आई, या तुम बलात् मेरा यहाँ हरण कर लाये? सो तो तुम जानो। लेकिन यदि मैं विनाश और मौत की खदको मे भी तुम्हारे साथ अज्ञात शृगो पर चढने का खतरा उठाती गई, तो क्या तुम मेरी इस काया की पुकार पर, मेरी भगुर माटी के आक्रन्द पर, नीचे नही उतर आ सकते मेरे साथ?

कोई उत्तर नही लौटा। तुम्हारी आत्मरति की समाधि अविचल रही। मैंने झझोड कर तुम्हारे अशरीरी, अन्तरिक्षी परिरम्भण को तोड दिया। मैं तुम्हारे बाहुपाश से छूट कर, जाने कितने शून्यो को चीरती हुई, फिर से अपने

मूलाधार की पृथ्वी पर आ पडी हूँ। फिर से अपने धरामण्डल के स्वयम्भू लिंग से लिपट कर, अनाद्यन्त विरह-वेदना मे मूर्छित हो गई हूँ।

नही, अब मैं तुम्हारे ऊर्ध्व के ज्योतिर्मय पर्यंक पर नही चढूंगी। तुम्हे ही मेरी अनन्त वासना के इन तमसा-वनो मे उतरना होगा। जब तक तुम मेरी माटी मे अपना अमृत नही सीच देते, मुझे तुम्हारे अमर राज्य की महारानी होने मे कोई रुचि नही है।

तुमने कोई उत्तर न दिया। अनुत्तर है तुम्हारी लीला, ओ मायापति!

○ ○ ○

किस स्वप्न-देश मे चली गयी थी? कितना काल बीत गया, पता नही चलता। क्या काल से परे था वह लोक? दर्पण मे दृश्यमान नगरी जैसा वह विश्व। क्या वह निरी वायवीय माया थी? निरा स्वप्न, इन्द्रजाल? नही, वह कुछ ऐसा था, जो किसी भी वास्तव से अधिक सत्य था। उसके सौन्दर्य, मार्दव, माधुर्य, लोच और रस से मैं अब भी समूची आप्लावित हूँ।

और अब जागी हूँ, अपनी ठोस वास्तविक धरती पर। लेकिन कैसा नीरन्ध्र, अपार अन्धकार मेरे चारो ओर घिरा है। पता ही नही चलता कि कहाँ हूँ, हूँ कि नही? मेरी धरा का वह ठोस वास्तव क्या हुआ? एक निराकार अथाह तमसा के सिवाय कही कुछ नही। अपने भीतर से उठता एक घोर नाद सुन रही हूँ। और उसमे से उठ रही है कुछ विशुद्ध ध्वान्त की आकृतियाँ। मेरे आसपास नीरव नृत्य करती काले घूंघटो वाली डाकिनियाँ। दूरियो मे से आ रहा कोई अन्तहीन विलाप। चीखो, क्रन्दनो, दारुण रुदनो का समवेत प्रलाप। उफ्, राग-द्वेष, सघर्ष, यातना, रोग, क्षय, विनाश, जरा और मृत्यु का एक अटूट सिलसिला। क्या यही है मेरी पृथ्वी की नग्न वास्तविकता?

मैं 'कुछ-नही' हो कर, एक अवधान, एक सचेतना मात्र रह गई हूँ। चेतना के किसी अज्ञात गहन मे से उठती एक तरग। मुझ मे खुली है हजारो अपलक आँखे, हजारो आरपार खिडकियाँ। केवल मात्र दर्शन-ज्ञान रूपा मैं। जिस स्वप्न मे से जागी हूँ, उसकी नम्यता से कितनी लचीली, कितनी तरल। एक निरी सम्वेदना, स्फुरणा। उस अनाहत आलिगन को तोड़ कर आई मैं कितनी घात्य। मेरे रोमाच मे जानने का आनन्द, और झेलने तथा मरने की यातना एक साथ।

· ये क्या हुआ? मेरे 'कुछ-नहीपने' मे से यह कैसा आर्त्तनाद उठ आया। · और अगले ही क्षण फिर एक आह्लाद का कम्पन। निश्चेतन अलोकाकाश का शून्य विदीर्ण हो गया। और मुझ मे से एक अडाबीड आदिम जंगल उग

आया। आद्या प्रकृति? सागौन, सप्तच्छद, सल्लकी, सुरपुन्नाग, सिन्धुवार, अजन और चन्दन के सुरम्य वन। अभेद्य है इस अरण्य का परिच्छद। एकाएक इसकी अनादि निस्तब्धता मे झिल्ली की झंकार, कीट-पतिगो का स्पन्दन और अश्रुतप्राय गुजन। रेंगने, सरसराने, रिलमिलाने के कम्पनो से मेरे सारे जगल-शरीर मे काँटे उठ आये। मणियो की विविध रगी द्युतियो से आलोकित विवर, बाँबियाँ, भूगर्भ। सरिसृपो से आक्रान्त मेरी देह के रोम-काँटो की कसकन। फिर मुदित-मगन पुलकन। उसमे से प्रवाहित झरने, नदियाँ, सरोवर, समुद्रो के स्फीताकार मण्डल—दिगन्तों पार दृष्टि मे ओझल हो रहे।

अरण्य की शाखाओ मे गाती नीली-पीली-हरी चिडियाओ का गान। जंगल के पारान्तर मे उठे आ रहे उत्तुग पर्वत, मेरी चेतना के गहन जल मे झाँक रहे। सब कुछ कितना सुरम्य, शान्त, सुन्दर, आदि सगीत से गुजायमान। जल, वनस्पति, फल-फूल की विचित्र गन्धो का अबाध सौरभ-राज्य। औषधियो की कान्ति से भास्वर वन के अगम्य, नीरव एकान्त।

सहसा ही एक हडकम्पी भैरव नाद। पर्वतो मे से गुफाएँ फट पडी। ठीक मेरी देह के आभोग मे विस्फारित हुई वे कन्दराएँ। मेरे नितम्बो और जंघाओ मे चिघाडता एक महा व्याघ्र। मेरी कटि पर झूमता एक गजेन्द्र। क्षण मात्र मे ही मेरे उपस्थ को भेद कर, एक विकराल अष्टापद, मेरी कमर को गूधते गजराज पर टूट पडा। उसे हाथी ने अपनी सूँड मे दबोच कर मेरे चट्टानो-से स्तनो पर पछाडना चाहा। व्याघ्र छूट निकला, और उसने मेरी छाती पर गजराज को ढाल कर उसके उदर को फाड दिया, और उसके भीतर प्रवेश कर उसकी पसलियो मे घुसता ही चला गया। मैं निरी चट्टान हो रही, रक्त-स्नात आदिम चट्टान।

एकाएक वह चट्टान एक दारुण कोमल टीस के साथ विदीर्ण हो गई। उसमे से अनावरित हो आये, सुवर्ण के सुगन्धित कलशो जैसे मेरे स्तन। उन पर नाच उठा एक मयूर। मयूर मे से फूट कर एक भुजग नाग फूत्कार उठा। नाग की गुजल्क में मयूर, और मयूर के सुन्दर नील पखो को डसता नागफण। कि तभी मेरे कुन्तल-वन मे से उड आया एक गरुड। वह विपल मात्र मे नाग को निगल गया। मेरी देह मे परस्पर सघर्ष-सहार कर रहे हिंस्र पशुओ का पूरा जगल, उस गरुड के पखो मे अवसान पा गया।

मगर कहाँ अन्त है इस हिंसा का? सारे आकाश को व्याप्त कर उडते गरुड की पाँखो तले, सुन्दर समुद्र और नदियो के जल-नील आवरण मे, फिर वही जीव का भक्षण करता जीव। मछलियो को चबाते मत्स्य, मत्स्यो को निगलते अजगर, अजगरो को लीलते मकर, मकरों को डसते पाताल के महानाग।

अहो, मेरी ही अनादि-अनन्त वासना, मेरा ही चिर अतृप्त काम, सारी प्रकृति मे हिंसा बन कर व्याप्त है ! वनस्पति, कीट-पतग, सरिसृप, पशु-पछी, मगर-मत्स्य और मानवो की जगतियो मे सदा समान रूप से जारी परस्पर मार-फाड, सघर्ष, युद्ध, हत्याएँ, रक्तपात। सारी सृष्टि में निरन्तर चल रही हिसा, केवल मैं—आम्रपाली ! मेरा अपराजेय काम। ओ ज्ञानी गरुड, क्या तुम उसे पचा सकोगे ? दमित और शमित कर सकोगे ? अपने आरोही विष्णु से पूछो, क्या वह अपनी कमला की मोहिनी के गुजल्क मे कैद नही ? मेरी देह के कमलकोश की पाँखुरियों मे से ही, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हर पल उठ और मिट रहे है।

○ ○ ○

पर क्या तुम मेरी हिंस्र वासना को ही देखोगे ? मेरे अगाध सौन्दर्य और मदन को नही देखोगे ? देखो देखो देखो—दिगन्तो तक फैला मेरे सौन्दर्य का यह आँचल। यह क्या हुआ ? वह रक्ताक्त विनाश-लीला कहाँ लुप्त हो गई ? औचक ही क्या देखती हूँ, कि छहो ऋतुएँ अपने-अपने फूलो की रगीन रज उडाती हुई मेरे आसपास भाँवरे दे रही है। मेरी नग्न देह की रातुल आभा मे, किशुको के सिन्दूरी वन फूले है। मेरी बाहुओ मे सर्प-वलयित चन्दन-लताएँ लिपटी है। मेरी जघाओ के कदली-वन मे अगाध कोमलता ज्वारित है। बेला, चमेली, कुन्द, कचनार, कामिनी और मल्लिका के फूलो छायी वन-शैया पर लेटी हूँ। प्रियगु और माधवी लता के हिण्डोले मे दोलायित हूँ। मेरे केशो की मजरित अमराइयो मे कोयल गा रही है। मेरी काया के आकाशी समुद्र-किनारो मे श्वेत काश लहलहा रही है। मेरे कन्धो पर उग लोध्रवन मे झरती सुवर्ण रेणु मेरा अगराग हो गई है।

मेरे चारो ओर घिरे सिन्धुवार, कणिकार, महकार अशोक और शिरीष वृक्षो के वन। उनमे, झरते मकरन्द की पीली-केसरिया नीहार छायी है। मेरे ऊपर झुक आये मन्दार, पारिजात, काचनार, और पाटल वृक्षो से बरसते पराग ने मेरे उरोज-देश पर एक घनी-भीनी चादर-सी बिछा दी है। और उसके आर्द्र रस मे भीजा हुआ, एक चक्रवाक-मिथुन मेरे वक्षोजो के गहराव मे रतिलीन है। मेरी आँखो मे नीलोत्पलो से भरे सरोवर लहरा रहे है। मेरे कपोलो मे पद्मवनो की गुलाबी खुमारी छायी है। मेरे स्तन-तटो पर घहराते समुद्र मे, मेरी तमाम शिराओ की नदियाँ आ कर मिल रही हैं। मेरे रोमो मे कदम्ब और केतकी फूलो की राशियाँ रोमाचित है।

देख रहे हो गरुड, मेरा काम केवल हिंसा ही नही, वह सौन्दर्य भी है। मेरी उद्दाम वासना केवल विनाश ही नही, सृजन भी है। रस, माधुर्य और आनन्द का उत्सव भी है। मेरी पृथ्वी पर केवल मार की विनाश-लीला ही नही, नितनव्यता का शाश्वत वसन्तोत्सव भी चल रहा है।

· ओ गरुड, हठात् यह क्या हुआ। तुम आकाश के गहन नील मे जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये ! 'ओह, फिर वही निश्चेतन की तमसा का घनघोर अन्धकार घिर आया। मैं फिर प्रलय के मकर की डाढो पर एकाकी लेटी हूँ। और मेरे ऊपर ना-कुछ मे से लूमती आ रही हैं, वही भीषण काले घूँघटो वाली आकृतियाँ। भय, यातना, रोग, क्षय, विनाश, वियोग, शोक, मृत्यु की रहसीली डाकिनियाँ। और उनके अदृश्य पजो के बीच चीत्कार करती, विलाप करती, त्रिलोक और त्रिकाल की समग्र मानवता, असंख्यात जीव-राशियाँ। देवो के कल्पकाम कमनीय स्वर्ग, नारको के आक्रन्द करते नरक। सब केवल मरणाधीन, कालाधीन, कितने परवश, कितने लाचार !

मेरी ही महावासना की कोख से जन्मी, अपनी इस प्यारी पृथ्वी की पुकार पर, मै तुम्हारे सहस्रार के अमृत-स्रावी आलिगन मे छूट आई। जब तक मेरी यह मृत्तिका मर्त्य है, तब तक तुम्हारे आत्म-रतिलीन अमृत का मेरे मन कोई मूल्य नही। तब तक वह मेरे लिये अप्रामाणिक है, असिद्ध है अविश्वस-नीय है। मेरे रक्त-मास की रति जब तक अतृप्त है, तब तक तुम्हारे पूर्ण-काम शिव का अजित वीर्य मेरे मन निरी माया है, मरीचिका है, निरे शून्य का एक बबूला है। जो बरस न सके उस वृष की, मेरी सीमा को कोई चाह नही।

अरे देखो तो, मेरे अतल मे से फिर उद्दाम उत्सर्पिणी लहरा उठी है। और मै फिर अपने कक्ष मे आ पडी हूँ। नागमणियो के पर्यक की मन्दार-शैया मे एक हवन-कुण्ड खुल गया है। और उसके अगुरु-हव्य सुगन्धित हुताशन पर मै चित्त पडी लेटी हूँ।

नही, अब मै तुम्हे नही पुकारूँगी। मै तुम्हारे साथ, तुम्हारे खतरनाक अगम्यो मे चढ आई। लेकिन तुम मेरी मृत्यु की इस तमसान्ध गुहा मे उतरने से डरते हो, मुकरते हो ? तो तुम्हारे मृत्युजयी कैवल्य पर, मैं कैसे विश्वास करूँ, महावीर ! मेरे नीवी-बन्ध की ग्रथि का जो न भेद सके, उसके अनाहत पौरुष और पराक्रम का होना या न होना, मेरे लिये कोई माने नही रखता।

मै इरावान समुद्र की इरावती बेटी अप्सरा आम्रपाली। अजेय अनगिनी ! हर आलिगन को भेद जाने वाली सौन्दर्य और लावण्य की लहरीली मोहिनी ! क्या तुम मुझे भेद सकोगे, मुझे बाँध सकोगे, मुझे जीत सकोगे ?

जीत सकते, तो मेरे द्वार तक आ कर भी, मेरे इस अन्तिम कक्ष मे आने की हिम्मत तुमसे क्यो न हुई ? मेरी मोहिनी से डर गये तुम, ओ त्रिभुवन-मोहन त्रिलोकीनाथ ?

○ ○ ○

मैं इन बाईस वर्षों मे, किसी महाविजन की एकाकिनी निर्विन्ध्या नदी की तरह बहती चली गई हूँ। मेरी चेतना के कुँवारे तट पर, किसी पुरुष का पद-संचार आज तक न हो सका। वीरान मे विकल तडपती, अलक्ष्य बही जा रही हूँ। मेरा प्रियतम समुद्र क्या इस पृथ्वी पर कही नही है ? तो मेरा धीरज अब टूट गया है। मै छटपटा कर, अपनी धृति से बिछुड कर खडी हो गई हूँ। और आकाश के अधर शून्य मे बहने लगी हूँ। एक खडी नदी। शायद मेरा प्रीतम पृथ्वी पर न टिक सका। वह अन्तरिक्षचारी हो गया। तो मै अन्तरिक्षो के वलयो मे चक्कर काटती, ऊपर, ऊपर, और ऊपर बही चली जाने को विवश हूँ। लेकिन पृथ्वी के चक्रवाक और चक्रवाकी ने मेरा साथ नही छोडा है। वे भी चिरकाल से बिछुडे, मेरे दोनो किनारो पर एक-दूसरे को गुहारते, चले चल रहे है मेरे साथ। उनके विलाप से आहत हो कर दिगन्त विदीर्ण हो गये है। लेकिन इस अन्तरिक्ष का दिगम्बर पुरुष उससे अप्रभावित है। वह इस महानील मे निर्लेप, निरंजन, निराकार हो कर जाने कहाँ खोया है।

वर्षा की अनन्त रात्रियाँ अपनी बिजली की तडपती आँखों से मुझे देखती रही है। वे मेरी विरह-वेदना की साक्षी हुई है। वे बिजलियाँ टूट कर मुझ मे गल गई। मेरे सीने मे वे असह्य हिलोरगान हो गइ। कोई शीत-पाला, हिम-पात, शीतपात मुझे जडित न कर सका। मेरी छाती मे तडकती, गलती बिजलियाँ कैसे कही थम सकती थी। आग पानी होती गई, पानी आग होता गया। मेरी सासो की बेचैन आँधियो मे कुलाचल डोलते रहे, सुमेरु चलायमान होता रहा, ग्रह-तारामण्डल विक्षुब्ध हो गये, स्वर्गों की भोग-शैयाएँ त्रस्त हो गई समुद्रो की मर्यादाएँ टूटने के खतरे मे पड गई। फिर भी मेरा नियति-पुरुष मेरे तट पर नही आया। नही आया ।

यह सारा जीवन, मै एक निर्जन अटवी के वृक्ष की तरह स्थाणुवत् जी गयी। मेरी सारी इच्छाएँ, एषणाएँ भूख-प्यास, इन्द्रियो के विषय-भोग, मेरे चेतस् मे उद्गीर्ण न हो पाये। निरी सहज वृक्ष-वृत्ति से जीती चली गयी। वर्षा ने मेरी काया को सीचा, नहलाया, मेरी प्यास को पानी पिलाया। मुझे नही। वसन्त मे नये पल्लव-फूलो ने मेरी देह का सिंगार किया। मेरा नही। मेरे अगो के मधुर फलो ने पक कर मेरे शरीर का पोषण किया। मेरा नहीं। शीत के झकोरो ने मेरे तन का तार-तार तोड दिया। मुझे नही। मै केवल उस वृक्ष मे एक व्याकुल स्पन्दन हो कर कसमसाती रही, और उसकी हर अवस्था को देखती रही। और वृक्ष अपने आशा-अपेक्षाहीन एकान्त मे जीता ही चला गया। शायद कभी कोई यात्रिक उसकी छाया मे विश्रान्त होने आ जाये !

○ ○ ○

उशीर और मलय से सुगन्धित, ये कैसी पानी भरी आधियाँ एकाएक मेरे इस कक्ष मे घुस आई हैं। मेरे इस नागमणि के पर्यंक को वे हिला रही है। सारा कक्ष अपनी तमाम रत्न प्रभाओ के साथ चचल, स्पन्दित हो उठा है। यहाँ की हर वस्तु चिन्मय, चौकन्नी हो गयी है। कुछ भी जड नही दीखता, सब चेतन हो गया है। वह इन्द्रनील और मर्कत मणि का विशाल मयूर, पख डुला कर नाच उठा है। इन छतो की शख-रत्निम झूमरो मे नाना-रगी प्रभाएँ गा उठी है। स्फटिक के आलय मे पडी मेरी चित्ररथ-वीणा मे 'शिव-रजिनी' की विरह-रागिनी अनन्त हो उठी है। ओह, यह कैसा प्रदेशान्तर घटित हो रहा है। सारा बाहर, भीतर आ गया है सारा भीतर, बाहर निकल पडा है। सारी प्रकृति, सारे वन-कान्तार, बाहर के सारे उद्यान, भवन, केलिकुज इस कक्ष मे आ गये है। और मेरा यह कक्ष बाहर निकल कर, निखिल के बीच अधर मे तैर रहा है। क्या मैं अपनी ऊष्म शैया मे नही हूँ? हाय, मेरा वह गोपन एकान्त भी मुझ से छूट गया? अपने निजत्व की ऊष्मा, मेरी आत्मा ही क्या मुझ मे छिन गई?

एक ऐसी विधुरा, वियोगिनी मै, जिसका 'मै' तक हाथ से निकल गया है। जीने का कारण, आधार, ध्रुव तट—सब लुप्तप्राय है। मैं कोई नही, कुछ नही निरी अनाम, अरूप, असत्ता, अवस्तु। परात्पर विरह की इस रात्रि का क्या कही अन्त नही?

एक दिगन्तहीन समुद्र के हिल्लोलन पर एकाकी लेटी हूँ। इस अन्तहीन जल-वन के नील नैर्जन्य मे इतनी अकेली हो पडी हूँ, कि या तो आ मेरे युग्म-पुरुष, तुम्हे तत्काल आना होगा, या मेरे साथ ही इस सृष्टि को भी समाप्त हो जाना पडेगा। यह वियोग का वह अन्तिम एकल किनारा है, जहाँ से मृत्यु भी भयभीत और पराजित हो कर भाग गयी है। मेरी सत्ता शून्य मे विसर्जित होती जा रही है। आह नही, नही, नही, मै चुकूँगी नही। ओ प्रभन्, यदि तुम अमर हो, तो तुम्हारी जनेत्री यह पृथा भी अमर है। तुम सत्ता-पुरुष हो, तो मै तुम्हारी सत्ता हूँ। तुम ध्रुव हो, तो मै तुम्हारे होने का प्रमाण हूँ, चचला, शाश्वत लीला। तुम विशुद्ध द्रव्य हो, तो मै तुम्हारा द्रवण हूँ, स्वाभाविक परिणमन हूँ, जिसमे सृष्टि सम्भव है। नही, मै चुकूँगी नही। मै तुम्हारे निश्चल ध्रुव को अपने बाहुबन्ध मे गला कर रहूँगी। तुम्हारे ऊर्ध्वरेतस् वृष के वर्षण की चिर प्यासी सोमा, मै हूँ तुम्हारी अर्धांगिनी योषा। तुम्हारी अशनाया, तुम्हारी अन्त समाहित वासना, तुम्हारी सगोपित इन्द्र-शक्ति, ऐन्द्रिला। तुम्हारे अतीन्द्रिक अन्तस्-रमण की एकमेव इन्द्राणी। मेरी सारी इन्द्रियाँ जहाँ अपनी सम्पूर्ण विषय-वासना से एकत्र है इस क्षण, मेरे उस कटिबन्ध पर तुम्हे उतरना होगा, ओ अतीन्द्र, इन्द्रियजयी इन्द्रेश्वर! मेरी

यह सुरत-रात्रि अनिवार्य है। इसमे आये बिना, तुम्हारे शाश्वत सूर्य को यहाँ कोई न पहचान सकेगा !

ओह, मेरी धमनियो मे ये कैसे गरजते सागर के मृदंग बज रहे है। मेरे उरु-मण्डल मे ये कैसे पीले, नीले घनश्याम पुष्करावर्त मेघ उमडे आ रहे है। आवर्तक मेघो मे बडे-बडे भँवर पड रहे है। सवर्त मेघो मे जल-सचय हो रहा है। पुष्कर मेघो मे भीतर-ही-भीतर चित्र-विचित्र वृष्टि हो रही है। और मेरे उरुमूल के कदली-गर्भ मे द्रोण-मेघ का कादम्ब उमड रहा है। मेरे अगाग मे यह कैसी सभर आर्द्रा व्याप गयी है। मेरी नाडियो मे विद्युल्लताएँ बह रही है। आह, असह्य है अनबरसे मेघो का यह वर्षणाकुल अन्तर्घनत्व।

हाय, अकाल ही ये कैसे मेघ घिर आये है। ये मेरे उरुप्रदेश मे घनीभूत हो कर घहरा रहे है। मेरे कोई मासल उरु नही रहे कोई जघन नही रहे, वहाँ केवल घनीभूत, गहरानी मेघराशि है। किसके वृष से उमड रहे है— मेरी जघाओ मे अनहद नाद करने ये मेघ। मेरी धमनियो मे रक्त नही, वृष और सोम के आलोडन गरज रहे है। रज और वीर्य की ग्रथियो मे तुमुल और अस्खलित घर्षण की आद्या अग्नि लहरा रही है। मेरे अणु-अणु मे यह कैसी परात्पर वासना दहक उठी है। लगता है, सारी जड-जगम प्रकृति इस क्षण चैतन्य हो उठी है। कौन अन्त सार वृष्णीक पुरुष, विराट् की अदृश्य दूरियो मे चला आ रहा है ? मेरे रोमो मे कदम्ब और केतकी के वन पुष्पित, पुलकाकुल हो कर काँटो की तरह कसक रहे है। ओ वृष्णीन्द्र, तुम असम्प्रज्ञात दूरियो मे जाने कब मे चले आ रहे हो। पास क्यो नही आते ? असह्य है तुम्हारी यह इन्द्र-खेला, ओ मेरे अनग !

तुम्हारे चरण-चापो मे मेरे अस्थि-बन्ध टूट रहे है। मेरे नाडीचक्र झिल्लिम पाँखुरियो की तरह काँप रहे है। मेरा आभोग विदीर्ण हो रहा है। किस अदृश्य पदागुष्ठ ने मेरा अजेय नीवीबन्ध छिन्न कर दिया ? किसके कटाक्ष ने मेरी सर्प-कचुकी के बन्द तोड दिये ? मैं रह गई हूँ केवल जल-वसना इरावती। अवसना, अनग्ना, द्यावा की पुत्री अदिति। दिक्चक्रवाल पर छतपटाती एक नग्न नारी !

मेरी देह, मेरी इन्द्रियो की तन्मात्रा भर रह गयी है। मेरी इन्द्रियाँ, मेरे प्राण मे लय पा कर, निरी साँस हो रही है। मेरा काँपता प्राण मनोलीन हो कर, मेरे हृदय के पद्म-कोरक मे कुम्भित हो गया है। और मेरा हृदय फटा जा रहा है। ओ मेरे एकमेव विषय, मेरी सारी इन्द्रियो की इन्द्र-शक्ति तुम मे एकत्रित हो गई है। मेरी देह के किनारे टूटे जा रहे है। यह कैसी घनघोर जल-जलान्त बादल-बेला है। पपीहे की पुकार मे, चक्रवाक् मिथुन की बिछुडन-भरी चीत्कार मे, यह विरह-रात्रि अन्तहीन हो उठी है।

ओ पुष्करावर्त मेघ, तुम कैसे बेमालूम कोमल हो कर मेरी गुह्यताओ मे घुस आये। और औचक ही, तुमने मेरे भीतर यह कैसा प्रलय जगा दिया है। मेरी रति की आरति, मेरे काम का अतिक्रमण कर गई है। अनग से भी परे की है, मेरी यह उलग आकाशी नग्नता। ओ पुष्करावर्त मेघ, क्या तुम्ही हो मेरे वह कामरूप पुरुष, वह वृष्णीन्द्र, जिसके अग्निषोम को अपने योनि-पद्म मे झेलने के लिये मै आदिकाल से विकल हो रही हूँ। मेरे मनचाहे, मनभाये, तुम आ कर भी नही आये, नही आ रहे। मुझे तुम्हारा यह बादली इन्द्रजाल नही चाहिये। मुझे तुम्हारा सघन, मासल, ऊष्म शरीर चाहिये। मुझे तुम्हारी रक्त-धमनियो, इन्द्रियो, अगो का प्रगाढ आश्लेष चाहिये। मैंने केवल तुम्हारे लिये शरीर धारण किया है, ओ मेरे कामरूप पुरुष, मेरे एकमेव काम्य। मै हूँ तुम्हारी अनगिनी रति, तुम्हारी अन्तिम आरति सृष्टि की गर्भ-पीडा आम्रपाली!

मेरे योनि-पल्लव मे यह कैसी विद्युल्लेखा खेल गई! कैसा सर्ववेधी रोमाचन है यह। दो अग्निम् त्रिकोण एक दूसरे को आरपार भेदते हुए। कामबीज ह्लीकार का यह कैसा उल्लमित नाद है। उसमे से उभर रहा है ऋषि-मण्डल चक्र तपाग्नियों का मण्डल। उसमे से उद्गीर्ण हो रहा है सिद्ध-चक्र निरजन निराकार मुक्तात्माओं का मण्डल। उसमे से उत्पलायमान है श्री चक्र सर्वकामपूरन सृष्टि का मण्डल। मेरे अणु-अणु मे दहकते बीजाक्षर। मेरी अनन्त वासना के विस्फोटित वह्नि-मण्डल। मेरे श्रोणि-फलक मे से ये कैसे रहस्य-लोक खुल रहे है! अज्ञात अग्नियो के वन।

क्या मै जल कर भस्म हो जाऊँगी, तब आओगे तुम, मेरी भस्म का अपनी चरण-रज बनाने के लिये? तो लो, मै लेट गई तुम्हारे ऋषि-मण्डल की अग्नि-शैया पर। पर हाय, तुम मुझे जलाते भी नही, जीने भी नही देते!

मै अपनी नागमणि की मन्दार शैया पर, फिर अकेली छूट गई हूँ, अपने इस निज-कक्ष की कारा मे। द्वार, वातायन, सब बन्द, अर्गलाओ से जडे हुए। किसने भीतर से बन्द और अर्गलित कर दिया है, मेरा यह कक्ष? इस अन्तिम एकलता के तट पर मेरी साँस टूट रही है। मै एक महाशून्य मे छटपटाती नगी ज्वाला भर रह गयी हूँ। केवल भस्म हो जाने के लिये? तो लो, मै समर्पित हूँ। जो चाहो करो मेरे साथ। मुझे नि शेष कर दो। लो, मैं डूब गई तुम्हारे अतल के गहरावो मे।

○ ○ ○

एक निगूढ मर्माघात से हठात् देवी आम्रपाली की आँखे खुल गईं। सारे मुद्रित कक्ष मे बहुत महीन छूती-सी नीली रोशनी व्याप गई। एक

नील-लोहित इन्द्र-धनुष की आभा से उसकी ग्रीवा घिर गई। नील मे से प्रस्फुरित होती गुलाबी विभा।

सहसा ही एक अण्डाकार नील ज्योति-बिन्दु, किसी नीलोत्पल की तरह अनायास प्रस्फुटित हो उठा। कक्ष मे व्याप्त नीली रोशनी कोई आकार लेती-सी दिखाई पडी।

अरे, यह कौन तुगकाय दिगम्बर पुरुष सामने खडा है! कोटि-कन्दर्प का अन्त मार सौन्दर्य।

आम्रपाली स्तब्ध निश्चल देखती रह गई। असम्भव सामने उपस्थित है। आँख, मन, सोच, समझ से बाहर है यह घटना। आम्रपाली अपने से अलग खडी हो कर, बस, केवल देख रही है। दृश्य, द्रष्टा, दर्शन के भेद से परे का है यह अवबोधन।

यह क्या देख रही हूँ मै। बन्द कमरे मे, एक नग्न पुरुष, एक नग्न नारी। एक भगवान् है, दूसरी वेश्या है। विराट् नग्न प्रकृति, और उसका कामरूप पुरुष, उसी के उर्ण्णीष कमल मे से आविर्मान। काम और रति का अनादि मिथुन। एक बन्द कमरे मे।

कैसी ऊष्मा है यह, अपने ही आत्म मे से स्फुरित होती हुई। अन्य कोई, कहीं नहीं। लेकिन यह एक और अनन्य जो सामने खडा है। जो एकल भी है, युगल भी है। और मै कितनी अपदार्थ हुई जा रही हूँ। मिट जाने के सिवाय कोई विकल्प नही। मै मै मै कौन? तुम कौन? मै समाप्त हो रही हूँ। मुझे रहने दो, मुझे होने दो।

और अम्बा जाने कब उस पुरुष के सामने आ खडी हुई। प्रणति का भान नही। केवल रति, केवल आरति की एक समर्पित ज्वाला।

'मुझे प्रिय है तुम्हारी यह वासना, ओ योषिता!'

'मै निरी योषिता नही, आम्रपाली हूँ!'

'आम्रपाली, परम पुरुष की कामायनी!'

'नही नही मै इस योग्य नही। चले जाओ यहाँ से। क्यो आये तुम यहाँ?'

'यहाँ से कभी न जाने के लिये!'

'मै मै एक निरी भोग-दासी। पुरुष मात्र की भोग्या। योनि मात्र मैं!'

'अक्षत योनि कुमारिका हो तुम। सृष्टि की जनेत्री। आद्या सावित्री।'

'वह मैं कैसे हो सकती हूँ?'

'वह न होती, तो महावीर यहाँ न होता।'

'मैं एक वेश्या' और अक्षत योनि कुमारिका? सावित्री? मैं तुम्हारा अपमान हूँ, मै कलंकिनी। मेरा और अपमान न करो। ' मुझ निरी यौना के लिये, तुम अपने अधर से धरती पर उतर आये, अपनी ऊँचाई से नीचे उतर आये? यह मुझे सह्य नही!'

'योनि के पार योनि है, योनि के पार योनि है उसके भी पार वही। अन्तिम योनि, आप अपनी ही भोग्या, अपनी ही जनेता। अपनी ही आत्मा। केवल वही हो तुम।'

'और तुम?'

'मै भी केवल वही। कोई लिंग नही, कोई योनि नही, केवल एक वही। तुम भी, मै भी।'

'लेकिन मै कामिनी हूँ। वही रहना चाहती हूँ। तुम्हारी कैसे कहूँ?'

'हाँ, हो, रहो वही, जो हो तुम। तुम्हारा काम भी मुक्ति की वासना मे सुवासित है। मुक्तिकामी भोग भी, योग ही होता है। वह उत्तीर्ण भोग है। फिर भय क्यो? हीनत्व क्यो? ग्लानि क्यो?'

'नही, मै वह आत्मा नही, जो तुम कह रहे हो। मै निरी शरीर हूँ, जिसमे मैने तुम्हे चाहा है। नही, मै तुम्हारी नही हो सकती। तुम क्यो आये यहाँ? मेरी पीडा को तुम कभी न समझोगे। मेरा शरीर मुझ मे मत छीनो!'

'देखो, मैं सशरीर आया हूँ, तुम्हारे शरीर को आत्मसात् करने आया हूँ। मैं तुम्हारी मणि-कर्णिका के सरोवर मे स्नान करने आया हूँ। जहाँ काम ही पूर्णकाम हो कर, मणि-पद्म के रूप मे उत्कोचित् होता है।'

'तो मुझ मे दूर क्यो खडे हो? पास क्यो नही आते?'

'पास तो इतना हूँ, कि मुझ से अलग कहाँ रही तुम इन सारे वर्षों मे! और कल से इस क्षण तक, तुम कहाँ न आई मेरे भीतर? मै कहाँ न आया तुम्हारे भीतर!'

'लेकिन तुम इस समय, सम्पूर्ण सशरीर हो मेरे सामने। तो मैं कहाँ रुकूँ, कैसे रुकूँ?'

'मत रुको, जो चाहो करो मेरे साथ! मैं सम्पूर्ण यहाँ उपस्थित हूँ।'

आम्रपाली स्तम्भित रह गई। अनुत्तर हो रही। फिर जाने कितनी देर बाद, भर आये गले से बोली

'हाय, ऐसा कैसे हो सकता है कि मै मैं मैं तुम्हारे साथ मनमानी करूँ?'

'मैने क्या नही की वह तुम्हारे साथ?'

'तुम सर्वशक्तिमान हो। मै एक निपट अकिंचन कामिनी।'

'त्रिभुवन-मोहिनी आम्रपाली!'

'लेकिन तुम्हे न मोह सकी मै।'

'तो फिर मै यहाँ क्यो हूँ? मोह से परे कुछ और भी है, कि मै यहाँ हूँ।'

'हो तो, लेकिन ।'

'बोलो, क्या चाहती हो? महावीर प्रस्तुत है, उत्सर्गित है।'

'कुब्जा दासी ने कृष्ण से क्या चाहा था?'

'हाँ, जो उसने चाहा, वही कृष्ण से पाया।'

'पाया न? मगर कृष्ण रमण थे, लीला पुरुष थे। और तुम तुम कठोर वीतराग अर्हत् महावीर हो!'

'अर्हत् विवर्जित है, बाधित नही, सीमित नही। उसे जो जैसा चाहेगा, वैसा ही पा लेगा।'

'कुब्जा के काम को कृतार्थ कर गये कृष्ण!'

'कुब्जा ने जो माँगा, वही उसे मिला। लेकिन उसने स्वयम् कृष्ण को नही माँगा। तो तलछट पी कर भी प्यासी ही रह गई। बहुत पछताई बाद को। चाहती तो वह कृष्ण की आत्मा हो रहती। स्वयम् तद्रूप कृष्णा हो रहती। लेकिन वह अवसर चूक गई!'

'मै तुम्हे पाना चाहती हूँ स्वयम् तुम्हे। लेकिन सशरीर। तुम मेरे पास क्यो नही आते?'

'ताकि तुम मुझे देख सको, चाह सको अपनी समस्त सौन्दर्य-वासना से। ताकि तुम मुझे प्रेम कर सको। पास तो इतना हूँ, कि अलग रक्खा ही कहाँ तुमने मुझे। लेकिन, आज सम्मुख हो कर, सामने खडा हूँ--कि मेरे साथ जो चाहो करो!'

'मै तुम्हे छू नही सकती, मै तुम्हे मनचाहा ले नही सकती। कितने अस्पृश्य, असंपृष्ट हो तुम। छुवन से बाहर, पकड से बाहर, कितने अलभ्य!'

'तुम मुझे छुओ, तुम मुझे मनचाहा लो, मेरी आत्मा। मैं तुम्हारी आत्मा, लो, मुझे लो। महावीर खुला है तुम्हारे सामने !'

आम्रपाली खडी न रह सकी। उसने वह रूप देख लिया, कि उसका देखना, चाहना, पाना, छूना ही समाप्त हो गया। वह हार कर ढलक पडी, अपने पूर्णकाम प्रीतम के श्री चरणो मे। पर वहाँ निरे चरण नही थे। सम्पूर्ण महावीर उसमे आत्मसात् था। एक अविरल अनाहत स्पर्श-सुख, उसकी देह के रेशे-रेशे मे ज्वारित होने लगा। ऐसा अक्षय्य और अगाध, इतना पेशल, पेलव, सघन और लचीला, कि स्वयम् काम और रति का स्पर्श-सुख भी, इसके आगे नीरस प्रतीत हुआ। देहालिंगन और आत्मालिंगन का भेद, इस महाभाव मे विसर्जित हो गया।

शैय्या मे गहन रतिलीन आम्रपाली की आँखे अचानक खुली। कक्ष मे कोई नही था।

'आह, तुम चले गये, फिर मुझे अकेली छोड कर ? '

एक गहरे नशे मे झूमते हुए, आम्रपाली ने करवट बदली। ओ, यह कौन लेटा है मेरे साथ, कटि से कटिसात् ? मेरे बाहुबन्ध मे सदेह उन्मुक्त खेलता, मेरा एकमेव परमकाम पुरुष ! केवल मेरा आत्म। उससे बाहर अन्य कोई नही। अनन्य केवल मैं !

"नही, अब मै कभी, कही भी, अकेली नही हूँ। □

# ४

## यह सामने खड़ी मृत्यु भी : केवल महावीर

कोशल देश के राजनगर श्रावस्ती की हवाओ का रुख एकाएक बदल गया है। बहुत दूर से आता देव-दुदुंभियो का घोष सुनाई पडा है। और नगर के प्रमुख चौक मे आघोषणा हुई है कि

'ज्ञातपुत्र तीर्थंकर महावीर किसी भी क्षण श्रावस्ती मे हो सकते है!'

सुन कर, कोशलेन्द्र प्रसेनजित के होश फाख्ता हो गये। उसकी नीद हराम हो गई। उसका शरीर आँधी मे थर्राते पेड की तरह झकझोले खा रहा है। खडे रहना दुश्वार हो गया है। वह अपने एकान्तो मे भागा फिरता है। कि कही किसी को उसकी इस कायरता का पता न चल जाये। यह कौन है, जिसने उसका सिहासन हिला दिया है, उसका बाहुबल छीन लिया है? वह दुर्मत्त हो कर अपनी भुजाएँ ठपकारता है, पर वहाँ से किसी वीरत्व का प्रतिसाद नही लौटता। पक्षाघात पक्षाघात पक्षाघात?

वह भाग कर अपनी आयुधशाला मे जाता है। अपने शस्त्रास्त्रो के विपुल सचय को देख कर, उसमे बल पाना चाहता है। लेकिन यह कैसा विपर्यय है, कि उसके सारे शस्त्र उसी के विरुद्ध तने है। वे झनझना कर उसी पर टूट पडते हैं। और उसी क्षण उसे अनुभव होता है, कि बिम्बिसार, अजातशत्रु, वत्सराज उदयन, चण्डप्रद्योत, पारस्य का शासानुशास—सबने मिल कर उस पर एक साथ आक्रमण कर दिया है।

वह बिलबिला कर अपने राज-कक्ष मे पहुँचता है। तो देखता है, कि उसकी दीवारो पर जो उसके साम्राज्य-स्वप्न के मान-चित्र लटके है, उन सब पर किसी ने चौकडी मार दी है। वे नक्शे आपोआप फट जाते है। किसी ने उनकी चिन्दियाँ उडा कर, उसके आगे ढेर लगा दिया है। उसके द्वारा आखेटित जो व्याघ्र, तेन्दुए, रीछ, मगर, हरिण और बारासिगे के ताबूत वहाँ सजा कर रखे है, वे सब जीवन्त हो कर एक साथ उसे खाने को दौड़ते है।

वह भाग कर, अपने महल की सब से ऊँची छत पर जाता है। और अपने विस्तृत राज्य और वैभव का विहगावलोकन करता है। जम्बू द्वीप का केन्द्रीय व्यापारिक पाटनगर श्रावस्ती, दिशाओं को छा कर फैला पड़ा है। उसके

नदी-घाटो मे सारे ससार के सार्थवाहो के पोत लगर डाले हुए है। सोलोमन की खदानो का सुवर्ण वहाँ उतरता है। शाक्यो का शक्तिशाली गणतत्र उसके अँगूठे तले दबा है। महाबली मल्ल उसके प्रताप से थरथराते है। बधुल मल्ल जैसे पराक्रान्त योद्धा ने, अपना गणतत्र त्याग कर उसका सेनापतित्व स्वीकार किया है। वैशाली उसकी केन्द्रीय वाणिज्य शक्ति से आतकित है। सारे गण-तत्र उसकी बलात्कारी सैन्य-शक्ति से कॉपते रहते है। उसकी श्रावस्ती मे, सुदत्त अनाथ-पिण्डक और मृगार श्रेष्ठी जैसे ससार के मूर्धन्य सार्थवाह और नवकोटि-नारायण रहते है। उसके खजाने सुवर्ण द्वीप और ताम्रलिप्ति की श्रेष्ठ रत्न-राशियो से झलमला रहे है। फिर उसे किसका डर है?

लेकिन यह क्या, कि यह सारा प्रताप और ऐश्वर्य, हठात् किसी काल-वैशाली के झोके मे मोमबत्ती की तरह बुझ जाता है। घुप्प अँधेरे मे वह निराधार अकेला छूट जाता है। उसकी चेतना डूबने लगती है। आह, अपनी तमाम सत्ता, सम्पदा और ऐश्वर्य के बीच भी वह कितना असहाय, असमर्थ और अकेला छूट गया है।

हर रात अपने अन्त पुर की एक-एक रानी के शयनागार मे जा कर उसने, नित नये रूप-सौन्दर्य और काम मे सहारा पाना चाहा है। लेकिन लेकिन यह क्या हो गया है उसे, कि उसका वीर्य उससे किसी ने छीन लिया है। हर रानी का बाहुबन्ध एकाएक ढीला पड जाता है। वह उदास अवसन्न हो कर झुंझला उठती है, और उससे मुँह फेर कर सो जाती है। कक्ष मे कोई कातर नारी-कण्ठ गूँज उठता है 'तुझ मे वीर्य था ही कब, जो छीन लिया किसी ने, कापुरुष, क्लीव, नपुसक !'

गान्धार-राजनदिनी कलिगसेना से उसने हाल ही मे बलात् विवाह किया है, लेकिन वह, उसकी पहुँच के बाहर है। ठीक सुहाग रात के मुहूर्त मे वह वहाँ चम्पत हो गयी थी, इसका पता कोशलेन्द्र का सारा परिकर भी न लगा सका था।

पट्टमहिषी महारानी मल्लिका के अन्त पुर मे जाने की उसे हिम्मत न हो रही थी। उसका तेज, उसका प्रशम, उसका मार्दव, उसका तप पूत सौन्दर्य देख कर, राजा की आँखे झुक जाती है। उसकी ओर देखने तक का साहस उसमे नही है। लेकिन जब चारो ओर से वह नितान्त हताश और बेसहारा हो गया, तो उस रात वह महारानी मल्लिका के अन्त पुर मे चला गया। ठीक एक पतिपरायणा सती की तरह रानी ने अपने स्वामी का स्वागत किया। उस पर अक्षत-कुकुम बरसा कर उसकी बलाये ली। आँसुओ से उजलते नयनो, से उसकी मानो आरती उतारी। कि धन्य भाग, उसके दुर्लभ स्वामी आज उसके शयनागार मे आये हैं। कई दिनो बाद राजा को जैसे किसी ने

थाम लिया। उसके थरथराते अस्तित्व को आधार दिया। राजा को माला-कार कन्या मल्लिका के वक्ष मे गहरी शान्ति मिली। वह आश्वस्त हो कर शिशु की तरह सो गया।

लेकिन बडी भोर ही अचानक उसकी नीद उचट गई। वह फिर उसी अज्ञात भय मे, पत्ते की तरह थरथराने लगा। उसके मारे शरीर में जैसे चीटियाँ चिटकने लगी, और उसके अग-अग से ठण्डे पसीने छूटने लगे। उसे लगा, कि जैसे उसकी साँसे टूट रही है। उसका अन्त निकट आ गया है। उसके भिचते कण्ठ से एक चीख-सी निकल पडी। पास ही अत्यन्त शान्त भाव से सोई मल्लिका चौक कर जाग उठी। उसने राजा को अपने पास खीच कर, अपनी छाती से चाँप लेना चाहा। मगर राजा का शरीर निश्चेष्ट और ठण्डा पडा था। सन्निपात के विषम ज्वर मे जैसे वह मुमूर्षु हो गया था। उसमे कोई हरकत, चाह, क्रिया थी ही नही।

मल्लिका उठ कर बैठ गई। उसने प्रसेनजित के शरीर को बरबस अपनी गोद मे खीच लिया, और चुपचाप उसके माथे को सहलाने लगी। उसके प्रत्येक अग पर हौले-हौले हाथ फेरने लगी। राजा थोडी ही देर मे कुछ सचेत हो आया। उसके तन मे कुछ गर्माहट आ गयी। कुछ पकड और हरकत महसूस हुई। तब महारानी ने धीर मृदु कण्ठ के आन्तरिक स्वर मे पूछा

'क्या बात है, आर्यपुत्र ?'

राजा तत्काल कोई उत्तर न दे सका। कुछ ठहर कर बोला

'कुछ नही । बहुत दिनो बाद तुममे मिलना हुआ है न। भोर की चाँदनी मे तुम्हारा सोया सौन्दर्य देखा। भिनसारे के इस बडे सारे पीले चन्द्रमा जैसा ही, तुम्हारा यह वयस्क सौन्दर्य ! कितना भोला और शान्त। तो तो मै बहुत विह्वल हो गया। मुँह से बरबस आह निकल पडी।'

'बरसो बाद स्वामी की कृपा-दृष्टि मुझ पर हुई। मै धन्य हो गई। यह क्या हाल बना रक्खा है ? बहुत फीके और उदास लगते हो। '

'जानती तो हो, देवी, राजा की सेज सदा काँटो पर होती है। हर समय कोई खटक लगी रहती है। परचक्रो को कोशलेन्द्र का प्रताप असह्य है। आये दिन एक न एक षड्यन्त्र मेरे विरुद्ध चलता ही रहता है। खैर, छोडो वह सब। तुम इतनी सुन्दर हो, यह जैसे आज पहली बार देखा।'

'मुझे लज्जित न करे, आर्यपुत्र। मुझे इतनी दूर न करे, कि अलग मे देखना पडे। लेकिन मेरे इस सौन्दर्य का क्या मूल्य, यदि वह मेरे स्वामी को बेखटक न कर सके।'

'हाँ · हाँ बेशक, तुम्हारे होते हमे राज्य की चिन्ता भी क्यो रहनी चाहिये। तुम स्वयम् ही हमारी राज्य-लक्ष्मी हो। हमारी सरक्षिका भवानी हो। अच्छा हुआ, आज हम तुम्हारे पास आये। बडी राहत महसूस होती है।'

रानी की छाती भर आई। वह भरे कण्ठ से बोली

'मैं कृतार्थ हुई, नाथ।'

कुछ देर खामोशी व्याप्त रही। तब प्रसेनजित पूरी तरह सम्हल कर बोला

'सुनता हूँ महादेवी, निगठनातपुत्त महावीर श्रावस्ती आ रहे है?'

'सुना ही नही, उनके हमारी ओर आ रहे चरणो की चाप को प्रति क्षण अपने अगो मे महसूस करती हूँ। उनके दर्शन के लिये मेरी आँखे, प्यासी चातकी की तरह आकाश पर लगी है। धन्य भाग्य, कि परम भट्टारक भगवान् महावीर हमारी भूमि को पावन करने आ रहे है।'

राजा सन्नाटे मे आ कर क्षण भर स्तब्ध हो रहा। फिर अपने उभरते रोष पर किसी कदर नियत्रण कर के बोला

'लेकिन हमारे आराध्य गुरु महावीर नही, तथागत बुद्ध है, यह तुम कैसे भूल जाती हो?'

'मेरा मन जाने कैसा हे, कि मै भगवत्ता मे कोई भेद नही देख पाती, नाथ। जब तथागत बुद्ध को देखती हूँ, तो तीर्थकर महावीर की छबि मेरी आँखो मे झूल उठती है। और जब महावीर की कथा सुनती हूँ, तो मुझे भगवान् बुद्ध बरबस अधिक प्रिय हो जाते है।'

'एक म्यान मे दो तलवार? यह हमारी समझ से बाहर है, देवी!'

'मेरी समझ इस जगह समाप्त हो जाती है, देवता। बस, केवल जो लगता है, वही कह रही हूँ। यह ऐसा बिन्दु है, जहाँ म्यान और तलवार मुझे एकमेव दीखते है। सत्य की तलवार एकमेव और नग्न है ठीक महावीर की तरह। वह कोई कोश या म्यान नही स्वीकारती!'

राजा के घायल मन पर चोट हुई, कि उसकी अकशायिनी उसे उपदेश पिला रही है। फिर भी अपने रोष पर सयम करके प्रसेनजित बोला

'तुम्हारी ये रहसीली बाते हमे कभी समझ मे नही आई, मल्लिका। हवा मे तीर मारना, प्रसेनजित को पसन्द नही। दो टूक बात ही एक राजा कर सकता है।'

'नाराज हो गये, देवता? मैं तो दो-टूक भी नही, केवल एक टूक बात कर रही हूँ। यही कि जब सबेरे उठ कर मैं—'नमो भगवतो अर्हतो, सम्बुद्धो'

कहती हूँ—या 'बुद्धं शरण गच्छामि' कहती हूँ, तो उसी मे से मुझे प्रतिध्वनित सुनाई पडता है—'ओ णमो अर्हन्ताण, णमो सिद्धाण '—तो इसमे मेरा क्या दोष है ?'

राजा को लगा, कि वह इस मालाकार कन्या के आगे बहुत छोटा हुआ जा रहा है। अपमान से तिलमिला कर वह तडक उठा

'बकवास बन्द करो, मल्लिका ! यह एक गभीर प्रसग है, और कुछ निर्णय लेना होगा। कभी तो समझ-सोच पूर्वक कोई परामर्श दिया करो।'

'एक माली की निरक्षर बेटी समझ-सोच क्या जाने, आर्यपुत्र ! आप तो तक्षशिला के स्नातक रहे है। शस्त्र, शास्त्र, राजनीति, कला—सारी विद्याओ मे पारगत हैं। और इतनी विशाल धरती के मालिक है। मै ठहरी एक निरी अज्ञानिनी शूद्र-कन्या। आपने जाने क्या सोच कर, मुझे कोशलदेश की पटरानी बना दिया। इस अदना दासी को क्षमा करे, स्वामी।'

'अपने का इतना न गिराओ, देवी। तुम कोशलेन्द्र के हृदय पर राज्य करती हो। अपने को इतना नीचे ला कर, हमारा अपमान न करो।'

'एक चरण-दासी आपका सम्मान और कैसे करे ? उसकी अकिचनता ही तो, महामहिम देव-देवेन्द्र परम-परमेश्वर कोशलेन्द्र की पूजा हो सकती है !'

'तुम्हारे समर्पण से हम गौरव अनुभव करते है, देवी। लेकिन यह घडी निर्णायक है। तुम्हारे समर्पण की कसौटी का है यह क्षण।'

'आज्ञा करे देव, आपका क्या प्रिय कर सकती हूँ !'

'यह महावीर का आगमन हमारे लिये खतरनाक है। इस अमगल को कैसे टाला जाये ?'

'उनका सामना करके। सर्वजित् महावीर को जीतने का यही एक मात्र उपाय है। एक निहत्थे नग्न अर्हत् को जीत लेना तो, कोटिभट कोशलेश्वर के लिये मात्र खेल ही हो सकता है। है कि नही ?'

'तुम महावीर को शायद नही जानती। वह बहुत खतरनाक आदमी है। आर्यावर्त मे यह प्रसिद्धि है, कि महावीर जादूगर है। वह बडा विकट इन्द्रजाली है। चुप रह कर ऐसी चोट करता है, कि कोई पानी न माँग पाये। मत्रीश्वर आर्य सीमन्धरायण, महाबलाधिकृत दीर्घकारायण, सेनापति बन्धुल मल्ल—हमारे सभी पार्षद् एक स्वर से कहते हैं कि, यह महावीर एक दुर्दान्त तांत्रिक और विद्याधर है। वह अपने एक कटाक्ष मात्र से मारण, मोहन, स्तम्भन, वशीकरण, कीलन एक साथ कर सकता है। उसने अजेय श्रेणिक और पराक्रान्त उदयन तक को अपनी मुट्ठी मे कर लिया है। उसके सामने जाना ही अपनी मौत को न्योतना है।'

'मुझ पर विश्वास करोगे, देवता ?'

'बोलो, क्या कहना चाहती हो ?'

'मुझे आप अपनी सरक्षिका भवानी मानते है, अपनी लक्ष्मी कहते है न ? तो सुने महाराज, मैं आपके साथ चलूंगी महावीर के समवसरण मे। आपके पास मुझे खडी देख कर, सर्वजित् जिनेश्वर महावीर हार जायेंगे।'

'सचमुच ?' राजा को एक मात्रिक प्रत्यय-सा अनुभव हुआ।

'महावीर प्रेमिक है, यही उसकी सबसे बडी विवशता है। मल्लिका की चितवन की अवहेलना करना उसके वश का नही। मारजयी महावीर का वशीकरण और मारण केवल मेरे पास है।'

कोशलेन्द्र प्रसेनजित को स्पष्ट लगा, कि वह जैसे कोई अचूक आकाश-वाणी सुन रहा है। हर्ष और रति से एक साथ पुलकित और कम्पित हो कर, उसने उमड कर मल्लिका को अपने आलिगन मे बाँध लिया। और कातर विगलित स्वर मे बोला

'मल्ली, अनुगत हुआ तुम्हारा। तुम मेरी शक्ति हो। तुम जहाँ भी ले चलोगी, तुम्हारा अनुगमन करूँगा।'

एकाएक प्रभातकालीन ऊषा का आकाश देव-वाद्यो से गुजायमान हो उठा।

'तीर्थंकर महावीर आ गये, स्वामी!'

'सुनो देवी, मेरी दोनो भौहो के बीच की त्रिकुटी मे यह कैसा प्रकर्षण हो रहा है ? यह कैसा सुखद कम्पन है मेरे ब्रह्मरन्ध्र मे ? यह कौन मुझे बरबस खीच रहा है ?'

'केवल तुम्हारी मल्लिका, और कोई नही!'

'यह तुम हो, कि तुम्हारा महावीर है ? कितना भयानक, लेकिन कितना मोहक है यह महावीर! इसकी मोहिनी से मुझे बचाओ, प्रिये!'

'मेरी ही मोहिनी से डरोगे ? मैं हूँ न तुम्हारे साथ! फिर डर किस बात का ?'

प्रसेनजित उस मल्लिका को नि शब्द, निर्विकार ताकता रह गया।

महाद्वार पर कचुक की उद्घोषणा सुनाई पड़ी

'परम भट्टारक निगठनातपुत्त, चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर का श्रावस्ती मे शुभागमन हो गया। अचिरावती तट के 'मणि-करण्डक उद्यान' मे श्रीभगवान् का देवोपनीत समवसरण बिराजमान है।'

राजा और रानी एक दूसरे को देखते ही रह गये। एक साथ छहो ऋतुओ के फूलो और फलो की गन्ध आकाश-वातास मे व्याप गई है। राजा के मुंह से फिर बरबस फूट पडा

'ओह, कितना प्रियंकर है यह महावीर! फिर भी कितना भयकर!'

अपने प्रिय को निहारती मल्लिका की आँखो मे आँसू उजल आये।

○ ○ ○

आगे-आगे महारानी मल्लिका चल रही है। उनके पीछे है कोशलेन्द्र प्रसेनजित। और उनका अनुगमन कर रहे हैं, उनके तमाम मन्त्रीश्वर, महामात्य, सेनापति, और श्रावस्ती के जगत् विख्यात धन-कुबेर सुदत्त अनाथ-पिण्डक और मृगार श्रेष्ठि।

समवसरण का ऐश्वर्य और प्रभुता देख कर, कोशलेन्द्र के अभिमान का वज्र पानी हो गया। श्रीमण्डप मे पहुँच कर, प्रसेनजित की निगाह गन्धकुटी के शीर्ष पर जा ठहरी। ओ, बोधिसत्त्व स्वयम् भगवान् बुद्ध यहाँ विराजमान है! तो फिर महावीर कहाँ है? बोधिसत्त्व महावीर। महावीर बोधिसत्व। राजा के कानो मे मल्लिका के शब्द गूंज उठे 'मैं भगवत्ता मे भेद नही देख पाती, देवता।' राजा अमनस्क हो कर केवल देखता रह गया।

महादेवी मल्लिका गन्धकुटी के पादप्रान्त मे, आशीर्ष प्रणिपात मे बिछ गई। राजा और उसके अनुगामी परिकर ने भी उनका अनुसरण किया। महादेवी स्त्री-प्रकोष्ठ मे बैठ गयी। पुरुष-वर्ग पुरुष-प्रकोष्ठ मे समाविष्ट हो गया।

प्रसेनजित का शरीर आनन्द, आरति और आतक से एक साथ कम्पायमान है। उसे लगा कि उसके मन के सारे आवरण छिन्न हो गये है। उसकी तमाम कुत्साओ और पापो के पर्दे, किसी ने एक ही झटके मे विदीर्ण कर दिये है! ओ, वह महावीर के सामने नग्न खडा है! उसके सारे भेद खुल गये, सारे गुप्त रहस्य प्रभु के आगे प्रत्यक्ष हो गये। राजा की नाडियो का लहू जम गया। वह घास के तिनके की तरह काँप रहा है।

एक दीर्घ मौन के बाद, गन्धकुटी के रक्त-कमलासन पर से सम्बोधन सुनाई पडा

'मालाकार-कन्या मल्लिका जयवन्त हो!'

तत्काल मल्लिका अपने स्थान से उठ कर श्रीमण्डप मे उपस्थित हो, नतमाथ हो गई।

'जिनेश्वरो के पूजा-फूलो की तरह पावन है यह मल्लिका। शूद्रा हो कर भी, यह अर्हन्त की जन्मजात सती है। कोशल देश की पट्ट-महिषी इसके चरणो की चेरी मात्र है।'

मल्लिका को लगा कि वह स्वयम् नही रही, कोई तीसरी सत्ता हो गई है। उसकी आँखो से आँसू फूट आये।

'देखो, इसकी आँखो से श्रीचरणो मे मल्लिका के फूल झड रहे है। इसके अग-अग मे नव-मल्लिका की पुष्पित लताएँ लचक रही हैं। इसके नैवेद्य से अर्हत् आप्यायित हुए।'

फिर एक गहरा मौन छा गया। मल्लिका का शरीर कर्पूर की आरती हो कर गलता ही चला गया।

'कोशलराज प्रसेनजित!'

काँपता-थरथराता प्रसेनजित श्रीपाद मे उपस्थित हो कर, भान-भूला-सा खडा रह गया। अपराधी अभियुक्त की तरह सर झुकाये।

'निर्भय होजा, राजन्!'

'कैसे प्रभु? आप से अब क्या छुपा है!'

'निश्चल होजा, आयुष्यमान्, और देख, जान, कि तू कौन है।'

'जा हूँ, सो ता देख रहा हूँ। मेरे पापो का अन्त नही, नाथ!'

'तो जो है, जहाँ है, वही रह कर निश्चल हो जा। और तू देखेगा, कि तू पाप नही, आप है। अनन्य एकमेव तू, कोई तीसरी ही सत्ता। जा मै भी नही तू भी नही, यह भी नही, वह भी नही। बस, जो है केवल, सो है।'

'मेरी मनोवेदना को आज तक कोई न जान सका। क्या आप भी उसे अनदेखा करेंगे, भगवन्?'

'तेरी मनोवेदना को हस्तामलकवत् देख रहा हूँ, वत्स। देख राजा, देख काँच के महल मे श्वान अपना ही प्रतिबिम्ब देख कर भूंक रहा है। स्फटिक की भीत मे हाथी अपनी ही प्रतिछाया देख कर, उस पर टक्करे मार रहा है, अपना मस्तक पछाड रहा है। और अपने सुन्दर दाँत तोड कर दुखी और बेहाल है।

'और भी देख आयुष्यमान्, रात के समय एक बन्दर किसी विशाल वृक्ष पर बैठा है। वृक्ष तले एक सिह आया। चन्द्रमा की चाँदनी मे सिह को उस वानर की छाया दीखी। उस छाया को ही उसने सच्चा बन्दर जान कर गर्जना की, और उस वानर-छाया पर पजा मारा। तब वृक्ष पर बैठा वानर भयभीत हो कर नीचे गिर पडा। देख वत्स, इस भयभीत प्रसेनजित को देख।

'और भी एक रूप अपना देख, आयुष्यमान्। एक पर-स्त्री लपट को सपना आया कि वह अपनी दुर्लभ परनारी-प्रिया को भोग रहा है। तभी उसका प्रतिपक्षी शत्रु आया। उसने उस परस्पर-बिद्ध मिथुन पर तलवार का

प्रहार किया। उस बेचारी स्त्री का हाथ कट गया और लहू बह आया। और ठीक उसी समय उस परनारी-भोगी का वीर्य स्खलित हो गया। वह चौंक कर जाग उठा, तो पाया कि रुधिर वहाँ किसी का नहीं बहा था, उसका अपना ही अधोवस्त्र, उसके अपने ही वीर्य से लिप्त हो गया था। '

और सहसा ही भगवान् चुप हो गये। कुछ देर सन्नाटा छाया रहा। तभी एकाएक प्रसेनजित का डूबा-डूबा कातर कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा

'भगवन्, पहली बार अपनी त्रासदी को आरपार नग्न देख रहा हूँ। लेकिन मेरी व्यथा हजार गुनी हो कर उभर रही है।'

'और भी देख वत्स, एक मनुष्य को कीचड़ में से, एक रत्न-जवाहर से भरा कलश मिल गया। तब वह उस कलश को एक बावली में धोने ले गया। वहाँ धोते-धोते कलश हाथ से छूट कर बावली में डूब गया। वह रोने-कलपने लगा। तू पाप के डर से 'आपको' भय और ग्लानि के जल से धोना चाहता है? तो 'आप' ही हाथ से निकल कर अन्ध-कूप में खो जायेगा।

'सुन राजन् अपने स्वरूप को सुन। तस्वीर में तस्वीर उतर सकती है। एक वट-वृक्ष के बीच अनेक वट-वृक्ष हैं। और उन अनेक न्यग्रोधों (वटों) में अनन्तानन्त बीज हैं। एक सन्नीपात ग्रस्त व्यक्ति अपने ही घर में लेटा चिल्ला रहा है मुझे अपने घर जाना है! एक शेखचिल्ली की पगड़ी उसके माथे से गिर पड़ी, उसे उठा कर वह बोला अरे मुझे एक मनचाही पगड़ी मिल गई। बाँस से बाँस रगड़ खाता है और उससे उत्पन्न अग्नि, उन बाँसों को भस्म कर स्वयम् भी उपशान्त हो जाती है। शंख श्वेत है, पर वह काली-पीली-लाल माटी भक्षण करता है, फिर भी शंख स्वयम् तो श्वेत ही रहता है। केवल अपने भीतर के जातरूप, श्वेत, स्वयम्भू शंख को देख, राजन्!'

'देख कर भी नहीं देख पा रहा, नाथ। एक पर्दा उठता है, कि फिर एक और काला पर्दा मेरी आँखों पर आ गिरता है। मुझे अपना नाम-पता और घर ही भूल गया है, स्वामिन्। मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ?'

'यह 'मैं' कौन है, जो अपना नाम-पता और घर भूल गया है? या तो इसी को पकड़ ले, या इसको भुला दे, और चुप हो जा। तो जानेगा कि जो बचा है, वही तू है। अपना घर नाम, पता-अन्यत्र कहाँ खोज रहा है? अभी और यहाँ तू जो उपस्थित है, बस, केवल वही रह जा।'

'मैं अनुपस्थित हूँ, भगवन्, आपसे बहुत दूर किसी वीरान में भटक रहा हूँ। मैं निरा प्रेत हूँ। मैं हूँ ही नहीं, नाथ।'

'तेरा यह अज्ञानी बाल्य भाव भी मुझे प्रिय है, राजन्! तो बालक, एक कहानी सुन। एक साहूकार ने अपने पुत्र को परदेश भेजा। कुछ दिनों

बाद उसकी पुत्र-वधू बोली कि—मैं तो विधवा हो गई। तब सेठ ने अपने पुत्र को पत्र लिखा कि हे पुत्र, तेरी बहू विधवा हो गई है। तब श्रेष्ठि-पुत्र यह पत्र पढ कर शोक करने लगा। तभी किसी ने पूछा तू क्यो शोक करता है? तब उसने कहा मेरी स्त्री विधवा हो गई है। सुन कर पूछनेवाले ने कहा तू तो सामने जीता-जागता खडा है, फिर तेरी स्त्री विधवा कैसे हो गई? श्रेष्ठि-पुत्र बोला तुम कहते हो सो तो सत्य है, पर मेरे पिता का पत्र आया है, उसमे यह समाचार आया है, उसे झूठ कैसे मानूँ। अपने ही समक्ष खडी मल्लिका को काश, तू पहचान सकता, राजन्।'

'मैं प्रतिबुद्ध हुआ, भन्ते। मै श्रीचरणो मे अपने को उपस्थित पाता हूँ, नाथ!'

'तू प्रतिबुद्ध नही हुआ, वत्स। तू अभी स्वयम् मे उपस्थित नही, राजन्। तू अब भी काँप रहा है। अर्हन्त को शब्द-छल प्रसन्न नही कर सकता। अपनी वेदना का खुलकर रेचन होने दे, सौम्य।'

'सम्यक् सम्बुद्ध अर्हन्त मेरे मर्म की पीडा मे से बोल रहे है। मेरी एक-एक ग्रंथि खोल रहे है।'

'अपनी पीडा का निवेदन कर, आयुष्यमान्।'

'मै दिन-रात भय मे जीता हूँ, भन्ते। सब कुछ कितना अनिश्चित है। कभी भी, कुछ भी हो सकता है। ऐसी अनिश्चिति मे कैसे जिऊँ, स्वामिन्?'

'जो कभी भी कुछ भी हो सकता है, उसकी हर सम्भावना को अभी और यहाँ साक्षात् कर। क्षय, जरा, शोक, वियोग, अपमान, पराजय, प्रहार, प्रताडना, प्रलय, मौत—हर सम्भव दुःख को अभी और यहाँ जी जा। उस सब मे से इसी वक्त उसके छोर तक गुजर जा। और उसका अन्त हो जायेगा सदा के लिये। अनन्त है केवल जीवन, तू स्वयम्, तेरा आत्म। अपने उस त्रिकाली ध्रुव मे अवस्थित हो जा। तब अनिश्चित कुछ न रह जायेगा। सब निश्चित हो जायेगा। सब कुछ निश्चित और अनिवार्य है। यही स्वभाव है, यही वस्तु-स्थिति है, फिर भय किस बात का?'

'इस भय का मूल कहाँ है भन्ते? यह भय क्यो है, स्वामिन्?'

'क्यो कि तू अपने मे नही, अन्यो मे जीता है। तू स्व मे नही, पर मे जीता है। पर मे जीकर तू कैसे निश्चित और निश्चिन्त जी सकता है। जो अपने मे जीता है, वही निश्चित, निश्चल और निश्चिन्त जीता है। वही सुख की नीद सो सकता है। अन्यो के अपार अज्ञान जगल मे खो कर विश्राम कहाँ?'

'भगवान् अणु-प्रतिअणु मुझे सत्य देख रहे है, सत्य कह रहे है।'

'तुझे नीद नही आती, वत्स। तू सर्पगन्धा की गुटिका खा कर सोता है। तेरा वृद्ध शरीर जर्जर और हतवीर्य हो गया है, फिर भी तेरी भोग-लालसा का पार नही। नग्न रूप-यौवन को देख कर भी तेरी वासना नही जागती। फिर भी तेरी काम-लिप्सा का अन्त नही। तेरे अन्त पुर मे तमाम वर्तमान देशो की अपहरिता सुन्दरियाँ और कुमारियाँ बिसूर रही है। तेरे रनिवास और हर्म्य नारियो के माल-गोदाम है। लेकिन तू नि सत्व, नपुसक और क्लीव है। तू स्त्रैण कापुरुष है। परवशता के इस अछोर आलजाल मे तुझे नीद कैसे आये, राजन्!'

राजा का रोष सीमा तक उठ कर, रुलाई मे फूट पड़ा

'त्रिलोकी नाथ, महाकारुणिक प्रभु, मुझे इतना निर्वमन न करे। मुझे इतना न गिराये। मुझे अपनी शरण मे ले कर, अपने योग्य बना ले?'

'निर्वमन न करूँ, तो तू अपने को कैसे देखे, कैसे पहचाने? तेरे कल्मष का रेचन न करूँ तो तुझ मे अमृत का सिचन कैसे हो? तुझे गिराने वाला मै कौन? तू तो स्वयम् ही गिर कर, अन्धकार के अतल पाताल मे पडा कराह रहा है। अर्हत् गिराने नही, उठाने आये है। तू जिस चरम पर गिरा पडा है, वह न दिखाऊँ, तो तू कैसे जागे, कैसे उठे। उठना तुझे स्वयम् होगा, अन्य कोई तुझे नही उठा सकता। अर्हत् केवली तेरी स्थिति के केवल अविकल दर्पण हो सकते है। अपनी आमदी को सम्पूर्ण साक्षात् कर, और जाग, जाग, जाग, देवानुप्रिय।'

राजा इस अन्तिम आक्रमण से हताहत हो, ढेर हो गया। वह धप् से नीचे बैठ, दोनो हाथो मे मुँह ढँक कर सिसकने लगा। देवी मल्लिका का जी बहुत कातर हुआ, कि वे अपने स्वामी को सहेज ले। लेकिन उनका साहस न हुआ कि वे परम-शरण त्रिलोकीनाथ के सम्मुख होते, उसे सहारा दे। स्वयम् सर्वावलम्बन प्रभु जिसे निरालम्बन कर रहे है, उसे आलम्बन कौन दे सकता है?

० ० ०

हठात् श्री भगवान् ने फिर राजा को सम्बोधन किया

'विषाद की इस महा मोहरात्रि का भेदन इतना सहज नही, राजन्। तुझे अपने जिये और किये को, इस क्षण फिर से एक साथ पूरा जी जीना होगा। देख, अपने जीवन-नाटक का अखण्ड पुनरावर्तन देख। खडा हो जा वत्स, और देख, सुन, समझ, जो सम्मुख आये।'

राजा को जैसे बिजली का जीता तार छू गया। वह उठ कर सन्नद्ध खड़ा हो गया।

'सुन कोशलेन्द्र, तू अपने मे नही जी रहा। तू प्रति क्षण श्रेणिक, चण्ड प्रद्योत, उदयन, वीतिभयराज उदायन, पर्शुपुरी के पार्श्वराज, जम्बू द्वीप के तमाम विक्रान्त भूपतियो, योद्धाओ, विजेताओ के आतक तले जी रहा है। तू राज्य और वाणिज्य के लोभ मे जी रहा है। तू सुवर्ण-रत्न, सार्थवाह और उनकी अकूत सम्पदा मे जी रहा है। तू महस्रो अपहरिता, पीडिता सुन्दरियो के रूप-यौवन की घिघियाहट मे जी रहा है। तू लक्ष-लक्ष श्रमिको के लहू, पसीने, आहो और कराहो मे जी रहा है। सत्ता-सम्पदा, कामिनी और काचन के इस शाखाजाल का अन्त नही। फिर तुझे नीद कैसे आये? सारे ब्रह्माण्ड को भक्षण करने की बुभुक्षा मे तू दिवा-रात्रि आर्त्त, रौद्र और आकुल-व्याकुल है। लेकिन उसे भोगने का पौरुष, बल, वीय, तेज, सामर्थ्य तुझ मे नही। ऐसी विषम त्रासदी मे जो जी रहा है, वह निश्चिन्त और निश्चिन्त कैसे जी सकता है?'

'मेरे चेतन के पट खुल रहे है, प्रभु। मेरी आँखे अधिक-अधिक खुल रही है। मेरी जडीभूत मन्धियाँ और ग्रथियाँ टूट रही है। मै हलका हो रहा हूँ। मुझे और खोलो, हे परम पिता परमेश्वर। ताकि मैं पूर्ण निर्ग्रन्थ, निर्भार, शान्त हो कर मुख की नीद मो सकूं।'

'देख तेरे जीवन-नाटक के मभी प्रमुख पात्र यहाँ उपस्थित है। उनका मामना कर, उन्हे साक्षात् कर, उनके छोर तक जा, उनसे पार उतर कर अपने मे लौट आ। तू विश्रब्ध हो जायेगा, और अपने भीतर मुख की नीद मोयेगा।'

'मै प्रस्तुत हूं, देवार्य!'

"महामत्री मीमन्धरायण महाबलाधिकृत दीर्घकारायण, सेनापति बन्धुल मल्ल, महामात्य श्रीवर्द्ध, राजपुत्र विदूडभ, महाक्षत्रप कौशल्य हिरण्यनाभ, आचार्य माण्डव्य उपरिचर, जीवक कौमारभृत्य, गान्धारी कलिंगसेना, चन्द्रभद्रा शील चन्दना, धन-कुबेर अनाथ पिण्डक और मृगार श्रेष्ठि!'—कोशलेन्द्र प्रसेनजित तुम सब के दर्शन के प्रार्थी है।'

एक-एक कर सारे सम्बोधित स्त्री-पुरुष श्रीमण्डप मे उपस्थित हुए। श्री भगवान् का त्रिवार वन्दन कर, वे कोशलराज के आमने-सामने हुए।

'महामत्री सीमन्धरायण, सेनापति दीर्घकारायण, सेनापति बन्धुल मल्ल, महामात्य श्रीवर्द्ध, कौशल्य हिरण्यनाभ, तुम्हारा राजा तुम्हारे परामर्शो का मोहताज है। वह तुम्हारी सीखो और लीको पर चलता है। तुमने उसे सारे जम्बू द्वीप का एकच्छत्र सम्राट बनाने का आश्वासन दिया है। तुमने उसके साम्राज्य-स्वप्न के मानचित्र बनाये है। वह तुम्हारे निर्देशो पर चलता है। क्या तुम उसे परचक्रों के आक्रमण से बचाने मे समर्थ हो? क्या तुम उसे

उसका काम्य साम्राज्य अचूक दिला सकते हो ? क्या तुम उसे आसन्न सकट और मृत्यु से बचा सकते हो ?'

सभी सम्बोधितो ने एक-स्वर मे कहा

'वह हमारी सामर्थ्य मे नही, त्रिलोकीनाथ। वह सर्वशक्तिमान महावीर ही कर सकते है।'

'जीवक कौमारभृत्य, माण्डव्य उपरिचर, क्या तुम अपने इस जरा-जर्जरित राजा को पुनर्यौवन प्राप्त करा सकते हो ? क्या तुम अपने लोहवेध रसायन से, इसका देहवेध कर सकते हो ? क्या तुम इसकी निष्क्रिय हो गई यौवन-ग्रथियो और चुल्लक-ग्रथियो को, सजीवन और पुनर्नवा कर सकते हो ?'

'वह हमारी सामर्थ्य मे नही, हे अन्तर्यामिन्। आपके सम्मुख हम मृषा भाषण कैसे कर सकते है ?'

'तो आर्य माण्डव्य उपरिचर, तुम्हारे भोगवादी आचार्य बृहस्पति क्या तुम्हारे राजा को पूर्ण भोग उपलब्ध करा कर पूर्ण परितृप्त कर सकते है ?'

'कोई भी आचार्य, वाद या दर्शन वह कैसे कर सकता है, देवार्य। पूर्ण स्वाधीन, निरन्तर चिद्‌क्रियाशील अर्हन्त ही ऐसा वज्रवृषभ-नाराच सहनन उपलब्ध करा सकते है। वही ऐसा पूर्णकाम भोग दे सकते है। अर्हत् का सर्व-तत्र स्वतत्र पुरुषार्थ ही, उस परम अर्थ को उपलब्ध करा सकता है।'

'तो फिर आर्य माण्डव्य, तुमने जो अभी उस दिन बिल्व-फल मे एक मात्रा रसायन कोशलराज को दिया था, उसका क्या प्रयोजन ?'

'क्षमा करे, भन्ते त्रिलोकीनाथ! सर्वज्ञ भगवन्त से क्या छुपा है ? गान्धार-नन्दिनी कलिग सेना से महाराज ने हाल ही मे विवाह किया है। महाराज ने हमारी सहाय चाही, हमने अपना कर्तव्य किया!'

'कि तुम्हारा राजा युवती गान्धारी के सम्भोग मे समर्थ हो सके! यही न ? समर्थ हो सका वह ?'

'महाराज स्वयम् आपके सम्मुख है, भगवन्। उन्हे हर पल जीने के लिये कोई भ्रम चाहिये। हम नित नया भ्रम महाराज को दे कर, उन्हे जिलाने मे निमित्तभूत होते है। और इस तरह अपने अस्तित्व का निर्वाह करते है।'

'तो मेरे पास भी तुम कोई भ्रम लेने आये हो, कोशलराज ?'

'भ्रम लेने ही तो आया था, प्रभु। लेकिन मेरे सारे भ्रम टूट रहे है, भन्ते भगवान्। मै अधिक-अधिक निर्भ्रम हो रहा हूँ।'

'गान्धार राजबाला कलिगसेना! यह गान्धार से श्रावस्ती तक हठपूर्वक एक दुर्मत्त घोडे पर सवार हो कर आई है। तुम ऐसा कर सकते हो, राजन् ?

तुम्हारे पास है ऐसा वीर्य, कि तुम इस हवा और आकाशो की आरोहिणी गान्धारी पर आरोहण कर सको ? तक्षशिला की यह स्नातिका, शस्त्र, शास्त्र, वेद-वेदान्त, सारी विद्याओ की पारगता हो कर भी, उनसे उत्तीर्ण है। यह लौकिक विद्या और सत्ता मात्र को भ्रम मानती है। इसी निर्भ्रम चेतना के बल, इसने अपने गण और अनेक पडोसी प्रजाओ की सुरक्षा के लिये, अपने को दाँव पर लगा दिया। तुम्हारी धमकी और आतक से डर कर नही। उसे यह तोडने आयी है। यह तुम्हारी विवाहिता हो कर भी, तुम्हे नही, केवल वत्सराज उदयन को प्यार करती है। इसके साथ तुम्हारी सोहाग रात सम्पन्न हो सकी, राजन् ?'

'भ्रम-भग की रात हुई वह, देवार्य। मैं अन्तिम रूप से टूट गया। तब कल रात मै महादेवी मल्लिका के अन्त पुर मे चला गया।'

'महादेवी मल्लिका, तुम्हारी गोद मे तुम्हारे आर्यपुत्र निर्भय, आश्वस्त हो सके ? उन्हें शरण प्राप्त हो सकी ?'

'मुझ मे नही, मेरे वक्ष मे विराजित महावीर मे इन्हे वह शरण मिली। ये बरसो बाद, आश्वस्त हो कर सो गये।'

'तो इन्हे परम आश्वस्ति प्राप्त हुई ?'

'नही भगवन्, बडी भोर ही फिर ये बहुत अनाथ, भयभीत, कम्पित हो उठे थे।

'क्यो ?'

'ये महावीर के आगमन की खबर से भयभीत और आतकित थे।'

'तो अब महावीर तुम्हारे सामने है, वत्स। तुम्हारा आतक टूटा, राजन् ? तुम निर्भय हुए ,राजन् ? तुम निर्भ्रम हुए, राजन् ?'

'सर्वज्ञ भगवन्त स्वयम् साक्षी है !'

'गान्धारी कलिगसेना, तू क्या चाहती है ?'

'एक बलि-कन्या की क्या चाह हो सकती है, भन्ते ? पश्चिमी सीमान्त के सत्ताधीशो की सत्ता-सुरक्षा के लिये नही, मैंने वहाँ की लक्ष-कोटि प्रजाओ के स्वातत्र्य के लिये अपनी बलि दी है। ताकि उन पर कोई साम्राजी पजा न बैठे, उनकी स्वतत्रता चिरकाल सुरक्षित रहे। इसके अतिरिक्त मेरी कोई चाह नही, भगवन्।'

'तू अपने लिये क्या चाहती है, गान्धारी ?'

'जिसने स्वेच्छा से ही आत्माहुति का वरण कर लिया, उसकी अपनी हर चाह, उसी क्षण समाप्त हो गई।'

'तू श्रावस्ती के महालय मे अपने पति कोशलराज की रानी हो कर रहना चाहती है ? या अपने घर गान्धार लौट जाना चाहती है ?'

'पश्चिमी समुद्र की उत्ताल तरंगिनी बेटी का कोई पति नही हो सकता। वह केवल साथी स्वीकार सकती है। और तरंग लौटना नही जानती। उसका कोई देश नही, कोई घर नहीं हो सकता, प्रभु।'

'अपने मनोकाम्य साथी उदयन के पास जाना चाहेगी ?'

'अन्तर का साथी तो सदा साथ ही है, भन्ते। दूर कहाँ हूँ उससे, कि उसके पास अलग से जाना पड़े। उदयन को प्यार करने के लिये, मैं उदयन पर भी निर्भर नही करती। यही मेरा स्वभाव है, देवार्य।'

'तो फिर क्या करना चाहती है ?'

'अपनी हर आगत और अनागत नियति का सामना करना चाहती हूँ !'

'महावीर तेरा क्या प्रिय कर सकता है, बाले ?'

'क्षमा करें जगदीश्वर प्रभु, महावीर केवल अपने कर्त्ता है, मेरे कर्त्ता वे कैसे हो सकते है ?'

'साधु साधु, प्रियम्विनी ! तू आसन्न भव्यात्मा है, तू स्वयम् मुक्ति है। स्वयम् मोक्ष तेरा प्रार्थी है। तेरी जय हो, कल्याणी !'

'मोक्ष को भी मुझ से निराश होना पड़ेगा, प्रभु ! मै उसकी भी कामना नही करती।'

'उसकी कामना तुझे नही करनी होगी। वह स्वयम् तुझे समर्पित है। वह तेरे स्वभाव मे अभी और यहाँ विद्यमान है। तू अर्हतो की दुहिता है। स्वयम् महावीर तुझे खोज रहा था। तुझे पा कर उसका युगतीर्थ धन्य हुआ !'

'मेरा जन्म लेना सार्थक हुआ, हे मेरे अनन्य वल्लभ !'

कलिंगसेना का सोहम्-भाव भी विगलित हो गया। आँसू भरे नयन उठाये वह भगवती चन्दन बाला को समर्पित हो गयी। और विपल मात्र मे ही वह श्री भगवान् की सती हो कर, आर्यिका प्रकोष्ठ मे उपविष्ट हुई।

'मैं तुम्हारे भूत, भविष्य और वर्तमान को एकाग्र देख रहा हूँ, चम्पा-राजनन्दिनी चन्द्रभद्रा शील-चन्दना ! मगध की साम्राज्य-लिप्सा के हाथो, अर्हन्तो की आदिकालीन लीला-भूमि चम्पा का पतन हुआ। नागकन्या के चुम्बन से, परम श्रावक चम्पा-नरेश दधिवाहन की हत्या करवा दी गयी। शत्रु-दलित चम्पा-दुर्ग की दीवार फाँद कर शीलचन्दना श्रावस्ती की ओर भाग

निकली। महावीर के पास शरण खोजने के लिये। मार्ग मे बटमार दस्युओ ने उसका हरण कर, उसे श्रावस्ती के दासी-पण्य मे बेच दिया। कोशल के किसी धन-कुबेर ने उसे खरीद कर, अपने राजाधिराज प्रसेनजित् को प्रसन्न करने के लिये, उन्हें भेट कर दिया। श्रेष्ठी की सम्पदा अधिक सुरक्षित हुई, और कामुक राजा ने एक और अनुपम सौन्दर्य-रत्न से अपने अन्त पुर का शृगार किया। उसकी प्राप्ति के उपलक्ष्य मे कोशलेन्द्र ने उत्सव-रात्रि मनाई। सारा राजपरिकर सुरापात्रो मे डूब गया। लेकिन पछी भाग निकला। '

श्री भगवान् ने चुप रह कर, एक ही निगाह से चन्द्रभद्रा और राजा को निहारा। और बोले

'देख राजा, तेरे हाथ की उडी मैना, फिर तेरे सामने है। तू इसे पकड कर रख सकता है? तो ले इसे, यह तेरे सामने खडी है।'

'यह मेरे सामने नही, प्रभु के सामने खडी है। इसे रखने की सामर्थ्य केवल त्रिभुवनपति अर्हन्त मे है। मुझ मे होती, तो यह कोशलेन्द्र की फौलादी कारा तोड कर कैसे जा सकती थी? कोशलपति प्रसेनजित् देवी चन्द्रभद्रा से नतमाथ क्षमा-याचना करता है।'

शीलचन्दना ने अश्रुपूरित नयनो से हाथ उठा कर, राजा को क्षमा कर दिया। और वह महासती चन्दन बाला को समर्पित हो कर, श्रीभगवान् की सती हो गई।

○ ○ ○

'देवानुप्रिय अनाथपिण्डक, गृहपति मृगार श्रेष्ठी! सुनता हूँ, तुम्हारे पास इतनी सम्पत्ति है, कि तुम सारे जम्बू द्वीप को खरीद सकते हो। क्या तुम अपनी उस तमाम सम्पत्ति से भी अपने राजा का विगत यौवन लौटा सकते हो? क्या तुम अपने कोटि-कोटि सुवर्ण से भी अपने राजा को मृत्यु से बचा सकते हो?'

दोनो धन-कुबेर एक ही तार-स्वर मे बोले

'त्रिकाल मे भी यह सम्भव नही, भगवन्। जरा, मृत्यु, रोग और वियोग का कोई निवारण नही। इस ससार की असारता और क्षण भगुरता को हमने जान लिया, इसी से तो हम सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् तथागत की शरण चले गये। उन भगवान् के उपदेश से हम उद्बुद्ध हुए।'

'महानुभाव श्रेष्ठियो, क्या तुम सच ही इस ससार की असारता और क्षण-भगुरता को जान गये? क्या तुम सच ही सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् तथागत को समर्पित हो गये? क्या तुम सच ही उद्बुद्ध हुए?'

'अपने जाने तो हुए, भन्ते।'

'तो सारे विश्व की सम्पत्ति का यह स्वामित्व कैसा ? क्या तुमने अपने स्वामी तथागत को अपना सम्पत्ति–स्वामित्व समर्पित किया ?'

क्षण भर को दोनो श्रेष्ठी बौखला गये। फिर कुछ सम्हल कर श्रेष्ठी अनाथ पिण्डक बोला

'मैने भगवान् तथागत को अपनी अपार सम्पत्ति का दान किया। मैंने जेत राजकुमार के योजनो व्यापी सुरम्य जेतवन उद्यान को, किनारे से किनारे तक सुवर्ण से पाट दिया। हठीला जेत राजकुमार फिर भी अपना उद्यान बेचने को राज़ी न हुआ। तो मैने ऊपर से और अठारह कोटि सुवर्ण उसे दे कर, जेतवन उद्यान खरीद लिया। और उसे सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् तथागत को समर्पित कर दिया। मैने उसमे विशाल नवखण्डी भिक्षु-प्रासाद बनवाया। अनेक आराम, विहार, स्नानागार, भोजनशाला, अतिथिशाला, चत्वर, चक्रमण-उपवन का जाल बिछा दिया। कि श्री भगवान् और उनका भिक्षुसघ वहाँ आवास ग्रहण करे, सुखपूर्वक विहार और धर्म-देशना करे।'

'और तुमने, महानुभाव मृगार श्रेष्ठि ? तुमने अपने स्वामी तथागत गौतम को क्या अर्पित किया ?'

'भन्ते भगवन्, मेरी पुत्रवधू विशाखा ने अपने एक मुक्ताहार के मूल्य से, जम्बूद्वीप मे अद्वितीय, ऐसा एक विहार श्री भगवान् तथागत के लिये निर्माण कराया। वह 'पूर्वाराम मृगार-माता प्रासाद' कहलाता है। उसमे सात खण्ड है, और एक हज़ार प्रकोष्ठ है। उसे देखने के लिये और तथागत से धर्मलाभ करने के लिये देश-देशान्तर के अनेक यात्री आते है। और वहाँ निर्मित अनेक अतिथि-शालाओ मे विश्राम ग्रहण कर, सुख से तथागत के जरा-मृत्यु निवारक उपदेशामृत का पान करते है।'

इसी बीच उतावला हो कर अनाथ पिण्डक बोला

'और सुने भगवन्, मैंने राजगृही से श्रावस्ती तक के मार्ग मे ठेर-ठेर आराम, विहार, भिक्षु-मठ, धर्मशालाएँ बनवा दी। ताकि श्री भगवान् तथागत अपनी धर्म-यात्रा मे वहाँ सुखासीन हो। राह के जनपदो को अपनी कल्याणी धर्मवाणी से प्रतिबुद्ध करे, परिप्लावित करे। मैने भगवान् के मगल धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन के लिये अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया।'

'सर्वस्व समर्पित कर दिया ? तो क्या अपनी सम्पत्ति का स्वामित्व तुमने तथागत को अर्पित कर दिया ? महानुभाव मृगार श्रेष्ठि, क्या तुमने भी ?'

दोनो श्रेष्ठी हक्के-बक्के से एक-दूसरे को ताकते रह गये। उनसे कोई उत्तर न बना। श्री भगवान् चुपचाप उन्हें निहारते रहे, फिर बोले .

'और मृगार श्रेष्ठि, विशाखा द्वारा दान किया गया प्रासाद 'पूर्वाराम मृगार-माता प्रासाद' कहलाता है, 'तथागत-बोधिसत्व प्रासाद' नही ? तुम्हारी पुत्रवधू ने शिलापट्ट पर तुम्हारा और अपना नाम आँक कर, सत्नाम बुद्ध के नाम को नही, अपने नाम को अमर कर दिया ? यही न ?'

क्षण भर रुक कर भगवान् फिर बोले

'और पूछता हूँ श्रेष्ठि, तुम्हारी पुत्रवधू के केवल एक मुक्ताहार का मूल्य यदि इतना हो सकता है, तो तुम्हारी निधि के तमाम अलकार, रत्न-सुवर्ण का मूल्य कितना होगा ? सारे जम्बूद्वीप को खाली कर यह अकूत द्रव्य केवल तुम्हारी सम्पदा हो गया ? तो उन करोडो मानवो का क्या, जो केवल एक वसन, एक छप्पर और दो जून रूक्ष भोजन के सहारे जीते है ? उतना भर पाने को भी अपना सर्वस्व निचोड देते है।'

मृगार श्रेष्ठी क्या उत्तर दे ? उसका माथा लज्जा से झुक गया। श्रीभगवान् फिर बोले

'पूछता हूँ श्रेष्ठियो, क्या तुम यह महादान करके जरा, मृत्यु, रोग, शोक, वियोग से सुरक्षित हो गये ?'

'पुण्य-लाभ किया भगवन् ताकि '

'ताकि अगले जन्म मे तुम इससे शतगुने सुखद प्रासादो मे निश्चिन्त पोढो। शतगुनी अधिक सम्पत्ति के स्वामी बनो। शतगुने अधिक ससार-सुख का निर्बाध भोग कर सको। ताकि सारी सृष्टि और सारे भगवान् तुम्हारे स्वामित्व की वस्तु हो जाये ?'

'नही भगवन्, इस लिये कि पुण्य-लाभ कर हम अपने पापो को काट सके, और जरा-मृत्यु ग्रस्त ससार से तर सके।'

'तो क्या तथागत यह उपदेश करते है, कि पुण्य से तुम पाप, मरण और जरा को जीत सकते हो ? कि तुम पुण्य से परिनिर्वाण प्राप्त कर सकते हो ?'

'सो तो तथागत जाने, भगवन् ! हम ठहरे वणिक-व्यापारी, सार्थवाह। इतने सूक्ष्म ज्ञान मे उतरने का हमे कहा अवकाश। हम तो केवल उन भगवान के शरणागत है। वे चाहे तो हम तारे, चाहे तो हमे मारे। हम तो केवल उनकी धर्म-कथा सुनकर शान्त और निश्चिन्त रहते है।'

'शान्त और निश्चिन्त रहते हो, जन्मान्तरो तक की ससार की सारी आपद-विपद, आधि-व्याधि भगवान् तथागत को सौप कर ? यही न ? आयुष्यमान् गाथापतियो, क्या तुम सच ही तथागत बुद्ध के शरणागत हो गये ?'

'शरणागत न हो, तो इस ससार के दुःखो से हमे कौन तारे ? हम तो इसी लिये आज आपके भी शरणागत होने आये है, हे जिनेन्द्र अर्हन्त !'

'ताकि यावत् पृथ्वी के सारे ही भगवानो के चरणों मे तुम सुरक्षित हो जाओ ? वे सब एक जुट हो कर तुम्हारे तारण को सदा तत्पर रहें, सावधान और नियुक्त रहें ! यही न ?'

'हाँ भगवन्, हम तो जहाँ भी भगवान् है, उन सब के शरणागत है। हम वणिको के वश का और क्या है ?'

श्री भगवान् चुप स्थिर मुस्कुरा आये। गहरे सन्नाटे मे सर्वत्र एक सामूहिक मर्मर हास्य-ध्वनि व्याप गई।

श्रेष्ठियो को डर हुआ, कि कही अवसर न चूक जाये। कही श्रीभगवान् हाथ से न निकल जाये। सो उतावले हो कर तार-स्वर मे दोनो एक साथ बोले

'हम आप के शरणागत, आप की क्या सेवा कर सकते है, हे त्रिलोकीनाथ अर्हन्त ?'

श्री भगवान् ने कोई उत्तर न दिया। तो श्रेष्ठी और भी अधिक उतावले हो कर बोले

'श्री भगवान् हमारा दान स्वीकार कर, हमे कृतार्थ करें। हम जिनेश्वर अर्हन्त और उनके श्रमण सघ के लिये प्रासाद चुनवाये, आराम बनवाये, विहार बनवाये चैत्य-उद्यान बनवायें। कूटागार, मठ, उपाश्रय बनवाये। ताकि भगवान् और उनका श्रमण-सघ वहाँ सुख से विहरे, और भवजनो को अपनी तरण-तारण जिनवाणी सुनाये।'

श्री भगवान् चुपचाप केवल नासाग्र दृष्टि से मुस्कराते रहे। वे चुप ही रहे, और दोनो श्रेष्ठी उच्च मे उच्चतर स्वर मे अपनी दान-घोषणा को विविध रूपो मे दोहराते रहे। हठात् सुनाई पड़ा

'तुम सुगत होओ श्रेष्ठिजनो ! तुम्हारा कल्याण हो !'

अनाथपिण्डक हर्षित आशान्वित हो कर बोला

'तो देवाधिदेव त्रिलोकपति अर्हन्त ने हमारे दान को स्वीकार लिया ?'

'अनगार आगार नही स्वीकारते, आयुष्यमान्। दिगम्बर दीवारो मे नही विचरते। निगण्ठ अर्हन्त प्रासादो और विहारो मे नही विहरते। वे आवासित नही, निर्वासित विहरते है। वे पृथ्वी और आकाश के बीच मुक्त विहरते हैं। वे एक ही स्थान पर बार-बार नही लौटते। वे सर्वत्र, सर्व देश-काल में नित-नव्य और स्वतंत्र विचरते हैं। वे लौट कर वही-वही नही आते। असख्य प्रदेश, पर्याय, परमाणु को पार करते हुए, आगे ही बढ़ते जाते हैं।'

'लेकिन तथागत बुद्ध ने तो हमारा दान स्वीकारा, भन्ते। आगार विहार स्वीकारे। क्या वे सम्यक् सम्बुद्ध अर्हन्त नहीं, भगवन्?'

श्री भगवान् मौन सस्मित, दूरियो मे आरपार देखते रहे। श्रेष्ठियो ने फिर अपना प्रश्न दुहराया

'क्या तथागत बुद्ध सम्यक् सम्बुद्ध नही, भन्ते? अर्हन्त जिनेश्वर हमारा समाधान करे।'

'तथागत बुद्ध निश्चय ही सम्यक् सम्बुद्ध अर्हन्त है। तथागत अप्रतिम है। तथागत अनन्य है। तथागत एकमेव हैं। प्रत्येक अर्हन्त अप्रतिम, अनन्य, एकमेव होता है। प्रत्येक अर्हन्त विलक्षण होता है। वे परस्पर तुलनीय नही। वे अपने-अपने स्व-धर्म और स्व-भाव मे स्वतत्र विचरते हैं। प्रत्येक का मार्ग एक कुँवारे जगल को भेद कर गया है। प्रत्येक का सत्य-साक्षात्कार विशिष्ट होता है। तदनुसार चर्या भी विशिष्ट होती है। लेकिन उन सब का गन्तव्य है, वही एक परम अभेद महासत्ता। उसमे वे सब तद्रूप एकाकार होते हैं। तथागत बुद्ध निश्चय ही सम्यक् सम्बुद्ध अर्हन्त है। वे निश्चय ही मारजयी और मृत्युजयी है!'

सारा ही उपस्थित श्रोता-मण्डल, एक गहरे समाधान की शान्ति और निश्चिति मे विश्रब्ध हो गया। इसके आगे शब्द की गति नही थी। कि हठात् मण्डलाकार गूँजती ओकार-ध्वनि मे से गभीर स्वर सुनाई पडा.

'सृष्टि की सम्पदा का दान करने वाले तुम कौन होते हो, श्रेष्ठियो, उसका स्वामित्व तुम्हे किसने दिया?'

फिर पकडे जा कर श्रेष्ठी काँप-काँप आये। किसी तरह साहस बटोर कर सुदत्त अनाथ पिण्डक उत्तर देने को विवश हुआ

'हमने अपने पुरुषार्थ और परिश्रम से उसे अर्जित किया है, भन्ते।'

'तुम्हारा परिश्रम, तुम्हारा पुरुषार्थ? तो उन करोडो कृषको के परिश्रम और पुरुषार्थ का अर्जन क्या, जो शीत-पाला, लू के झोंकोरे, वर्षा-तूफान के थपेडे सह कर कृषि-कर्म करते है, और तुम्हारे व्यापारिक भाण्डारो को अन्न-खाद्य से भर देते है? उन श्रमिको का अर्जन क्या, जो प्राण की बाजी लगा कर पातालगामी खदानो मे उतर जाते है, अथाह समुद्रो के तलो मे गोते लगाते है? और इस तरह तुम्हारी निधियों को सुवर्ण-रौप्य और अमूल्य रत्न-मुक्ता से भर देते है। जो हिंस्र प्राणियो से भरे जगलो मे घुस कर, तुम्हारे महलो और किलो के निर्माण के लिये श्रेष्ठ काष्ठ, पाषाण और फौलाद उपलब्ध करते है, और तुम्हारे सुखद गद्दों और उपानहो के लिये पशु-चर्म प्राप्त

करते है। जो आचूड़ पृथ्वी का दोहन कर, तुम्हारे लिये तमाम भोग्य वस्तु-सामग्री जुटाते है। ताकि अपने सार्थों और जलपोतो द्वारा उनका निर्यात-व्यापार करके, तुम सारी धरती का धन अपने भाण्डारो मे एकत्रित कर सको। उन वास्तुकारो, स्थपतियो और राज-मजूरो का अर्जन क्या, जो श्रेष्ठियो और राजाओ के आकाशगामी महल चुनने के लिये, बल्लियो के मचानो पर चढ कर, अधर आकाश मे अपनी जान से खेलते हैं? उन शिल्पियो और कलाकारो का अर्जन क्या, जो अपने रक्त का इत्र निचोड कर, समर्थों के सौन्दर्य-स्वप्न और लालित्य-चेतना को परितृप्त करते हैं? उन सबका अर्जन क्या? उनके परिश्रम और पुरुषार्थ का क्या मूल्य? क्या उनका कोई स्वामित्व नही? पीढी-दर-पीढी तुम्हारी भूख-प्यासो का दमत्व करते चले जाना ही, क्या उनकी एक मात्र नियति है?'

क्षणैक चुप रह कर भगवान् फिर बोले

'पूछता हूँ, क्या आधार है तुम्हारे इस अर्जन, अधिकार और स्वामित्व का, कि तुम इस पृथ्वी के एक कण का भी दान करने का दम्भ कर सको? तुम केवल बर्बर उपभोक्ता हो, और अन्य पदार्थ, प्राणी और मानव मात्र को तुम केवल अपना उपभोग्य मानते हो। शताब्दियो से चली आ रही असख्य प्राणियो और मानवो की हिसा और हत्या से निचुडे रक्त से अर्जित सम्पत्ति का दान, अनगार अकिंचन अर्हन्त महावीर कैसे स्वीकारे?'

एक गहरा सन्नाटा। और फिर सुनाई पडा

'और सुनो धन-कुबेरो, गहरी आत्म-वेदना के तप से उपलब्ध योग, अध्यात्म, ज्ञान-दर्शन, काव्य, कला, लालित्य और सौन्दर्य का मूल्य, तुम्हारी बर्बर उपभोक्ता व्यवस्था मे सब से नीचा आँका जाता है। एक कवि या कलाकार का सर्जन तुम्हारे लिये केवल मनोरजन है, उसका मूल्य हर ठोस उपभोग्य पदार्थ की तुलना मे नगण्य होता है। सूक्ष्म भाव का तुम्हारे यहाँ कोई मूल्य नही, केवल स्थूल जड ठोस पुद्गल ही तुम्हारे यहाँ मूल्यवान है। ज्ञानियो, तीर्थंकरो, अर्हतो, ऋषियो, भगवानो और उनकी वाणी को भी तुम केवल उपभोग्य वस्तु मानते हो, और उन्हे तुम अपने महादानो से खरीद लेना चाहते हो। ताकि वे परित्राता जन्मान्तरो मे तुम्हें जरा, मृत्यु, रोग-वियोग, शोक के परितापो से बचाते रहें। धर्म तुम्हारे लिये अपने स्वार्थों की सुरक्षा का कवच मात्र है, और उसे भी तुम अपने व्यापारिक पण्यो मे खरीदते और बेचते हो।

फिर एक विप्लवी सन्नाटा। फिर सुनाई पडा

'श्रेष्ठियो, क्या तुम महावीर को भी आश्रय-आगार दान कर के, उसका धर्म, ज्ञान और भव-त्राण खरीदने नही आये?'

एक कृत्रिम नम्रता के स्वर मे बोला अनाथ पिण्डक

'आप तो अपार ज्ञान बोल गये, भगवन्। मेरी तो बुद्धि ही गुम हो गयी! मुझे कुछ भी समझ न आया। हमे आज्ञा दें भगवन्, हम आपका क्या प्रिय करें?'

'तुम अपनी समस्त सम्पत्ति का मिथ्या स्वामित्व महावीर को अर्पित कर दो। और वह उसे मानव मात्र, प्राणि मात्र की बना देगा, जो सब उसके समान अधिकारी है। यहाँ के कण-कण पर, जीव मात्र और जन मात्र का सम्पूर्ण और जन्मसिद्ध अधिकार है!'

खीसे निपोर कर दीन भाव से दोनो श्रेष्ठी एक स्वर मे बोले

'भन्ते त्रिलोकीनाथ, ऐसी सामर्थ्य हम में कहाँ?'

'तो अपने आगामी युग-तीर्थ मे महावीर अपनी सामर्थ्य से, तुम्हारे स्वामित्व मात्र को सदा के लिये समाप्त कर देगा। इतिहास मे से हिंसा के इस दुश्चक्र को वह सर्वकाल के लिये पोछ देगा। आने वाली शताब्दियाँ इसे प्रमाणित करेंगी। अहिंसक और अपरिग्रही महावीर का जन्म पृथ्वी पर इसी लिये हुआ है। इसी अर्थ मे तीर्थंकर महावीर विशिष्ट, अप्रतिम और अनन्य माना जायेगा।'

उपस्थित लोक मात्र एक विराट सामुदायिक समाधि मे विश्रब्ध हो गया। एक अबूझ, अचूक साक्षात्कार और प्रत्यय वैश्विक चेतना मे बीज-मत्र की तरह गहरे से गहरे उतरता चला गया। आगामी देश-काल की अनन्त सम्भावनाओ के पटल अन्तरिक्ष मे उघडते दिखायी पड़े। एक अनिर्वार सम्बोधि मे सारे सम्भाव्य प्रश्न, तर्क, वितर्क उठने से पूर्व ही निर्वाण पा गये।

○ ○ ○

'सावधान, प्रसेनजित्!'

'सम्मुख हूँ, भन्ते!'

'लेकिन अभी भी उन्मुख नही है तू।'

'प्रभु का क्या प्रिय करूँ?'

'अपना ही प्रिय कर, वत्स। इस दर्पण मे अपने ही अनेक विकृत चेहरे देख। उपभोक्ता राजा, उपभोक्ता श्रेष्ठी, उपभोक्ता अभिजात, एक ही बात। तुम सब परोपजीवी हो। प्रति पल पर के घात पर तुम्हारा अस्तित्व टिका है। तूने राजसूय यज्ञ मे हजारो निर्दोष पशुओ का हवन कर दिया। क्या तू चक्रवर्ती हो सका?'

'सो तो आप ही जानें, अन्तर्यामिन् !'

'तेरा निस्तार निकट है, सौम्य !'

'मैं निर्वाण पा जाऊँगा, भन्ते, इसी जन्म मे ?'

'इस जन्म मे नही। कोडा-कोडी सागरो तक नरको मे प्रवास करने के बाद।'

'नरक ? मै नरक मे पड़ूंगा, भन्ते?'

'अपना नरक तू आप ही है। अपना स्वर्ग तू आप ही है। अपने ही से तू कैसे बच सकता है। लेकिन तू भव्यात्मा है, काल-लब्धि आने पर तर जायेगा तू।'

'लेकिन भगवान् तथागत बुद्ध तो कहते है कि तू चतुर्थ बुद्ध होगा। सारिपुत्त को अनागत बुद्ध का उपदेश करते हुए, स्वयम् श्रीभगवान् ने ऐसा कहा था। क्या यह असत्य है, भगवन् ?'

'तथागत असत्य नही कहते। वे परावाक् है। वे आप्तवाक् हैं। उनका वचन प्रमाण है। लेकिन कर्मभोग और काल-लब्धि अनिवार्य है।'

'वे भगवान् मेरे गुरु है। मै उनकी शरण मे हूँ। क्या मुझे आपका श्रावक होना पडेगा, भगवन् ?'

'शास्ता अनाग्रही है। वे आग्रह नही करते। *अहासुह, देवाणुप्पिया, मा पडिबन्ध करेह !* जिसमे तुझे सुख लगे, वही कर, देवानुप्रिय। कोई प्रतिबन्ध नही। जो यहाँ है, वही वहाँ है। तू सुगत है, वत्स, तू मार्ग पर है। अपने स्वधर्म मे निर्द्वंद्व विचरण कर।'

'मेरे इस जीवन का और इसके बाद का भविष्य क्या है, देवार्य ?'

'वह तू अपने मन्त्रियो और सेनापतियो से पूछ। अपने सत्ता-लोलुप युद्धों के निर्घृण रक्तपात से पूछ। अपने प्रतिस्पर्धी राजाओ और राज्यो से पूछ। कलिंगसेना के बिछुड़े प्रियतम उदयन से पूछ। अपहरिता कुमारियो और नारियो के, ख़ून के घूँटो और आँसुओ से पूछ। अपने रासायनिक आचार्यों के लोहवेध और वाजीकरण मे पूछ। अपने तमाम बलात्कृत अन्त पुरो की सहस्रो रानियो और रखैलो से पूछ। और अपने युवराज विडूडभ से पूछ। यही है तेरा भविष्य, राजन्।'

विडूडभ का नाम सुनते ही राजा सर से पैर तक काँप उठा। उसकी हथेलियो और पगतलियो मे पसीने आ गये।

'इस विडूडभ का सामना कर, प्रसेनजित। तुम्हारी उपभोक्ता सभ्यता का यह आखेट, तुम सब का आखेटक हो कर उठा है। तुम भद्रवर्गीय अभिजातो

के शतियों व्यापी ढँके अनाचारों का, यह उजागर और पूँजीभूत अवतार है। तुम्हारी प्रति-स्पर्धी और प्रतिशोधी बर्बर परम्परा का यह ज्वलन्त प्रमाण और साक्षी है। तुम्हारे हिंसक, बलात्कारी, सडे हुए राजवंशी रक्तों के सम्मिश्रण से जन्मा है, शाक्यों की दासी-पुत्री और कौशलेन्द्र की रानी वार्षभक्षत्रिया का बेटा यह विड्डभ । इसका सामना करो, राजा। तुम राजवंशियों के अधोगामी रक्त का यह ओजस्, तुम्हारी राजसत्ता मात्र का सत्यानाश है। इसे देख, प्रसेनजित् । यह इतिहास का अटल तर्क है!'

प्रसेनजित् की आँखों मे अँधेरा छा गया। उसके हाथ-पैर छूट गये। वह गिर जाने की अनी पर है।

'निश्चल हो जा राजा, और अपनी नियति का सामना कर!'

'मै कहाँ टिकूं, मै कोई नही रह गया? मै कौन हूँ, मुझे नही मालूम।'

'जो 'कोई नहीं' रह गया, जो 'कुछ नही' हो गया, वही तू है, राजन्।'

'मै सचमुच 'कोई नही' रह गया, भगवन् ? मै कोशलेन्द्र प्रसेनजित्, मेरा राज्य, मेरा सिंहासन? मै कोशलेश्वर प्रसेनजित्?'

'वह तू नही रहा, वत्स। तेरा राज्य समाप्त हो गया। तू लौट कर आज अपने सिंहासन पर नही बैठ सकेगा। आँखे खोल कर इस विड्डभ को देख। इसके सर पर कोशल का राजमुकुट है। कोशल के सिंहासन पर इस वक्त, तेरी नही, इसकी तलवार खडी है। इसका सामना कर, प्रसेनजित्। लौट कर अपने राज-द्वार पर तू राजा नही, बन्दी होगा!'

क्रोध से उत्तेजित हो कर राजा फूट पडा

'मुझे कोई कैद नही कर सकता। मेरा सिंहासन कोई नही छीन सकता!'

'वह छिन चुका । यह नियति अटल है। इसका सामना कर।'

'मै क्या करूँ, भन्ते कृपानाथ? मेरा त्राण करे!'

'सामने खडी अपनी मौत को देख!'

'मौत? इससे मुझे बचाओ, तारनहार प्रभु।'

'मौत से कोई बच और बचा नही सकता!'

'तो मेरा कोई तरणोपाय, भगवन्?'

'अपनी आसन्न मृत्यु के सम्मुख निश्चल खडा हो जा । उसे साक्षात् कर। उसे स्वीकार कर। और तू उससे पार हो जायेगा।'

'यह मेरे वश का नही, भन्ते अर्हन्त।'

'तो अपनी परवशता को भोग। उसका सामना कर।'

'मुझे कुछ नहीं दीख रहा, नाथ। मेरे सामने केवल अन्धकार है।'

'तो ले देख, मैं तुझे दिखाता हूँ, देवानुप्रिय। तू लौटते ही अपने राजद्वार पर बन्दी होगा। तुझे निर्वासित कर विजन कान्तार मे खदेड दिया जायेगा। तू गिरता-पडता, लहू-लुहान, मृतप्राय भटकता हुआ चम्पा पहुँचेगा। अजातशत्रु के पास शरण खोजने। बडी भोर, चम्पा-दुर्ग के बन्द द्वार की देहरी पर, मैं एक सडे हुए राजा के दुर्गन्धित शव का ढेर देख रहा हूँ। वह तू नही, वत्स, वह केवल तेरा शरीर, तेरी एक पर्याय। अपनी मौत को सम्मुख ले कर देख राजा, उसे प्रत्यक्ष देख, उसका साक्षी हो जा। और तू अमरत्व मे उन्नीत हो जायेगा।'

प्रसेनजित् की चेतना शून्य मे डूबती चली गयी। एक वेधक सन्नाटे मे भयकर भविष्य उजागर हो रहा है।

'सावधान विडूडभ! शाक्यो के दासी-पुत्र औरस, तू शाक्यो से अपने अपमान का बदला लेने सैन्य सज्ज होकर कपिलवस्तु जायेगा। अपनी प्रतिशोधी तलवार के खूनी उन्माद से, तू शाक्यो का निर्मूल वशनाश कर देगा। चुन-चुन कर एक-एक दुधमुँहे बच्चे तक को मार देगा। केवल वे बच जायेंगे जो मुख मे तृण और जलवेत लेकर तेरे आगे घुटने टेक देंगे। एक दिन तेरे पगधारण से अप वन हो गये अपने सभागार को, तेरे मातुल शाक्यो ने दूध से धुलवा कर पवित्र किया था। अब तू ७७००० शाक्यो के प्रतिशोधित रक्त से अपना काष्ठासन धुलवायेगा! और यो शाक्य गणतत्र का अन्त हो जायेगा!'

'तो मेरी विजय होगी, देवार्य? मैं इन राजवशियो की मुण्ड-माला धारण कर इनकी धरतियो पर राज्य करूँगा, भगवन्?'

'तू नही, तेरी आगामी पीढियाँ। आज के दास ही कल पृथ्वी के स्वामी होंगे।'

'लेकिन मै तो आज ही विजयी हो गया भन्ते। मै तो आज ही स्वामी हो गया, देवार्य।'

'प्रतिशोध की विजय, विजय नही, अन्तिम पराजय है। तथागत बुद्ध के वश का विच्छेद करके कौन विजयी हो सकता है। तथागत का वशविनाश, तेरा आत्मनाश सिद्ध होगा। लौटते हुए तू और तेरा सैन्य, इस सामने बह रही अचीरवती की बाढ मे डूब जायेगा। सावधान विडूडभ, सावधान प्रसेनजित्! हिंसा-प्रतिहिंसा के इस दुश्चक्री न टक का अन्त खुली आँखों देखो, देवानुप्रियो। इतिहास इसके आगे न जा पाया अभी तक!'

विडूडभ और प्रसेनजित् आमने-सामने खडे, एक-दूसरे मे अपनी मौत को साक्षात् कर रहे है। एक कालातीत शान्ति मे सभी कुछ विश्रब्ध हो गया है। तभी भगवद्पाद आर्य गौतम का गभीर स्वर सुनायी पडा

'तो भगवन्, क्या इतिहास अपने को दोहराता ही चला जायेगा ? क्या वह कभी अपने को अतिक्रान्त नही करेगा ! क्या पृथ्वी पर मनुष्य की यही अन्तिम नियति है ?'

'महावीर के युग-तीर्थ मे सहस्राब्दो के पार देख रहा हूँ, एक शलाका पुरुष ! जो हिंसा और प्रतिहिंसा के इस दुश्चक्र को तोड देगा। महासत्ता मे होने वाली उस अतिक्रान्ति की प्रतीक्षा करो, हे भव्यमान आर्यजनो !'

एक गहरी आश्वस्तिदायक शान्ति व्याप गयी। उसमे मे फिर सम्बोधन सुनाई पडा

'मालाकार कन्या मल्लिका ! मुझे तेरी महारानी नही, तेरी मालिन प्रिय है। मै तेरे शूद्रत्व का वरण करने आया हूँ। आने वाले युगो मे पृथ्वी पर भद्रो की नही, शूद्रो की प्रभुता देख रहा हूँ ! जो आज पीडित है, वही भविष्य मे सच्चा प्रजापति हो कर उठेगा।'

प्रसेनजित् को अवलम्ब दिये खडी मल्लिका रो आई। वह गन्धकुटी के पाद मे भसात् हो गयी। और फिर उठकर रुद्ध कण्ठ मे विनती कर उठी

'मेरे लिये क्या आज्ञा है, देव ?'

'तुम महावीर की सती हुई, इस मुहूर्त मे। तुम महावीर का भविष्य हो !'

'महाराज खडे नही रह पा रहे, इन्हे कौन अवलम्बन देगा, भगवन् ?'

'उन्हे अपना अवलम्बन स्वयम् हो जाना पडेगा। आर्य प्रसेनजित्, चाहोगे तो, जहाँ भी जाओगे, महावीर सदा तुम्हारे साथ रहेगा।'

मुमूर्षु राजा ने आशान्वित होकर, आर्त्त स्वर को ऊँचा करके पूछा

'इस सामने खडी मृत्यु मे भी ?'

'यह मृत्यु भी वही है। और इसके पार भी वही खडा है, तुम्हारा अनिर्वार और एकमेव भविष्य महावीर !'

और तुमुल जय-निनादो के बीच श्री भगवान् गन्धकुटी की सीढियाँ उतरते दिखाई पडे। □

५

# अनेकान्त का शीशमहल

श्री भगवान् इस बीच, प्रजाओ की पुकार पर, काशी-कोशल के अनेक ग्रामो और नगरो मे विहार करते रहे। अब वे फिर लौट कर श्रावस्ती के 'ज्ञानोदय चैत्य' मे समवसरित है।

प्रातःकाल की धर्म-पर्षदा मे गहन गर्भवान ओंकार ध्वनि गूँज रही है। दशाग धूप की पावन मलय-कर्पूर गन्ध से सारा वातावरण प्रमादित है। सहसा ही भगवद्पाद इन्द्रभूति गौतम ने निवेदन किया

'भन्ते जगदीश्वर, सारे समकालीन जगत् मे आज एक तीव्र असन्तोष की लहर दौड रही है। सारे ससार की नयी पीढियाँ एक प्रचण्ड असहमति और अराजकता मे विक्षुब्ध है। तमाम तरुणाई एक विप्लव के ज्वालागिरि की तरह उबल रही है। समकालीन प्रबुद्धो ने सारी पुरातन मर्यादाओ और प्रस्थापनाओ को नकार दिया है। सारे स्थापित मूल्य-मानो को तोड दिया है। सारी परम्पराओ को ध्वस्त करके वे नये मूल्यमान, नयी मर्यादा, नयी प्रस्थापना के ध्रुव की खोज मे जूझ रहे है। यूनान मे हिराक्लिटस और पायथागोरस, महाचीन मे लाओत्से मेन्शियस और कन्फ्यूसियस, फिलिस्तीन मे येमियाह और इझेकियेल, तथा पारस्य देश मे जर्थस्त्र इसी विप्लव के चूडान्त पर खडे बोल रहे है। सर्वज्ञ महावीर के पृथ्वी तल पर विद्यमान होते, मनुष्य ऐसे असन्तोष और अराजकता से क्यो ग्रस्त हो गया है, भगवन्?'

'महावीर स्वयम् उसी असन्तोष मे से जन्मा है, गौतम! उसी की चुनौती पर, उसका उत्तर देने को ही वह पृथ्वी पर आया है। और क्या तुम भी उसी असन्तोष की सन्तान नही? क्या तुम भी उसी उद्विग्नता से विवश होकर मेरे पास नही आये?'

'अपने पूर्वाश्रम को लौट कर साक्षात् कर रहा हूँ, भगवन्।'

'इस मौलिक असन्तोष के समुक्त और एकमेव उत्तर का ही दूसरा नाम महावीर है, देवानुप्रिय।'

'समकालीन ससार का अहोभाग्य है, नाथ, कि उसकी अन्तिम वेदना और अन्तिम प्रश्न का उत्तर देने को, सर्वज्ञ अर्हन्त महावीर हमारे बीच उपस्थित है।'

श्रीभगवान् मौन हो रहे। उनकी पारान्तर वेधी दृष्टि से तमाम श्रोता समुदाय अनुविद्ध होता रहा। तभी आर्य गौतम ने फिर निवेदन किया

'यह एक विचित्र संयोग है, भगवन्, कि वर्तमान आर्यावर्त के ऐसे ही चार क्रान्तिकारी विचारक एक साथ इस क्षण प्रभु के सम्मुख श्रीमण्डप मे उपस्थित हैं। आर्य पूर्ण काश्यप, आर्य अजित केश कम्बली, आर्य प्रकुध कात्यायन, आर्य सजय वेलट्ठिपुत्र। इन चारों ही ने सनातन आर्य धर्म की परम्परा का ध्वस कर दिया है। आनन्दवादी वेद और ब्रह्मवादी उपनिषद् का ज्ञान इन्हे सन्तुष्ट न कर सका। वर्तमान आर्य धार्मिको मे, विचार और आचार के बीच जो एक चौडी खाई पड गयी है, उसके पाखण्ड का इन्होने घटस्फोट किया है। ये विचार को आचार मे प्रकट देखने को बेचैन है। ये धर्म को जीवन मे व्यक्त पाना चाहते है। इसके अभाव मे अपनी पीडा के चरम पर पहुँच कर, ये धर्म मात्र के उच्छेद को सन्नद्ध हो उठे है।'

'प्रचेता है ये आचार्य, गौतम। ये जाग चुके है। सत्य की अग्नि से ये जाज्वल्यमान है। इन्होने लीक को तोडा है, मिथ्यात्व का भजन किया है, जड रूढियों को ध्वस्त किया है। शास्ता को प्रिय हुए ये देवानुप्रिय सत्यवादी। हम इनका अभिवादन करते है। हम इनका क्या प्रिय कर सकते है, गौतम?'

'ये प्रभु से वाद करना चाहते है।'

'अर्हत् वाद नही करते, सवाद करते है।'

'ये महावीर के वाद का खण्डन करने आये है, देवार्य।'

'अर्हत् खण्डन नही करत, वे मण्डन करते हैं। वे अपने प्रतिपक्षी के पक्ष का भी, उसी की अपेक्षा विशेष से समर्थन करते है।'

'ये महावीर से असहमत होने आये है, भन्ते।'

'असहमत होने आये हैं, सहमत होने के लिये, गौतम!'

'ये महावीर को नकारने आये है, भगवन्।'

'नकारने आये है, सकारने के लिये, गौतम।

'ना' कहने आये है, 'हाँ' कहने के लिये, गौतम!'

'ये महावीर के मत का विरोध करने आये है, भगवन्।'

'सर्वज्ञ किसी का विरोध नही करते, वे अविरोध-वाक् होते है। वे अपने विरोधी को भी स्वीकार कर, स्याद्वाद से उसके साथ सहकार करते है। वे विच्छेदक नही, सयोजक होते है।'

'विरोधो के बीच अविरोध और समन्वय कैसे सम्भव है, भगवन्?'

'तू भी तो महावीर का विरोधी होकर आया था, आयुष्यमान् गौतम! क्या महावीर ने तेरा विरोध किया? क्या महावीर ने तेरे वैदिक धर्म का खण्डन किया?'

'प्रभु ने मुझे ठीक अपनी ही भूमि पर स्वीकार लिया। प्रभु ने वेद और वेदान्त का खण्डन नही, मण्डन किया। प्रभु ने विरोधी का विरोध नही, समाहार और समाधान किया। फिर भी मैंने जान-बूझ कर ही यह प्रश्न उठाया है, भन्ते, ताकि शास्ता के उत्तर को मैं अपने ही उदाहरण से प्रमाणित कर सकूँ।'

'आगत आचार्य देखे, गौतम स्वयम् प्रमाण है।'

'ये महानुभाव आचार्य अपने को जिन और श्रमण कहते है, भगवन्। ये भी अपने को तीर्थंकर कहते है, भन्ते।'

'ये उत्कट तपस्वी है और असत्य से जूझ रहे है, तो श्रमण है ही। ये मिथ्या का पाश तोड कर मुक्त, निर्भय और विजयी हुए है, तो उस अपेक्षा से जिन है ही। ये नूतन युग-चेतना के सवाहक है, तो उस अपेक्षा से तीर्थंकर है ही। अर्हत् विद्वेषी नही, समावेशी होते है, गौतम। जिनेश्वर इन आचार्यों का निवारण नही, वरण करते है। यही मौलिक सत्ता का स्वभाव है, गौतम। जिनेन्द्र महावीर, उसी का साक्ष्य देने को यहाँ प्रस्तुत है।'

और श्री भगवान् तद्रूप, समाहित, चुप हो रहे।

○ ○ ○

चारो आचार्य उद्ग्रीव दिखाई पडे। वे वाद करने को व्यग्र दीखे। महावीर का मौन उन्हे बेकाबू उत्तेजित कर रहा था। सो आर्य गौतम ने उस मौन को तोड कर, बात को आगे बढाया

'आचार्य पूर्ण काश्यप प्रभु के सम्मुख प्रस्तुत है। ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण है। ये नग्न चर्या करते है। इनके अस्सी हजार अनुयायी है। जब गृहस्थाश्रम मे थे तो अपने स्वामी द्वारा द्वारपाल का काम सौपे जाने पर, इन्होने गहरे अपमान का अनुभव किया। सो ये विरक्त हो गये, और निष्क्रान्त होकर जगल चले गये। मार्ग मे तस्करो ने इनके वस्त्र छीन लिये, तो वस्त्र के परिग्रह से भी ये विरक्त हो गये। और तभी से नग्न विचरने लगे। एक बार किसी ग्राम मे इन्हे नग्न देख कर, लोगो ने इन्हे वस्त्रदान करना चाहा। तो ये बोले कि 'वस्त्र लाज ढँकने को है, और लज्जा के मूल मे पाप है। मै पाप से परे हूँ, सो मेरे लिये वस्त्र अनावश्यक है।' इनकी इस असग वृत्ति को देख कर हजारो लोग इनके अनुयायी हो गये। अनुभव से परिपूर्ण होने के कारण, इनका नाम ही पूर्ण काश्यप हो गया है।'

वीतराग मुस्कान से प्रफुल्लित प्रभु बोले

'काश्यप महावीर काश्यप पूर्ण का स्वागत करता है। निष्क्रान्त और नग्न आर्य काश्यप महावीर को अपने ही प्रतिरूप लगते है। पाप से परे होकर, ये केवल स्वयम् आप हो गये है। वरेण्य है आर्य पूर्ण काश्यप।'

'साधुवाद आर्य महावीर, मैं आप से वाद करने आया हूँ। मैं आपका प्रतिवाद करने आया हूँ।'

'युवा काश्यप प्रतिवाद करे, यह स्वाभाविक है, उचित है, अभीष्ट है। वाद, प्रतिवाद, सम्वाद—यही तो सत्ता, सृष्टि और इतिहास का अटल तर्क है, अनिवार्य और अनवरत क्रम है। यह सारा विश्व क्रम-बद्ध पर्यायो का एक प्रवाह है। इसमे प्रतिवाद तो यथास्थान सतत जारी है। उत्पाद, व्यय, ध्रुव वाद, प्रतिवाद, सम्वाद यह सयुति ही सत्ता का स्वभाव है। यही मौलिक वस्तु-स्थिति है। आचार्य काश्यप इसके अनुगत है, तो अर्हत् आप्यायित हुए।'

'निगण्ठनातपुत्त मुने, मैने वेद, वेदान्त, सारे परम्परागत धर्म, दर्शन और वादो की निष्फलता खुली आँखो देखी। वे जीवन मे कही प्रतिफलित न दीखे। वे केवल वाग्विलास लगे। तो प्रत्यय हुआ कि यह सारा जगत्-प्रवाह स्वत चालित है, इसमे मनुष्य की क्रिया को अवकाश नही। सो मैं अक्रियावादी हो गया। आर्य महावीर क्रियावादी है। तो मै उनका प्रतिवादी हूँ।'

'महावीर कोई वादी नही, वह केवल साक्षात्कारी है, आर्य काश्यप। सत्ता जैसी सामने आ रही है, उसे वह यथार्थ वैसी ही तद्रूप देखता है, जानता है जीता है, कहता है। वह उस पर अपना कोई वितर्क या विचार नही थोपता। दृश्य पदार्थ स्वत सक्रिय है द्रष्टा आत्म भी स्वत सक्रिय है। दोनो ही कूटस्थ नही, गतिमान हैं, प्रवाही है। आर्य काश्यप ने स्वयम् इस जगत् को प्रवाह कहा। तो गति और क्रिया को स्वीकारा ही आपने। काश्यप चल कर मुझ मे वाद करने आये है, क्या यह उनका कर्तृत्व नही? क्या यह क्रिया और गति का प्रमाण नही?'

'लेकिन मैं स्वयम् कुछ कर नही सकता, कर नही रहा। बस, अपने आप यह सब हो रहा है। यदि कर्तृत्व मेरा होता, तो यह जगत् मेरा मन चाहा होता। तब किसी स्वामी का द्वारपाल होने की विवशता मेरी न होती।'

'लेकिन वह होने को तुम विवश न किये जा सके, आर्य काश्यप। तुमने प्रतिकार किया। तुम उस स्वामी की आज्ञा को ठुकरा आये। तुम ससार और वस्त्र तक से निष्क्रान्त हो गये। इस अनिष्ट ससार-प्रवाह से अलग खडे हो जाने का पुरुषार्थ तुमने किया!'

'बेशक, ठुकरा दिया। निष्क्रान्त हुआ। नग्न हो गया। अलग खडा हो गया। पर क्या इस प्रवाह को मनचाहा मोड सका?'

'वह स्वभाव नही, आर्य काश्यप। हर वस्तु और व्यक्ति यहाँ स्व-सक्रिय है, अपने ही मे स्वतत्र परिणमन कर रहे हैं। हर सत्ता यहाँ अपने उपादान,

अपनी सम्भावना के स्वतत्र तर्क से गतिमान है। हम उसमे हस्तक्षेप नही कर सकते। हम बाहर से उसे मनचाहा तोड और मोड नही सकते। लेकिन अपने कर्त्ता हम आप हैं, निश्चय। सो हम अपने मे पहल करके, अपने को बदल सकते है। और जब हम स्वयम् बदल कर अपना अभीष्ट सम्वाद और शाति पा लेते है, तो जगत् की हर सत्ता मूलत हमे अपने साथ सम्वादी प्रतीत होने लगती है। यह निश्चय प्रतीति ही स्वयम् प्रक्रिया होकर जगत् मे भी, अभी और यहाँ अभीष्ट अतिक्रान्ति अनायास घटित करती है। हम अन्यो की स्वतत्रता को स्वीकारते है, तो वे हमारी स्वतत्रता को स्वीकारते है। इस सम्वादिता मे से ही जगत् स्वत हमारा मनोवाछित होता चला जाता है। आर्य काश्यप ने पहल की, प्रतिवाद किया, प्रवाह से निकल कर स्वतत्र हो गये। अन्यो को स्वत सक्रिय रहने दिया आप स्वत सक्रिय रहे। तो वे कृतार्थ हो गये। महावीर उनके साथ सम्वादी हो गया।'

'लेकिन मै तो अक्रिय हुआ, भदन्त, सक्रिय कहाँ हुआ ? प्रवाह से निकल आया। बस।'

'कौन है, वह जिसने जगत् का यह सत्य देखा, जाना और उससे बाहर निकल आया ? बाहर निकलने का निर्णय किसने किया ? पहल किसने की ? लज्जा के मूलगत पाप को किसने देखा, किसने जाना ? किसने वस्त्र को उस पाप का प्रतीक जान कर त्याग दिया, और कौन यह स्वभाव रूप नग्न चर्या करने लगा ? कौन यहाँ वाद-प्रतिवाद करने आया ?'

'मै आर्य ! मै पूर्ण काश्यप !'

'इस मै की पहचान और स्वीकृति ही अपने आप मे एक क्रिया है। अक्रिय को तुमने देखा, जाना, जिया, यह स्वयम् ही एक क्रिया है। अन्तत पहल और निर्णय तुम्हारा है कहीं। वह स्वत उजागर है। स्वयम् सिद्ध है। एकान्त क्रिया भी नही, एकान्त अक्रिया भी नही। यथाक्रम, यथास्थान, अक्रिया भी, क्रिया भी। अपेक्षा विशेष से ही सत्य और असत्य है। निरपेक्ष सत्य या निरपेक्ष असत्य कुछ भी नही। केवल अनुभव प्रमाण है, कथन नही।'

'तो मेरा अनुभव जो मुझे बताता है, उसे सुने आर्य महावीर। अगर कोई कुछ करे या कराये, काटे या कटाये, कष्ट दे या दिलाये, शोक करे या कराये, किसी को कुछ दुःख हो या कोई दे, डर लगे या लगाये, प्राणियो को मार डाले, चोरी करे, घर मे सेंध लगाये, डाका डाले, या किसी के मकान पर धावा बोल दे, बटमारी करे, परदारा गमन करे, या असत्य बोले, तो भी उसे पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धार वाले चक्र से यदि कोई इस संसार के पशुओ के मास का बडा ढेर लगा दे, तो भी उसमे बिलकुल पाप नही है, कोई दोष नहीं है। गगा के दक्षिणी किनारे पर जा कर यदि

कोई मार-पीट करे, काटे-कटवाये, कष्ट दे या दिलाये, तो भी उसमें कोई पाप नही। गंगा के उत्तरी किनारे पर जा कर यदि कोई अनेक दान करे या करवाये, यज्ञ करे या करवाये, तो उसमे कोई पुण्य भी नही मिलता। दान, धर्म या सत्य-भाषण से कोई पुण्य लाभ नही कर सकता। आचार-विचार, पाप-पुण्य, लोक-परलोक, सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा—यह सब मरीचिका है, कपोल-कल्पना है, ढकोसला है, पाखण्ड है।'

'तो क्या तुमने यह सब कर देखा, वत्स? करो और परिणाम जानो। अनुभव वही प्रमाण है, जो देखने, जानने और करने की सयुक्त फल-श्रुति हो। उक्त सारे आचारो को पाप-पुण्य से परे परानैतिक जाना तुमने, कहा तुमने, पर ये सारे आचार तुमने किये नही। अनुभव बिना मूल्य-निर्णय कैसा? क्या तुम सच ही इन सारे आचारो से निष्क्रान्त हो गये? क्या तुम सच ही स्वधर्म मे स्थित, ज्ञाता-द्रष्टा मात्र रह गये?'

पूर्ण काश्यप निरुत्तर केवल सुनते रहे। कि फिर सुनाई पडा

'तुमने लज्जा और उसके निवारक वस्त्र को अभी-अभी पाप का मूल कहा, आर्य काश्यप। और उसे त्यागने रूप आचरण भी तुमने किया। तो तुम पाप-पुण्य से परे कहाँ? और तुम घर छोड कर निकल पडे। ससार से बाहर खडे हो गये। तो विचार और आचार दोनो किया तुमने, आचार्य काश्यप। तुम स्वयम् ही अपने स्वयम् के विरोधी और प्रतिवादी हो गये। और सन्यस्त होकर अपने साथ सम्वादी भी हो गये।'

अपने वाद के अन्तर्विरोध को सामने प्रत्यक्ष देख, पूर्ण काश्यप स्तम्भित, समाधीत हो रहे। वे अनिर्वच का साक्षात्कार कर निर्वचन हो गये।

'तू प्रतिबुद्ध हुआ, आयुष्यमान्। तू पूर्ण सम्वादी हुआ इस क्षण, स्वयम् अपने साथ, महावीर के साथ, सारे जगत् के साथ। आचार्य पूर्ण काश्यप जयवन्त हो।'

और तीर्थक् पूर्ण काश्यप निर्विकल्प, निस्तर्क, शान्त होकर श्रमणों के प्रकोष्ठ मे जा उपविष्ट हुए।

○ ○ ○

कृष्ण-गिरि-सा काला विशाल डील-डौल। बड़ी-बड़ी तेजस्वी पानीदार आँखे। कसौटी-सी कज्जल देह पर चन्द्र-किरण की तरह चमकता स्वच्छ यज्ञोपवीत जनेऊ। और कटि पर मनुष्य के केशो से बना कम्बल धारण किये हुए। आचार्य अजित केश-कम्बली ऊर्ध्व-बाहु सामने आये। कि गन्धकुटी के शीर्ष-कमल से सुनाई पडा.

'उच्छेदवादी आचार्य अजित केश-कम्बली।'

'साधुवाद आर्य महावीर, आपने अपने विरोधी को पहचाना। निश्चय ही मैं उच्छेदवादी हूँ, नास्तिक हूँ, और आस्तिक महावीर के आस्तिकवाद का खण्डन करने आया हूँ।'

'आप महावीर के अस्तित्व को कृतार्थ करने आये हैं, आचार्य अजित। आप महावीर के होने को प्रमाणित करने आये है। आपका स्वागत है।'

'आप भ्रम मे है, देवार्य। मैं महावीर की अस्ति का उच्छेद करने आया हूँ। मैं उनके होने को व्यर्थ करने आया हूँ।'

'उत्पाद, व्यय, ध्रुव की सयुति ही सत् है, अस्ति है, आर्य कम्बली। उसमे यदि उत्पाद है, तो उच्छेद भी है ही। उदय है कि प्रलय है। प्रलय है कि उदय है। अपेक्षा से अस्ति भी, अपेक्षा से नास्ति भी। लेकिन अन्तत कुछ ध्रुव है, नित्य सत् है, कि यह ससार हे, आप है, मैं हूँ। और हमारे बीच यह बातचीत सम्भव हो सकी है।'

'ध्रुव, सत्, अस्ति एक मरीचिका है, आर्य महावीर। एक भ्रम है, एक झूठा आश्वासन है, जो ब्रह्मवादी वेदान्तियो और आत्मवादी महावीर ने जगत् को दिया है। ताकि आत्मा, जन्मान्तर, पुण्य-पाप, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक का भय दिखा कर, अभिजात आर्य चिरकाल तक सर्वहारा अनार्यों और अन्त्यजो का शोषण करते चले जाये। मैं उच्छेदवादी अजित केश-कम्बली इस भ्रम का मूलोच्छेद करने आया हूँ।'

'ब्राह्मण-पुत्र आचार्य कम्बली, आप अपने जनेऊ का उच्छेद क्यो न कर सके?'

'मैं जनेऊ नही, आर्य महावीर। उस पर मेरा ध्यान तक नही जाता। मैंने आर्यों की शिखाये उखाड कर, उनके मूल का ही उच्छेद कर दिया है। मैंने उनके केशो का कम्बल पहन कर, उन्हे पराभूत कर दिया। ब्राह्मण का वशोच्छेद करने के लिये ही मैं ब्राह्मण-वश मे जन्मा हूँ।'

'आपने ब्राह्मण-वश मे जन्म लेना स्वीकारा, आपने उनकी शिखाओ को स्वीकारा, कटि पर धारण किया। वे भी कुछ है, आप भी कुछ है, यह प्रमाणित हुआ आपके अस्तित्व से भी, वचन से भी, व्यवहार से भी।'

आचार्य अजित कुछ असमजस मे पड गये। उन्हे उत्तर नही सूझ रहा था। कि तभी श्री भगवान् फिर बोले:

'आप उन्हें उखाडेंगे, तो वे आपको उखाडेगे। इसका नही अन्त है, आचार्य अजित?'

'मैं उनका मूल ही उखाड़ दूंगा। तो मुझे उखाड़ने को वे बचेंगे कहाँ ?'

'तो आपका मूल कहीं है, जिसे उखाड़ा नहीं जा सकता ? है न ?'

'अन्ततः यहाँ सब निर्मूल है, निगठनातपुत्त। सब का अन्त हो जाता है। विनाश, नास्ति। अस्तित्व मात्र की यही अन्तिम नियति है। निर्मूल नाश, यही अन्तिम सत्य है। सारे वेद-वेदान्त, विचार-आचार, कर्म-काण्ड व्यर्थ है, निरा भ्रामक वितण्डावाद है। विनाश और मृत्यु के भय में से उपजे है ये सारे दर्शन और विधि-विधान। मै इस पलायन की ओट को ध्वस्त करने आया हूँ, मैं उच्छेदवादी तीर्थंकर अजित केश-कम्बली।'

'आस्तिक दर्शन का उच्छेद करने को आपने नास्तिक दर्शन तो रचा ही, आर्य अजित। अन्ततः आप तो बचे ही। आप है पहले, कि आपने उच्छेद का दर्शन उच्चरित किया। जब अन्ततः नास्ति ही है, नाश ही है, तो यह उच्छेद का आग्रह भी क्यों ? यह प्रतिवाद का मोह भी क्यो ? और यह मैं —उच्छेदवादी तीर्थंकर अजित केश-कम्बली—का अहंकार भी क्यो ?

आचार्य कम्बली अपनी जनेऊ तानते हुए निर्वाक् ताकते रह गये। तो श्री भगवान् ने उन्हें सहारा दिया

'आचार्य कम्बली के महान् दर्शन को समग्र सुनना चाहता हूँ। शायद मुझे कुछ नया प्रकाश मिल जाये।'

'तो मेरे दर्शन को सुने, आर्य महावीर। जब अन्ततः नाश और मृत्यु मे ही सब को समाप्त हो जाना है, तो आचार-विचार सब निःसार है। दान, यज्ञ, होम, विधि-विधान, कर्म-काण्ड सब व्यर्थ है। श्रेष्ठ या कनिष्ठ कर्मों का कोई फल और परिणाम नहीं होता। इहलोक, परलोक, माता-पिता, अथवा औपपातिक प्राणी देव-नारकी—नहीं हैं। इहलोक-परलोक का अचूक ज्ञानी यहाँ कोई नहीं। श्रमण हो कि ब्राह्मण हो, कोई यहाँ सच्चा सदाचारी नहीं। आचार-विचार मात्र पाखण्ड है, पलायन है, मृत्यु और विनाश से मुँह चुराने की युक्तियाँ हैं।'

'आप वेदना में से बोल रहे हैं, आचार्य अजित। आपके इस यथार्थवाद को सम्वेदित कर रहा हूँ। निःशेष बोले, आचार्य कम्बली।'

'मनुष्य चार भूतों का बना हुआ है। जब वह मरता है, तब उसके अन्दर की पृथ्वी-धातु पृथ्वी में, आपो-धातु जल में, तेजो-धातु तेज में, और वायु-धातु वायु में जा मिलती है। इन्द्रियाँ आकाश में चली जाती हैं। मृत व्यक्ति को चार पुरुष अर्थी पर उठा कर फूंक आते हैं। श्मशान में उसके गुण-अवगुण की चर्चा होती है। उसे दी जाने वाली आहुतियाँ भस्म हो जाती हैं। दान का वितण्डा मूर्खों और परोपजीवी ब्राह्मणों का व्यवसाय मात्र है। वे

दान लेकर यजमान से स्वर्ग-नरक, जन्मान्तर, आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष का सौदा करते हैं। आस्तिकवाद मृषा बकवास है, झूठ है। शरीर भेद होने पर विद्वान् और मूर्ख, ज्ञानी और अज्ञानी का समान रूप से उच्छेद हो जाता है। वे सब निर्मूल नष्ट हो जाते हैं। उच्छेद विनाश, मृत्यु—यही सब का अन्त है। यही एक मात्र अन्तिम सत्य है।'

'तो अभी और यहाँ, तुम मरना चाहोगे, देवानुप्रिय ?'

'मेरे चाहने का क्या प्रश्न है। मौत आ जायेगी तो मर ही जाना पडेगा।'

'मरना तुम चाहते नही, पर मर जाना पडेगा। यही न ? मान लो अभी इसी वक्त कोई तलवार से तुम्हारा वध करने को उद्यत हो जाये तो ? बचना नही चाहोगे ? प्रतिकार नही करोगे, आयुष्यमान।'

आचार्य अजित अनायास उत्तेजित हो आये

'आखिर क्यो कोई मेरा वध करेगा ? मेरा कोई दोष हो तब न ?'

'दोष-अदोष तो तुम मानते ही नही, आचार्य ! प्रकट है कि तुम बचना चाहते हो, जीना चाहते हो !'

'जीना कौन न चाहेगा ?'

'तो तुम मरना नही चाहते आचार्य अजित ?'

'मेरे चाहने से क्या होता है मै मर जाने को बाध्य हूँ।'

'तो बाध्यता से मरण को स्वीकारते हो। स्वेच्छा से नही। अपना वश चले तो जीना चाहते हो ? यही न ?'

'जीना कौन न चाहेगा ?'

'हो सके तो अमर होना चाहते हो ?'

'हो सके तो क्यो नही ?'

'अमरत्व की चाह है, तो अमरता कही है ही। उसकी खोज भी स्वाभाविक है। जो कही है, उसी को तो खोजा जा सकता है !'

आचार्य कम्बली अवाक् सुनते रहे। उनके हृदय की घुण्डी खुलती चली गई। श्री भगवान् फिर बोले

'मैं अमर होना चाहता हूँ, तो अमरत्व एक सम्भावना है। मुझ मे कुछ है, जो अमर है। अन्तत अस्ति न हो, तो नास्ति से बचने की चाह क्यो ? अन्तत अमरत्व न हो, तो मृत्यु से बचने की चाह क्यो ? और यदि मैं अन्तत अस्ति हूँ, अमर हूँ, तो आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, जन्मान्तर, पुण्य-पाप, इष्ट-अनिष्ट, सदाचार-दुराचार उसकी अनिवार्य निष्पत्तियाँ हैं। आचार्य अजित

केश-कम्बली, आप अभी और यहाँ मृत्यु चुनते है, या जीवन चुनते है? ' आपका काल आपके सम्मुख खडा है?'

और आर्य अजित ने हठात् मूर्तिमान उच्छेद, विनाश, मृत्यु को सामने खड़े देखा। पहले तो आचार्य भय से थर्रा उठे। लेकिन फिर सन्नद्ध हो साहस पूर्वक ललकार उठे

'हट जाओ मेरे सामने से, ओ काल, ओ मायावी, ओ महावीर, तुम मुझे मार नही सकते!'

वह कुहेलिका विदीर्ण हो गयी। और आचार्य-कम्बली को सुनायी पडा

'सच ही तुम अन्तत अमर हो, आचार्य अजित केश-कम्बली। कोई काल, कोई महावीर, कोई ईश्वर भी तुम्हें नही मार सकता। आर्य अजित केश-कम्बली जयवन्त हो?'

और आर्य अजित श्रमणो के प्रकोष्ठ मे उपविष्ट होते दिखायी पडे।

○ ○ ○

भगवद्पाद गौतम ने निवेदन किया

'आचार्य प्रक्रुध कात्यायन प्रभु के सम्मुख उपस्थित है। ये अपने को अन्योन्यवादी कहते हैं। वर्तमान का कोई स्थापित दर्शन इन्हे सन्तुष्ट न कर सका। अपनी मुक्ति का मार्ग इन्होने स्वयम् खोज निकाला है। पर, मुक्ति को भी इन्होने अस्वीकार कर दिया है। सारी प्रचलित धारणाओ को नकार कर ये अपने स्वतत्र तत्त्व-दर्शन को उपलब्ध हुए हैं। कुकुद्ध वृक्ष के नीचे इनका जन्म हुआ है। इसी से प्रक्रुध कहलाये। ऋषि पिप्पलाद के समकालीन ये पुरातन पुरुष नैमिषारण्य के विजन मे एकाकी विचरते है। आचार्य कात्यायन शीतल जल का उपयोग नही करते। ऊष्ण जल को ही ग्राह्य मानते है।'

श्री भगवान् सस्मित उन्हे निहारते हुए बोले

'उद्बुद्ध हैं आचार्य कात्यायन। अपने लिये स्वयम् सोचते हैं। किसी के सोच का सहारा इन्होंने न लिया। अवधानी और अप्रमत्त विचरते हैं, ये महाप्राण पुरुष। स्वतत्र चैतन्य से चालित है। मुक्ति पर भी ये नही रुके। तो मुक्ति इनके पीछे आयेगी। अर्हत् जिनेन्द्र के दर्पण है ये जातवेद महा-पुरुष। अर्हत् इन्हें पा कर आप्यायित हुए।'

'साधुवाद भदन्त महावीर, आपने मेरे स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकारा। पर जानें देवार्य, मैं आपका अनुगामी नही, प्रतिगामी हूँ। मैं विशुद्ध स्वानुभव मे चर्या करता हूँ। मै अर्हत्कामी नहीं, नितान्त आप्तकामी हूँ।'

'आर्य कात्यायन इसी से अर्हत् को अधिक प्रिय हुए। क्योकि जो आप्त है, वही अर्हत् है। आपके दर्शन को सुनना चाहता हूँ, महानुभाव।'

'जो देखा, जाना, साक्षात् किया, वही कहता हूँ, आर्य महावीर! अपने मुक्त अवबोधन से प्रत्यक्ष किया है, कि पदार्थ सात है पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख, दु ख एव जीव। ये सात पदार्थ किसी के किये-करवाये, बनाये या बनवाये हुए नही है। वे तो वन्ध्य कूटस्थ और नगर-द्वार के स्तम्भ की तरह अचल है। वे न हिलते है, न बदलते है। वे एक-दूसरे को नही सताते। एक-दूसरे को सुख-दु ख उत्पन्न करने मे असमर्थ है। इन्हे मारने वाला, मरवाने वाला, सुनने वाला, सुनाने वाला, जानने वाला, या वर्णन करने वाला कोई नही। जो कोई तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का सिर काट डालता है, वह उसका प्राण नही लेता। इतना ही समझना चाहिये कि सात पदार्थों के बीच के अवकाश मे शस्त्र घुस गया है।'

'आपने पदार्थ को स्वयम्भू देखा, आर्य कात्यायन। आपने सत्ता की परम स्वतत्रता को साक्षात् किया। आप द्रष्टा है, आचार्य कात्यायन। सत्ता आपके ज्ञायक आत्म मे प्रत्यक्ष झलक रही है। पदार्थ परस्पर के कर्त्ता नही, सम्यक् है आपका यह अवबोधन। हर पदार्थ परम स्वतत्र है। समीचीन है आपका यह दर्शन। आप सत् के समक्ष खडे है, आर्य कात्यायन!'

'आर्य महावीर ने मेरी स्वतत्रता को स्वीकारा, मैं कृतज्ञ हुआ अर्हत् जिनेन्द्र का।'

'लेकिन कूटस्थ है पदार्थ, तो उसमे परिवर्तन क्यो कर है, देवानुप्रिय? पदार्थ मे गति क्यो कर है? जो अभी प्रकट है, वह अगले ही क्षण लुप्त भी हो सकता है। गति है, परिणमन है, पर्याय का प्रवाह है, कि आप नैमिषारण्य से यहाँ आये न। कूटस्थ मे यह क्रिया कैसे हुई?'

आर्य कात्यायन सोच मे पड गये। श्री भगवान् फिर बोले

'और वर्णन भी आपने किया ही पदार्थों का। आपका कथन स्वयम् प्रमाण है। स्थिति भी, गति भी। कूटस्थ भी, क्रियाशील भी। ध्रुव भी, परिणामी भी। नही तो सृष्टि कैसे जारी है? क्या यही वस्तु-स्थिति नही, आर्य कात्यायन! प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या?'

आचार्य कात्यायन उद्बुद्ध, अनाग्रही, ग्रहणशील दीखे। वे एक टक प्रभु की नासाग्र दृष्टि मे खो रहे। कि फिर श्री भगवान् वाक्मान हुए

'और शस्त्र यदि वास्तव मे किसी को छेद नही सकता, प्राणघात नही कर सकता, तो जगत् मे हिंसा-प्रतिहिंसा, घात-प्रतिघात, युद्ध और रक्तपात

क्यों ? यदि इसी वक्त आपका सर कोई काट दे तो ? क्या वह कटेगा नही, आपको दु ख नही होगा ?'

'वह प्रहार शून्य मे होगा, मेरे जीव मे नही। मेरा जीव अवेध्य है, अछेद्य है।'

'आत्मस्थ है आर्य कात्यायन ! आपका आत्म अछेद्य है, लेकिन शिरच्छेद यदि अनिवार्य सामने आ जाये तो उसका क्या ? इसी से कहता हूँ कि अपेक्षा से तत्त्व छेद्य है, अपेक्षा से अछेद्य है। क्या यही वस्तु-स्थिति नही, देवानुप्रिय ?'

'यह निर्णय तो आगे अपने अवबोधन से ही कर सकूँगा, देवार्य।'

'सम्यक् सम्बोधि की ओर अग्रसर है, आर्य कात्यायन। सम्यक् द्रष्टा आर्य कात्यायन जयवन्त हो !'

आचार्य प्रक्रुध कात्यायन का मस्तक बरबस प्रभु को झुक गया। वे श्रमण प्रकोष्ठ मे आसीन हुए।

○ ○ ○

श्री भगवान् ने सम्बोधन किया

'विक्षेपवादी सजय वेलट्ठि-पुत्र की शास्ता को प्रतीक्षा थी !'

'निगठ नातपुत्त की इस महानता से मैं अपरिचित नही। उनके दर्शन की इच्छा थी, सो चला आया।'

'जातवेद है आर्य सजय, महाभाव मे विचरते है।'

'साधुवाद, भदन्त महावीर, आपने मुझे समझा, आपने मुझे जाना।'

'आचार्य सजय परिव्राजक, जानता हूँ, आप आर्य सारिपुत्र और आर्य मोद्गल्यायन के गुरु हैं ! वे दोनो आप को छोड कर तथागत बोधिसत्व के शरणागत हो गये। आपकी निरन्तर अतिक्रान्ति मे वे आपके साथ न चल सके। आप वेद, वेदान्त, बोधिसत्व, कैवल्य, अर्हत्—तमाम वाद और शब्द का अतिक्रमण कर गये। आपका यह निरालम्ब और मुक्त ऊर्ध्वारोहण महावीर को मुग्ध करता है।'

'लोक मे केवल अनन्त पुरुष अर्हन्त महावीर ही इसका साक्ष्य दे सकते है। जो सुना था, वही यहाँ आ कर देखा प्रत्यक्ष। सर्वज्ञ अर्हन्त यहाँ विराजमान हैं'।

'अपना ज्ञान सुनाये महर्षि सजय वेलट्ठि-पुत्र !'

'आप से वह अनजाना नही। फिर भी जो देखा, जाना, समझा है, वह कहता हूँ। कोई मुझ से पूछे कि क्या परलोक है, और मुझे ऐसा लगे कि

परलोक है, तो मैं कहूँगा—हाँ। परन्तु मुझे वैसा नही लगता। मुझे ऐसा भी नही लगता कि परलोक नही है। औपपातिक प्राणी–देव और नारकी–है या नही, अच्छे, बुरे कर्म का फल होता है या नही, तथागत या अर्हन्त मृत्यु के के बाद रहता है या नही, इसके विषय मे मेरी कोई निश्चित धारणा नही। चरम सत्य कैसे कथ्य हो सकता है, देवार्य ? जो जितना देख-जान रहा हूँ, उतना ही कह रहा हूँ।'

'सत्ता अनैकान्तिक है, सो वह अनन्त है, आर्य सजय। इसी मे अन्तत वह अनिर्वच ही है। धारणा से नही, साक्षात्कार से ही सम्यक् और पूर्ण दर्शन-ज्ञान सम्भव है। और सम्यक् दर्शी प्रतिबद्ध कैसे हो सकता है। जो अप्रतिबद्ध है, वही मुक्त दर्शी है, मुक्त ज्ञानी है, वही जीवन्मुक्त है। आप जो देख, जान, जी रहे है, वही कह रहे है। आप अनेकान्त दर्शी और स्याद्-वादी है। आप सम्यक् दर्शन की विभा से मण्डित है, महर्षि वेलट्ठि-पुत्र ! महावीर ने अपना ही एक और भी आयाम देखा। वह कृतार्थ हुआ, आर्य वेलट्ठि-पुत्र।'

आचार्य सजय वेलट्ठि-पुत्र के मुख मे बरबस जयघोष उच्चरित हुआ

'त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ महावीर जयवन्त हो !'

और सारे समवसरण मे अगणित कण्ठो ने इसको अनुगुंजित किया।

श्री भगवान् सन्मुख सोपान से उतर कर चारो आचार्यों का अभिवन्दन झेलते हुए, समवसरण के सारे मण्डलो मे परिक्रमा करते हुए, मानस्तम्भ के पार ओझल हो गये। □

# ६

## श्रीसुन्दरी मृत्तिका हालाहला

आर्यावर्त के आकाश पर एक प्रति-तीर्थंकर बोल रहा है।

उत्तरावर्त के इस छोर से लगा कर, पूर्वांचल के उस छोर तक उसके उद्दण्ड उच्चार गूंज रहे है। गगा, यमुना, सरयू और शोण के पानी एक प्रकुद्ध युवा की आक्रोश-वाणी से विक्षुब्ध हो उठे है। उस गर्जना की गूंज तथागत बुद्ध और तीर्थंकर महावीर की धर्म-पर्षदाओ मे भी पहुँची है। उत्तरावर्त के सारे जनपदो मे—काशी, कोशल, कौशाम्बी, वैशाली, मगध, अग, बंग तक के तमाम प्रदेशो मे, एक सनसनी-सी फैल गयी है। सारे स्थापित वादो और उपदेशो की चूलें उसने हिला दी हैं। आर्यावर्त के सारे जन-मानस मे उससे एक उथल-पुथल मच गई है।

उस काल के महानगरो के चौराहो पर उल्लम्ब बाहु खडा हो कर वह प्रति-तीर्थंकर उद्घोष करता सुनाई पडता है

'सुनो रे सुनो भव-जनो, तुम्हारा एकमेव परित्राता आ गया। साक्षात् औषधीश्वर आ गया। चरम औषधि-पुरुष हूँ मैं। तुम्हारे तन, मन, प्राण, इन्द्रिय और आत्मा के सारे रोगो का रामबाण इलाज केवल मेरे पास है। आज के अन्य सारे तीर्थक् उधार धर्मी है। वे भविष्य, परलोक, मुक्ति की झूठी आशा पर तुम्हें टाँगें रखते है।

'मैं हूँ प्रति-तीर्थंकर! उन सारे तीर्थंको द्वारा रचे गये भ्रमो को मैं भंग करने आया हूँ। मै तुम्हे भविष्य की आशा मे नही भरमाता। मैं हूँ तुम्हारा वर्तमान। मै अभी और यहाँ तुम्हारी दैविक, दैहिक, भौतिक सारी व्याधियो को अचूक मिटाने आया हूँ।

'*नत्थि पुरिस्कारे, नास्ति पुरुषकार। नियया सव्व भावा।* कोई पुरुषार्थ यहाँ सम्भव नही। सारे भाव, सारे अस्तित्व यहाँ पहले से ही नियत है। इसी से कर्म-फल नही। पाप-पुण्य नही। लोक-परलोक नही। मोक्ष नही, निर्वाण नही। केवल वर्तमान ही सब कुछ है। इसे छक कर उन्मुक्त भोगो। वीणा बजाओ, और मौज करो। चरम पान करो, चरम गान करो, चरम नृत्य करो, चरम पुष्पोत्सव करो, चरम सभोग करो। खाओ-पिओ और मजे उडाओ।

'किसने देखे हैं जन्मान्तर, लोक-परलोक, मोक्ष-निर्वाण ? सारे लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, मोक्ष-निर्वाण, सब मेरी इस झोली मे है। तुम्हारे सारे रोगों की औषधि मेरी इस झोली मे है। मेरे पास ज्ञानांजन-शलाका है। आँज दूँगा तुम्हारी आँखो मे, तो सारे अज्ञान के आवरण छिन्न हो जायेंगे। लोक-परलोक, संसार-निर्वाण के सारे रहस्य खुल जायेंगे। अभी और यहाँ तुम सारे भव-तापो से त्राण पा जाओगे।

'मैं हूँ प्रति-तीर्थंकर ! सारे वर्तमान तीर्थंकरो का घट-स्फोटक। तुम्हारे घट-घट की जानने वाला एक मात्र सर्वज्ञ अर्हन्त। मैं हूँ एक मात्र उपाय। तरण-तारण, भव-निवारण, महाभविष्यत्—केवल मैं।'

कौन है यह प्रति-तीर्थंकर, जिसने सारे वर्तमान आर्यावर्त मे खलबली मचा दी है ? जिसने सारे ढाँचो, धारणाओ और धाराओ को तोड दिया है। कौन है यह दुर्दान्त नियति-पुरुष ?

○ ○ ○

आज से सोलह वर्ष पूर्व की बात है।

अचीरवती के तट पर देव-द्रुमो की छाया मे, एक सुन्दर नग्न युवा बैठा है। जाने कितनी राहो की धूलि से उसका गौर सुकुमार तन धूसरित है। जाने कितने अडाबीड अरण्य-पथो के काँटे उसकी पदत्राणहीन पगतलियो मे चुभे हैं। फटी बिवाइयो से उसके पगतल लोहियाल हो गये है।

कल सन्ध्या मे एक लम्बी यात्रा से थके-हारे आ कर, उसने इस नदी-तट के देव-द्रुम वन मे विश्राम लिया था। थक कर चूर था। सो जिस शिला तल पर वह अभी बैठा है, उसी पर वह लेट गया था। और उसे तुरन्त नींद आ गई थी। नदी की कल-कल जल-ध्वनि सारी रात उसके सपनो मे जाने कितनी पुरातन स्मृतियाँ जगाती चली गई।

सबेरे भिनसारे ही उसकी नींद खुल गई। वह उठ बैठा। अचीरवती के शान्त बहते जलो पर, फूटते दिन की जामुनी आभा मे, वह अपने सुदूर अतीत को चित्रपट की तरह खुलते देखने लगा। महुआ-वनो की फूल-गंध से मदभीनी सबेरे की अलस मथर हवा मे, जाने कितनी यादे जाग रही है। उसका मन सम्वेदन मे बहुत करुण कातर हो आया है। वह अपना अनु-प्रेक्षण करने मे डूब गया

कितना अकेला हूँ मै इस दुनिया मे। आदि दिन से आज तक अकेला ही तो रहा। वश, वृत्ति, माता-पिता, उद्गम, जन्म—सभी कुछ मेरा कितना विपन्न, कितना अस्तित्वहीन है। मै एक दीन-दरिद्र अनगार, यायावर भाट का बेटा—मख-पुत्र गोशालक। मख भाटो का वशज। जन्मजात भिक्षुक, भिक्षा-जीवी दासो की दलित-वीर्य सन्तान।

ऋषि-वंशी कुटीरवासी ब्राह्मण तो जाने कब से भिक्षावृत्ति त्याग कर, राजाओ और श्रेष्ठियो के क्रीतदास पुरोहित हो गये। उन्ही महर्द्धिको की तरह वे भी अब आरण्यक चर्या से च्युत हो कर, महानगरो की अट्टालिकाओ मे निवास करते हैं। लेकिन हम शूद्र कहे जाते मख-भाट, शुद्ध अपरिग्रही ब्राह्मण-वृत्ति से जीते है। हम घर नही बसाते, कोई परिग्रह नही रखते। राह-राह भटकते, काव्य-गान करते, चित्र आँकते हुए, हम महर्द्धिको और लोक-जनो का रजन करते हैं। घर-बार विहीन, अनगार, आवारा, यायावर, राह-राह के भिखारी। अविराम पथ-चारी। किसी नदी-तट पर या पथवर्ती पाथ-शाला मे कुछ दिन ठहर कर फिर आगे बढ जाते है।

हमारे पूर्वज मख-पुरुष मधुकरी करके जीते आये है। मधुमक्षिका की तरह गीत-गुजन करते है। अस्थायी मधु-नीड रचते है। कोई स्थायी निवास कही नही बनाते। मेरे पिता भी तो इसी वृत्ति से विचरते थे। आकाशवृत्ति, सच्ची ब्राह्मण वृत्ति। इतने निर्विशेष थे मेरे वे पिता, कि उनका नाम ही भूल गया है। बस एक मख-पुरुष, मेरे कोई नगण्य पिता। माँ का भद्रमुख मेरे चेहरे मे उतरा है, इसी से उसका नाम याद रह गया है–भद्रा। सच ही कितनी भोली, भद्रा थी वह। भद्रवर्गी प्रभु लोग तो भद्र होते नही, भौण्डे और भयानक होते है। केवल भद्र चेहरा रखते है। लेकिन मै शूद्र अभद्र भाट का बेटा, भीतर-बाहर से बस कोरा भद्र हूँ। अर्थात् नितान्त मूढ हूँ विशुद्ध मूर्ख। शूद्रा भद्रा का जाया। इसी से मेरे गुरु श्रमण महावीर भी तो प्राय मुझे 'भद्रमुख' कह कर सम्बोधन किया करते थे।

याद आ रही है अपने जन्म की कथा। मेरे माता-पिता उन दिनो ऐसा ही अस्थायी मधु-नीड रच कर मगध के सरवण ग्राम मे, गोबहुल नामक धनी ब्राह्मण की गोशाला मे निवास करते थे। पिता दिन भर 'सावनी' या 'शारदीया मधुकरी' माँगते फिरते, और सन्ध्या को उसी गोष्ठ मे आ कर, अपनी पत्नी भद्रा के साथ निवास करते। गोबहुल की उस गोशाला मे ही मेरा जन्म हुआ। इसी से गोशालक नाम पाया।

दस-बारह वर्ष की उम्र तक अपने पिता से ही मैंने कुछ विद्या सीखी। व्युत्पन्न था, सो थोडे मे ही बहुत सीख गया। और फिर उन्ही के साथ द्वार-द्वार डोल कर मख-वृत्ति करने लगा। स्पष्ट याद आता है, मेरे पिता बडे ज्ञानी-गुणी जन थे। कई गुह्य विद्याएँ वे जानते थे। यायावर जीवन मे देश-देशान्तर भटकते हुए, कई गुप्तवेशी गुणीजनो से टकरा जाते। उनकी सेवा करते, और उनसे अनमोल विद्याओ के खजाने पा जाते। झाड फूंक, ओझागीरी, मत्र-तत्र, ज्योतिष, भूत-प्रेत-निवारण, परलोक-विद्या, रत्न-विज्ञान, औषधि-विज्ञान। अगम वनो मे उगने वाली दुर्लभ औषधि-वनस्पतियो की पहचान।

मेरे पिता के पास एक औषधि-मंजूषा थी। उसमे अनेक मान्त्रिक वनस्पतियाँ थी, अति सूक्ष्म और प्रभावी रसायन गुटिकाएँ थी, नाग-मणियाँ थीं, कई मारक सरिसृप-विषो की शीशियाँ थी, उपल और रत्नचूर्ण थे, अदृश्य अलभ्य जगली पशुओ और पक्षियो की आँखे, सीग, पख, चर्म थे। इनमे आश्चर्यजनक शक्तियाँ भरी पडी थी। याद आता है, उनके पास कई कुण्डलियो मे गुजल्कित एक अभिन्न सर्प-युगल के आकार का वनस्पति-काष्ठ था, जिसका एक छोर नाग था, तो दूसरा नागिन। उसे सामने रख कर वे प्रकृति की अनेक निगूढ शक्तियो के अन्वेषण मे लीन रहते। नर-नारी सम्बन्ध की अटूटता का स्रोत खोजने रहते। एक ऐसा अगणित पहलुओ वाला स्फटिक गोलक उनके पास था, जिसमे दृष्टि स्थिर कर वे महर्द्धिकों और नागरिको का भविष्य भाखा करते थे। एक ऐसा दर्पण बनाने की विद्या वे जानते थे, जिसमे अपना चेहरा देखते ही मनुष्य को अपने जन्मान्तर याद आ जाये। पर वे अपनी दरिद्रता के कारण, व सारे साधन न जुटा सके थे, जिनमे वे उसके लिये आवश्यक दुर्लभ रत्न-वनस्पति-खनिज-रसायनो की खोज कर सकते। और बेघर होने से कोई स्थान भी उनके पास न था, जहाँ वे अपने रासायनिक प्रयोग कर सकते।

इस कारण पिता का मन बहुत उदास रहता था। केवल दैन्य के कारण, विद्या जानते हुए भी वे उसे सिद्ध न कर पा रहे थे। भाट, कथक, नट, कारु-नट, कवि, चित्रकार, बहुरूपी—मेरे विद्याधर पिता, केवल द्वार-द्वार के अपमानित तिरस्कृत याचक, भिखारी। अभाव, अपमान और अवज्ञा के इस दश का विष आज भी मेरी नाडियो और पसलियो मे रिस रहा है। भद्रो, अभिजातो, राजाओ, श्रेष्ठियो के गोल-मटोल मूर्ख भौंतरे, भावहीन चेहरो के सुन्दर नकली चित्र आँकना। उनकी विषय-लोलुपता को तृप्त करने के लिये पाशवी काम-क्रीडाओ के चित्र-सम्पुट तैयार करना, और उनके गुप्त कक्षो मे उन्हे दिखाते फिरना। दुपहरियो के सन्नाटे मे, जब भद्र पुरुष वर्ग बाहर कर्म-रत होते, तब रनिवासो और हवेलियो मे रानियाँ और सेठानियाँ चुपचाप, राह मे गाते घूमते हम पिता-पुत्र को अपने एकान्त अन्त पुर मे बुला लेती। और काम-क्रीडा के चित्र-सम्पुट देखन मे गहरी रुचि लेती। नये-नये सम्भोग-चित्र बना लाने को कहती। और बदले म हम अगले दिन के आहार का सीधा पा कर, या उनके उतरे वस्त्र पा कर सन्तुष्ट हो जाते।

पिता की आज्ञा से मुझे भी यह सारा कुत्सित चित्र-कर्म करना पडता। तीव्र ग्लानि और विरक्ति से मेरा निर्मल किशोर मन उद्विग्न हो उठता। त्राहि कर उठता। इसी प्रकार इन महर्द्धिक भद्रो की प्रशसा मे कविता और गान भी मुझे रचने होते थे, पिता के साथ-साथ ही। पिता अपने इकतारे के एक तार मे ऐसा मोहक निगूढ सगीत जगाते थे और ऐसी तन्मयता से

गाते थे, कि ऋतु और प्रकृति एक अनोखे भाव और रस से भीज जाती थी। मुझे भी उन्होंने अपनी काव्य-संगीत विद्या के कई गहन रहस्य सिखाये थे। पर इस बात से मेरा जी कण्ठ तक भर आता था, कि अपनी दिव्य गान्धर्वी सरस्वती का उपयोग हमे केवल भद्रो के भौण्डे मनोरजन, और स्तुतिगान मे करना पडता था।

थोडे ही वर्षों मे यह सब मुझे असह्य हो गया। मैं बहुत कटु और तिक्त हो चला। मैं जब भाट-वृत्ति करने को अकेला विचरने लगा, तो इन अभिजातो और कुलीनो की स्तुति मे व्यग-काव्य रचने और सुनाने लगा। व्यग-स्तुति-गान गाने लगा। उन्ही चिकने स्त्री-पुरुषो के चेहरे और शरीर ज्यों के त्यो आँक कर, उन्ही की नगी काम-क्रीडाओ के आक्रामक चित्र रचने लगा।

परिणाम यह हुआ कि मैं उन महलो और हवेलियो से धक्के और घूँसे मार-मार कर निकाल दिया जाता। कई बार तो लहू-लुहान हो कर लौटता। ऊपर से पिता की मार भी खानी पडती। क्योकि मेरी इस विद्रोही वृत्ति से उनकी आजीविका चौपट हो गई थी।

आखिर एक दिन आजिज़ आ कर मेरे पिता ने मुझे मार-पीट कर निकाल दिया, और कहा कि अपना काला मुँह अब हमे कभी न दिखाना।

याद आता है, उस दिन मेरा कोमल हृदय सदा-सदा के लिये टूट गया था। मुझे लगा था, कि ससार मे मेरा कोई नही है, मैं किसी का नही हूँ। मेरा अस्तित्व निरर्थक है। मेरा जीना निस्सार है। मैं क्यो जीऊँ, कहाँ जीऊँ, किस लिये, किसके लिये जीऊँ? क्यो है यह जगत, क्यो है यह जीवन? क्या लक्ष्य है, क्या अर्थ है इन सब का? इन प्रश्नो का उत्तर पाना होगा, या फिर आत्मघात कर लेना होगा।

और इस यातना के छोर पर पहुँच कर, मुझ मे एक दिन हठात् एक अदम्य अस्तित्व-बोध जाग उठा। मै हूँ मै कोई विशिष्ट हूँ। इन सारे प्रभु-वर्गों से बडा कोई प्रभु हूँ मै। मैं अपने लिये काफी हूँ। मै कुछ करके दिखा दूँगा। मै कुछ हो कर रहूँगा। मै इन सारे प्रभु-वर्गो का प्रभु!

और मै अपने को कुछ बनाने की दिशा मे स्वतन्त्र पुरुषार्थ करता हुआ, देश-देशान्तरो मे भटकने लगा। लेकिन पाया कि कोई अटल नियति थी, जो मेरे सारे मनसूबो को चूर-चूर कर देती थी। एक कराल-कुटिल भाग्य-रेखा को, अवार्य नागिन की तरह अपने चारो ओर फुँफकारते देखा। निरुपाय, बेदम, सर्वहारा, आत्महारा मै भटकता ही चला गया। भूत मात्र के मित्र, महाकारुणिक श्रमण वर्द्धमान का नाम मैंने सुना था। चण्ड कौशिक

सर्प और शूलपाणि यक्ष जैसे पीडको को भी उन्होंने अपने प्यार की गोद मे शरण दी थी । ' जाने-अनजाने मैं उन्ही की खोज मे मारा-मारा फिरता रहा ।

○ ○ ○

' कि आज से छह वर्ष पूर्व, नालन्द की तन्तुवाय शाला के श्रमणागार मे एकाएक उनसे भेंट हो गई। उनका वह दिव्य रूप देख कर मैं भोला भान-भूला सा हो रहा। पिता से जो वाचिक काव्य-विद्या सीखी थी, उस मे अनेक उपमा-उपमान, अलकार, सुन्दर आकार-प्रकार की बाते सुनी थी। ईश्वरो, देवो, गन्धर्वों के अलौकिक रूप-सौन्दर्य की काव्य-प्रसिद्धियाँ रटी थी। लेकिन इस आर्य के सौन्दर्य के सामने वे सारे उपमा-उपमान फीके पड गये। कामदेव का कल्पित और सारभूत सौन्दर्य भी इसके आगे पानी भरता लगने लगा। मनुष्य की देह मे क्या ऐसा भी रूप हो सकता है ?

मैंने उन स्वामी का त्रिवार वन्दन किया, और उनके चरणो मे बैठ गया। मुग्ध-मद उन्हे निहारता ही रह गया। मुझे लगा, कि मेरी अनाथ आत्मा को उसका नाथ मिल गया। बस, अब इसी की शरण मे रहना है, इसी का अनुगमन करना है, और कही भटकना नही है।

मैंने विभोर हो कर उनसे विनती की, कि मै उनका चित्र आँकना चाहता हूँ। भौडे भद्रो के चेहरे आँकते-आँकते ऊब गया हूँ। चित्र मे उतारने लायक सौन्दर्य तो पहली बार देखा है। उत्तर मे उस आर्य ने केवल सद्य विकसित कमल-सी आँखो से मेरी ओर देखा। पर कोई उत्तर न दिया। मैंने अपनी तमाम काव्य-विद्या को चुका कर उसका स्तुतिगान किया। पर वह श्रमण अप्रभावित, अविचल पाषाण हो रहा। बहुत निहोरा किया कि उसकी कुछ सेवा करूँ। पर उसने कोई प्रतिसाद न दिया।

श्रमण की यह उदासीनता और भावहीनता देख, मेरा आर्त्त-रुद्र मन रोष और विद्रोह से भर आया। आखिर तो वही अभिजात भद्र राजवशी है न? वैशाली का देवाशी राजपुत्र यही तो इसकी काव्य-प्रसिद्धि सुनी है। घृत-नवनीत, मलाई मेवा से सुपोषित चिकना चेहरा, हृष्ट-पुष्ट शरीर। राज-महल की मुलायम शैया मे लालित-पालित सुकुमार काया। उसी से तो इतना चिकना, सुन्दर हो गया है यह आर्य। मैं मर्ख भावावेश मे आ कर इसमे दिव्य सौन्दर्य देखने लगा। इसमे तो कोई भाव नही, सवेदन नही, कोमलता नही, मेरा दर्द तो इसे कही से भी छ न सका। निरा पत्थर है। बहुत बोलूँ, तो बस—'हूँ'—करके फिर मौन हो जाता है। मेरी ओर देखता तक नही। ऐसे ही दिन बीतते चले गये।

लेकिन प्रथम बार जब मैंने इस आर्य को सम्बोधित किया था, तब जिन विकच पद्म जैसी आँखो से मुझे इसने एक टक क्षण मात्र देखा था, वे

आँखें भूलती नही है। कैसी करुणार्द्र विस्फारित हो कर वे आँखे मेरे चेहरे पर छा गयी थी। कैसा अकारण वात्सल्य था उनमे। उन आँखो मे कुछ ऐसा था, कि उन्हे याद कर मेरा क्रोध, कटुता और द्रोह गल जाता था। मै मन ही मन कहता—यह मेरी निरन्तर उपेक्षा करता है, फिर भी बार-बार अत्यन्त आत्मीय लग आता है। एक ही तो ऐसा वल्लभ इस निर्मम जगत के वीरान मे मिला है। मेरे मन की ऊपरी पर्तों मे अनेक विक्षोभ चलते रहते थे। लेकिन भीतर कही तह मे आर्य महावीर के चरण गहरे उत्कीर्ण हो गये थे। सो मै उनका अगभूत हो कर उनके साथ ही छाया की तरह विचरने लगा। उन्होने मुझे टोका नही, रोका नही, यही क्या कम था। लगता था, जैसे उन्होने मुझे अपना लिया है। इसी से तो मेरी सारी बक-झक धैर्यपूर्वक सुनते है। कभी वर्जन नही करते, भर्त्सना नही करते। मेरी व्यथा-कथा का ऐसा धीर और आत्मीय श्रोता तो मुझे जीवन मे कभी मिला नही था। सो एक पल भी उनसे दूर रहने मे मुझे वेदना होती थी।

लेकिन फिर यह क्या हुआ, कि एक दिन अचानक मुझ से बिना कहे ही वे नालन्द मे विहार कर गये। मैं बाहर गया था, लौट कर पता चला कि वे तो चले गये है, और लौटना वे नही जानते। मुझ पर जैसे वज्राघात-सा हुआ। मुझे धोखा दे गये श्रमण महावीर? मेरी प्रीति को ठुकरा गये? सनाथ करके भी फिर अनाथ कर गये? अकेला रोता छोड कर चले गये? पर मै उन्हे कैसे छोड सकता हूँ। मेरा मन-प्राण बहुत उचाट हो गया। क्यो न उन्ही जैसा निर्ग्रंथ हो जाऊँ। शायद तभी वे मुझे अपनायेगे। सो मैंने झोली-डण्डा, कुण्डिका-उपानह आदि सब सखवेश त्याग दिया। मस्तक मुँडवा लिया और उन्ही जैसा नग्न हो कर, उनकी खोज मे निकल पडा।

काल्लाग सन्निवेश मे पहुँच कर पता चला, कि वहाँ के विजय श्रेष्ठी के घर एक निगठ श्रमण ने मासोपवास का पारण किया, तो श्रेष्ठी के घर पच आश्चर्य हुए, सुवर्ण वृष्टि हुई। मेरे स्वामी के सिवाय और किसका ऐसा प्रताप हो सकता है? सो मै उनकी खोज मे दौड पडा। नगर के उपान्त मे उन्हे कायोत्सर्ग मे लीन देखा। उनके चरणो मे लोट कर रो पडा। ओह, उन शिलीभूत चरणो मे भी कैसी ऊष्मा थी! अपनी माँ के स्तनो मे भी शायद ही कभी वैसी ऊष्मा मैंने अनुभव की होगी। फिर मै उनके सग हो लिया। मेरी नग्न मुद्रा शायद उन्हे अच्छी लगी हो। लेकिन उन्हें तो कुछ भी न प्रिय है, न अप्रिय है। जो भी हो, उनकी वह विकसित कमल जैसी दृष्टि ही मेरे लिये काफी है। और उनके समीप हूँ, तो जीवन जीने योग्य लगता है। सो मैं फिर पूर्ववत् उनके सग छाया-सा विचरने लगा।

लेकिन उनमे और मुझमे एक भारी अन्तर था। वे खाये-पिये घर के परितृप्त, हृष्ट-पुष्ट अभिजात थे। पर मैं तो एक दरिद्र कगाल मख-पुत्र था। मेरे भीतर तो अभाव और बुभुक्षा की खाइयाँ फैली पडी थी। मै तो जनम-जनम का अतृप्त और भूखा था। मेरी भूख, काम और क्रोध जिघासा हो कर भडकते रहते थे। श्रमण महावीर तो प्राय उपासे रहते थे। मानो जनम-जनम में इतना खा चुके थे, कि उन्हे भूख लगती ही नही थी। इतना भोग चुके थे, कि उन्हें कोई इच्छा रह ही नही गयी थी। सो जब भी मै उनसे कहता कि भन्ते, भूख लगी है, भिक्षाटन को चलें।—तो वे कोई उत्तर न देते। 'हूँ' करके रह जाते। उन्हे भूख न भी हो, पर मेरी भूख की भी वे अवहेलना कर देते थे। इससे मै बहुत पीडित, मर्माहत हो रहता। ये कैसे स्वामी है मेरे, कि मेरी पीडा मे इनका कोई सरोकार नही! मै भीतर ही भीतर रोष से उबलता रहता, पर उन्हे छोड कर जाने को ठौर भी कहाँ थी।

वे तो जब कभी महीनो के उपवास के बाद पारण करते, तो देव-दुदुभि का घोष होता, पचाश्चर्य होते, सुवर्ण वर्षा और जयजयकार होती। लेकिन क्या मेरी भूख-प्यास और इच्छा का इस जगत मे कोई मूल्य नही? मै एक तीखे कटु विद्रोह से आकण्ठ भर उठता। पर किसे गुहारता। महावीर यो भी उस छद्मस्थ तपस्याकाल मे अखण्ड मौन विचर रहे थे। सो मेरे कुछ भी पूछने या विनती करने पर वे तो उत्तर देते नही थे। उत्तर कही और से सुनाई पडता था किसी पहाड, झाड, जगल या नदी से। लेकिन वह उत्तर तो महावीर का ही होना था, इसमे रच भी सन्देह नही था।

O O O

आज जब उनसे बिदा ले कर चला आया हूँ, तो वे सारे प्रसग एक-एक कर याद आ रहे है, जब मैने भी महावीर के साथ अनेक अमानुषिक यातनाएँ झेली, प्रहार सहे। याद आ रहा है, कि जब भी मैं अपने भिक्षाटन या भोजन प्राप्ति के बारे मे पूछता, तो वे भविष्यवाणी कर देते थे। और वही सच होता था। मानो कि सब कुछ कही नियत था ही, केवल दूरदर्शी महावीर उसे देख कर कह भर देते थे।

याद आता है, नालन्द मे वार्षिकोत्सव के दिन उन्होने आगाही की थी कि मुझे भिक्षा मे मधुरान्न न मिलेगा, कोद्रव, कूर धान्य और दक्षिणा मे खोटा सिक्का मिलेगा। और वह सच ही हुआ। सारे नगर मे मोदक और पायस का पाक हुआ था। केवल मुझे ही मिला था वह नीरस आहार। मेरे इस दैन्य-दुर्भाग्य पर क्या महावीर को दया आयी? बस, एक पत्थर जैसी क्रूर भविष्यवाणी ही तो करके वे रह गये थे। एक नियति थी, जिसके आगे सर्वजित् महावीर भी तो पराजित ही थे।

स्वर्णखल के मार्ग मे यात्रियो को खीर पकाते देख मेरी भूख लपलपा उठी थी। तो हठात् स्वामी ने थप्पड की तरह कहा था—यह खीर न पकेगी, हँडिया फट जायेगी। वही हुआ। और धूल मे मिला कुछ पायस यात्रियो ने दया करके मुझे भी एक ठीकरे मे डाल दिया था। वही एक अनिवार्य नियति। और मै उसके आगे कितना विवश! और महावीर भी उसे टालने मे असमर्थ! ब्राह्मण-ग्राम मे उपनन्द भू-स्वामी की दासी ने मुझ पर बासी भात डाल दिया था। मेरे इस अपमान पर भी महावीर चुप रहे। मैंने अपने गुरु महावीर के प्रताप की दुहाई दे कर उपनन्द का घर जल कर भस्म हो जाने का शाप दिया। सच ही उसका घर जल कर राख हो गया। मेरी श्रद्धा मेरे गुरु पर उससे दृढ़तर तो हुई। लेकिन उनकी शरण मे भी मै कितना असहाय? यह बात बारम्बार जी को कचौटती रहती थी।

कोल्लाग और पत्रकाल ग्रामो मे हम दोनो ने परित्यक्त शून्य गृहो मे रात्रि वास किया था। स्वामी तो ध्यान मे डूबे थे। दर रात गये दोनो ही स्थानो पर ग्रामपति के पुत्र अपनी दासियो को ले कर, काम-क्रीड़ा करने आये। मैं चुपचाप उनकी केलि मे तल्लीन हो रस लेता रहा। उनके जाते समय मै कौतुक और काम-पीडा से चिहुका, तो उन दोनो ही ग्रामपति के पुत्रो ने मुझे बुरी तरह पीटा, दीवारो से पछाड़ा। मै प्रभु के चरणो मे जा पड़ा, लेकिन उस पत्थर के प्रभु को मुझ पर कोई दया नही आयी! मैने कुत्सित काम के नग्न वास्तव को खुली आँखो देखा और उसकी सवेदना मे सहभागी हुआ, तो मैंने क्या अपराध किया था? क्यो महावीर मेरी उस सत्य-निष्ठा को भी सहानुभूति न दे सके?

कुमार सन्निवेश मे भिक्षाटन करते हुए, पार्श्वापत्य श्रमणो के आडम्बर परिग्रह को देख, मैंने चौराहे पर चिल्ला कर उनके पाखण्ड का भण्डाफोड़ किया। तो ग्रामवासियो ने मार-पीट कर मुझे हँकाल दिया। चोराक ग्राम की सीमावर्ती पहाडी पर हम दोनो नग्नो को मूक ध्यानस्थ देख, गुप्तचर समझ, कोट्टपालो ने पकडा, और मुश्को से हमे आलिंगन बद्ध बाँध कर अन्धे कुएँ की दीवारो पर पछाडा। फिर भी उनके साथ जुड कर यातना सहने मे मुझे सन्तोष हुआ। मैंने उनके साथ अधिक एकात्मता अनुभव की। फिर भी वे तो मुझ से बेसराकार ही रहे। रच भी वे कभी द्रवित नही दीखे।

कृतमगल नगर के प्रत्यन्त भाग मे परिग्रही स्थविरो के कुल-देवता मदिर की वह उत्सव रात्रि याद आती है। सुरापान और नृत्य-गान मे परपुरुष और परनारी का भेद भूल, वे स्थविर आराधना के नाम पर उन्मत्त होकर मुक्त क्रीडा-केलि कर रहे थे। स्वामी मन्दिर के एक कोने मे ध्यानस्थ सब देखते रहे। पर मैं देव-पूजा मे उन स्थविरो का यह उच्छृखल दुराचार न

सह सका। मैंने बार-बार अट्टहास कर उनके अनाचार पर वाक्-प्रहार किये। उस तीखी हवाओ वाली शीत रात्रि मे बार-बार उन उपासको ने मुझे उठा कर बाहर के शीत मे फेक दिया। दन्तवीणा बजाता, दाँत किटकिटाता, मैं बाहर विलाप और प्रलाप एक साथ करता रहा। बार-बार किसी स्त्री को मुझ पर दया आयी, मुझे भीतर लिया गया। मैंने फिर वही अट्टहास-प्रहार किया, फिर वही दुर्गत। फिर एक स्त्री की दया। फिर उद्धार। सच, स्त्री कितनी बडी चीज है! क्या मेरे लिये कही कोई स्त्री इस पृथ्वी पर नही जन्मी? मेरा तो सारा भीतर-बाहर एक और नग्न था। मेरे काम-क्रोध-लोभ सब नंगे थे। मुझे क्या डर। मै सच्चा निर्ग्रंथ था। फिर भी मै मार खाता रहा, और मौन महावीर की जय-जयकार होती रही।

श्रावस्ती मे स्वामी ने आगाही की, कि मुझे भिक्षा मे उस दिन नरमास की खीर मिलेगी। मेरी सारी सावधानी के बावजूद पितृदत्त गृहपति की भार्या ने एक टोटका करने के लिये अपने मृतपुत्र के शव की खीर मुझे खिला दी। बाद को वमन होने पर पता चला, कि नरमास के आहार की मेरी वह नियति टल न सकी। कलबुक ग्राम में शैलपालक काल-हस्ति के यहाँ हम दोनो को एक साथ मुश्को मे बाँध कर, सर के बल औखल मे कूटने को डाला गया। लेकिन मूसलो के वार हवा खाँडने रहे। हमे छू न सके। लगा, सच ही मेरे गुरु महावीर मे जरूर कोई प्रताप है। अघात्य है यह आर्य। लेकिन मुझे तो मार खानी ही पड़ती है। और यह आर्य मुझे बचाता तक नही। लाढ, वज्र, शुभ्र आदि नरभक्षी म्लेच्छो के देशो मे हम विचरे। हम पर कुत्ते और साड छोड़े गये। हमारे मास नोचे गये। लहूलुहान मौन-मूक हम दोनो एकत्र यातना सहते रहे। श्रमण महावीर इन सारे उपसर्गों को कर्म-निर्जरा और मोक्ष की अनिवार्य परीक्षाएँ मान तितिक्षापूर्वक सब सहते थे। मै भी आस लगाये रहा, कि इस आर्य के साथ त्रास झेलते शायद किसी दिन मुझे भी मोक्ष मिल जाये। लेकिन अन्तहीन था उन कष्टो, प्रहारो, यत्रणाओ का वह क्रम। आखिर कब तक? लेकिन यह तो बराबर ही देखा, कि अटल को टाला न जा सका। कोई नियतिचक्र अनिर्वार चल रहा है। हम उसमे पिसने को विवश हैं। महावीर भी कहाँ उससे बच पाते थे?

जाने कितने ही प्रसग हैं—याद आते ही चले जाते हैं। महावीर की इस वीतरागता से ऊब कर, एक बार यातना सहते हुए थक कर, मैं जम्बू-खण्ड कूपिका से विहार करते हुए, प्रभु से विदा ले राजगृही के मार्ग पर चल पडा। प्रभु वैशाली की ओर। घनघोर अरण्य में राह भूल कर चोरो के अड्डे में फँस गया। उन्होने मुझे मार-मार कर धूलिसात् कर दिया, कि अवश्य मैं कोई नग्न भेदिया हूँ, और वे मुझे पीट कर किसी राजा या श्रेष्ठी

के खजाने का भेद पाना चाहते थे। उस समय प्रभु को याद कर, मैंने अपने विरहालाप से सारा जंगल थर्रा दिया। छह महीने इसी प्रकार अनेक यातनाएँ झेल कर, आखिर मैं फिर प्रभु की खोज मे भटकने लगा। और अन्तत भद्रिकापुर मे चन्द्रभद्रा के तट पर सप्तच्छद वृक्ष तले कायोत्सर्गलीन प्रभु को पाकर, मैं उनके चरणो मे लोट गया। आह, जैसे वे चरण मेरे ही लिये वहाँ प्रतीक्षा मे जडित रह गये थे। यह चट्टान-पुरुष भी कही भीतर इतना मृदु, इतना प्रियकर है, अनुभव करके मै विस्मय-विमूढ हो गया था उस दिन।

फिर आलम्भिका के वासुदेव मन्दिर मे, वासुदेव की मूर्ति के सम्मुख मेरा वह अपने काम-दण्ड का निवेदन। देख कर गाँव के लडको ने मुझे मार-मार कर अधमरा कर दिया। क्या अपराध था मेरा ? मुझ मे काम-वेदना थी, तो उसका वासुदेव निवारण न करे, तो कौन करे ? वीतराग महावीर तो काम को दाद देते नही। सो पूर्णकाम वासुदेव की शरण ली। लेकिन न वीतराग महावीर ने मेरी वेदना को प्रतिसाद दिया, न पूर्णराग वासुदेव न। तब समझ लिया कि धर्म मात्र पाखण्ड है, सत्य सदा कुचला जाता है, पाखण्डो की ओट असत्य की पूजा ही सर्वत्र होती है।

ऊष्णाक नगर की राह मे जाती एक बारात को देख, कुरूप वर-वधू को सामने पा कर, मेरी सौन्दर्य-चेतना पर आघात हुआ। मैंने उनकी कुरूपता पर खुल कर व्यग्य काव्य का गान किया। तो मार-पीट कर काँटो की झाडियो मे फेक दिया गया। मैंने प्रभु मे कहा--कुरूप को कुरूप कहना भी क्या अपराध है, भन्ते ? लेकिन भन्ते तो ऐसे जड-भरत थे कि कुरूप-सुरूप, सुन्दर-असुन्दर, सत्य-असत्य, सब को वे केवल देखते रहते थे। उन पर कोई प्रभाव पडता ही नही था।

याद आ रहा है, कूर्म ग्राम मे वैशिकायन तापस आतापना लेता हुआ, अपनी ही नीचे गिरती जूँओ का उठा कर फिर अपने सर मे वापस डाल रहा था। यह कैसी पैशाची तपस्या थी। मैल के जतुओ की दया पालने की यह मूढता मुझे असह्य हो गयी। मैंने प्रभु को लक्ष्य कर, उस तापस पर कडे व्यग्य-प्रहार किये। तो उसकी तपाग्नि भडक उठी। उसके प्रकोप से उसकी नाभि फट पडी, और उसमे से फूट कर एक महादाहक अग्नि की लपटो ने मेरे सारे शरीर मे ज्वालाएँ जगा दी। प्रभु ने मेरा असह्य दाह देख, दया मे मुझ पर जल-धाराएँ बरसा दीं। पूछने पर प्रभु ने बताया कि पहली अग्नि-लेश्या थी, दूसरी शीत-लेश्या थी। मैंने प्रभु से अग्नि-लेश्या प्रहार की सामर्थ्य पाने की कुजी पूछी। उत्तर मे वे केवल मुस्करा दिये। और साश्चर्य मैंने पाया कि मेरे भीतर, एक उग्र तपस्या द्वारा वह विद्या सिद्ध करने की विधि आपोआप ही उद्घाटित हो गई। कैसा चमत्कार, कि बिना बोले ही प्रभु ने

मेरे भीतर वह विद्या प्रकाशित कर दी। लेकिन शीतलेश्या का रहस्य पूछने पर वे मौन रहे। फिर सुनाई पड़ा वह कषायो के निर्मूल हो जाने पर योगी के प्रशम और करुणा के उद्रेक मे से स्वत फूट पड़ती है एक सर्वशामक जलधारा। उसकी कोई विधि नही।

O O O

मेरे मन मे एक भयकर निश्चय जागा। मै तेजोलेश्या सिद्ध करूँगा। मुझे भी मिल गई प्रभुता की कुजी। मेरे भीतर एक गहरे रहस्य का स्फोट हुआ प्रभुता केवल दम और शम की नही होती अदम, उद्दाम और विषम की भी होती है। कषाय का शमन नही, उसका चरम विस्फोटन ही मेरा मुक्तिमार्ग है। काम, क्रोध, भूख, प्यास, वासना की निर्बन्ध अभिव्यक्ति। उन्हे दबा कर अन्तिम रूप से नही जीता जा सकता। उन्हे नि शक निर्बन्ध खेल कर ही, उनसे सदा को मुक्त और निर्गत हुआ जा सकता है। मेरे भीतर जो बुभुक्षा की अतल खन्दक खुदी पडी है, उन्हे लाघा नही जा सकता, केवल भोग से उन्हे भरा और पाटा जा सकता है। कृतमगला के स्थविर-मन्दिर की उन्मुक्त केलि-क्रीडा का भी क्या महावीर ने विरोध किया? यही तो कहा था 'मुक्ति-मार्ग सब का अपना-अपना है। सब रास्ते वही जाते है।' तो मेरा भी अपना स्वतत्र मुक्ति-मार्ग हो ही सकता है। क्या बार-बार मौन रह कर, प्रभु न मुझे स्वभावानुसार विचरने की छूट और अनुमति नही दी?

और जो भी कष्ट-भोग सामने आया, उसे क्या महावीर भी टाल सके? वे तो अपने ही को न बचा पाये, तो मुझे क्या बचा पाते। और यह भी तो हुआ था, कि उन्हे तो वैशाली के देवाशी राजपुत्र कह कर सब ने उनके आगे मत्थे टेक दिये। लेकिन मुझ अनाथ अकिंचन को तो सबने मनमाना मारा-पीटा ही। दीन-दुर्बल, दलित-पीडित और गरीब का यहाँ कोई नही। सन्यासी हो गये तो क्या हुआ। राज-वशी महावीर ही सदा पृथ्वी पर प्रभुता भोग सकते है!

स्वयम् महावीर ने अग्नि-लेश्या का रहस्य मुझ मे खोल कर, चुपचाप मुझे सुझा दिया, कि अपनी जन्मान्तरो की सचित यत्रणा और अवदमित वासना का विस्फोट ही मेरी एक मात्र शक्ति हो सकता है। एक मात्र प्रभुता। महावीर यदि तीर्थंकर है, तो मै प्रति-तीर्थंकर हो ही सकता हूँ। कोई प्रभुता यहाँ अन्तिम नही। हर प्रभुता की कोई प्रति-प्रभुता यहाँ अनिवार्य है। यही तो प्रकृति और नियति का अटल विधान है। महावीर के साथ भ्रमण के इन छह वर्षों मे क्या इसी सत्य का ज्वलन्त साक्षात्कार मुझे पद-पद पर नही हुआ?

मुझ मे एक अदम्य बोधोदय प्रज्ज्वलित था। और मैं सिद्धार्थपुर के मार्ग पर महावीर का अनुसरण कर रहा था। राह मे एक सात फूलो वाला तिल-

क्षुप देख मैंने प्रभु से पूछा क्या यह फलेगा? उत्तर सुनाई पड़ा · 'हाँ, फलेगा। इन सातो ही फूलो के जीव एक ही फली मे सात तिल होगे।' ··· कह कर प्रभु आगे बढ गये। मैने वह तिलक्षुप उखाड फेंका। चुनौती थी कि इस बार महावीर के कथन को व्यर्थ कर दूँगा। और मैं फिर प्रभु का अनुसरण कर गया। इस बीच अकाल ही वर्षा हुई, और हम चर्या करते हुए फिर उसी तिल-क्षुप की राह लौटे। चिह्नित स्थल पर तिलक्षुप न देख मैंने कहा भन्ते, वह तिलक्षुप नही फला। उत्तर सुनाई पड़ा . 'फला है, पास ही दूसरी जगह पर देखो।' उखाड़ कर जहाँ फेंक गया था, वहाँ तिलक्षुप जम कर फल आया था। एक ही फली मे सात तिल प्रत्यक्ष थे।

अन्तिम निश्चय हो गया पुरुषार्थ व्यर्थ है, नियति ही एक मात्र अटल सत्य है। स्वयम् महावीर ने उसका साक्ष्य दे दिया। फिर भी क्यो ये मुक्ति के लिये ऐसी दुर्दान्त तपस्या कर रहे हैं? क्यो इतने दारुण दु ख झेल रहे हैं? इसका निराकरण मेरे पास है। अग्निलेश्या। जीवन-वासना की अदम्य, अनिवार्य अग्नि। उसका विस्फोट। यही है गोशालक का मुक्ति-मार्ग। अब तक की सारी प्रभुताओ का प्रतिकार केवल मैं—मक्खलि गोशालक !

'अच्छा आर्य, अब मैं आप से बिदा लेता हूँ। आपसे अपने स्व-भाव का मूल मत्र पा गया। अग्निलेश्या। उसे सिद्ध करूँगा। और यदि मैं भी किसी दिन कुछ हो मका, तो फिर आप से मिलूँगा। आप यदि मेरा उत्तर न हो सके, तो मुझे स्वयम् अपना उत्तर हो जाना पड़ेगा!'

· वैशाली के देवाशी राजपुत्र ने कोई उत्तर न दिया। मेरी ओर देखा तक नही। मुझे पीठ दे कर, अपनी राह पर चले जाते दिखाई पड़े। और मैं कई दिनो, कई बियाबानो की खाक छानता, कल सन्ध्या मे यहाँ आ पहुँचा। अचीरवती के शीतल पवन, और शान्त लहरो ने मेरी थकान को सहलाया। नदी-माता ने इस देवद्रुम-वन की शिला का शयन मुझे दिया। अब सबेरे की प्रत्यूष बेला मे देख रहा हूँ दूर पर कोशलेन्द्र की ऐश्वर्यशाली राजनगरी श्रावस्ती अपने रत्न-कलशो से दमकती, ठुमकती, अलसाती, अगडाई भरती खड़ी है।

कितना बेसहारा, अकिंचन, अनाथ, फिर मैं अकेला अपने आमने-सामने हूँ। पर मेरे पास अमोघ अग्निलेश्या की रहस्य-कुजी है आज। लेकिन उसे सिद्ध करने को कोई आलय, कोई निलय, कोई प्रश्रय मुझे इस महानगरी मे कही मिलेगा?

अरे कही कोई है इस पृथ्वी पर, जो मेरे भीतर उठ रहे इस आर्त्तनाद को सुनेगा? कोई है कही, जो मेरी इस अनाथ वेदना को सनाथ करेगा? कोई है कही, जो मुझे समझेगा, पहचानेगा?··

· और बहुत निरीह, उदास, अकिंचन गोशाला महानगरी श्रावस्ती की ओर जाता दिखाई पड़ा।

○ ○ ○

मक्खलि गोशाल श्रावस्ती के राजमार्ग पर, अपनी पुरानी आदत के अनुसार भिक्षाटन कर रहा है। पर आज उसे न भूख है, न प्यास है। किसी भिक्षा की याचना भी मन में नही। बस, एक अबूझ पुकार उसमे उठ रही है। कोई अज्ञात खोज। उसे नही पता, वह क्या खोज रहा है। विमनस्क भाव से वह नाक की सीध मे चला जा रहा है। सामने बस केवल शून्य है।

कि अचानक एक जगह पहुँच कर उसके पैर रुक गये। उसने पाया कि वह किसी कुम्भकार की विशाल भाण्डशाला के सामने खड़ा है। विस्तृत सायबान तले चलते सैकड़ो चाको पर, कई कुम्हार माटी के भाण्ड उभार रहे हैं। ठीक केन्द्र के बहुत बड़े चक्र को चला रही है, एक अपरूप सुन्दरी कुम्हार कन्या। चाके पर, कई-कई चूड़ियो और भाँवरो मे से आकार लेते भाण्ड जैसा ही, नित-नव रमणीय है उसका लावण्य और यौवन। समुद्र-मन्थन मे से उठा आ रहा अप्सरा का उरोज-कुम्भ!

गोशालक के भीतर का बरसो से सोया कवि जाग उठा। महावीर के साथ तो तप करने और मार खाने मे उसकी कविता मर ही गई थी। पहले तो प्रभु वर्गों की चाटुकारिता ने उसकी सौन्दर्य-चेतना, कविता और चित्रकला को कुण्ठित कर दिया था। जड भोग मे आकण्ठ डूबे अभिजातो के अश्लील सौन्दर्य का रूपाकन करते-करते उसे तीव्र जुगुप्सा हो गयी थी। और जब पिता ने उसे धक्के देकर रास्ते पर फेक दिया, तो उसकी सवेदना और कविता अपनी अन्तिम मौत मर गई। फिर महावीर तो स्वयम् ही एक ऐसी कविता थे, कि उसकी आग मे भस्म होकर फिर नया जन्म लेना होता है। और कोई कविता वहाँ सम्भव ही नही थी।

आज उसका वही नया जन्म हुआ है क्या? चाके पर दण्ड टिकाये खेल-खेल मे कुम्भ उभारती तरुणी कुम्हारिन को देख, उसे अपने अगले-पिछले सारे भव ही भूल गये। उसने स्वयम् कविता को वहाँ अपनी रचना करते देखा। उसकी सुप्त काव्य चेतना ज्वारो-सी उमडने लगी। लम्बी, लचीली, साँवली देह मे सुनील जल-वलयो सा लहराता लावण्य। आदिम धरती की काली माटी में से सीधे आकार ले आयी, साँचे ढली, सुघर देह-यष्टि। यात्रा-पथ मे कही देखे सघन श्याम फलभार-नम्र जम्बूवन जैसा गदराया यौवन। कपिशा के काले अगूर-गुच्छ जैसी रातुल-श्यामल लावण्य प्रभा। काश्मीर की काले गुलाबो से व्याकुल घाटी। कृष्ण-कमलो से भरी कोई मकरन्द छायी पुष्करिणी। रस-सम्भार से अवनत अगो का कदली-गर्भ जैसा गोपन मार्दव और

स्निग्धता। प्रथम आषाढ के पुष्करावर्त मेघ मे से झरती घनी-घनी कादम्बिनी। और नील-लोहित वारुणी से छलकती, बडी-बडी कटीली काजल-सारी आँखे।

· गोशालक के मन मे जाने कितनी उपमाएँ उभरती चली आईं। और उसका जन्मो से सूखा और प्यासा मन रस की आर्द्रा मे भीग आया। उसकी चेतना मे एक अन्तिम बिम्ब उभरा। अरे, यह तो हाला भी है, और हलाहल भी है। उसके अपने भीतर चिरकाल से चल रहे समुद्र-मन्थन मे से उद्गीर्ण है जैसे यह कन्या सुरा भी, विष भी, अमृत भी, अप्सरा भी। और वह मन ही मन पुकार उठा अरी ओ हालाहला! और उस पुकार ने मानो कुम्हारिन को चौंका दिया।

कुम्हार कन्या मृत्तिका के हाथ से हठात् चक्र-दण्ड छूट गया। चाक पर चढा कुम्भ अधूरा ही चक्कर खाता रह गया। उसने देखा, कि द्वार पर कोई निगण्ठ श्रमण अतिथि हो कर आया है। सुडौल, गौर वर्ण प्रलम्ब देहयष्टी। माथे पर छल्लेदार कुन्तलो का जगल। आशीश-पात धूलि-धूसरित मलिन काया। बालक-सा निरीह, एकटक, भूला भौरा-सा वह उसी को तो ताक रहा है।

नागफणा-से अपने विशाल खुले केश जाल को एक ओर समेट बायें कन्धे से वक्ष पर डालती हुई, रूपसी मृत्तिका धीर-गम्भीर गति से द्वार पर आई। उसने हाथ जोड, अजुलि फैला कर माथे पर चढाते हुए श्रमण को सबोधित किया

'भन्ते श्रमण, तिष्ठ तिष्ठ, आहार-जल शुद्ध है, आहार जल कल्प है!'

ऐसा तीन बार कह कर उसने श्रमण को तीन प्रदक्षिणा दी, और बिना पीठ दिये श्रमण के सम्मुख ही पीछे पग चलती उसे अपनी पाकशाला मे लिवा ले गई। उन्हे सादर चौकी पर बैठा कर, चाँदी की थाली मे पाद-प्रक्षालन किया। फिर सारी देह का भी गन्धजल के लुछनो से मार्जन किया। उसके मन मे एक अनबूझ भक्ति-भाव अकस्मात् उमड आया। जाने कैसा एक अनुराग, एक ममता का उद्रेक, एक सम्वेदन, जैसा पहले कभी किसी के लिये उसके हृदय मे नही जागा था। उसके जी मे एक उत्सुक अनीला कुतूहल उठ रहा था निगण्ठ महावीर की प्रतिमूर्ति जैसा ही यह युवा श्रमण कौन है? कोई देव-माया तो नही?

गोशालक भी ठीक महावीर-मुद्रा धारण कर, मौन वीतराग नासाग्र नयनो से इस आतिथ्य को सहज स्वीकार रहा था। कुम्हारिन अजुलि भर-भर पायस, आम्र-रस, मेवा-मिष्ठान्न भिक्षुक के पाणिपात्र मे देती ही चली गई। भिक्षुक की भव-भव की भूख एक साथ जाग उठी। कुम्हारिन अविराम खिलाती गई, भिक्षुक छक-छक कर खाता गया।

हठात् दोनों की आँखें मिलीं। मृत्तिका ने देखा, अरे यह तो निरा बालक बटोही है। उसका मन जाने कैसी करुणा और पूर्वराग से भीना हो आया। गोशालक ने आँखें नीची कर लीं।

'भन्ते श्रमण, मैं मृत्तिका कुम्भारिन। मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।'

गोशालक ठीक महावीर की तरह मौन रह कर, अलक्ष्य ताकता रहा। मृत्तिका ने बार-बार निहोरा किया, मनुहार की। श्रमण की चुप्पी को स्वीकृति मान उससे पूछा

'भन्ते श्रमण, कहाँ विश्राम करेंगे? आज्ञा करें, तो व्यवस्था करूँ।'

गोशालक को लगा कि किसी ने उसके भीतर सोये प्रभु को जगा दिया है। उसमें एक अपूर्व आत्मनिष्ठा जाग उठी। अन्तर्मुहूर्त मात्र मे ही वह मानो दास मिट कर स्वामी हो गया। और ठीक स्वामी की मुद्रा मे बोला

'शुभागी, तुम केवल मृत्तिका नहीं, हालाहला हो। तुम्हारे जन्मान्तरो के पार देख रहा हूँ। जगत् के आदि प्रभात मे ही तुम हालाहला हो। यही तुम्हारा असली नाम है। महासमुद्र मे से एक दिन तुम वरुण-वारुणी की तरह अवतीर्ण हुई थी। तुम्हारी आँखो मे हाला भी है, हलाहल भी है। मै इन दोनो ही को पी कर तुम्हे मुक्ति देने आया हूं। जय हो तुम्हारी, सुन्दरी हालाहले!'

मृत्तिका के सारे शरीर मे रोमाचन की विद्युल्लेखाएँ खेल गइ। वह जाने कैसी ग्लाई से कातर हो आई। भरे गले मे बोली

'आज्ञा करे महानुभाव कुमार श्रमण, आपका क्या प्रिय करूँ?'

'मुझे एक छह मासी तपस्या करनी है, कल्याणी। तुम्हारे भाण्ड पकाने की जो अग्निशाला है, उसी की एक कोठरी मे आज से छह मास तक मेरा आवास रहेगा। और एक दिन देखोगी हालाहले, मेरी तपाग्नि ही तुम्हारी भाण्ड-भट्टिका मे प्रकट हो उठेगी। उस दिन से तुम्हारे प्रत्येक भाण्ड मे एक नया ब्रह्माण्ड आकार लेता जायेगा, मेरी तपोज्वाला मे नहा कर तुम्हारी मृत्तिका, तुम्हारा पिण्ड, तुम्हारे भाण्ड अमर हो जायेगे।'

'आश्चर्य भन्ते, आश्चर्य! यह कैसी चमत्कार वाणी सुन रही हूँ। कोई दैव वाणी, कोई आकाशवाणी!'

'तथास्तु कल्याणी। अपनी अग्निशाला के अन्तर कक्ष मे एक पुरुषाकार शिलासन बिछवा दो। उसी पर मै छह मास अखण्ड तपूंगा।'

'आहार-चर्या क्या होगी भन्ते?'

'छह माह तक छठ्ठ तप। छह दिन निर्जल निराहार उपवास। उसके बाद एक दिन कुल्माष और अजलि मात्र जल का पारण। फिर छठ्ठ तप,

फिर वैसा ही पारण। छह मास तक यही अटूट क्रम चलेगा। अविलम्ब व्यवस्था करो, भवन्ति।'

'इस कान्त सुकुमार काया से ऐसा कठोर तप, स्वामी ? मुझ से सहा नही जाता।'

मृत्तिका की आवाज भरभरा गयी। उसकी आँखें भर आईं। और गोशालक मे मन्दराचल को उच्चाटित कर देने की प्रचण्ड शक्ति लहरा उठी। अरे, अब महावीर तो क्या, वह अपने तप से स्वयम् मृत्यु को जीत लेगा।

थोडे ही समय मे हालाहला ने अपनी अग्निशाला के सन्मुख-कक्ष मे आदेशानुसार व्यवस्था कर दी। गोशालक नासाग्र दृष्टि से भूमि निहारता, गन्तव्य स्थान की ओर चला। और एक बार भी हालाहला की ओर देखे बिना, कक्ष मे प्रवेश कर उसने किवाड बन्द कर लिये। हालाहला का माथा किवाड पर ढलका रह गया। उसकी आँखो के आँसू थम नही रहे। वह स्वामिनी कैसे ऐसी हालत मे अपने सेवको को मुँह दिखाये ?

( ○ ○

सुन्दरी हालाहला को पाकर, गोशालक पहली बार अपने आप में लौट आया। क्षणमात्र मे उसकी आत्महीनता छूमन्तर हो गई। वह अनायास आत्मस्थ हो गया। उसे लगा कि उसकी नस-नस मे शक्ति के समुद्र घहरा रहे है। उसने अपने भीतर के किसी अज्ञात ध्रुव पर अपने को निश्चल खडे पाया। एक अविचल आत्म-श्रद्धा मे वह अकम्प और स्थिर हो गया। सयम करना नही पडा, वह आप ही उसमे प्रकट हो आया। एक सहज सयम के छन्द, लय और ताल मे वह अनायास सुसम्वादी हो गया।

उसके काम-क्रोध, लोभ, बुभुक्षा अन्तर्मुख हो कर, उसकी चित्तवृत्ति मे एकत्र और सचित हो गये। उसकी सारी कषायें, वासनाएँ, वृत्तियाँ, इन्द्रियाँ— उसके सकल्प मे सगोपित हो गईं। सखो और दासो की तमाम पीढियो के पीडन का प्रतिशोध, वह इन सारे प्रभुओ और प्रभु-वर्गों से लेगा। वह अपने इस आसन से प्रभुओ का प्रभु और प्रति-तीर्थंकर होकर ही उठेगा।

गोशालक के लिये वह कठिन तपस्या भी सुगम हो गयी। उसकी समग्र चेतना हर समय उसके सकल्प, और हालाहला के सौन्दर्य मे समाधिलीन-सी रहने लगी। हर सातवे दिन हालाहला, छठ्ठ के पारण के लिये एक मुष्टि कुल्माष और अजलि मात्र जल का रत्नकुंभ लेकर, द्वार पर दस्तक देती। द्वार खुलता, वह भीतर जाती, द्वार बन्द हो जाता। दो दृष्टियाँ मिल कर एक हो जाती। हालाहला के मृदु पाणि-पल्लव से आहार ग्रहण कर पारण सम्पन्न हो जाता। फिर श्रमण सुन्दरी की ओर देखता तक नही। वह अवि-लम्ब वहाँ से बाहर हो जाती।

यों बात की बात मे छह महीने निकल गये। गोशालक की तपस्या समापित हो गई। अन्तिम छठ्ठ के उपवास की समाप्ति होने पर, उसे अनायास अपनी नाभि मे एक ज्वाला लहकती अनुभव हुई। सो ब्राह्म मुहूर्त मे ही उठ कर, वह चुपचाप दूर वन के एकान्त मे चला गया। भोर फूटते न फूटते उसने अपनी लब्धि को जाँचना चाहा। अपने सारे सचित कोप को उसने झझोड कर जगाया। हठात् उसकी नाभि फट पडी। एक प्रचण्ड कृत्या की ज्वाला उसमें से फूटी। उसने उसे सामने खडे पहाड पर फेंका। पहाड धू-धू सुलग उठा। कितने ही वन्य पशु चीत्कार करते धराशायी हो गये। ओ, तेजोलेश्या सिद्ध हो गई! वह चाहे तो अब सारे ब्रह्माण्ड को जला कर भस्म कर सकता है।

गोशालक हर्षोन्मत्त हो लौट पडा। और फिर अपने कक्ष मे बन्द हो गया। ऊषा बेला मे हालाहला स्नान-सिंगार कर, बडी उमग से पारण-थाल लिये आयी। अगले ही क्षण वह कक्ष मे उपस्थित हुई। छह महीनो बाद स्वामी ने प्रथम बार एक वीतराग स्मित से मुस्करा कर उसकी ओर देखा। मौन-मौन ही पारण सम्पन्न हो गया। गोशालक ने एक गहरी मुक्ति और शक्ति एक साथ अपने अणु-अणु मे अनुभव की। दृष्टि उठा कर उसने सामने हाथ जोड, नतमाथ खडी सुन्दरी को आचूल-मूल एक टक निहारा। उसने आज गहरा जामुनी अन्तर्वासक और केशरिया उत्तरीय धारण किया था। अगराग, प्रसाधन, पत्रलेखा और फूलो के अलकारो से वह सुशोभित थी।

'देवी हालाहला!' छह मास बाद प्रथम बार श्रमण ने मौन तोडा।

'स्वामी!'

हालाहला ने माथा उठा कर श्रमण को देखा। उसका सारा शरीर किसी दैवी अग्नि से प्रदीप्त दिखायी पडा। श्रमण ने सुन्दरी की आँखो मे छलकती आद्या वारुणी देखी। उनकी दृष्टियाँ गुम्फित हो गई। श्रमण ने आविष्ट हो कर, हाला का जामुनी अन्तरवासक खीचा। एक ही झटके मे वह खुल पडा। सुन्दरी लज्जा से मर कर, वही स्वामी के चरणो मे सिमट कर ग्रथि हो पड रही।

'अपने स्वामी से लज्जा कैसी, हालाहले! मैंने तुम्हारी अन्तिम ग्रथि खोल दी। अब भी ग्रथिभूत ही रहोगी? मुक्त हो कर, सामने मुक्त पुरुष को देखो!'

हालाहला एक पुष्पाजलि-सी उठ कर, अपने स्वामी को उन्मीलित नयनो से निहारती रह गई। कि सहसा ही उसे सुनाई पडा

'आज से तुम्हारा यह अन्तरवासक, मैं धारण करूँगा। अपने अध्वाग मे तुम्हें पहन कर, मै तुम्हें अपने ऊर्ध्वो के महलो मे ले चलूँगा। परम लब्धि लाभ के इस मुहूर्त मे तुम अर्हत् की अर्द्धांगना हुई!'

'अर्हत् की अर्द्धांगना? सच? असम्भव सम्भव हो गया? एकल विहारी अर्हत् मेरे साथ युगल हो गये? सुना नहीं कभी ऐसा!'

'लेकिन प्रत्यक्ष देख तो रही हो न?'

'स्वप्न या सत्य?'

'केवल सत्य। केवल एक पुरुष, केवल एक नारी। आदि पुरुष, आद्या प्रकृति।'

भोली हालाहला को लगा, जैसे वह कोई परावाणी सुन रही है। किसी अश्रुतपूर्व सत्य का साक्षात्कार कर रही है। उस सुन्दरी मोहिनी को मंत्र-कीलित देख, गोशालक निश्चल स्वर मे बोला

'पहचानो कल्याणी! तुम्हारी अग्निशाला मे प्रति-तीर्थंकर भगवान् मक्खलि गोशालक आज अवतरित हुए है!'

'चरम तीर्थंकर महावीर के प्रतिनिधि?'

'प्रतिनिधि नही, प्रतिवादी, प्रतिद्वंद्वी, प्रति-तीर्थंकर। हम वीतराग को पूर्ण राग मे जीतने आये है। विराग नही, अतिराग ही हमारा अचूक मुक्ति-मार्ग है। हम इन्द्रियो के दमन मे नही, तर्पण और उत्थान मे सहज मुक्ति मे विचरते है। हमारी मुक्ति पारलौकिक नही, इहलौकिक है। उधार की नही, तत्काल की है। वह अभी और यहाँ वर्तमान और सहज लब्ध है। हम मुक्ति को जीवन के प्रति क्षण मे भोगते है। तू मेरी प्रथम वरिता शिष्या हुई, कल्याणी। तू इसी क्षण मुक्त हो गई। तू जातरूप निर्ग्रंथ हो कर, जातवेद पुरुष मे आत्मसात् हुई। देख, तेरा अन्तर्वासक तेरे प्रभु ने धारण कर लिया। स्वयम् तेरे तारणहार ने तेरा वरण कर लिया। दर्शन कर, दर्शन कर, और मुक्ति लाभ कर!'

हालाहला लज्जा त्याग, उन्मुक्त खडी हो, अपने मुक्त पुरुष को निहारती हुई, मुद्रित नयन समर्पित हो रही।

'देवी, वेणुवन मे एक नया बाँस-दण्ड मंगवाओ। एक वेतम् कुण्डिका मँगवाओ। एक झाली मँगवाओ। व्याघ्र-चर्म के उपानह मँगवाओ। यही वेश धारण कर, कल प्रातःकाल तुम्हारे आम्रकुंज के मर्मर सिंहासन पर, अवसर्पिणी के प्रति-तीर्थंकर, एकमेव लोक-तारक भगवान् मक्खलि गोशालक लोक मे प्रथम बार प्रकट होगें। उनकी प्रथम धर्म-पर्षदा तुम्हारे ही आँगन मे होगी। नक्काडा बजवा कर श्रावस्ती के सारे नगर-द्वारो, त्रिको, चौहट्टो, अन्तरायणो पण्यो मे यह उद्घोषणा डंके की चोट करवा दो।'

कह कर भगवान् मक्खलि गोशालक आँखे मीच कर अपने आसन पर निश्चल हो गये। हालाहला को लगा, जैसे साक्षात् अग्नि उसकी अग्निशाला मे प्रकट हुए है। उसने अपने केशरिया उत्तरीय को कटि पर धारण किया।

अपनी कुसुम्बी फूल-कचुकी मे आबद्ध अपने यौवन को कृतार्थ गर्व से निहारा। कि सहसा ही फिर सुनाई पडा

'और सुनो देवागी, आज रात तुम अपनी इस भाण्ड-भट्टिका को जल-धाराओ से सम्पूर्ण बुझवा देना। पुरातन पार्थिव अग्नि को विसर्जित करा देना। कल ब्राह्म मुहूर्त मे, हम तुम्हारी भट्टिका मे अपने नाभि-कमल की दिव्य अग्नि प्रक्षेपित करेगे। वह लोक के एकमेव जिनेन्द्र गोशालक की दिव्य कैवल्याग्नि होगी। उसमे मे नूतन युग-तीर्थ का मगल-कुम्भ अवतीर्ण होगा। तुम्हारे सारे घट-भाण्ड इसके बाद दिव्य प्रसाद होकर, लोक के घर-घर मे मगल-कल्याण का घट स्थापन करेगे।'

'और कुछ आदेश, भगवन्?'

'अब तुम जा सकती हो, देवी!'

भगवान् गोशालक फिर ध्यानस्थ, निश्चल हो गये। उनका त्रिवार वन्दन कर, उन्हे लौट-लौटकर निहारती हुई हालाहला, चुपचाप वहाँ से चली गई। पीछे द्वार बन्द हो गया।

वह जा कर अपने शयन-कक्ष के पलग पर पड गई। उसे लगा कि उसके रूप-लावण्य मे किसी लोहित पावक की तरगे उठ रही है। और वह अपने ही सौदर्य का आसव पीकर मदोन्मत्त होती जा रही है। वह अपनी ही मोहिनी मे मूर्छित होकर डूबी जा रही है।

उस रात्रि के तीसरे प्रहर मे ही मृत्तिका की भाण्डशाला मगल-दीपो से जगमगा उठी। ठीक ब्राह्मी बेला मे घटा-घडियाल बज उठे, शखनाद और डमरू-घोष होने लगा। सारे कुभार-कम्मकर अग्निशाला मे एकत्र उपस्थित थे। देवी हालाहला केशरिया मगल-वेश धारण करके वहाँ मानो सहसा ही प्रकट हुई। अपने ही हाथो उन्होने, सर्वथा ठण्डी पडी भाण्ड-भट्टिका मे गोशीर्ष चन्दन-काष्ठ की अरणि रची। उस पर कुकुम-अक्षत, अगुरु-तगर, कपूर-केशर, धूप-धूपाग अर्पित किये। श्रीफल से ढँका घृत-कुम्भ स्थापित किया। पुष्पाजलि वर्षा की।

अविराम शख-घण्टा निनाद के बीच सहसा ही मख-पुत्र गोशालेश्वर वहाँ प्रकट हुए। एक हुकार के साथ उन्होने सर्वनाशी मुद्रा मे ताण्डवी पदाघात किया। और फिर, 'जाग जाग चेत चेत भवानी!' कहते हुए भट्टिका के मुख-द्वार मे भयकर भ्रू-निक्षेप किया। एक जलता अग्नि-बाण उनकी भृकुटी से स्वत विस्फोटित होकर, महाभट्टिका मे प्रवेश कर गया।

ना-कुछ देर मे ही भट्टिका मानो किसी ज्वाला-गिरि-सी दहक उठी। लपटो के एक वन से जैसे वह छा गयी।

'देवी मृत्तिका हालाहले, अपना सर्वाधिक प्रिय ताजा मृद्‌भाण्ड भट्टिका मे तपने को स्थापित करो।'

देवी ने तुरन्त आदेश का पालन किया। मखेश्वर बोले

'इसी मृद्‌भाण्ड मे से चरम तीर्थंकर मक्खलि गोशाल के नव मन्वन्तर विधायक वैश्वानर प्रकट होगे।'

देव-पुत्र मक्खलि गोशाल की जयकारे होती चली गई। और इसी बीच जाने कब गोशाल गुरु वहाँ से अन्तर्धान हो गये।

○ ○ ○

अगले दिन बडे सबेरे ही, हालाहला कुम्हारिन के विस्तीर्ण आम्रकुज मे श्रावस्ती के हजारो-हजार स्त्री-पुरुषो का ठठ जमा हो गया है। मर्मर के भव्य सिहासन पर, महामखेश्वर भगवान् मक्खलि गोशालक निश्चल विराजमान है। वे जामुनी अन्तर्वासिक धारण किये है। उनका शेष गौराग शरीर उघाडा है। वह किसी अन्तरित ज्वाला से देदीप्यमान है। मानो साक्षात् अग्निदेव ही वहाँ अवतरित हुए है। भूरी श्मश्रु दाढी से शोभित, उनके तप्त ताम्र-से दहकते मुख-मण्डल पर, गुजल्कित भुजगम जैसी कुटिल अलके लहरा रही है।

वे अपने एक हाथ मे नवीन वेणु-दण्ड धारण किये है। उनके कधे पर सिदूरी झोली लटक रही है। उनकी दायी ओर एक वेतस् कुण्डिका (औषधि-मजूषा) पडी है। उनकी बायी ओर मदिरा का रत्न-कुम्भ शोभित है। वह नीलम के चषक से ढँका हुआ है। उनके सामने एक महार्घ्य विशाल हस्ति-दन्त वीणा प्रस्तुत है।

सिहासन के समतल ही, वाम पक्ष मे सामने की ओर बिछे एक मणि-कुट्टिम पीठ-भद्रासन पर, सुन्दरी हालाहला सुस्थिर भाव से आसीन है। जामुनी अन्तर्वासिक, रक्ताशुक उत्तरीय, और फूलो के ककण, केयूर, कठ-हार से अलकृत वह श्यामागी, सिन्दूर का तिलक धारण किये, नवीन मेघमाला मे चित्रित दामिनी-सी वहाँ शोभित है।

हजारो की जन-मेदिनी स्तब्ध एक टक महागुरु मखेश्वर को ताक रही है। कि अभी कोई चमत्कार होगा, कोई आकाश-वाणी सुनाई पडेगी। कि हठात् मखदेव ने सामने पडी वीणा के एक तार को जोर से खीच कर टकार दिया झन्न झनन् झन्न। और नेपथ्य मे कही घोर दुदुभि-घोष और तुरही-नाद हुआ। फिर सन्नाटा फिर वीणा के खरज-तार मे एक क्रुद्ध झकार। एक दुर्मत्त हुकार। और सहसा ही प्रत्याशित आकाशवाणी सुनाई पडी

'तीनो लोक और चौदहो भुवन सुने। नंदीश्वर द्वीप, विदेह क्षेत्र, जम्बू-द्वीप, भरतखण्ड, आर्यावर्त, आसमुद्र पृथ्वी सुने। सकल चराचर सुनें।

अवसर्पिणी के चरम तीर्थंकर महामंखेश्वर जिनेन्द्र मक्खलि गोशाल यहाँ प्राकट्यमान है। स्वयम् सत्ता उनमे अवतरित हुई है।

'सुनो रे वेदवादी ब्राह्मणो और सवर्णो सुनो, सुनो रे चाण्डालो, चर्मकारो, दलित शूद्रो, अन्त्यजो, सुनो। वेद के अग्निदेवता अगिरस यहाँ अवतरित है। परमाग्नि का लोक मे विस्फोट होने वाला है। उसमे अब तक के सारे अत्याचारी देवता, प्रभु, तीर्थकर और उनके पूजक प्रभुवर्ग जल कर भस्म हो जायेगे। देखो, देखो, सविता और सावित्री यहाँ उपस्थित हैं। भर्ग और गायत्री यहाँ उपस्थित है। वृष-सोम, रयि-प्राण, दोनो अश्विनीकुमार, मित्रा-वरुण और अग्निषोम के आदि युगल यहाँ उपस्थित है। वेद के सारे देवी-देवता, वेदान्त के ब्रह्म और माया मखेश्वर के श्रीपाद मे शरणागत है। प्रकृति और पुरुष की नग्न लीला यहाँ खुल कर सामने आ गयी है। वेद और वेदान्त यहाँ पराजित है। आज तक के सारे श्रमण, जिनेन्द्र, तीर्थकर यहाँ अतिक्रमित है।

'चरम सत्य है, नर-नारी की उन्मुक्त युगल लीला। उसी मे से निरन्तर ससार आ रहा है, और उसी मे लय पा रहा है। महामख ने अनादि समुद्र का मथन किया है। उसमे मे प्रकट हुई है सुरा, सुन्दरी, वीणा, नृत्य करती अप्सरा, नील रेतस्-जल मे उलग खेलती गतुल पद्म-सी नारी। आदि पुरुष और आद्या योषा का अखण्ड निबिद्ध मिथुन। यही एक मात्र सम्यक् दर्शन है, सम्यक् ज्ञान है, सम्यक् चारित्र्य है। यही वेद और वेदान्त का सार है। यही आदि तीर्थंकर अवधूत ऋषभदेव की गुप्त धर्म-प्रज्ञप्ति है। उसका रहस्य प्रथम बार मखेश्वर ने साक्षात् किया है।

" *नत्थि पुरिस्कारे, नास्ति पुरुषकार।* पुरुषार्थ व्यर्थ है, तप-त्याग, सयम-नियम निष्फल है। सारी सृष्टि एक नियत क्रम मे अनादि-अनन्तकाल मे चक्राकार घूम रही है, और उसमे नर-नारी का अबाध मैथुन चल रहा है। तुम कुछ कर नही सकते, जो होना होता है, वही होता है। कोई कारण-कार्य नही, कोई हेतु-प्रत्यय, कोई पौरुष, प्रयत्न, उपाय, परिणाम नही। कोई स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, मोक्ष-निर्वाण अन्यत्र कही नही। कुछ भी प्राप्त नही करना है, बस केवल बहते जाना है, होते जाना है, और एक दिन मुक्ति स्वयम् ही हो जायेगी।

'महावीर ने घोर तप करके क्या पाया? मैं छह वर्ष उनके तप मे साथ रहा। वे दारुण यत्रणा झेलते रहे, मार खाते रहे, और अपने को बचाने मे सदा असमर्थ रहे। झूठी जय-जयकारो मे भ्रमित हो, भगवान् होने के चक्कर में पडे रहे। बुद्ध ने सोयी सुन्दरी छोड, गृह-त्याग कर क्या पाया? रोग, जरा, मृत्यु को वे कहाँ जीत पाये? क्या उनका शरीर अजर-अमर हो

पाया ? उनको रोग झेलते, वृद्ध होते देख रहा हूँ। फिर किस लिये ऐसा अमानुषिक तप-त्याग ? निरानन्द वैराग्य, उदासी और विषाद, दुःखवाद, क्षणिक-वाद। और फिर झूठे निर्वाण का दिलासा।

'किसने देखे है मोक्ष और निर्वाण ? किसने देखे है जन्मान्तर और लोकान्तर ? जो है सो केवल वर्तमान है। प्रस्तुत क्षण ही शाश्वती है। अभी और यहाँ जीवन को पूर्ण भोगो, पूर्ण जियो। इस निरन्तर चक्रायमान संसार को अबाध भोगते चले जाना ही जीवो की एक मात्र गति और नियति है। प्रत्येक जीव का नियति-भ्रमण पूरा होने पर, उसकी मुक्ति अपने आप हो जाती है। अनुभव की अग्नि मे तपते-तपते ही, फौलाद कांचन हो जाता है।

'इसी से कहता हूँ भव्यो, सारे धर्मों, वेद-वेदान्तो, तीर्थकरो, भगवानो के भ्रमो से मुक्त हो जाओ। वर्तमान को खुल कर भोगो और जियो। खाओ-पियो, मौज करो और वीणा बजाओ। पाप-पुण्य का भय बिसार दो। निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर जीवन को खेलो, और पाओगे कि मुक्ति स्वयम् तुम्हे गाद लेने को तुम्हारे पीछे भागी फिर रही है।

' देखो देखा, तुम्हारा एकमेव मुक्तिदाता, परित्राता आ गया। नाचो-गाओ, सुरापान करो, सुन्दरी-पान करो, यौवनपान करो। पुष्पोत्सव करो, मुक्त विहार करो, विहग रमण करो। जैसे कपोत और कपोती। जैसे मृग और मृगि। इन सब मे सविता-सावित्री का युगल ही तो निरन्तर खेल रहा है। फिर बाधा कैसी ? भय कैसा ?

'मेरी इस आकाशी वीणा को सुनो । (टन्न-टन्न झन्न-झन्न गोशालक ने वीणा झन्ना दी ) मेरे इस सुरा-कुम्भ का अमृतपान करो ।–(उसने वारुणी गटका कर चषक लुढ़का दिया) । और देखो, परमा सुन्दरी भगवती हालाहला को देखो। यही सृष्टिघट की आद्या कुम्भकाग्नि है। यही विश्व-ब्रह्माण्डो की एकमेव विधात्री है। यही सावित्री, गायत्री और ब्रह्म की छाया-माया है। यह स्वयम् अनाद्यन्त प्रकृति-सृष्टि है। यही इरावती अप्सरा है। यही महा-मखेश्वर एकमेव पुरुष की एकमेव युगलिनी सहचरी है।

'पान करो, गाओ, नाचो, फूलो की धूल उड़ाओ, एक-दूसरे मे लीन हो जाओ। देखो देखो आदि युगल गान-पान-तान मे लीलायमान हो रहे है। ' कह कर गोशालक उन्मत्त हो नृत्य करने लगा।

और हालाहला भी आवेश मे आ कर, सुरापान करती हुई मर्मर सिंहासन पर चढ गोशालेश्वर के साथ अंग जुड़ा कर, प्रमत्त हो नाचने-गाने लगी। बीच-बीच मे वे दोनो रह-रह कर, नृत्यो के भंग तोडते, झुक कर वीणा के तारो को झन्ना देते। और चारो ओर से सेवकगण पुष्प और अबीर-गुलाल की वर्षा करने लगे।

शत-सहस्त्र नर-नारी वृन्द उस रसोत्सव में मोह-मूर्च्छित हो कर नाच-गान करने लगे। चरम तीर्थंकर गोशालदेव की जयकारो से सारा आम्र-कानन, और सारे राजमार्ग गुंजायमान होने लगे।

श्रावस्ती की प्रजाओ का रक्त एक विचित्र मुक्ति के भाव से आन्दोलित हो उठा। उन्हे लगा कि सच ही, यही तो चरम तीर्थंकर है। यही तो परम त्राता और मुक्तिदाता है। क्योंकि उन्हे सचोट अनुभव हुआ, कि अनादिकाल से उनके रक्त मे पडी वर्जना, बाधा, पाप, भय और विधि-निषेधो की ग्रथियाँ आज औचक ही किसी ने खोल दी है। उनकी साँस जैसे पहली बार मुक्त और निर्ग्रन्थ हुई है ।

पहले ही प्रकटीकरण मे चरम तीर्थंकर मक्खलि गोशाल की कीर्ति दिगन्त चूमती दिखाई पडी।

○ ○ ○

छट्ठ तप के छह महीनो मे, गोशालक ने केवल तेजोलेश्या ही सिद्ध नही की थी। प्रभु होने की महत्वाकाक्षा और हालाहला के समर्पण का बल पा कर, उसने अपनी सारी इन्द्रियो का एकाग्र निग्रह और सयम भी किया था। फलत उसकी प्रत्येक इन्द्रिय कई गुनी अधिक सतेज और प्रबल हो गयी थी। हर इन्द्रिय की क्रिया अपनी सीमा लाँघ कर, विक्रिया शक्ति से सम्पन्न हो उठी थी। अनजाने और अप्रत्याशित ही उसे दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूसरे का मनोगत जान लेना आदि कई ऋद्धि-सिद्धि अनायास प्राप्त हो गयी थी। अपने ज्ञान के इस चमत्कारिक उत्कर्ष को प्रकट देख कर, उसे भ्रान्ति हो गयी थी कि वह सर्वज्ञ हो गया है। वह महावीर का समकक्षी, और उनका प्रतिपक्षी होने मे समर्थ हो गया है। उसे अगले क्षण होने वाली घटना या आने वाले व्यक्ति का पूर्वाभास हो जाता था। आगन्तुक के मन को पढ लेना उसे सहज हो गया था। महावीर भी तो यही करते है!

उन्ही दिनो श्रावस्ती मे छह दिशाचर पार्श्वापत्य श्रमण विहार कर रहे थे। शान, कलन्द, कर्णिकार, अच्छिन्द, अग्नि वैशम्पायन और गोमायु-पुत्र अर्जुन। जिन-मार्गी श्रमणो की कठोर व्रत-चर्या का पालन करने मे असमर्थ हो कर वे शिथिलाचारी, और स्वच्छन्दाचारी हो गये थे। अष्टाग निमित्त-ज्ञान, मत्र-तत्र, ज्योतिष, भविष्य-कथन आदि कई विद्याएँ उन्हें सिद्ध हो गयी थी। वे ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न थे, और उसी के बल वे मनमाना स्वच्छन्द जीवन बिताने लगे थे। हालाहला के आम्र-कुज मे उन्होने गोशालक की प्रथम देशना सुनी थी। उसमें अपनी उच्छृखल विषय-वृत्तियो का प्रत्यायक समर्थन पा कर, उन्होने मन ही मन गोशालक को अपना गुरु मान लिया था। उन्हे मुक्तिमार्ग का एक नया और स्वानुकूल मत्र-दर्शन प्राप्त हो गया था।

एक दिन वे गोशालक से मिलने आये। सूचना पाने से पूर्व ही गोशालक को उनके भीतर-बाहर का पूरा आभास हो गया। वे तुरन्त बुला लिये गये। सामने आते ही उन्होंने मख गुरु को साष्टाग दण्डवत किया। और पंक्तिबद्ध उपविष्ट हुए। गोशालक ने अविलम्ब स्वामित्व की भगिमा मे मस्कर-दण्ड हिला कर कहा

'जान गया, जान गया। तुम सर्वज्ञ जिनेन्द्र गोशाल की हथेली पर हो। हस्त-रेखावत् प्रत्यक्ष। मुहूर्त आ गया है। तुम सब अपनी-अपनी विद्याओ का बखान करो, और उनके प्रयोग कर दिखाओ। और मैं तुम्हारे प्रताप को क्षणार्ध मे हजार गुना कर दूंगा। तत्काल आरम्भ करो, मुहूर्त नही टलना होगा।' '

उसकी अमोघ अग्नि-विद्या के तेज के आगे, एक-एक कर छहो श्रमण धागे के दडे-से खुलते आये। स्वयम् ही विवश व्यग्र होकर, प्रत्येक ने अपनी विद्या का रहस्य गोशालक के आगे प्रकट कर दिया। गोशालक की एकाग्र चेतना मे, सुनते-सुनते ही वे सारी विद्याएँ सिद्ध होती आई। उसे अन्तिम निश्चय हो गया, कि अब वह जो चाहे सो कर सकता है।

गोशालक के अविकल्प आदेश पर वे छहो दिशाचर श्रमण, तुरन्त ही मख-दीक्षा मे दीक्षित हो गये। तत्काल उन्हें मस्कर दण्ड, झोली, अन्तर-वासक, कुण्डिका, उपानह आदि से मण्डित कर, मख श्रमण बना दिया गया। हालाहला तो पहले ही प्रथम शिष्या होकर, भगवान् गोशालक की युगलित भगवती हो गयी थी। ये छह श्रमण उसके प्रथम पट्ट-शिष्य और गणधर हो गये। गोश लक ने उन्हे *'नत्थि पुरिस्कारे'* का नियतिवादी मत्र प्रदान किया। कुछ ही शब्दो मे एक सपूर्ण धर्म-प्रज्ञप्ति प्रदान की। और अगले ही दिन से, प्रति दिन वे श्रावस्ती के राजपथो, त्रिको, चौहट्टो पर मस्कर–दण्ड हिला-हिला कर, जिनराज-राजेश्वर भगवान् गोशालक की र्म-प्रज्ञप्ति उद्-घोषित करते सुनाई पडने लगे

' *गोस्सालस्स मखलि पुत्तस्सा धम्म पण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे इवा, कम्म इवा, वले इवा, वीरिप्ट इवा, पुरिसक्कार परक्कमे इवा।* अरे लोक-जनो सुनो, अभिनव जिनेश्वर मखलि गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति सुनो उत्थान नही है, कर्म नही है, बल नही है, वीर्य नही है, पुरुषार्थ नही है, पराक्रम नही है। जो कुछ है, वह नियति है। सारे भाव और अस्तित्व पहले से ही नियत है। पूर्व नियत क्रम-बद्ध पर्यायो से गुजरने को प्रत्येक जीव अभिशप्त है। उन सब से पार हो कर, जीव आपोआप मुक्त हो जाता है। इसी से खाओ-पियो, मुक्त भोगो, मुक्त जियो। कोई पुरुषकार नियति का निवारक नही। अपनी वृत्तियो को खुल कर व्यक्त करो उनका निर्बाध रेचन होने दो। और एक दिन स्वत ही निवृत्त, शुद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाओगे।'

इस प्रकार छह दिशाचर श्रमण-गणधरो द्वारा नित्य घोषित गोशाल की यह धर्म-प्रज्ञप्ति, मूढ, अपढ सर्वसाधारण जन और बुद्धिवादी तार्किकों के हृदय में ममान रूप से गहरी पैठती चली गयी। वे ब्राह्मणो के यज्ञ-याग और कर्म-काण्ड के जजाल, तथा बाह्याचारी श्रमणो द्वारा उपदिष्ट कठोर तप-सयम की धर्म-प्रज्ञप्ति से ऊब चुके थे। ऐसे मे गोशालक का सहज स्व-च्छन्दी मुक्ति-मार्ग उनके मनो को बहुत भा गया। दिशाचर श्रमण श्रावस्ती से बाहर जा कर, काशी-कोशल के सारे ही जनपदो मे गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति को डके की चोट घोषित करने लगे। सर्वत्र ही प्रजा इस नव्य और आधुनिक जिनेश्वर के दर्शन और श्रवण को व्यग्र हो उठी।

लेकिन गोशालक इस बीच एकान्त वास मे रह कर, अपनी इस नयी धर्म-देशना को एक सागोपाग दर्शन का रूप देने मे सलग्न हो गया। महावीर के सग छह वर्ष विहार, और उससे पूर्व के अपने सारे अस्तित्व-सघर्ष और उससे निचुडे अनुभव से उसने नियतिवाद का प्रत्यय तो पा ही लिया था। अब वह अनजाने ही उमकी धुरी की खोज मे था। ठीक मुहूर्त आने पर उस दिन प्रात श्रावस्ती मे वह धुरी स्वयम् ही सामने आकर खडी हो गयी। अनन्य रूपसी, अपरूप सुन्दरी हालाहला। अपने कुलाल-चक्र पर दण्ड टिकाये, माटी के लौदे से सुगढ़ भाण्ड उभारती वह कुम्भकारिन। गोशालक ने साक्षात् किया, कि वही तो नियति-चक्र की धुरी पर बैठी है। उसकी एकमेव नियति-नारी, जो मानो उसी के लिये जन्मी थी। गोशालक की अनिर्वार आन्तरिक पुकार के उत्तर मे, वह सम्मोहित-सी सामने आ खडी हुई। प्रथम दृष्टि-मिलन मे ही उनकी चेतनाएँ अकस्मात् सम्वादी हो गईं। काल के रगमच की एक नेपथ्यशाला से आई मृत्तिका हालाहला, और दूसरी नेपथ्यशाला से आया गोशालक। सम्मुख होते ही परस्पर को पहचान कर समर्पित हो गये। गोशालक की जन्मान्तरो की पुकार और प्यास ने, उत्कटता के चरम पर पहुँच कर अपना उत्तर प्राप्त कर लिया। उसकी नियति-नटी एक नारी के रूप में साकार हो कर सामने आ खडी हुई। अस्तित्व और नियति की एक महान त्रासदी का बड़ा सुन्दर और मधुर मगलाचरण हुआ।

गोशालक को कुम्हार कन्या के कुलाल-दण्ड मे ही अपने मस्कर दण्ड का साक्षात्कार हुआ। उसके कुलाल-चक्र मे ही नियतिचक्र प्रत्यक्ष घूमता दिखायी पडा। सारे उपादान चमत्कारिक सगति से एक साथ सामने आ खड़े हुए। नारी सृष्टि की आद्या शक्ति है। ठीक मुहूर्त मे गोशालक की नियोगिनी नारी सम्मुख आ खडी हुई। उसका बल पा कर वह आह्लादित और उन्मेषित हो उठा। आनन-फानन में उसने कठोर छठ्ठ तप करके अग्नि-लेश्या सिद्ध कर ली। उसकी प्रथम देशना ने ही श्रावस्ती के जन का हृदय जीत लिया।

फिर नियति के भेजे छह दिशाचर भी ठीक समय पर आये। जिनमार्ग त्याग कर वे उसके शिष्य हो गये। मानो जिनेन्द्रो की सारी परम्परा पराजित हो गयी। और वह स्वयम् जिनेन्द्रो का जिनेन्द्र, परम जिनेश्वर हो गया!

तब अचानक सम्हल कर, वह सयाना और सयत हो गया। उसके भीतर निश्चय जागा, कि अब लोक के सामने पूरी तरह प्रकट होने से पहले उसे अपने नियतिवाद को एक सशक्त और सर्वांगीण दर्शन के रूप मे निरूपित, विकसित और प्रणालीबद्ध करना होगा। प्रतिभा की चिनगारी तो वह ले कर ही जन्मा था। और फिर उसकी चेतना मे एक सशय-कीट था, एक प्रश्नाकुलता थी। इसी प्रश्नाकुलता मे से तो महान् दार्शनिक सदा प्रकट होते आये है। फिर गोशाल के दैन्य, दासत्व, अनाथत्व और सतत अपमान ने भी, उसके चित्त मे कुतरते सशयकीट को पोषित किया था। महावीर के प्यार को पहचान कर भी, वह उसके वशीभूत न हो सका। क्योकि उसकी समस्त जाति की दरिद्रता और हीनता-ग्रथि, बार-बार राजवशी श्रमण महा-महावीर मे द्रोह कर उठती थी। उन्हे शका की दृष्टि मे देखती थी। इसी से स्वभावत महावीर के तप-तेज और ज्ञान से बार-बार मुग्ध-मूढ हो कर भी, वह कभी उन्हे पूरी तरह स्वीकार न सका। गहरे मे कही सदा वह उनके साथ एक तीव्र और कटु ईर्ष्या, तथा प्रतिस्पर्धा का दश अनुभव करता रहा। हर कदम पर प्रश्न उठाता, परीक्षा करता, वह उनका अनुगमन करता रहा। उसके उन तीखे सशयो और प्रश्नो की धार पर ही नियतिवाद का तिल-क्षुप फलने फलने लगा।

आर अब उसे अपने नियति-चक्र की धुरी भी उपलब्ध हो गई, इस हालाहला मे। वह श्रीमन्त थी, और अपने देश-काल की एक अप्रतिम रूपसी थी। काशी-कोशल और कोशाम्बी तक के सारे श्रेष्ठी, सामन्त, राजपुत्र, और वत्सराज उदयन तथा कोशलेन्द्र प्रसेनजित् तक भी उस पर अपने दाँव आजमा चुके थे। रानीत्व और राजसिहासन उसके चरणो पर निछावर हुए। पर उसकी नज़रे तक न उठी, उन्हे देखने को। वह एक अपराजिता कुमारिका थी। एक अजेय रमणी थी। उसकी मानिनी चितवन को इन्द्र का वीर्य, वज्र और तेज भी नही उठवा सकते थे। उसका यौवन और सौन्दर्य उम्र के साथ क्षीण न हो कर, अधिक दीप्त और सम्मोहक होता जा रहा था। ऐसी एक दुर्दामिनी नारी, दीन-दरिद्र, द्वार-द्वार के अपमानित, अकिंचन गोशालक को अकारण ही, क्षण मात्र मे समर्पित हो गई। नियति का इससे बडा प्रमाण क्या। और नियति-नटी यदि हालाहला नही, तो और कौन हो सकती थी।

ऐसी हालाहला को अटूट साथ खडी पा कर, गोशालक के पौरुष और प्रतिभा मे पूनम के समुद्र-ज्वार उमड आये। उसके सकेत पर हालाहला

नाचती रहती थी। अपने प्रभु के आदेश पर उसने अपने आम्र-कानन के ग्रीष्म-कक्ष को, यथा आज्ञा सज्ज करा दिया था। चित्रांकन, काव्य-रचना, दर्शन-रचना, सुरापान, वाद्य-गान और नृत्य के सारे उपादान वहाँ जुटा दिये गये थे। कक्ष के ठीक मध्य में मस्कराचार्य का विशद पट्टासन बिछाया गया। वही उनका सुखद रेशमीन शयन भी था। उसी के आसपास उपरोक्त सारे उपादान चौकियो पर सज्जित थे। कक्ष की छाजन और द्वार-खिड़कियों को उशीर (खस) के आस्तरण और यवनिकाओ से छा दिया गया था, जिनमे धारा-यत्र से सदा जल-फुहियाँ झरती रहती थी। केवल एक सामने का गवाक्ष खुला रखा गया था, जिस पर उशीर की टट्टी सायबान की तरह उचकी रहती थी। इस गवाक्ष से दूर तक सारा आम्रकानन दिखाई पड़ता था।

ठीक इस गवाक्ष के सामने ही इन दिनो नाति दूर, नाति पास, हालाहला का कुलाल-चक्र एक नव-निर्मित विस्तृत मृत्तिका-वेदी पर स्थापित कर दिया गया था। और उससे काफी हट कर चारो ओर मण्डलाकार अनेक कुम्हार-कम्मकरो के चक्र चलते रहते थे।

हालाहला सबेरे से ही नव-नवरगी अशुक और कुसुमाभरण धारण कर, वेणी पर फूल-गजरा बाँध, केन्द्रीय चक्र पर भाण्ड निर्माण करती दिखायी पडती। माटी भी काली, कुम्हारिन भी काली, उसकी काली-भँवराली आँखो मे छलकती वारुणी भी काली। सघन अमराइयाँ भी काली, और उनमे रह-रह कर टहुकती-टोकती कोयल भी काली। मृत्तिका का अँधियारा गर्भदेश। तमस और रजस् का मौलिक मोहन-राज्य। हालाहला की साँवली लुनाई मे मँजरियाँ महकती, अँबियाएँ फूटती। आम्रफलो मे रस सचार होता। समूची प्रकृति-सृष्टि, और उसकी विधात्री स्वयम् है यह कुम्भारिका। उसके चाके मे घूमता है सारा ब्रह्माण्ड। वह समुद्र मे से उत्थायमान उर्वशी की तरह, अनेक बकिम भगो मे लरज-लरज कर, झूम-झाम कर अपने दण्ड से चाका चलाती। उसके ककणो की रिणन् और नूपुरो की रुनझुन् में कविता, सगीत, नृत्य, क्षण-क्षण नव-नूतन रूपो मे मूर्तिमान होते। अपने वक्षोजों मे ही मानो सहजात वीणा धारण किये, वह साक्षात् सरस्वती-सी वहाँ नाना रूप-भगिमाओ मे प्राकट्यमान दिखायी पडती। मानो कि सारा भूमण्डल अपनी सम्पूर्ण लीलाओ के साथ वहाँ उपस्थित होता।

और अपने ग्रीष्मावास की सुखद शैया मे आसीन मस्कराचार्य भगवान गोशालक, सम्मुख खुले गवाक्ष से इस सृष्टि-लीला को सतत निहारते हुए, नियतिवाद के दर्शन की रचना करने लगे। ऊपर अमराई मे कोयल कूकती, आचार्य रह-रह कर पास ही पडे कापिशेया-मदिरा के कुम्भ से सुरापान करते। बीच-बीच मे तान कर वीणा झकार देते। और यो काव्य-गान करते,

वीणा बजाते, नृत्य करते, चित्रांकन करते हुए, खेल-खेल मे ही नियतिवाद का दर्शन आकार धारण करता चला गया।

अनायास ही कुम्भारिन झूम कर चाका चला देती है। अनायास ही उसके ककण-नूपुर रणकार उठते है। उसकी मृणाल बाहु से अनायास चालित दण्ड। उभरते कुम्भ पर उसकी सुकुमार लम्बी उँगलियो की फिसलन। उसकी लचकती कलाई की गुलछडी पर रिलमिलाती मणि-चूड़ियो की ढलकन, उसकी झूमती-झामती, कटीली साँवली, लचीली देह-यष्टि पर लावण्य की लहरों का आवर्त्तन। और लचक-मचक मे रह-रहकर शिथिल हो जाते उसके अन्तर्वासिक की फिसलन। उसके भीतर की कदली-घाटियो मे असह्य आरति की फिसलन। सतत घूर्णिमान चक्र, उस पर माटी का घूमता लौंदा, उस पर फिसलती लचीली उँगलियाँ, भँवराली चूडियाँ उभारता कुम्भ, लचकती बाँह से आपोआप चलता चाका और दण्ड। और इस चक्रावर्तन और फिसलन मे से नियतिवाद के दर्शन का तार भी रात-दिन अपने-आप खिंचता चला जा रहा था।

आलोडन, ढलकन, लुढकन। ढलकते चलो, लुढकते चलो। फिसलन, फिसलन, फिसलन। वहन, वहन, वहन। फिसलते चलो, फिसलते चलो, बहते चलो, बहते चलो। सब आपोआप होता है। न कोई पुण्य, न कोई पाप होता है। जो होना होता है, वही होता है। यह सब कुछ स्वत होते जाना ही, एक मात्र सत्य है। नियति ही सृष्टि का एक मात्र नियम, स्वधर्म और साराश है।

अन्तहीन काव्य-रचना। दार्शनिक सूत्रो का जटाजूट आल-जाल। कितनी ही घटनाओ, द्रष्टान्तो और जीवनानुभवो के निरन्तर जारी चित्राकन। ताड़ पत्रो और चित्रपटो के ढेर लगते चले गये। नियतिवाद का दर्शन मकडी के जाले की तरह आपोआप अपने को बुनता चला गया। मानो परब्रह्म के अन्तर-काम मे से, माया का विस्तार उनके अनचाहे ही होता गया।

वैशाख की, गोपन आम्रवन से महकती चाँदनी रातो में, आम्रकुज के ग्रीष्म-कक्ष मे, सृष्टि की प्रियाम्बा हालाहला, अपनी गहन मृत्तिका-कोख में एक नये भगवान् और नये धर्म का गर्भाधान कर रही थी। सारा ब्रह्माण्ड मानो उसके वक्षोज पर, एक नवीन कुम्भ के रूप मैं आपोआप अवतीर्ण हो रहा था।

और एक दिन अचानक काशी-कोशल, कौशाम्बी, कपिलवस्तु, वैशाली, चम्पा और राजगृही के राजमहलो मे, श्रेष्ठि-प्रासादो, अन्तरायणो, चत्वरो, चौको मे एक साथ यह उदन्त सुनाई पडा, कि जिनेश्वरो के जिनेश्वर, चरम तीर्थंकर, प्रति-तीर्थंकर, परम भागवत भगवान् मक्खलि-गोशालक अति-कैवल्य को उपलब्ध हो गये हैं। और अब वे शीघ्र ही दिग्विजयी विहार करते हुए, अपने अपूर्व धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करेंगे।

अराजकता और अन्धकार मे गुमराह आर्यावर्त्त के लोक-जनों को इस खबर से एक अजीब सान्त्वना मिली। वे उत्सुकता से इस अभिनव तीर्थंकर की प्रतीक्षा करने लगे। □

७

# महावीर के अग्नि-पुत्र : आर्य मक्खलि गोशालक

यह वह समय था, जब समस्त आर्यावर्त की चेतना एक सक्रान्तिकाल से गुजर रही थी। धर्म के धुरन्धर ब्राह्मण का पतन हो चुका था। वर्णाश्रम धर्म की चूले उखड गयी थी। आनन्दवादी वेद, और ज्ञानवादी उपनिषद् की प्रभा मन्द पड गयी थी। क्यो कि उनका प्रवक्ता ब्राह्मण, आनन्द और ज्ञान की ओट मे स्वच्छन्दाचारी हो गया था। वह अपने ब्रह्मतेज से स्खलित हो कर, राजाओ और श्रेष्ठियो का क्रीत दास पुरोहित हो गया था। आरण्यक ऋषियो के आश्रम परित्यक्त और सूने हो पड़े थे। उनके आनन्द और ज्ञान की यज्ञ-वेदियो पर, जिह्वालोलुप और कामार्त्त पुरोहितो के कर्म-काण्ड की दूकानें खुल गयी थी। उनके हवन-कुण्डो मे अब पवित्र अग्नि प्रकट नही होते थे। वे तृष्णा और भोग की सहारक आग से दहक रहे थे। उनसे अब सुगन्धित पावनता का हुताशन नही उठता था। प्राणियो की चीत्कारे और चरबी का चिरायन्ध धुआँ उठता था। वेदो के देव-मण्डल और उपनिषदो के ऋषि-मण्डल लोक-मानस मे से विलुप्त हो गये थे।

लोक-मगलकारी, परित्राता धर्म का सिहासन ध्वस्त हो चुका था। जन-हृदय मे एक गहरे अवसाद और अराजकता का अन्धकार छाया था। जन-मन की श्रद्धा का आधार उच्छिन्न हो गया था। आर्यावर्त के मनुष्य के पास अब पैर टिकाने को कोई धरती नही रह गयी थी। उसकी चेतना एक निराधार शून्य के मरण-भवरो मे गोते खा रही थी।

महावीर और बुद्ध के त्याग और तप के प्रताप से जनता चकित और अभिभूत अवश्य थी। लेकिन उनका प्रभा-मण्डल अभी सुदूर परिप्रेक्ष्य मे अन्तरित था। वे कैवल्य और बोधिसत्व की चरम समाधि की अनी पर खड़े थे। लेकिन आर्यावर्त के परिदृश्य पर वे अभी प्रकट नही हुए थे। धर्म-पीठ रिक्त पडा था।

पार्श्वनाथ का चातुर्याम-संवर धर्म अब शिथिलाचारी श्रमणो का छूँछा बाह्याचार मात्र रह गया था। ब्राह्मण का पाखण्ड उघड़ कर चौराहों पर

चित पड़ा था। लक्ष्य का क्षितिज लोक-चक्षु से ओझल हो गया था। जीवन और धर्म के बीच एक अलंघ्य खायी मुँह बाये पड़ी थी।

ठीक इसी समय मक्खलि गोशालक भारत के परिदृश्य पर प्रकट हुआ। उसने परब्रह्म, परमात्मा, परलोक, पाप-पुण्य की सारी परोक्षावादी अव-धारणाओं का भजन करके, ठीक अभी और यहाँ जीने के लिये एक इहलौकिक धर्म-प्रज्ञप्ति गढ डाली। वह प्रत्यक्ष अस्तित्ववादी था। अस्तित्व ठीक इस क्षण जैसा सामने आ रहा है, उसी को देखो, जानो और उसे निर्बन्धन् हो कर जियो। धर्म धारणा नहीं है, वह ठीक अभी हाल का जीवन है। कहीं कोई स्रष्टा ईश्वर नहीं, कोई नियन्ता नहीं, कोई आत्मा नहीं। बस, एक अन्ध नियति का चक्र ही सृष्टि का सचालक है। जीवन के सघर्ष और अनुभव से अर्जित इस नियतिवाद मे ही गोशालक को स्वच्छन्द भोगवाद का आधार प्राप्त हो गया। जब 'है' और 'होना चाहिये' के बीच की दूरी ही खत्म हो गयी, तो पाखण्ड अपने आप ही समाप्त हो गया। नग्न अस्तित्व, नग्न जीवन, उसका उलग भोग। अन्य और अन्यत्र, और कोई धर्म या सत्ता है ही नहीं।

आर्यावर्त की नब्बे प्रतिशत अपढ-मूढ जनता को इस नकद धर्म मे, जीने का एक अतर्क्य सहारा प्राप्त हो गया। प्रत्यक्ष और परोक्ष, सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म का सारा चिरकालीन सघर्ष ही, इस सद्य प्रस्तुत और नग्न अस्तित्ववाद मे आपोआप विसर्जित हो गया। सारे पाखण्डो और अन्धकारो का घटस्फोट हो गया। सब कुछ खुल कर सामने आ गया। इस तरह गोशालक ने प्रजा के हृदय के अँधियारे रिक्त को भर दिया। उसने एक गहरे सन्तोष और राहत की साँस ली।

इस परिदृश्य मे व्युत्पन्न मति गोशालक के सामने अपने निर्बाध उत्थान की सीढ़ियाँ अनायास खुलती चली गयी। सक्रान्ति मे भटके भारतीय मन के इस शून्य और अन्धकार मे उसका यथार्थवादी अस्तित्ववाद और भोगवाद प्रत्ययकारी सिद्ध हुआ। एक आकस्मिक उल्कापात की तरह उसकी धर्म-प्रज्ञप्ति, जन-हृदय पर टूट कर जगली आग की तरह फैल चली।

○ ○ ○

कौशाम्बी और काशी-कोशल से लगा कर, अग-बग तक के दिगन्तो पर मस्कर-दण्ड हिला-हिला कर एक औघड क्षपणक बोलता सुनायी पडा। आर्या-वर्त के तमाम प्रमुख राजनगरो के चैत्यो, चौको और चत्वारो पर उसका धर्म-पीठ बिछ गया। सारे ही महानगर उसकी धर्म-देशना के केन्द्र हो गये। उसने ठीक अपने ही जीवन की त्रासदी को लाखो प्रजाओं के सामने नग्न कर के, उनकी अचूक सहानुभूति प्राप्त कर ली। उसकी त्रासदी मे सब ने अपनी

त्रासदी को प्रतिबिम्बित देखा। "सो यह सतही और उथाड़ा यथार्थवाद कारगर सिद्ध हुआ। अपनी ही आत्मकथा का सूत्र पकड़ कर गोशालक ने लोक-धर्म का ताना-बाना बुनना शुरू कर दिया।

क्षपणक वेशधारी मखेश्वर ऋषि गोशालक, अपने मख श्रमणो का भारी समुदाय ले कर आर्यावर्त के सभी प्रमुख जनपदो मे विहार करने लगा। हर महानगर के सभा-चत्वर पर वह एक विशाल चित्रपट फैला कर पुरुषार्थ और नियति की व्याख्या करता दिखायी पड़ा। चित्रपट पर अंकित है एक बड़ा सारा ऊँट। ऊँट की गर्दन पर जुआ है, और जुए के अगल-बगल दो पट्ठे बैल, जो अभी बछड़े ही है, लटके है। मानो वे ऊँट के मणि-कुण्डल हो। चित्रांकित बैलो को देख कर लगता था, कि वे छटपटा कर हाथ-पैर पीट रहे हो। और ऊँट भी घबराया हुआ लगता था। परिप्रेक्ष्य मे दूर पर एक पुरुष दोनो हाथ उठा कर त्राहिमाम् की चीख-पुकार उठाता दिखायी पड रहा था।

गोशालक चित्रपट को ऊँचा उठा कर कहता सुनाई पड़ता

'अरे ओ आर्यावर्त के लोगो, कृषिकारो, कम्मकरो, कुम्भकारो, कम्मारो, रथकारो, धनुषकारो, अनेक श्रमो और शिल्पो मे जुते हुए लोगो, क्यो व्यर्थ मे पसीना बहा रहे हो। मेरी बात सुनो। *नत्थि पुरिस्कारे। नास्ति पुरुषकार।* अरे मेरे प्यारे जनो, कर्म-पुरुषार्थ आदि सब बकवास है। जो होना है, वही होगा, तो फिर खटने-खपने से क्या लाभ। मै हूँ मक ऋषि। नैमिषारण्य के ब्राह्मणगण मुझे सर्व-देव-देवेश्वर मख महर्षि कहते है। क्यो कि उनके कर्मवाद को मैं व्यर्थ प्रमाणित कर चुका हूँ।

'पहले उन सयानो की सलाह मान कर, मैंने दो जून की रोटी पाने तक के लिये क्या-क्या नही किया। नीच से नीचतम कर्म भी किये। जन-जन के द्वार पर मैं श्वान की तरह डोला, भँडिहाई की, चटियाई की, क्या-क्या नही किया। पर मुझे सब जगह से दुत्कार कर, मार-पीट कर निकाल दिया गया।

'तब मैंने सोचा, धन ही लोक मे सर्वशक्तिमान देवता है। सो मै धन कमाने की धुन मे कृषि-कर्म की ओर लपका। मैने अपनी औषधि-मजूषा की अमूल्य औषधियाँ कौडी मोल बेच कर, दो पट्ठे बैल खरीदे। उन बैलो को ले कर मैं जोतने को कोई पडत भूमि खोज रहा था। तभी एक ऊँट कहीं से दौडता आया। देख रहे हो न चित्रपट मे यह भीम काय ऊँट। इसने एक ही झपट्टे मे मेरे प्यारे बैलो को मुझ से छीन लिया, और उन्हे अपने जुए पर टाँग लिया। सो वे दोनों बैल, उस ऊँट से जुए के दोनो ओर उसके मणि-कुण्डलों की तरह लटक गये। और ऊँट जंगल मे दूर-दूर भाग निकला। और मैं अनेक प्रकार से आर्त्त विलाप करता, अपने भाग्य को कोसता, व्यर्थ ही चीखता-चिल्लाता

खडा रह गया। ओ रे मनुष्यो, मेरे दुर्भाग्य की वही त्रासदी इस चित्रपट में अंकित है। केवल मेरी ही नही, तुम्हारी भी नियति की कथा इस चित्र मे अंकित है। कोई ब्राह्मण या श्रमण मेरे भाग्य के इस कुटिल विद्रूप और क्रूर व्यग्य का सचोट उत्तर न दे सका।

' उसी क्षण मेरी आँखो पर से अज्ञान का अँधेरा फट गया। मेरा सारा भीतर-बाहर प्रत्यक्ष यथार्थ की कैवल्य-बोधि से आलोकित हो उठा। अपनी चरम यंत्रणा के छोर से ही, मै चरम तीर्थकर हो कर उठा। शत-शत अग्नि-शलाकाओ जैसे परम ज्ञान के सूत्र और मत्र मुझ मे से गुजायमान होने लगे।

'सुनो रे आर्यावर्त के भटके भव-जनो, सुनो। तभी नैमिषारण्य के ऋषियो ने मुझे, अब तक के सारे ऋषियो, ज्ञानियो, तीर्थकरो से आगे का, परात्पर प्रचेता स्वीकार लिया। उन्होने मुझे अति-ब्रह्म और अति-कैवल्य से आलोकित परिपूर्ण सर्वज्ञ मान लिया। देवाधिदेव महर्षि मख के नाम से मुझे अभिहित किया।

'वही अति-ब्रह्म कैवल्य-सूत्र आज मै तुम्हे सुनाने आया हूँ। उसमे तुम्हारे आमूल-चूल सारे कष्टो का निवारण है। उसमे तुम्हारे सारे प्रश्नो का उत्तर है, सारे सत्रासो का त्राण और समाधान है। उसमे भव-व्याधि का चरम निराकरण है। इसी से मैं हूँ चरम तीर्थकर। महावीर और बुद्ध अभी अपनी समाधियों के शीर्षासन मे औधे लटके है। अपार यातना सह कर भी, तप का प्रचण्ड पराक्रम और पुरुषार्थ कर के भी, वे अभी भाग्य के अँधेरे भवारण्य मे ही टक्करें खा रहे है। लेकिन मैं पा गया, मैंने पुरुषार्थ की अन्तिम विफलता का साक्षात्कार कर लिया। और स्वयम् नियति ने प्रकट हो कर मेरे गले मे वरमाला डाल दी।'

'सुनो रे भव्यो सुनो, अब मेरी धर्म-प्रज्ञप्ति सुनो, और सारी आधि-व्याधियो से इसी क्षण त्राण पा जाओ। मैं नही, स्वयम् अस्तित्व अपने सारे आवरण चीर कर तुम्हारे सम्मुख नग्न सत्य बोल रहा है खोल रहा है।

'सुनो रे प्राणियो, तुम्हारे दु.ख-क्लेशो के लिये कोई हेतु-प्रत्यय नही। कारण-कार्य जैसा कुछ भी नही। सभी यहाँ आपोआप, अकारण होता है। सभी कुछ नि सार, निरर्थक, प्रयोजनहीन है। बिना हेतु के ही, बिना प्रत्यय के ही प्राणी क्लेश पाते है। जन्म लेना ही परम पाप और व्यथा है। जन्म लेना ही क्लेश पाना है। लेकिन क्लेश तब टलेगा, जब 'विशुद्धता' आ जायेगी। पर विशुद्धता का कोई हेतु नही। बिना हेतु-प्रत्यय के ही प्राणी अपने आप शुद्ध हो जाते है। न आत्मकार है, न परकार है, न पुरुषकार है, न बल है, न वीर्य है। सभी सत्व, प्राण, भूत, जीवगण विवश है। सभी बल-वीर्य से रहित है।

'नियति द्वारा निर्धारित अवस्थाओ और पर्यायो मे से संक्रमण करते हुए, तमाम जीव छह हजार जातियो मे सुख-दुख का अनुभव करते है। चौदह-सौ हजार प्रमुख योनियाँ है। दूसरी आठ सौ, दूसरी छह सौ। पाँच सौ कर्म हैं। दूसरे पाँच कर्म, तीसरे तीन कर्म, फिर एक कर्म और आधा कर्म। बासठ परिषद्, बासठ अन्तर्कल्प, छह अभिजातियाँ, आठ पुरुष-भूमियाँ, उनचास-सौ आजीवक, उनचास-सौ परिव्राजक, उनचास-सौ नागवास, बीस-सौ इन्द्रियाँ, तीस-सौ नरक। छत्तीस-सौ रजो धातु, सात सज्ञी गर्भ, सात असज्ञी गर्भ, सात निर्ग्रंथ गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात शर, सात गाँठ, सात-सौ पसुर, सात प्रपात, सात-सौ प्रपात, सात स्वप्न, सात-सौ स्वप्न।

'बाल हो कि पण्डित हो, ज्ञानी हो कि अज्ञानी हो, चौदह सौ हजार योनियो और चौरासी हजार महा-कल्पो मे उन्हे आवागमन करना ही पड़ेगा। यह अनिवार्य है। कोई पुरुषकार इसका प्रतिकार या निवारण कर नही सकता। इस चक्र के पूरा होने से पूर्व, आवागमन रोकने की कल्पना व्यर्थ है। यह जन्म-चक्र जिस दिन पूरा हो जायेगा, उस दिन आवागमन स्वत रुक जायेगा। अपने आप विशुद्धता आ जायेगी। निर्मलता स्वयम् लब्ध हो जायेगी। तब घटित होगी अपने आप मुक्ति। इससे पूर्व छटपटाना व्यर्थ है। किसी घटना का कोई हेतु और कारण नही। अत उसके 'कारण' का उच्छेद करने के लिये जप-तप आदि की बात करना मूर्खता है। प्रत्येक घटना नियति द्वारा घटायी जाती है। किसी हेतु या कारण द्वारा नही।

'इसी से कहता हूँ, भव्यो इसी क्षण से सारे सकल्प, प्रयत्न, पुरुषार्थ, परिश्रम का जुआ अपने ऊपर से उतार फेको। निर्विकल्प निर्द्वंद्व हो कर, अस्तित्व और जीवन जैसा सामने आये, उसे स्वीकारो और भोगो। हर सुख का अन्त दुख है, हर दुख का अन्त सुख है। सुख-दुख का विकल्प ही त्याग दो। सारे बन्धन, त्याग, तप-सयम प्रयत्न छोड दो। बस फिसलते जाओ, बहते जाओ, और क्षण-क्षण सहज मुक्त होते जाओ।

'इस सहज सुख और मुक्ति मे जीने के लिये नग-विहार, मस्त हो जाओ। चरम सुरापान करो, चरम गान करो, चरम नृत्य करो, चरम पुष्पोत्सव करो, फूल बरसाते पुष्करावर्त महामेघ की धाराओ मे चरम अभिषेक-स्नान करो, चरम गन्ध-हस्ति की तरह उन्मत्त विहार करो। चरम महाशिला-कण्टक सग्राम खेलो, चरम रथ-मुशलो की मार के बीच भी चरम सुरापान कर चरम नृत्य-गान करो। यही अष्टाग चर्या मेरे अति कैवल्य मे ध्वनित हुई है। और इसी का साक्षात्कार करके मैं चरम तीर्थकर हो गया हूँ। यही आठ चरम सत्य है, चरम दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है। यही चरम मुक्ति का परम और एकमेव मार्ग है।

'अभी और यहाँ इनका प्रयोग करो, और अभी और यहाँ इस नियति के अनिर्वार चक्र मे ही मुक्ति का अनुभव करो। '

और अपनी धर्म-पर्षदा के मच पर ही परम नियति-नटेश्वर मखलि गोशालक, चरम नियति-नटी मृत्तिका हालाहला के साथ चरम पान, चरम गान, चरम नृत्य, चरम पुष्पाजलि वर्षा, चरम कादम्बिनी-स्नान, चरम गंध-हस्ति-चर्या, चरम महा शिलाकटक सग्राम और चरम रथ-मुशल सग्राम की लीला करते हुए, सारे भान भूल कर उन्मत्त, उन्मुक्त, उद्दाम हो जाते। और उस महारास और महाताण्डव मे, सारे ही आजीवक श्रमण-श्रमणियाँ भी अष्टाग चरम-चर्या करते हुए एकाकार हो जाते।

पूर्वीय आर्यावर्त के इस छोर से उस छोर तक के सारे राजनगरो और जनपदो मे, इस निर्बन्ध अष्टाग चर्या मे भारी उथल-पुथल मच गयी। मूर्ख अज्ञानी प्रजाओ को गोशालक का दार्शनिक वाग्जाल और प्रलाप तो खाक समझ मे न आया। पर जितना ही वह कम समझ मे आया, उतना ही उसका आतक जन-हृदय पर अधिक छाया। तिस पर अष्टाग चर्या मे तो जनो को अपने सारे क्लेश निर्ग्रथ हो कर बहते दिखायी पडे। आर्यावर्त की उच्छिन्न चेतना मे, मक्खलि गोशालक की यह उलग वामाचारी धर्म-प्रज्ञप्ति और भोग-चर्या अनायास गहरे-गहरे उतरती चली गयी। देखते-देखते उसके मख-श्रमणो और मख श्रावको की सख्या दिन-दूनी और रात-चौगुनी होती हुई बढने लगी।

गगा-यमुना के पानियो पर नाचती नियतिवाद की यह धर्म-प्रज्ञप्ति, अचीरवती, हिरण्यवती, गण्डकी और शोण नदियो के प्रवाहो पर तडिल्लता-सी खेलती हुई, पूर्वीय समुद्र का वक्ष चीरती हुई, सार्थवाहो के जलपोतो पर चढ कर महाचीन और सुवर्णद्वीप तक पर गूँजती सुनाई पडी। ज्ञान के दुर्गम्य आलोक-शिखर ओझल हो गये। उन पर घिरती अन्धकार की दारुण कुहा मे, अज्ञान और उलग भोगाचार की जय-दुन्दुभि बजने लगी।

○ ○ ○

यो पाँच वर्ष कब बीत गये, पता ही न चला। गोशालक ने प्रजाओ को जिस अनुपाय सहज मुक्ति का सन्देश दिया था, वह मुक्ति नही, मूर्च्छा सिद्ध हुई। सतह पर उससे एक आश्वासन ज़रूर मिला, लेकिन लोक की भटकी चेतना को वह कोई ठहराव या मुकाम न दे सकी। कोई ऐसी धुरी भीतर स्थापित न हो सकी, जिस पर जीवन-जगत् और उसके व्यवहार को टिकाया जा सके, उसे कोई अविचल आधार मिल सके। किसी अज्ञात भय से ही सही, प्रजा के हृदय मे जो नैतिक मर्यादा और बिवेक स्वत. जागृत था, वह भी लुप्त हो गया। एक उन्माद की धुन्ध मे सारा लोक ऊभ-चूभ हो रहा था।

ठीक तभी तीर्थंकर महावीर, उस धुन्ध को चीरते हुए, विपुलाचल के शिखर पर एक विवस्वान् महासूर्य की तरह उदय हुए। उनके कैवल्य के प्रभा-मण्डल से, आपोआप सारे समकालीन विश्व के दिगन्त आलोकित हो उठे। चारों ओर उद्‌बुद्ध चेतना के नये क्षितिज झलमलाते दिखायी पडे। प्राणि मात्र अपने ही भीतर से स्वत. जाग कर, किसी गहरे समाधान की स्वयम्भू शांति महसूस करने लगे। वायु, जल, वनस्पति जैसे स्थावर एकेन्द्रिय जीव, और कीट-पतग तक मे कोई नया उल्लास और अकारण आनन्द उमग आया। कण-कण जाग उठा। एक नयी नैतिक मर्यादा उदीयमान दिखायी पडी। प्रभु की कैवल्य-प्रभा से सारा लोक, किसी नव्य ऊषा की आभा मे नवजन्म लेता-सा प्रतीत हुआ।

साथ ही प्रभु के देवोपनीत समवसरण का शाश्वत ऐश्वर्य, और उनके चरणो मे झुके इन्द्रो और माहेन्द्रो के स्वर्ग, उनके चरम-तीर्थंकर होने का अचूक प्रमाण सिद्ध हुए। लोक-चेतना मे अनायास ही यह प्रत्यय ध्रुव हो गया, कि अर्हत् महावीर ही एकमेव शास्ता, और अवसर्पिणी के युगन्धर शलाका-पुरुष है। सारे पूर्वीय भरत-खण्ड मे उनके समवसरणो ने एक विभ्राट ज्योति-शिखा प्रज्ज्वलित कर दी थी। वे मानो हिमवान् के शिखर पर खडे हो कर धारासार बोल रहे थे, और उनकी दिव्य वाणी मे डूब कर सारा समकालीन विश्व किसी नयी दिशा मे प्रवाहित हो गया था।

महावीर के उदय के कुछ ही समय बाद सिद्धार्थ गौतम भी सम्यक् सम्बुद्ध हो कर, हिरण्याभ पूषन् की तरह आर्यावर्त के परिदृश्य पर प्रकट हुए। उनके निरन्तर परिव्राजन, प्रवचन, और प्रतिबोध ने भी प्रजाओ को एक स्वत स्फूर्त बोधि मे आश्वस्त कर दिया। उनकी सम्यक् सम्बोधि ने मानवो को, विपश्यना ध्यान द्वारा पूर्ण सचेतन होने की अमोघ योग-विद्या सिखा कर, अपने आप मे ही सारे प्रश्नो का समाधान पा लेने की कुजी प्रदान कर दी। उनके प्रतीत्य-समुत्पाद के महामत्र ने जन को स्वतत्र और स्वाधीन जीवन जीने की कला सिखा दी। उनके अष्टाग धर्म-मार्ग और पचशील ने व्यक्ति और समाज को स्वस्थ और सगठित जीवन जीने की एक आचार-सहिता सौप दी। उनके महाकारुणिक व्यक्तित्व मे, अन्धकार मे भटकती अनाथ प्रजा की चेतना को, एक परम पिता की शरण प्राप्त हो गयी।

आर्यावर्त मे वह चिर प्रतीक्षित पुनर्जागरण और नवोत्थान घटित हो गया, जो कि सृष्टि और इतिहास की अनिवार्य घटना थी। नव जागृति के इस आलोक मे गोशालक द्वारा उत्पन्न निष्क्रिय भोग-मूर्च्छा की कुहा फट गयी, कोहरा छँट गया। उसकी धर्म-सभाओ मे अब केवल अन्धी भेडो का रेवड जमा होता था। कोई सच्चा जिज्ञासु या मुमुक्षु वहाँ अब फटकता तक

नही था। कुछ विरल वैयक्तिक भक्त और अनुयायी ही उसके आसपास रह गये थे। उनके प्रश्रय मे, उन्ही के घर-आँगनो या आम्र-बनो मे वह सुरापान कर उन्मत्त प्रलाप करता रहता था।

हालाहला का भी भ्रम-भग हो चुका था। पर वह गोशालक को अन्त करण से प्यार करती थी। उसमे उसने अपना नियोगी पुरुष देखा था। और वह किमी अज्ञात नियति से उसकी वरिता और समर्पिता हो कर रह गयी थी। उस पहले दिन गोशालक के करुण निरीह बालक मुख को देख कर वह पसीज गयी थी। उसके अनाथत्व के सम्मुख, अपने बावजूद, उसकी गोद विवश हो कर सामने फैल गयी थी। आज जब वह फिर सारी जागृत दुनिया द्वारा अवहेल दिया गया था, तब वह उसे कैसे ठेल देती। सो वह उसके साथ अटूट खडी रही, और बराबर उसे सहारा देती रही। लेकिन बुद्ध और महावीर के आलोक मे वह भी जाग उठी थी, और मन ही मन उनके प्रति वह प्रणत थी।

○ ○ ○

श्रीभगवान् उन दिनो श्रावस्ती के परिसर मे ही विहार कर रहे थे। यो वे पहले से ही गोशालक के उत्थान और पतन दोनो के दूर से साक्षी रहे थे। वे यह भी देख रहे थे, कि गोशालक का वह प्रथम प्रभाव अवश्य अवसान पा गया था, फिर भी भारतीय महानगरो के राजमार्गो और अन्तरायणो मे जब वह अपने को चरम तीर्थंकर घोषित करता हुआ, उन्मत्त प्रलाप करता घूमता था, तो हज़ारो मूढ जनता भेडो की तरह उसके पीछे चलती थी। उससे आतकित होती थी। लोगो के मन मे दुविधा भग प्रश्न उठता था, चरम तीर्थंकर—महावीर है, या गोशालक? लेकिन गोशालक अपने को प्रति-तीर्थंकर भी कहता था। तो क्या वह महावीर से आगे का तीर्थंकर था?

शास्ता के पट्ट गणधर भगवद्पाद गौतम को तब यह कर्त्तव्य प्रतीत हुआ, कि वे स्वयम् श्रीभगवान् के मुख से इसका निर्णय करवाये। और इस तरह प्रजा के चित्त-भ्रम का सदा के लिये निवारण हो जाये। सो उन्होने एक दिन प्रभु की धर्म-पर्षदा मे प्रश्न उठाया

'भन्ते भगवान्, मक्खलि गोशालक सर्वत्र अपने को चरम तीर्थंकर, प्रति-तीर्थंकर, जिनेन्द्र अर्हन्त कहता फिरता है? क्या यह सत्य है?'

भगवान् कुछ बोले नही। बडी देर तक चुप ही रहे। गौतम अन्तराल से प्रश्न दोहराते रहे। और प्रभु निश्चल दृष्टि से समवसरण के सारे मण्डलो को, और उनके पार तक ताकते रहे। अचानक सुनायी पडा.

'यह प्रश्न उठता ही नही, गौतम! सत्य और मिथ्या का निर्णय स्वयम् समय ही कर सकता है।'

'तो भगवन्, क्या गोशालक निरा मृषावादी, मिथ्यावादी है?'

'सर्वज्ञ अर्हत् अविरोध-वाक् होते है। वे किसी को भी एकान्त सत्यवादी या एकान्त मिथ्यावादी कैसे कह सकते है। कही कोई मृषावादी है, कि कही कोई सत्यवादी है। क्या मृषा को मृषा कहना जरूरी है? जो है सो सामने आयेगा।'

'सुने भन्ते, कल भिक्षाटन करते हुए श्रावस्ती के श्रेष्ठि-चत्वर से मैं गुज़र रहा था। अचानक भीड़ मे घिरे गोशालक ने मुझे पुकार कर कहा 'सुनो गौतम, अपने गुरु महावीर से कह देना कि उनका प्रतिवादी चरम तीर्थंकर, प्रति-तीर्थंकर गोशालक पैदा हो चुका है। उसकी धर्म-प्रज्ञप्ति ने महावीर के तीर्थंकरत्व को धूल मे मिला दिया है।'—मैंने कोई उत्तर न दिया, भन्ते। उत्तर तो स्वयम् शास्ता ही दे सकते है। लोक भी इसका उत्तर चाहता है। इमी से पूछना अनिवार्य प्रतीत हुआ, भगवन्।

'बालक के उत्पातो को भी प्यार ही किया जा सकता है, गौतम। मैंने एक बार उसे अग्निलेश्या का खिलौना दे दिया था। वह उससे प्रमत्त होकर खेल रहा है। एक दिन खिलौना टूटना है, और खेल खत्म हो जाना है। उस आग का अन्तिम खेल वह महावीर के साथ ही खेल सकता है। वह खेल यही खत्म हो सकता है, अन्यत्र नही। उस उत्पाती से कहो, कि महावीर उसकी प्रतीक्षा मे है।'

'क्या यही उत्तर उसे प्रेषित कर दूँ, देवार्य?'

'उससे कहो, कि महावीर स्वयम् उसका उत्तर है। सम्मुख आये और देख ले। उसके बिना वह चैन न पा सकेगा!'

श्रोतागण उत्सुक हो आये। मानो कि महाकाल के मच पर किसी नये नाटक की यवनिका उठने वाली है। सारे काशी-कोशल मे उदन्त फैल गया, इस बार श्रीभगवान् फिर किसी नये रहस्य का उद्घाटन करने वाले है।

○ ○ ○

कानोकान बात गोशालक तक पहुँच गयी। चट्टान की तरह तड़क कर वह बोला

'हूँ तो महावीर ने मुझे बुलाया है! उसे मेरे पास आने में डर लगता है न। वह जानता है कि मैं उसका काल हूँ। और राजवशी तीर्थंकर सिंहासन से नीचे कैसे उतर सकता है? मै सडकचारी, सर्वहारा जनता का तीर्थंकर हूँ। मेरा मान इतना छोटा नही, कि उसके पास जाने से भग हो जाये। मैं मैं उस महावीर का भी मानदण्ड हूँ, और मेरा यह मस्कर-दण्ड उसे भी माप कर काल के प्रवाह मे फेंक देगा। सो मुझे तो उसका कोई भय नही। क्यो कि मैं उसकी मृत्यु हूँ।'

'ठीक है, हमी जायेंगे, देवी हालाहला, उसके उस इन्द्रजाली समवसरण मे। उसकी भरी धर्म-सभा मे ही उसे पराजित करूँगा। ताकि फिर वह सर न उठा सके। अपने एक ही दृष्टिपात से मैं उसके समवसरण की देव-माया को ध्वस्त कर दूँगा। और तब आयेगी उसकी स्वयम् की बारी। हूँ ! तैयारी करो, देवी, हम महावीर के समवसरण मे जायेंगे।'

हालाहला का हृदय किसी अमगल की आशंका से काँप उठा। पर क्या 'इनको' रोका जा सकता है? महावीर का शिशुवत् श्रीवदन हाला की आँखो मे झलक उठा। वह पीठ फेर आँसू पोछती हुई, चुपचाप वहाँ मे चली गई।

अगले प्रात काल की धर्म-पर्षदा मे, किसी अपार्थिव होनहार की स्तब्धता छायी है। क्या कोई आसमानी-सुल्तानी होने वाली है? पर प्रभु तो सदा-वसन्त, वैसे ही मुदित मुस्कराते बिराजे है।

सहसा ही समवसरण के परिसर मे, नक्काडे तडक उठे। शखनाद, घटा-घडियाल, तुरही का घोष आसमान फाडने लगा। और थोडी ही देर मे एक क्षपणक वेशी औघड, मस्कर-दण्ड से हवाओ मे वार करता हुआ, सन्नाता हुआ, श्रीमण्डप की ओर आता दिखाई पडा। उसके सग श्यामा-सुन्दरी देवी हालाहला, नतशीश धीर गति से चल रही थी। उनके ठीक पीछे, छह दिशाचर श्रमण गणधर चल रहे थे। और उनके पीछे उमडी आ रही थी, महानगर श्रावस्ती की सडकचारी अन्धी भीड। एक भेडो का आनन-फानन कारवाँ।

श्रीमण्डप मे प्रभु के सम्मुख उपविष्ट होते ही, भूमि पर दण्ड का आघात कर के गोशालक गरजा

'काश्यप महावीर, तुम्हे महामख गोशालक के पास आने की हिम्मत न पडी, तो मैं ही आ गया। अब महाराजे नही, मख पृथ्वी पर राज करेगे। अब पाखण्डी प्रभु-वर्ग नही, दीन-दलित स्वयम् अपने तारनहार तीर्थंकर हो कर, चिरकालीन प्रभु-सत्ता को अपने पैरो तले रौदते हुए इस धरती पर चलेंगे। और वह पहला प्रति-तीर्थंकर स्वयम् गोशालक है, काश्यप। मुझे पहचानो महावीर। सुन रहे हो, इक्ष्वाकु भगवानो के औरस-पुत्र महावीर?'

'शास्ता तुझ से सहमत है, वत्स। तू नग्न सत्य बोल रहा है। नग्न महावीर इसे कैसे नकार सकता है!'

'लेकिन सुनना हूँ, अर्हत् महावीर मुझे मृषावादी, मिथ्यावादी कहते है? और सामने पा कर मुझे सत्यवादी भी कह रहे है। आखिर तो पाखण्डी प्रभु-वर्गी हो न। दोहरी बात करना तुम्हारे खून की आदत है। आज मै तुम्हें इकहरा कर देने आया हूँ, इक्ष्वाकु!'

'यही तो प्रति-तीर्थंकर जिनेन्द्र गोशालक के योग्य बात है। महावीर को और भी निर्ग्रंथ करो, वह तुम्हारा कृतज्ञ होगा, सौम्य।'

'बात को टालो मत, काश्यप, मै आज दो टूक फैसला करने आया हूँ। मृषावादी तुम हो या मैं हूँ ?'

'वह निर्णय भी अब प्रति-तीर्थंकर ही कर सकता है। चरम तीर्थंकर भी तो अब तुम्ही हो, आयुष्यमान् ! महावीर को तुम पराजित कर चुके, अब वह तुम्हें सत्यवादी कहे या मृषावादी कहे, क्या अन्तर पडता है। तुम महावीर के कथन से परे जा चुके, वत्स !'

गोशालक सन्न रह गया। जिसने स्वयम् ही अपनी पराजय स्वीकार कर ली, उसे पराजित कैसे किया जाये ? जिसने स्वयम् ही अपने विरोधी की सत्ता को अपने ऊपर मान लिया, उस सत्ताधीश को कैसे पदच्युत किया जाये ? गोशालक के लिये अपने क्रोध को कायम रखना मुश्किल हो गया। मगर अपना क्रोध खो कर वह कैसे जिये, कहाँ रक्खे अपनी सत्ता ? ओह, भयकर है यह मित्रमुखी शत्रु ! इस पर कहाँ प्रहार करूँ, यह तो हर पहोच और पकड से बाहर है। मगर मै इसे पकड कर उधेडे बिना, प्रति-तीर्थंकर कैसे हो सकता हूँ। गोशालक को फिर अपने अहकारी क्रोध के लिये आधार मिल गया। उसने अपना मस्कर-दण्ड पूरे वेग से सन्ना कर महावीर की ओर तानते हुए कहा

'जानो महावीर, आदि मे मस्कर मख ही थे। मनु से भी पहले, मख परमपिता थे। वही प्रलय लाये। हमारे वीर्य के विप्लव की सन्तान थे तुम्हारे वैवस्वत मनु, नाभि और ऋषभ। हमी इस जगत् की अन्तिम नियति रहे सदा। मृत्यु, प्रलय, सत्यानाश। मैं उन्ही का वशज हूँ, तुम्हारा काल !'

'महावीर उस नियति का सामना करने को प्रस्तुत है, आदीश्वर मखदेव !'

'तो तुमने नियतिवाद को स्वीकारा ?'

'नियति भी, कृति भी, प्रगति भी। नियति है, कि उसको चुनौती देती कृति और प्रगति भी खडी है। जो पूर्वज है, उसका भी कोई पूर्वज तो रहा ही होगा। सत्ता मे कौन किसी के ऊपर-नीचे हो सकता है ? वह एक स्वयम्भू चक्र है। पूर्वज मख को अनुज महावीर प्रणाम करता है !'

'तुम अपना धर्म-चक्र मुझ पर थोप रहे हो, इक्ष्वाकु ! मगर मै उसे तोड कर आगे जा चुका। मेरी सत्ता आज सर्वोपरि है। मैं जो चाहूँ, वह कर सकता हूँ। जो मैंने होना चाहा, वह मैं हो कर रहा। जो मैंने पाना चाहा, वह मैं पा कर रहा। देख रहे हो, मेरी वामागिनी परमा सुन्दरी हालाहला को। उदयन और प्रसेनजित् इसके पदागुष्ठ पर ललाट रगडने को तरस कर रह गये। पर वे इसकी एक चितवन तक न पा सके। मगधेश्वर अजात-शत्रु श्रामण्य का तुरत फल तुम सब तीर्थंकरो से पूछता फिरा। तुम और

बुद्ध भी उसका कोई प्रत्यक्ष प्रामाणिक फल न बता सके। अजात को उत्तर मिला गोशालक से। सुन्दरी हालाहला यह है मेरे श्रामण्य का प्रत्यक्ष फल। यह तुम्हारे समवसरण की जादुई देवमाया नही। यह ठोस रक्त-मास की काया है। यह मेरी साक्षात् नियति है!'

'तुमने जो होना चाहा, वह हो कर रहे। जो पाना चाहा, पा कर रहे। तुम्हारा श्रामण्य फलित हुआ, देवी हालाहला मे। तुम्हारे इस पुरुषार्थ और प्राप्ति को देख, अर्हत् के आनन्द की सीमा नही!'

'पुरुषार्थ कैसा, काश्यप। यह मेरी नियति है!'

'लेकिन तुम्ही ने तो कहा, भद्र, कि जो होना चाहा, हो कर रहा। जो पाना चाहा, पा कर रहा। तो तुमने चाहा न? तुमने अभीप्सा की। तुमने अभिलाषा की। तुम्हारी जनम-जनम की प्यास चरम पर पहुँच कर चीत्कार उठी। कि उसके उत्तर मे परमा सुन्दरी हालाहला प्रकट हो आयी। और तुम चरम-पान, चरम-गान, चरम नृत्य, चरम पुष्प-विहार, चरम सग्राम को उपलब्ध हुए। तुमने कुछ चाहा, तो तुमने कुछ किया न? यह क्या पुरुषकार नही? यह क्या पुरुषार्थ नही? चाह, अभीप्सा, पुकार, यह क्या क्रिया नही? यदि यह तुम्हारी क्रिया नही, तो तुम्हे अपनी उपलब्धि का गर्व क्यो? औरो से बडा और प्रभु होने का अहकार क्यो? तुम महावीर को पराजित करने आये, क्या यह पुरुषकार नही? क्या यह प्रतिक्रिया नही, प्रतिकार नही?'

'नही, मैं केवल अपनी नियति को बखान रहा हूँ?'

'तुम सरासर चाहने और करने की भाषा बोल रहे हो। अपने ही कहे को झुठलाना चाहते हो, सौम्य?'

'वह मैं नही, मेरी नियति बोल रही है। मैं उसका माध्यम मात्र हूँ।'

'तो फिर गर्व किस बात का? फिर कौन किसको पराजित कर सकता है? फिर चरम तीर्थंकरत्व, और प्रति-तीर्थंकरत्व का दावा किस लिए? फिर आदि और बाद मे होने या न होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?'

'तुम भी तो क्रम-बद्ध पर्याय मानते हो, महावीर? यह पर्याय-शृखला अनिवार्य है। इसमे से हर पदार्थ और प्राणी को गुजरना ही है। और तुम भी तो काल-लब्धि मानते हो? मानते हो, कि ठीक नियत काल लब्ध होने पर ही जीव को सम्यक्त्व, कैवल्य, और मोक्ष मिल सकता है। तुम्ही ने बार-बार मुझ से आगामी नियति की आगाही की, और वह सच हुआ। प्रारब्ध अनिवार्य है, यह तुमने भी माना। फिर पुरुषकार कहाँ रहा?'

'अभी और यहाँ सही कर्त्तव्य करने मे। सही चर्या करने मे!'

'क्रमबद्ध पर्याय मे वह पहल और कर्तृत्व कैसे सम्भव है?'

'विश्व-तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार करने मे। इस सब को यथार्थ देखने और जानने मे। इस सब का सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान करने मे। उससे पर्याय-प्रवाह मे भी आत्मा उत्तीर्ण हो कर तैरता चलता है। तो पर्याय की पकड ढीली पड जाती है। उससे सम्यक् चारित्र्य रूप क्रिया आप ही होती है। स्वरूपस्थ ज्ञाता-द्रष्टा हो जाने पर, प्रतिक्रिया रुक जाती है। सो भावी कर्माश्रव रुक जाता है। तब स्वत सम्वर होता है, आपका अपने मे सवरण हो जाता है। तो पूर्वाजित कर्मबन्ध झड जाते है, आगामी कर्म-बन्ध अशक्य हो जाता है। यह जानना और इस ज्ञान मे जीना ही चरम-परम पुरुषार्थ है। ज्ञान से बडी कोई क्रिया नही। क्यो कि वह स्वतत्र चिद्क्रिया है। वह अकर्त्ता हो कर भी कर्त्ता है, कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता है। यह तर्कगम्य नही, अनुभवगम्य है, देवानुप्रिय गोशालक।'

'कर्त्ता भी, अकर्त्ता भी? वही तुम्हारा चालाक अनेकान्तवादी गोरख-धन्धा। चालाक अभिजातो का चालाक दर्शन। बुद्धि की चतुरग-चौसर खेलने का आजीवक को अवकाश नही। वह यथार्थ जीवन जीता है, यथार्थ देखता है, यथार्थ कहता है। तुम ज्ञान के घुमाव-फिराव मे मनुष्य को भरमाते हो, और अपनी प्रभुता का आसन अक्षुण्ण रखना चाहते हो, अभिजात काश्यप! मैं तुम्हारे इस मायावी खेल को खत्म करने आया हूँ!'

प्रभु चुप हो गये। गोशालक आनन-फानन, अनाप-शनाप बोलता, बर्राता चला गया। प्रश्न और चुनौतियाँ ललकारता रहा। प्रभु ने कोई उत्तर न दिया।

'तो तुम हार गये, काश्यप! तुम्हारा मृषावाद नग्न हो कर सामने आ गया। लोक के समक्ष, अपने इन हजारो मुण्डे-नगे चेलो के समक्ष, अपनी पराजय स्वीकार करो। कहो कि—मैं हार गया, तुम जीत गये मखेश्वर! कहो कि—चरम तीर्थंकर मैं नही, गोशालक है!'

भगवान् अनुत्तर, निश्चल, मौन हो रहे।

'तुम चुप रह कर बच नही सकते, काश्यप। मैं इस खेल को आज खत्म कर देने आया हूँ।'

'इसी लिये तो तुम्हे बुलाया है, भद्रमुख!'

'तुम्हारा काल तुम्हारे सामने खडा है, महावीर। तुम्हारी मृत्यु सम्मुख है। सामना करो।'

'मैने स्वयम् उसे बुलाया है, मैं उसके सामने प्रस्तुत हूँ।'

'मेरे क्रोध को और न उभारो, काश्यप। तुम अब भी भ्रम मे हो।'

'तुम्हारा क्रोध मुझे प्रिय है, भद्रमुख। उसे खुल कर पूरा सामने आने दो। और चुक जाने दो।'

'तुम आग से खेल रहे हो, महावीर। तुम अपनी मौत से खेल रहे हो!'

'महावीर तो बचपन से आज तक यही करता रहा, वत्स। उसी ने तुम्हे यह आग दी है, कि तुम भी इससे जी चाहा खेलो। मैं इस खेल मे तुम्हारा साक्षी हूँ।'

'मैं इस खेल को सदा के लिये खत्म कर देने आया हूँ।'

'इसी लिये तो तुम्हे महावीर ने यहाँ बुलाया है।'

'मैं अभी और यहाँ तुम्हे और तुम्हारे इस समवसरण की इन्द्रपुरी को जला कर भस्म कर दूंगा!'

'इसी लिये तो आज तुम्हारा आवाहन किया है, देवानुप्रिय। इसी दिन के लिये तो तुम्हे महावीर से एक दिन अग्नि-लेश्या प्राप्त हुई थी।'

'तुम तुम? तुम से प्राप्त हुई थी? सरासर झूठ। वह वैशिकायन तापस की विद्या थी। तुमने वह उससे पाकर, मुझे बतायी। वह तुम्हारी नियति थी। तुम्हारा कर्तृत्व नही। मेरी आग, मेरे तप का फल है, वह तुम्हारा दान नही। अपने दान-गर्व से बाज आओ, इक्ष्वाकु काश्यप!'

'मेरे पास आग कहाँ, सौम्य! तुम्हारी अपनी ही आग का स्रोत तुम्हे बताया मैने, तुम्हारे चाहने पर। तुम्हारी परमाग्नि के चरम को देखना चाहता हूँ। उसे चुकाओ मुझ पर, और जानो कि मै कौन हूँ। उसके बाद यदि कुछ बच रहे, तो वही महावीर है।'

'मेरी आग से तुम बच निकलोगे, महावीर? सावधान, तुम्हारे इस मान को मैं आज अन्तिम रूप से तोड़ देना चाहता हूँ।'

'इसी के लिये तो तुम्हें बुलाया है, आयुष्यमान्!'

'तो ले, अपनी मौत का सामना कर!'

और एक प्रत्यालीढ धनुर्धर की मुद्रा मे, गोशालक तीन पग पीछे हटा। फिर मानो शर सन्धान के आवेग मे तीन पग आगे छलाँग भरी। उसकी कोपाग्नि पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। उसकी नाभि विस्फोटित हुई। और हठात् सहस्रफणी ज्वाला-सी एक कृत्या की शलाका उसने महावीर पर प्रक्षेपित की। प्रभु निस्पन्द, निश्चल, केवल देखते रहे।

सारे समवसरण मे हाहाकार मच गया। एक क्षणार्ध को सब दर्शको की आँखो मे प्रलयान्धकार छा गया। सब को लगा कि अभी-अभी प्रभु भस्मी-भूत हो कर धरा पर आ गिरेंगे। प्रभु की सेवा मे नियुक्त इन्द्र को अपना वज्र सचालन करने का भी होश न रहा।

कि सहसा ही एक आकाशी निस्तब्धता छा गयी। सर्व ने शान्त हो कर खुली आँखो देखा कृत्या की उस शलाका ने झुक कर अर्हन्त महावीर को प्रणाम

किया। फिर उनके मलयागिरि चन्दन जैसे पावन पीताभ, शीतल-सुगन्धित शरीर की तीन प्रदक्षिणा दे कर, वह कृत्या की लपट पीछे लौटती दिखायी पड़ी। और लौट कर, अगले ही क्षण, वह एक तडित् टकार के साथ अपने प्रक्षेपक गोशालक के शरीर मे प्रवेश कर गयी। गोशालक की सारी देह मे सर्वदाहक अनल के शोले उठने लगे। वह हाहाकार करने लगा। फिर भी वह आक्रन्द करता हुआ गरज उठा

'महावीर, खेल खत्म हो गया। मेरी यह तपाग्नि तुम्हें छह महीनो के अन्दर तिल-तिल जला कर भस्म कर देगी। तुम छद्मस्थ ही मर जाओगे। अपने ही जगाये ज्वालागिरि मे तुम भस्मीभूत हो गये, काश्यप। प्रभुवर्गों की प्रभुता पृथ्वी पर से आज पुंछ गयी। केवल मैं हूँ मैं हूँ मैं हूँ चरम तीर्थंकर। आगामी युगो का शास्ता।' आह आह' आह !'

'भद्रमुख देवानुप्रिय, तेरी आग चुक गयी। वह महावीर तक पहुँच ही न सकी। तू स्वयम ही उसका ग्रास हो गया। महावीर अभी सोलह वर्ष और पृथ्वी पर विचरेगा। पर तू अब केवल सात रात्रियो का मेहमान है। महावीर तेरी जलन मे तेरे साथ है, वत्स!'

हालाहला आर्त्त विलाप करती हुई, प्रभु के श्रीपाद मे पछाड खा कर गिर पडी। उसने पुकार कर निवेदन किया

'हे दयानाथ, हे तारनहार, हे दीनबन्धु! हे दलित-पीडित मात्र के उद्धारक! तुम तो दुष्ट, पापी और अपने प्रहारक के भी तारक हो। हे सर्वत्राता, इन्हें इस पापाग्नि से उबार लो। और मुझे श्रीचरणो की दासी बना लो!'

'देवी हालाहले, आर्य गोशालक को सम्हालो। वे गिर रहे है। हो सके तो उनके इस दारुण दाह की वेदना को, अपनी प्रीति का चन्दन-स्पर्श अन्त तक देती रहना। उन्हें छोड न देना। अपनी गोद मे उन्हें लिया है, तो वही उन्हें अन्तिम समाधि भी दे देना।'

'मुझे प्रभु ने शरण न दी?'

'तुम महावीर की गोद मे हो देवी, और तुम्हारी गोद मे है गोशालक!'

और ठीक तभी तीव्र दाह की आर्त्त चीत्कार करके गोशालक हालाहला की गोद मे आ गिरा।

और प्रभु, अपने रक्त-कमलासन पर ही आविर्मान एक शीतल नील-प्रभा मे अन्तर्धान होते दिखायी पडे। त्रिलोकी मे चरम तीर्थंकर महावीर की जयकारें गूँजती सुनायी पडी।

○ ○ ○

अचीरवती के तट पर मृत्तिका हालाहला की एक घनी छायादार वाटिका है। पेड़ो के अन्तराल से अचीरा के चमकते बहते जल दिखाई पड़ते

हैं। इसी वाटिका मे सघन लता-फूलो से छायी एक कुटीर है। उसकी छाजन उशीर की घास और जवासे की शीतल शाखा-टट्टियो से निर्मित है। उस पर धारा-यन्त्र द्वारा जल-फुहियाँ बरसती रहने से कुटीर मे गहरी शीतलता व्याप्त रहती है। अन्दर का आँगन भी विशुद्ध माटी का है। मृत्तिका कुम्हारिन ने यहाँ ठीक एक माटी-कन्या की तरह अपने को माटी के साथ सीधे तदाकार कर के जीने का अपना सुख-स्वप्न रचा है।

इसी कुटीर मे अग्नि-लेश्या से दग्ध गोशालक को रक्खा गया है। उसके शरीर का अणु-अणु भीषण दाह-ज्वर से सुलग रहा है। उसे क्षण भर को भी चैन नही। हालाहला दिन-रात उसे चारो ओर से अपनी शीतल मृत्तिल देहगन्ध से छाये रहती है। उसकी अनेक दासियाँ, आज्ञा पा कर अनेक शीतोपचार प्रस्तुत करती रहती हैं। एक से एक बढ़ कर शीतल मधुर पेयो का ताँता लगा रहता है। नाना तरह के, चन्दन-कपूर और पिंगल माटी के आलेपन चलते रहते हैं।

पास ही पके आमों का टोकना पडा रहता है। गोशालक दाह के शोष से टीस कर, उसका शमन करने को मधुर आम्रफल चूसता चला जाता है। बीच-बीच मे मृत्तिका-कुम्भ मे से पुरातन भूगर्भी मदिरा मृद्भाण्ड मे ढाल कर, देवी हालाहला को अर्पित करके पीता रहता है। फिर उन्मत्त हो कर, पीडा से आर्त्तनाद करता हुआ, हालाहला की ओर अजलियाँ उठाता है। उसके पैंगे और गोदी मे लोट-लोट जाता है। वसन और शैया उसे असह्य है। सो वह सारे साटिक-पाटिक वसन और झोली-डण्डा फेंक कर, विशुद्ध माटी पर नग्न छटपटाता पडा है।

जब भी वह बहुत बेबस होकर हालाहला की गोद मे आ गिरता है, तब हाला भी बहुत अवश होकर अनुभव करती कि उसका माथा महावीर की गोद मे लुढक गया है। प्रभु ने बिदा के क्षण, जो उसे बिन छुए ही अपनी गोद दे दी थी, वह आज कैसी सत्य और प्रत्यक्ष अनुभूत हो रही है। मानो कि प्रभु की शीतल कैवल्य-ज्योति उस मत्तिका के पोर-पोर मे पानी की तरह सिंचती चली जा रही है।

उस विक्षिप्त वेदना मे तड़पते हुए भी, गोशालक की निगाह औचक ही अचीरा के बहते जलो पर चली जाती। उसकी उद्भ्रान्त चेतना मे नदी तदाकार हो जाती। उसके प्रवाह और लहरो में सृष्टि और इतिहास के, अतीत और भविष्यत् के पटल खुलते रहते। मानो कि गोशालक को अपने टूटते-बिखरते शरीर के स्नायु-जाल मे नदी अपनी पूरी मर्मगाथा के साथ सरसराती महसूस होती। उसके उच्चाटित और घूर्णित मस्तिष्क में इतिहास स्वयम् ही बेतहाशा चक्कर काटता रहता। वह अवचेतन के अँधियारे मे गहरे से गहरे

डूबता जा रहा था। पूरी सृष्टि और एतिह्य उसमें चक्कर खाते रहते। अवचेतना के अराजक तमस् मे भटकती उसकी चेतना को, अचीरा ने इतिहास के तमाम विक्षोभो से जोड दिया था।

यातना के इस छोर पर, उसके अष्ट चरम ही उसका एक मात्र सहारा थे। वह नलछट पीता हुआ, और हालाहला को पिलाता हुआ, झुलसाती लपटो की कराहो मे भी चरम पान और गान का उत्सव रचाता रहता। उस देह-दाह को वह अपनी प्रेमाकुल वासना बना कर, बडे विकल राग में रुदन करता हुआ, चरम गान करता। और उन गानो मे वह देवी हालाहला को, बहुत जलन भरा प्रयण-निवेदन करता। फिर पास ही टोकनो मे भरे पडे सुगन्धित फूलो से हालाहला का और अपना चरम पुष्पाजलि अभिषेक करता। और फिर चरम गन्ध-हस्ति की तरह मातुल-मत्त हो कर, हालाहला के साथ गयन्द-क्रीडा करने लगता। दासी-परिचारिकाएँ लाज का आँचल मुंह पर डाल कर भाग खडी होती। शिष्य गणधर अपने कुटीरो मे दुबके रहते। वे ग्लानि से विरक्त और अवसन्न हो गये थे। इस महायातना के दृश्य को सहने की शक्ति उनमे नही थी।

ज्यो-ज्यो गोशालक का दाह बढता जाता, वह चीख कर आर्त्तनाद कर उठता था 'अरे सग्राम है रे सग्राम। महाशिलाकण्टक सग्राम, महाशिला-कटक सगर छिड गया है। रथ-मूशलो की मार है रे, रथ-मूशलो की मार है। पर मैं चरम तीर्थंकर तुम्हें अभय वचन देता हूँ, ये इन्द्र के वज्र, ये महाशिलास्त्र, ये रथ-मुशल तुम्हारा बाल भी बाँका नही कर सकते। सुनो रे सुनो, मेरा चरम अष्टाग उपदेश सुनो, वही अस्तित्व की चरम त्रासदियों के निवारण का अन्तिम और अमोघ उपाय है। मैं आजीवक-गुरु हूँ जीव और जीवन का जो नग्न यथार्थ स्वभाव है, उसको जैसा का तैसा देखना, जानना, जीना और निर्द्वन्द्व भोगना, यही मेरा चरम मुक्ति मार्ग है। जीवन माटी का, और आदर्श आसमान का प्रभु-वर्गों के प्रभुओ के उस पाखण्डी धर्म और धर्मासन का मैंने उच्छेद कर दिया है। (बीच-बीच मे वह पीडा से कराहता और चीत्कार उठता) देखो रे देखो, मैंने स्वयम् अपने ही कोपानल मे हवन होना स्वीकार कर, प्रभुवर्गी महावीर का शलाका-दाह कर दिया है। चरम तीर्थंकर गोशालक की मस्कर-शलाका ने उसे भीतर ही भीतर दाग दिया है। केवल छह महीनो मे वह भस्म हो कर माटी मे मिल जायेगा।

'और सुनो रे भव्यो, तब चरम तीर्थंकर गोशालक का अष्टाग धर्म-चक्र पृथ्वी का भाग्य बदल देगा। उसकी त्रासद नियति ही, उसकी आह्लादक मक्ति बन जायेगी।' अरे मैं जल रहा हूँ मै हवन हो रहा हूँ। मेरी चर्बी, अस्थियाँ, स्नायु, मस्तिष्क, मेरा अग-अग आग से चटख कर अष्टाग धर्मवाणी

उच्चार रहा है। शिला-कटक और रथ–मुशल की बौछारों तले मैं कहता हूँ– अरे भव्यो, चरम पान सत्य है, चरम गान सत्य है, चरम नृत्य सत्य है, चरम अंजलि-कर्म सत्य है, पुष्प–सवर्त्त महामेघ द्वारा चरम अभिषेक सत्य है, चरम गन्ध-हस्ति जैसा मत्त विहार सत्य है। चरम महाशिला-कण्टक-संग्राम सत्य है, चरम रथ–मुशलो की मार सत्य है, और चरम तीर्थंकर सत्य है। ये अष्ट चरम जानो, जियो और अभय हो जाओ, मुक्त हो जाओ!

'अरे ये अष्ट चरम मैंने जीवन से सीधे पाये हैं। साक्षात् मृत्तिका रूपा हालाहला के श्यामल माटिल रूप-यौवन, और सौन्दर्य-सुरा से छलकते इसके नयनो से मैंने चरम पान का सुख उपलब्ध किया है। और उसी मे आत्म-विभोर हो मैंने उसे चरम गान निवेदन किया है, उसी आह्लाद मे उसके साथ मैंने चरम पुष्पाजलि अभिषेक किया है। अजातशत्रु का प्रमद-सरोवर, लिच्छवियो की अभिषेक पुष्करिणी––वही है मेरा चरम पुष्प-सवर्त्त महामेघ-स्नान। अजातशत्रु का 'श्रेयनाग' गन्ध-हस्ती, उसके अगो से फूटती कस्तूरी गन्ध–– वही मेरा चरम गन्ध-हस्ती, वही मेरा मत्त गयन्द-विहार। और चरम शिला-कण्टक सग्राम, चरम रथ-मुशल सग्राम। यह तो पहले कभी देखा-सुना नही। पर उसे मैं काश्यप महावीर की वैशाली पर टूटते देख रहा हूँ। इक्ष्वाकु प्रभु-सत्ताको की वैशाली जल कर खाक होते देख रहा हूँ। नही तो मैं चरम तीर्थंकर कैसा? देखो रे देखो, मैं ही उबलता इतिहास हूँ। सारे इतिहास के दबे जख्म और दाह मुझ मे फूट रहे हैं। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और दमन का मैं चरम विक्षोभ और विस्फोट हूँ। मैं ही अतीत, मैं ही वर्तमान, मैं ही भविष्यत्। मैं ही चरम तीर्थंकर!

'अरे देखो, मेरा यह आत्म-हवन। अब मैं देह मे नही ठहर सकता, अब मे फट कर विश्व होने जा रहा हूँ। देवी हालाहले, निरी मृत्तिका हो कर बिछ जाओ तुम, और मै भी अपनी माटी तुम्हारे पोर-पोर मे बसा देने आ रहा हूँ। आदि पुरुष और आदि नारी की इसी तद्रूप मृत्तिका मे से, जीव-बीजक आजीवक धर्म का महावृक्ष ससार मे सदा वर्तमान और विवर्द्धमान रहेगा। उसके न्यग्रोध परिमण्डल मे मनुष्य की भावी पीढियाँ जीवन मे ही मुक्ति का सुख खोजने का खतरा उठायेगी।

'ओह, इस चरमान्तिक दाह मे, मेरे घूर्णित और विशृंखल मस्तिष्क मे, ये कैसी अदृश्यमान भावी घटनाएँ प्रकट हो रही हैं। महाशिला-कण्टक और रथ-मुशल युद्धो के भीषण अग्नि-काण्ड मरता हुआ एक समूचा जगत्, भस्म-सात् होता ब्रह्माण्ड देख रहा हूँ। ऐसा सत्यनाशी है मेरा यह आत्म-दाह, मेरा यह आत्म-सक्लेश। क्या मैं भी इसमे से न बच पाऊँगा? मेरी आत्मा हालाहले, क्या तुम भी मेरी जलन से छिटक गयी? दूर जा खडी हुई? मुझे छोड़

दिया अकेला ? तुम कहाँ हो हालाहले, मेरी आत्मायनी, तुम भी मुझे छोड़ गयी··? हाय मैं कितना अकेला हूँ, इस घनघोर मरणान्धकार मे· !'

हालाहला ने भूशायी होते गोशालक को अपनी गोद मे झेला। वह पुचकारे गये बालक-सा हर्ष से किलक कर, फिर मृद्‌भाण्ड मे सुरा ढाल कर पान करता हुआ प्रलाप करने लगा 'चरमे पाने, चरमे नट्टे, चरमे गेये, चरज्जे अजलि-कम्मे !' और हाला के जुड़े उरूमूल मे माथा गड़ाता हुआ इस असह्य दाह मे निर्गति खोजने लगा। अपना असली पता और पहचान पाने को मथने लगा।

उसी समय उसका एक प्रिय शिष्य बटुक दिशाचर दौड़ा आया और निवेदन करने लगा

'महामख, मुझे एक प्रश्न अति विकल कर रहा है। मैं अर्हत् जिनेन्द्र मखेश्वर से समाधान पाने आया हूँ। महामख मेरी विकलता को दूर करें। मैं अविकल होना चाहता हूँ ।'

गोशालक अपनी उस महावेदना के अवगाहन-मथन मे बाधा पड़ते देख झल्ला उठा। चीख कर बोला

'अरे षण्ड मूढ, अब तक भी कोरा ही रहा, तो अब क्या सीखेगा। मै इस समय मृत्यु के साथ शिला-कण्टक सगर लड़ रहा हूँ। फिर भी देख, चरम-पान-गान-तान मे झूम रहा हूँ। अविकल होना चाहता है ? निरुज होना चाहता है ? तो मूर्ख, इस वीणा से पूछ। इस वक्षायनी वीणा मे सारे उत्तर गुजायमान हैं। देख देख सुन सुन।' और गोशालक फिर आधा-सा उठ कर, सुरा के चषक गटकाता हुआ, पास पड़ी महावीणा झन्नाने लगा और अष्ट चरमवाद के सूत्रो को उसकी झन्नाहटो के सग ध्वनित करने लगा

'चरमे पाने झन्न झनन झन्न ! चरमे गाने झन्न झनन झन्न। चरम नट्टे झन्न झनन झन्न। चरमे अजलि कम्मे झन्न झनन झन्न। चरमे पुष्प सवर्त्त महामेघे झन्न झनन झन्न। चरमे श्रेयनाग गन्ध-हस्ती झन्न झनन झन्न। चरमे महाशिलाकण्टक-सग्रामे, चरमे रथ-मुसले· झन्न झनन झन्न। चरमे तीर्थंकरे झन्न झनन झन्न। चरमे हालाहले झन्न झनन झन्न। चरमे मृत्तिका-मृत्युविष-मन्थने झन्न झनन झन्न· ।'

और वह अपने इस अष्ट चरमाङ्गी मंत्र को अन्तहीन चरमो मे प्रलम्ब प्रलापित करता चला गया। और इस चरम पान-गान और वीणा-झकार की उग्र से उग्र, भयकर से भयकर होती ध्वनियों में उसकी चेतना डूबने लगी। उस तमसावृत्त मूर्च्छा मे भी उसे याद हो आयी तीर्थंकर महावीर की भविष्य-वाणी, जो उसके जीवन मे सदा सच होती आयी थी। आज से सात रात्रि पूर्व, उसने उन पर तेजोलेश्या का प्रक्षेपण किया था। तो क्या आज ही वह

सातवीं रात्रि है ? 'जब जब मुझे काल 'काल' महाप्रयाण महापरिनिर्वाण ' मैं मैं हूँ चरम तीर्थंकर मक्खलि गोशाल।' आओ, आओ' मेरी प्रज्ञा-पारमिता हालाहला आओ मेरे दिशाचरो '। अर्हत् जिनेन्द्र परिनिर्वाण के तट पर खड़े हैं ।'

आसपास सारा शिष्य-मण्डल एकत्र हो गया। हालाहला की गोद में गोशालक का माथा अवश ढलका है। उसने टूटती साँसों के साथ आदेश दिया 'देखो, जब मैं काल-धर्म को प्राप्त करूँ, तो सुगन्धित गन्धोदक से मेरे शव को नहलाना, गोशीर्ष चन्दन का मेरे शरीर पर विलेपन करना, महामूल्य हंस-दुकूल का साटिक-पाटिक मुझे धारण कराना, रत्न-फूलों के अलकारों से मुझे विभूषित करना, और श्रावस्ती की राज-रथ्या पर मेरी शोभा-यात्रा निकालते हुए उद्घोष करना आदीश्वर आदिनाथ, मखपुत्र भगवान् मक्खलि गोशालक, अवसर्पिणी के चरम तीर्थंकर अपने आयामी युगतीर्थ का प्रवर्त्तन करने के लिये महाप्रस्थान कर रहे हैं। भगवान् गोशालक जयवन्त हो जयवन्त हो जयवन्त हो।'

हालाहला और शिष्यों ने उनके आदेश को जयध्वनि के साथ सर पर चढ़ाया। आश्वासन दिया कि—भन्ते भगवान् के योग्य ही सारा आयोजन होगा। भृत्तिका हालाहला ने अपने सेवकों को इंगित कर दिया, कि सारी व्यवस्था तत्काल की जाये ।

बढ़ती रात के साथ गोशालक का दाह-ज्वर बढ़ता ही चला गया। सन्निपात के अन्ध भँवरों में उसकी चेतना टक्करें खा रही थी । उसका जन्मान्तरों का अँधियारा अवचेतन पूरा उसके भीतर खुल पड़ा था। उसकी फटती वज्र तमस् तहों में से अन्तश्चेतना के जल औचक ही झाँक कर, चमक कर, उसके कर्ण-कुहरों में मर्मराने-से लगे। और सहसा ही उस मुमूर्षा को बींध कर, महावीर की वे सद्य विकसित कमल जैसी आँखें उसे याद हो आईं। उनकी वह मौन प्रीति। उनके साथ मुश्कों में आलिंगन-बद्ध होकर यातनाएँ झेलना। 'हाय वे प्रभु मुझे कितना प्यार करते थे। कितना ! उजागर है वह प्यार इस क्षण। मैं उन्हें समझ कर भी न समझ पाया। मेरे मख-रक्त का चिरकालिक दलन, और मेरी आत्महीनता आड़े आ गयी। उनकी चिर-संगी वीतराग प्रीति मेरी आँखों से ओझल हो गयी ! ' अनुताप विकल हो कर वह रो आया। आर्त-कातर रुँधते स्वर में बोला

'आत्मन् हालाहले, उन प्रभु के सिवा तो जगत् में किसी ने मुझे प्यार नहीं किया था। मुझ अनाथ को केवल उन्होंने ही सनाथ किया था। मेरी पल-पल की पीड़ा में वे संगी होकर रहे। पर बोले कभी नहीं। मैंने उस अगाध मौन प्यार को अवहेला समझा। मैं उन्हें छोड़ आया। तो उन्होंने मुझे तुम्हारे पास भेज कर, तुम्हें सौंप दिया। तुम्हारे द्वारा उन्होंने ही अपनी प्रीति मुझे दी। '

' नही तो मुझ सर्वहारा को तुम क्यों कर समर्पित होती ! मेरी भटकन मे भी वे प्रभु मेरा हाथ झाले रहे। तुम वही तो हो। तुम्हारे रूप में वे ही मेरी नियति हो रहे। और देखो तो, कैसी दुरगम थी उनकी प्रीति, कि मुझे जगाने को बहुत पहले दाहक-अग्नि-लेश्या की कुंजी उन्होने स्वयम् ही मुझे सौंप दी थी, और ठीक समय आने पर अपने ही ऊपर उसका प्रहार करने का अवसर मुझे दिया। कि इस अन्तिम क्षण मे, आखिर मैं जाग उठा। उन अपने ही आत्मदेवता प्रभु पर मैंने कृत्या-प्रहार किया ! हाय, मेरे इस पाप के लिये सारे नरकानल कम पड़ेगे ।

'देवी हालाहले, मैं पाप मे नहीं मरूँगा, आप मे मरूँगा। मैं असत्य और मृषा मे नही मरूँगा, मैं अन्तिम सत्य बोल कर मरूँगा। सुनो रे मेरे प्रिय अगो, चरम सत्य सुनो। मैं अर्हन्त जिनेन्द्र नही, चरम तीर्थंकर नहीं। मैं हूँ मख-पुत्र गोशालक, अवसर्पिणी के एकमेव तीर्थंकर भगवान् महावीर का प्रिय शिष्य। उनका धर्म-पुत्र, उनका अग्नि-पुत्र। पर मैं आत्महीनता से ग्रस्त हो कर, प्रतिगामी हो गया, विपथगामी हो गया। मैंने गुरुद्रोह किया। अपने गुरु से पायी विद्या से उन्ही का घात करना चाहा। मैं प्रभुघात की चेष्टा करके आत्मघात के अतल रौरव मे आ पडा हूँ। मैं सत्य मे मरना चाहता हूँ। मैं उद्घोष करता हूँ, कि तीर्थंकर इस पृथ्वी पर अकेले महावीर है। उनकी आत्मा के आकाश म मै छह वर्ष उद्दण्ड विहरा हूँ। उनकी प्रीति अनुकम्पा और समवेदना का पार नही ।

'आर्हती हालाहले, मेरे दिशाचर श्रमणो, सुनो, जो मैं कहूँ, वह करना। अपने घोर पाप का प्रायश्चित्त करके ही मेरा यह शरीर चिता पर चढ सकेगा। सो मेरा देहान्त हो जाने पर, मेरे मृत शरीर के एक चरण को रस्सी मे बाँध कर, मुझे सारे नगर-पथों पर घसीटना। मरे हुए श्वान की तरह मुझे खीचते जाना, और मुझ पर बार-बार थूंकना। श्रावस्ती के प्रत्येक चौहट्टे, चत्वर, त्रिक, चतुष्क, राजमार्ग, गली-गली मे मेरे शव को घसीटते हुए आघोषणा करना-कि लोक को दम्भ से ठगने वाला, गुरुघाती, जिनघाती, अर्हत्घाती, महापापाचारी यह मक्खलि गोशालक है। यह चरम तीर्थंकर नही, छद्म-तीर्थंकर है। इसने अर्हन्त-हन्ता हो कर, आत्म-हन्ता होने का चरम अपराध किया है। आत्म-घात से बड़ा कोई पाप नही। चरम तीर्थंकर हैं केवल महा-वीर, यह चरम पापावतार है, चरम लोक-हन्ता है। इसने मिथ्यावादी पाप-देशना कर के बरसों तक आर्यावर्त की चेतना को विषाक्त किया है। इसे धिक्कार है इसे धिक्कार है इसे बारम्बार धिक्कार है। '

एक गम्भीर सन्नाटे मे यह अनुताप वाणी पवित्र ढुला की तरह गूँजती रही। सब के हृदय इससे विदीर्ण हो गये । एक महामौन मे सब के आँसू

ढरकते रहे। कोई कुछ न बोल सका। फिर डूबती बाती ने उझक कर कहा

'ओ देखो देवी, देखो। मैं तुम्हारी गोद मे समाधिलीन हो रहा हूँ, और तुम उन प्रभु की गोद मे उठी हो। मैं चला, मृत्तिला, वे सद्य विकसित कमलों-सी आँखें मुझे खीच रही हैं। '

समय हठात् एक ओर सरक कर, सोचता खड़ा रह गया। एक निचाट खामोशी मे सब सर झुकाये जड़ित हो रहे। शब्द यहाँ प्रश्नायित ठिठका रह गया है। देवी मृत्तिला हालाहला की आँखो से महावीर की समवेदना करुणा की जलधारा बन कर झर रही है। देवी का सजल सवेग भरा स्वर उस आहत सन्नाटे मे सुनाई पडा

'माटी की अनादि प्यासी पुकार को जिसने आवाज़ दी थी, वह उसी माटी की अन्तिम तह मे लीन हो गया। महावीर को मृत्तिका मे उतार लाने का खतरनाक पराक्रम आर्य गोशालक ने किया था। क्या प्रभु भी उन्हे नकार सके ? उन्हे अग्नि-लेश्या दी, कि वे माटी की वासना और विक्षोभ का चरम देखे। आर्य गोशालक ने आदिम कषाय के महाअनल को जगाया, स्वयम् ही उसके होता, हव्य और हवन हो गये। उन्होने विष-मन्थन मे से अमृत निकालने का असम्भव महासाहस किया। माटी और मनुष्य की भूख-प्यासो मे ही उन्होने ब्रह्म का अमृत सीच देने की दुर्दान्त कोशिश की। काया के कर्दम मे ही आत्मा का कमल खिलाने के हठीले प्रयास मे, उन्होने तिल-तिल अपने को जला दिया। उनकी विकट वाम चर्या विच्युत हो कर, विपथगामी हो गयी। फिर भी उनकी पुकार की पीडा को महावीर नकार न सके। अपनाया था, तो अन्तिम क्षण अपने उत्सग मे भी ले लिया। मृत्तिका हालाहला है महावीर का वह उत्सग। वही पर मृत्तिका के चरम शयन मे, मृत्तिका-पुत्र आर्य मक्खलि गोशालक, अपनी माटिला माँ की गोद मे बेबस लुढक कर चुप हो गये! आकाश को मनचाहा बाँध कर पीने और जीने की, मिट्टी की इस कोशिश को, इतिहास भुला न सकेगा। आने वाली सदियो मे बार-बार इसके प्रतिसाद गूँजेंगे। और यह पराक्रम फिर-फिर दोहराया जायेगा। आर्य-पुत्र गोशालक को, माटी की मृणालिनी बेटी हालाहला अपनी परमाजलि अर्पित करती है। '

हालाहला तो केवल मूक मौन ऊपर को ताक रही थी। उसके विस्फारित नयनो मे आँसू चुपचाप ढरक रहे थे। और मानो आकाश-वाणी की तरह ये शब्द उसके ओठों से सहज स्फुरित हो रहे थे। वह चुप हो गयी, और फिर एक तीखा प्रश्निल सन्नाटा छा गया।

तब साहस करके पट्टगणधर दिशाचर कर्णिकार ने पूछा

'अब देवी का क्या आदेश है ?'

'आदेश तो आर्य गोशालक का ही पूरा होगा। इसी कक्ष के मध्य भाग मे, जहाँ वे लेटे हैं—वही श्रावस्ती चित्रित कर के, स्वामी के निदेशानुसार सब क्रिया उस चित्र पर कर दी जाये।' मृत्तिला का गला भर आया।

'उनके शव को घसीटा जाये, उन पर थूँका जाये?' एक अन्य गणधर ने पूछा।

'अच्छिन्दक, पूछ कर उनका और मेरा अपमान क्यों करते हो? पहले शीघ्र उनके आदेश का पालन करो, फिर मैं कहूँगी।'

कह कर नग्न शव को ठीक माटी के सिपुर्द कर, मृत्तिला कुटीर से बाहर हो गयी। तब शिष्यो ने श्रावस्ती का मान-चित्र रच कर, उस पर वह अपमान-समारोह निर्वेद चित्त से सम्पन्न कर दिया, जिसका निर्देशन गोशालक ने दिया था। वह समाप्त कर वे देवी कुम्भकारिन की प्रतीक्षा मे चुपचाप खड़े रहे। तभी सहसा देवी प्रकट हुई। स्वयम् ही भर आते गले से आदेश दिया

'दिशाचरो, मृदभाण्डो की एक विशाल शिविका निर्मित कर, उस पर सात नदियों की माटी बिछा कर, सप्तसिन्धु के जल छिड़क कर, उस माटी की सेज पर आर्य को लिटाओ। ऋतु के श्रेष्ठ सुगन्धी फल-पल्लव, लता-वनस्पति से उन्हें छा दो। और हालाहला कुम्भाग्नि के सारे रत्न-सुवर्ण अलकार उनके चरणो पर निछावर कर दो। उसके समस्त वैभव के साथ उनकी शोभायात्रा निकाली जाये। एक सहस्र पुरुष उनकी शिविका का वहन करें। श्रावस्ती की सभी राज-रथ्याओ पर से उनके महायान का यह समारोह गुज़ारा जाये। और दिशाचरो, आघोषणा करते चलो, उनके विमान के सामने चलते हुए

'विप्लवी महावीर के विद्रोही अग्नि-पुत्र आर्य मक्खलि गोशालक देवलोक-गमन कर रहे है। आकाश-पुरुष महावीर को, मृत्तिका-पुत्र गोशाल ने अपनी माटी मे समोने का एक अपूर्व विक्रम किया। तो महावीर भी उनकी माटी मे खेलने को विवश हुए। इसी से इतिहास और शाश्वती मे, महावीर के मृत्तिका-पुत्र आर्य मक्खलि गोशाल जयवन्त हो जयवन्त हो जयवन्त हो!'

'उसके अनन्तर, देवि? आर्य का दाह सस्कार?'

'नही, उनकी देह का दहन नही किया जायेगा। देह के ज्योतिर्धर की देह अक्षुण्ण ही रहेगी। जिस माटी मे से, जैसे जातरूप वे आये थे, वैसे ही उसी माटी के आँचल मे वे फिर लौट जायेंगे। इसी कक्ष के ठीक आभोग भाग मे, जहाँ वे अभी लेटे है, वही उनकी देह को समाधिस्थ कर दिया जाये। उनकी समाधि-शिला पर अकित होगा आद्या मृत्तिका के पुत्र और प्रीतम, मिट्टी की चेतना को वाणी देने वाले, निरजन महावीर के वाम-पुत्र मक्खलि गोशाल—यहाँ समाधिस्थ बिराजमान है।'

देवी हालाहला के आदेशानुसार, उनके सारे वैभव और तामझाम के साथ, काम तीर्थंकर मक्खलि गोशाल की शोभा-यात्रा सारी श्रावस्ती में से निकाली गयी। अन्धी भीड़ों के उमड़ते पारावार ने, मनमानी जय-जयकारों से आकाश फाड़ दिया। हालाहला के खजाने बहा दिये गये। सुवर्ण, रत्न, माणिक-मुक्ता, नाना अलंकार, फूल-पल्लव, अबीर-गुलाल आर्य गोशालक की शिविका पर अविराम बरसाये गये। हजारों दीन-दरिद्र, कंगाल निहाल हो गये।

चरम तीर्थंकर त्रिलोकपति भगवान् महावीर पर अग्नि-शलाका फेंकने वाले, प्रभु-हत्यारे का ऐसा सम्मान? लोग परस्पर प्रश्न पूछते रह गये। उत्तर भी स्वयम् में ही पाया वह अग्निलेश्या भी तो महावीर ने ही उसे दी थी और यह सम्मान भी महावीर के सिवाय उसे कौन दे सकता है?

○ ○ ○

श्री भगवान् श्रावस्ती में विहार कर, मेढक ग्राम के कोष्टक चैत्य में समवसरित थे। प्रातः की धर्म-पर्षदा में आर्य गौतम ने प्रभु को सम्बोधन किया

'मक्खलि गोशालक काल कर गया, भगवन्! उसकी भव्य अन्त्येष्टि यात्रा के आगे चलते हुए, उसके दिशाचर श्रमण आघोषणा कर रहे थे, कि—महावीर के अग्नि-पुत्र गोशालक देवलोक-गमन कर रहे हैं। समझा नहीं प्रभु, महावीर का अग्नि-पुत्र कैसा? और गोशालक जैसा उन्मार्गी, दुरात्मा, गुरु-द्रोही, प्रभु-घाती देव-लोक गमन कर गया? यह कैसे सम्भव है, प्रभु?'

'आर्य गोशालक अच्युत स्वर्ग की उपपाद शैया में जन्म ले चुके, गौतम! अन्तिम क्षण में महावीर उसकी महावेदना में से स्वतः प्रकट हो आये। उसने अपने आप्त प्रभु को पहचाना। वह अनुताप से भर आया। उसने पश्चात्ताप और प्रतिक्रमण किया। प्रायश्चित्त की पावक में नहा कर वह निर्मल और वीत-द्वेष हो गया। वह समर्पित हो गया। उसे अन्तर-मुहूर्त मात्र में सम्यक्त्व लाभ हो गया! और वह ऊर्ध्वारोहण कर अच्युत कल्प में बाईस सागरोपम आयु वाला देव हो गया। आर्य गोशालक जयवन्त हो!'

'प्रभुघाती गोशालक, प्रभु का ऐसा परम प्रिय-पात्र हो गया? विपल मात्र में ही सम्यक्त्व-लाभ कर उत्कृष्ट देवगति पा गया?'

'चैतन्य की मुक्ति-यात्रा, सपाट रेखिल नहीं, कुंचित और चक्रिल होती है, गौतम! क्षण के इस ओर जीव नरक के किनारे हो सकता है, क्षण के उस ओर वह देव तो क्या, अर्हत् केवली तक हो सकता है। चैतन्य का परिणमन कालातीत और केवली-गम्य होता है। बाह्याचार उसका निर्णायक नहीं। घृणा भी प्रेम की ही एक विभाव पर्याय है, गौतम! चरम पर पहुँच कर, प्रेम हो जाना ही उसकी अन्तिम नियति है।'

'गोशालक द्वारा प्रक्षेपित अग्नि-समुद्घात तो मानुषोत्तर था, भगवन्। उस महाकृत्या की सामर्थ्य, प्रभु ?'

'अर्हत् पर प्रक्षेपित वह महाकृत्या अपनी दाहिका शक्ति से वत्स, अच्छ, कुत्स, मगध, मग, वालव, कोशल, पाड, लाट, वज्जि, मालि, मलय, वाधक, अग, काशी और मह्यगिरि के उत्तर-प्रदेश को एक-बारगी ही जला कर भस्म कर देने मे समर्थ थी, आर्य गौतम!'

'अघात्य अर्हन्त मे तो वह पराजित हो गयी, लेकिन उसके प्रत्यावर्तन को गोशालक अकेला कैसे पचा पाया, प्रभु ?'

'उग्र तपस्वी थे आर्य गाशालक। वे जन्मना मुमुक्षु थे। स्वभाव मे ज्ञानार्थी और आत्मार्थी थे। उनकी अदम्य मुमुक्षा ही, वाम हो कर उनकी दुर्दान्त शक्ति बन गयी थी। सच ही वह महावीर का मृत्तिका-पुत्र था, और अग्नि-पुत्र भी। इसी द्वद्व को झेल कर, उसने मानव-मुक्ति के अभियान मे अगला डग भरने का विक्रान्त दु साहस किया था। उसके लिये उसने अपने को ही हवन कर दिया!'

'उनकी यह आहुति फलेगी, प्रभु ?'

'महावीर के आगामी युग-तीर्थ मे, मृत्तिका बार-बार अपनी प्यास का उत्तर माँगेगी। वह उत्तर जगत् को, गोशालक की राह, महावीर से मिलेगा। अस्तित्ववादी आजीवक दर्शन, आगामी काल मे ज्ञान का एक नया वातायन खोलेगा। इसी से इतिहास मे गाशालक सदा याद किये जायेंगे।'

'आर्य गोशालक की अन्तिम नियति क्या होगी, भगवन् ?'

'अनेक योनियो मे उत्थान-पतन की यात्रा करते हुए गोशालक, काल-क्रम से विदेह क्षेत्र मे दृढप्रतिज्ञ नामा मुनि के भव मे कैवल्य-लाभ कर, नित्य बुद्ध सिद्धत्व को प्राप्त हो जायेंगे!'

ठीक उसी क्षण अचानक स्त्री-प्रकोष्ठ मे से उठ कर हालाहला प्रभु के सम्मुख आ, भसात् प्रणिपात मे समर्पित हो गयी। उसे सुनायी पडा

'आर्या मृत्तिका हालाहला, तुम मुक्तात्मा की जनेता हो कर, महावीर को बारम्बार मृत्तिका मे ढालने वाली परम लोक-माता हो गयी!'

और देवी हालाहला भगवती चन्दन बाला की कल्प-छाया मे श्री भगवान् की सती हो गयी।

जयध्वनि हुई

'मुक्तात्मा की जनेता मृत्तिका-माता देवी हालाहला जयवन्त हो!'

श्री भगवान् सन्मुख सोपान मे उतर कर चले, तो हालाहला प्रभु के चरणो मे लोट गयी। अन्तरिक्षचारी अर्हत के चरण उस मृत्तिका को अनायास सहलाते हुए आगे बढ गये। □

८

# सर्व-ऋतु वन का उत्तर

चेलना के 'एकस्तम्भ प्रासाद' के चारो ओर एक सर्व ऋतुओ का वन है। इस 'सर्व-ऋतु वन' के किसी विजन प्रदेश में देवी चेलना एक प्रवाल की प्रकृत चट्टान पर अकेली बैठी है। हवा मे एक बारगी ही सारी ऋतुओ के फूलो और फलो की सुगन्ध महक रही है। दूर-दूर से रग-बिरगी चिडियाएँ आ कर चेलना के केशो मे बैठ कर चहकती हैं, उसके कधो पर नाचती है, उसके आँचल और गोदी मे खेलती हैं। जब चाहे किसी चिडिया को ले कर वह उसे प्यार करती है, उससे बतराती है। चिडिया उड नही जाती, अभय हो कर उसकी कलाई पर लिपट जाती है।

दूर पर कही चौकडी भरते हिरन और बारहसिंगे अनायास आ कर उसके आसपास किलोल करते है। उसकी हथेली की परम-पुचकार पा कर उनका प्राण आश्वस्त हो जाता है। वे आनन्द से विभोर हो कर देवी के चहुँ ओर क्रीडा करते हैं। नन्हे मुलायम खरगोश आ कर उसके जानुओ मे दुबक जाते हैं, उसके सीने मे चिपक जाते हैं।

दूर पर पच-शैल के शिखर पुकार रहे हैं। विपुलाचल की वनानियो मे तीसरे पहर की मुलायम धूप केशर बरसा रही है। सुदूर तलहटी की अजन छाया मे, गृध्रकूट के सिंह नील गायो के साथ क्रीडा करते दीख पडते हैं।

चेलना प्राय अमनस्क ही रहती है। कुछ सोचती नही, याद नही करती। बस, देखती है। देखती है—एक सामने बहती नीली नदी। उसकी सहज शान्त लहरो मे कुछ बीतता ही नही। जो था, जो है, जो हो रहा है, जो होगा, वह सब इस नदी में एक साथ वर्तमान है। इसी क्षण पूरा जिया जा रहा है।

चेलना की अर्ध उन्मीलित आँखो मे इस समय झलक रहा है श्रीभगवान के समवसरण मे लौट कर सम्राट श्रेणिक सिंहासन पर कभी न बैठ। सिंहासन की पीठिका मे पन्ने का एक अशोक-वृक्ष उगा दिया गया है। उसमे लटक रहे हैं तीन विशाल छत्र। उनके तले तीर्थंकर महावीर की एक बोलती-सी पूर्णाकार स्फटिक मूर्ति सम्बोधन मुद्रा मे विराजमान है। सिंहासन के पायदान मे सुवर्ण-पट्टिका पर एक ही सरोवर मे पानी पीते सिंह और गाय अंकित है। पाद-वेदी के किनारे मणि-मीना खचित अष्ट प्रातिहार्य शोभित हैं। वेदी के मध्यभाग मे अखण्ड दीप जलता रहता है, अखण्ड धूपायन पावन गन्ध बसाये रखता है।

सिंहासन वेदी के पाद-प्रान्त मे चन्दन काष्ठ के पट्टासन पर ही सम्राट अब राज-सभा मे आसीन होते हैं।

अजना को आज ध्यान हो आया, कितने निरीह और नि काक्ष हो कर ये प्रभु के पास से लौटे थे। ना कुछ समय मे ही और के और हो गये। पहचानना मुश्किल हो गया। फिर भी अपन वही प्रियतम तो थे। आनन्द की सीमा न रही। ऐसा आह्लाद जिसका अवसान होता ही नही। बचपन तो 'इनका' अब भी गया नही, लेकिन पार्थिव सत्ता इनके मन हेय हो गयी। काक-बीट की तरह उसे दूर फेंक दिया।

कैसा तो हो गया है 'इनका' मन। कोई स्पृहा न रही, कोई प्रतिस्पर्धा न रही। मेरे आसपास ही सारे समय इनका जी रमा रहता है। हँसी आती है सोच कर, मेरी सैरन्ध्री हो कर रह गये हैं। स्नानागार मे कैसे अछूते हाथो से मुझे नहलाते हैं। कैसे जतन और मार्दव से मेरे अगो का लुछन करते हैं। सर्व ऋतु-वन से स्वयम ही नयी-नयी सुगन्धित औषधियाँ खोज ला कर, उनसे मेरा अगराग करते है। मेरे बाहु, वक्ष और लिलार पर कैसी कलात्मक पत्र-लेखा रचते हैं। सोचा भी नही था, कि ये ऐसे चित्रकार भी है। अपने ही हाथो केशो मे सुगन्धित केशरजन मल कर, अपनी उँगलियो की कघी बना कर मेरे केश सँवारते हैं। मनचीते वसनो मे मुझे सजा कर, मेरे चेहरे पर फूलो के कर्णफूल, कुण्डल और मुकुट रच देते हैं। फिर मेरे दोनो सटे जानुओ पर माथा ढाल कर कहते हैं 'मेरे प्रभु, मेरे भगवान्, मेरे महावीर!' हँस-हँस कर मै लोट-पोट हो जाती हूँ। इन्हें यह क्या हो गया है? पहले ही क्या कम बच्चे थे, कि अब यह भी बाकी रह गया। फिर एकाएक गम्भीर हो जाती हूँ। इनके सर को दोनो हाथो से ढाँप कर उस पर गाल ढाल देती हूँ। कहती हूँ 'यह क्या हो गया है तुम्हे? इतना लो मुझे, कि हम दोनो ही न रह जाये। वर्ना देह की यह माया बहुत भारी पड जायेगी।' ये कहते हैं. 'मैं कोई अलग देह या रूप देख ही नही पाता, तो क्या करूँ। मैं केवल महावीर देखता हूँ। रूप और शरीर उससे बाहर नही, उसी का प्राकट्य है। प्रभु के कैवल्य से बाहर मुझे कुछ दीखता ही नही, चेलना। प्रभु सर्वगत हैं, और सर्व प्रभुगत है। ऐसा ही लगता है तो क्या करूँ? उसी मे सब प्रिय और सर्वस्व हो गया है। सारे इन्द्रियभोगो मे भी केवल एक ही स्वाद और सम्वेदन अनुभूत होता है महावीर चेलना महावीर। इन्द्रियाँ नही रही मानो, केवल रस की धारा रह गयी है। रूप और अरूप का भेद ही मन मे न रहा। तुम प्रभु की ही आभा हो, चेला। तुमने उन्हें सदेह पाया है, तो मैंने तुम्हारे-भीतर उन्हें सदेह पा लिया है।'

सुन कर भीतर ही भीतर रस बरसता है, और मैं भीजती ही जाती हूँ। सारी भूमिका ही बदल गयी है। सारा परिदृश्य किसी दूसरे ही क्षितिज

पर खुल गया है। इस एक ही जीवन मे, कैसा कल्पान्तर घटित हो गया। चेतना के इस नये वातायन पर, सारी चीजों का भाव और आशय ही बदल गया है। तुच्छ मे तुच्छ वस्तु, व्यक्ति, घटना में भी एक नया ही निगढ भाव और सौरभ प्रकट हो उठा है। इस 'एक स्तम्भ प्रासाद' और सर्व-ऋतु वन का रहस्य आज खुल गया है।

ठीक सामने देख रही हूँ वे दिन, जब यह 'एकस्तम्भ प्रासाद' बना था। महाराज के मन मे बडा चाव था, कि वे मुझे जगत् की कोई अनुपम वस्तु भेंट करें। सब मे अधिक प्रिय रही उनकी, तो मुझ पर क्या विशेष प्रसाद करें? मेरे मन मे एक एकस्तम्भ प्रासाद की कल्पना बचपन से ही थी। मैं महाराज से उसके बारे मे प्राय कहा करती थी। महाराज को सूझा, क्यो न चेलना के आदि स्वप्न का 'एकस्तम्भ प्रासाद' ही इसे बनवा कर दूं। मन्त्रीश्वर बेटे अभय राजकुमार बुलाये गये। स्थपति और वास्तुकार उपस्थित हुए। देवी की सर्वांग कल्पना उनके सामने रखी गयी। सम्राट की आज्ञा हुई 'बेटे अभय, ऐसा महल बने कि उसकी अटारी मे चेलना विमान-वासिनी खेचरी की तरह मनमानी निर्बन्ध क्रीडा करे।' चतुर-चकोर अभय ने महारानी के मन का महल मानो आँखो आगे देख लिया। उसने तुरन्त ही महल का कोण-प्रति-कोण सही चित्र आँक दिया। महादेवी देख कर चकित हो गयी। स्थपति ने तदनुसार वास्तुकारो मे मानचित्र बनवाये।

O O O

अभय ने तत्काल सूत्रधार को आज्ञा दी, कि महल के एक-स्तम्भ के निर्माण योग्य उत्तम काष्ठ मँगावाओ। वर्द्धिक सुतार वैसे काष्ठ की खोज के लिये अरण्य मे गया। अटवी मे अनेक वृक्ष देखने के बाद, अचानक एक सर्व-लक्षणी वृक्ष उसे दिखायी पडा। घेघुर छतनार, आकाश तक ऊँचा, फल-फूलो से लदा, गाढी छायावाला, विशाल तने वाला यह वृक्ष असामान्य जान पडा। मानो कोई महापुरुष उस अरण्य मे जाने कब से अकेला खडा है। वर्द्धिक को लगा, यह वृक्षराज दैवत् वाला जान पडता है। यह वृक्ष किसी देवता का आवास न हो, ऐसा नही हो सकता। सो जानकार वर्द्धिक ने वृक्ष के अधि-ष्ठायक देवता का तपस्यापूर्वक आराधन किया। ताकि कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो सके। उसने भक्तिभाव से उपवास किया, गन्ध, धूप, माल्य वगैरह वस्तुओ से वृक्ष को अधिवासित किया।

तब एक दिन अभय कुमार के सन्मुख उस वृक्ष का वासी व्यन्तर देव प्रकट हुआ। उसने कहा 'राजकुमार, तू मेरे इस आश्रय-स्थान वृक्ष का छेदन मत करवा। इस वर्द्धिक को रोक दे। मैं महादेवी के स्वप्न का 'एक-स्तम्भ प्रासाद' बना दूंगा। उसके चारो ओर एक 'सर्व-ऋतु वन' की भी रचना कर दूंगा।'

आपूर्ति-वचन देव ने रातो-रात पचशैल के उपान्त मे 'एक-स्तम्भ प्रासाद', और उसकी परिक्रमा मे 'सर्वऋतु-वन' खडा कर दिया। देख कर श्रेणिकराज चकित रह गये। देवी का माथा किसी अदृश्य महासत्ता को झुक गया। क्या ऐसा भी हो सकता है? आँखो देखे पर अविश्वास कैसे करें? यह सृष्टि कितने ही स्तरो पर, कितने ही आयामों मे व्यक्त हो रही है। विश्व के भीतर विश्व है। सौंदर्य और कला के ऐसे स्रोत जाने कहाँ-कहाँ छिपे हैं। यह 'एक-स्तम्भ प्रासाद' 'यह सर्व-ऋतु कानन'।

देवी इस महल मे सच ही खेचरी की तरह रहने लगी। आस-पास उडने और तैरने को सारा अन्तरिक्ष खुल गया था। पदम-सरोवर मे लक्ष्मी की तरह चेलना इस महल मे विहरने लगी। वह सर्व ऋतुओ के फूलो की माला गूंथती। एक माला वीतराग अर्हन्त को अर्पित की जाती, दूसरी माला श्रेणिकराज के गले मे शोभती। वह भी सैरन्ध्री की तरह ही महाराज के केशो मे फूलो का शृगार करती। वीतराग प्रभु और पति के लिये समभाव मे रानी हर दिन वन मे जा कर नये-नये फूल चुनती। इस तरह वह परम रमणी वन के फूलो को धर्म और काम मे एक साथ सार्थक करने लगी।

मूर्तिमान वनदेवी की तरह वह कई एकान्त उपवनो, कुजो और सरोबरों में अपने प्रियतम के साथ क्रीडा करने लगी। वे अब उसके पुरातन पति नहीं रह गये थे। नित नये प्रीतम हो गये थे। एक नामहीन, सीमाहीन सम्बन्ध। या कोई सम्बन्ध नही।

आज ध्यान आ रहा है, इसी 'एकस्तम्भ प्रासाद' मे अजातशत्रु गर्भ मे आया और जन्मा था। उसके गर्भकाल मे चेलना को दोहद उत्पन्न हुआ था, कि वह पति का मास खाये। ऐसा तो किसी राक्षसी को भी नही होता। ऐसी बात वह किसी के सामने कहती भी कैसे? वह कैसी पिशाच-माया थी? अपनी वेदना को वह घूंटती गयी। दोहद पूरा न होने से वह दिन के चन्द्रमा की तरह क्षीण और शीर्ण होने लगी थी। इस दुर्दोहद से विरक्त हो कर उसका सारा मन एक उत्कट ग्लानि से भर गया था। महाराज बहुत चिन्ता मे पड गये थे। एक दिन बडी प्रेम-बन्धुर वाणी मे उन्होने रानी से पूछा था 'किस पीडा से इतनी उदास हो गयी हो? मुझी से छुपाओगी?' चेलना बहुत गल आई थी। भरभराते कण्ठ से जैसे विष-पान करती-सी एक वाक्य मे वह बोली थी 'मुझ पापिन को दोहद पडा है, कि अपने स्वामी का मांस खाऊँ!'

'यह तो कोई कठिन दोहद नही, देवी, इसे पूरा किया जायेगा। जानती तो हो, मेरा यह शरीर तुम्हारा नैवेद्य रहा सदा। कभी कम न पडेगा।' मुस्करा दो एक बार!'

रानी ने महीनो बाद मुस्करा दिया। पर भीतर उसके जी मे आरी चल रही थी। महाराज ने अभय को बुला कर इस गुत्थी का हल पूछा। अभय ने कहा · 'यह तो बाँये हाथ का खेल है, तात। कल ही व्यवस्था हो जायेगी।' अगले दिन अभय ने महाराज के वक्ष पर नवनीत और दूध के छैने मे हलका बादामी रग डालकर, एक और वक्षदेश रच दिया। ऐसे कौशल से रचा, मानो कि ठीक उनके वक्ष का ही उभार हो। और उघाडे शरीर वे शैया मे लेटे रहे। सकेत पा कर एकान्त मे, चेलना कैसी उत्कट वासना से राजा के उस उभराते मासल वक्ष पर टट पडी थी। किसी डाकिनी-शाकिनी की तरह उस उफनाती गोरी छाती का भक्षण करने लगी थी। राजा बार-बार कुशल नट की तरह कराह कर मूर्च्छित होते रहत। रानी को उसमे बडी सान्त्वना मिलती। अचानक उसका हृदय कम्पायमान हो जाता। एक टीस के साथ वह गर्भ की कसक का उल्लास अनुभव करती।

जब वह पति का मास खा कर अघा गयी, तो छिटक कर खडी हो गयी और सचेतन होकर वह आक्रन्द कर उठी 'हाय, मैं पति का हनन करने वाली पापिनी!' और वह चीख कर मूर्च्छित हो गयी। राजा ने उसे बहुत प्यार से हौले-हौले सहलाते हुए चेतन किया और कहा 'देखो, मेरा यह अक्षत शरीर। तुम इसे खा गई, और मैं अक्षत हो गया! यह है देवी की वासना का चमत्कार!' देवी के हर्ष का पार न रहा। अपने पति के उस सीने पर वह तब आनन्द से मूर्च्छित हो ढलक गई थी।···

O O O

नव मास पूरे होने पर, मलयाचल की भूमि जैसे मणिधर नाग को प्रसव करती है, वैसे ही रानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। लेकिन उसने उसका मुंह तक देखना नहीं स्वीकारा। तत्काल अपनी गुप्त दासी से कहा कि—'यह बालक अपने पिता का वैरी है, सो इस पापी को सर्प के बच्चे की तरह कही दूर के स्थान मे छोड आ।' दासी उसे ले कर अशोक वन की भूमि मे छोड आई। वहाँ उपपाद शैया मे उत्पन्न देव की तरह वह प्रकाश करता शोभने लगा। बालक को छोड कर लौटती दासी से राजा ने पूछा 'तू कहाँ गई थी?' महाराज की आँखो का दर्प देख वह काँप गयी। उसने भेद खोल दिया। राजा तुरन्त अशोक वन मे गये। पुत्र को देख, स्वामी के प्रसाद की तरह उसे प्रीति से दोनो हाथो में ग्रहण कर लिया। हाथो मे शिशु को उठाये वे सीधे चेलना के प्रसूति-कक्ष मे आये। कातर हो कर कहा 'यह क्या अनर्थ किया तुमने, प्रिये! कुलीन और विवेकी हो कर तुम ऐसा कैसे कर सकी? अधम से अधम नारी भी ऐसा नही कर सकती। फिर तुम तो रमणियों के बीच राजेश्वरी हो। और तुम्हारा तो रमणीत्व भी माँ की ममता का अशोक वन है। ऐसी माँ हो कर, ऐसा कर सकी तुम, छि!'

चेलना की छाती दोहरी वेदना से कसकने लगी। एक ओर प्राणप्रिय स्वामी, दूसरी ओर अपनी ही देह का टुकड़ा, अपना गर्भजात पुत्र। वह भारिल और खराश-भरे स्वर मे बोली 'जो मेरे पति के मास का भूखा हो, वह मेरा पुत्र कैसे हो सकता है? ऐसा जघन्य मातृत्व मैं कैसे स्वीकारूँ?' महाराज ने कहा 'किन पुरातन अन्धविश्वासो मे पड़ी हो? दोहद तो एक माया होती है। विचित्र दोहद होते है। शायद इस दोहद की पूर्ति से बालक का कोई जन्मो का पाप कट गया। अपने इस ज्येष्ठ युवराज को अपनी गोद मे जिनेन्द्र बना कर उठाओ। यही तुम्हारे योग्य बात है। तुम्हें अपने पति के वीर्य पर सन्देह है?'

रानी ने स्वामी का मुंह हथेली से ढाँप दिया, और रो कर उनके चरण पकड लिये। बच्चे को उसने बाँहो मे झेल कर छाती से चाँप लिया। पर वह जब भी उसे स्तन-पान कराती, तो लगता कि एक सर्प उसके स्तनो का दूध पीकर पल रहा है। यह कसक उसके मन से कभी निर्मूल न हो सकी।

राजा ने अशोक वन मे ही प्रथम बार पुत्र का मुख देखा था। इसी से नाम रख दिया गया 'अशोकचन्द्र'। बालक जब वन मे छोड दिया गया था, तो उसकी अशोक-दल जैसी ही कोमल कनिष्ठिका उँगली को, कुकड़ी ने कुतर लिया था। उँगली काल पा कर रक्त-पीव से भर गयी। उस वेदना मे बच्चे का रोना थमता ही नही था। श्रेणिक ने स्नेहावेश मे आ कर हठात बालक की उँगली को अपने मुँह मे लेकर चूम लिया। बच्चा तुरन्त रोता बन्द हो गया। क्रमश उँगली का घाव तो भर गया, पर उँगली भोतरी ही रह गई। इसी से उसके साथ धलि-क्रीडा करने वाले बालक उसे 'कुणक' कह कर पुकारने लगे। मतलब बुंटठी उँगली वाला। इसी से अजातशत्रु बाद को कुणिक अजातशत्रु कहलाया। इसके अनन्तर क्रमश चेलना की कोख से वारिषेण, हल्ल, और विहल्ल जन्मे। बडे होकर ये चारो बेटे मानो मूर्तिमान प्रभुत्व, मत्र, उत्साह और विराग की सयुक्त शक्ति हो कर सम्राट का अनुसरण करने लगे।

O O O

लेकिन आज तो सारी रचना ही बदल गयी है। सम्राट ने साम्राजी सत्ता-सिंहासन त्याग दिया है। मगध की चिर शत्रु वैशाली का तीर्थंकर राजपुत्र, आज उस सिंहासन पर बैठा दिया गया है। तो क्या मगध वैशाली को झुक गया? लेकिन श्रेणिक के मन मे अब ऐसे किसी विकल्प और भेद की भाषा नही रह गई है। उसने प्रत्यक्ष अनुभव किया है, कि जगत्-पति महावीर जिस मूर्धा पर बैठे हैं, वहाँ जगत् के सारे सत्तासन अपना अर्थ खो देते हैं। सर्वोपरि सत्ता केवल वही है, जो जीव-जीव और कण्पे-कण्पे पर सदा क़ायम है।

लेकिन अजात तो सम्राट-पिता के प्रतिद्वंद्वी के रूप मे ही बडा हुआ है । होश मे आने के साथ ही उसने महसूस किया कि उसके ऊपर कोई और कैसे हो सकता है ? पिता भी क्यो ? सम्राट भी क्यो ? अजातशत्रु एकछत्र सम्राट से कम होकर नही रह सकता । पिता को उसने पिता स्वीकारा ही नही । पहले ही दिन से ये तेवर था, कि साम्राजी सिंहासन पर केवल वही बैठ सकता है । श्रेणिक को हट जाना पडेगा । ब्राह्मण मत्री वर्षकार की कूटनीतिक प्रतिभा का सहारा ले कर वह पिता के विरुद्ध अनेक षड्यत्र रचने लगा । आसमुद्र आर्यावर्त का चक्रवर्ती सम्राट होने की महत्वाकाक्षा से प्रेरित हो कर, अजातशत्रु ही मगध और वैशाली का वर्षों-व्यापी युद्ध लड रहा था । श्रेणिक तो लीला-पुरुष थे । साम्राज्य से अधिक उन्हे सुन्दरी मे रस था । वे सम्राट कम, प्रेमिक अधिक थे । उस अजित विक्रम बाहुबली ने युद्ध भी खेल-खेल मे ही जीते । पृथ्वी भी प्रिया की तरह ही उसे सहज समर्पित होती गई ।

अजात की निरकुश सत्ता-वासना ने ही चम्पा को आक्रान्त कर, उसके अधिपति श्रावक-श्रेष्ठ महाराज दधिवाहन को विष-कन्या के प्रयोग से मरवा दिया । फिर उसने राजगृही के समान्तर ही चम्पा मे अपना साम्राजी सिंहासन बिछाया, और पिता की अवहेलना कर अपने ही को मगधेश्वर घोषित कर दिया । आज जिनेश्वरो की चिरकालीन लीला-भूमि चम्पा मे, क्रूर पाशवी सत्तामद का लोहा बज रहा है ।

अजात के मन मे गहरी खुन्नस है, कि राजगृही के सिंहासन पर महावीर आसीन है ! पिता को तो दाँत-टूटा छूँछा सर्प समझ कर उसने, सम्राट की अवहेलना कर दी है । लेकिन मगध के सिंहासन पर महावीर ? यह क्या बला है ?

इस बला से मगधेश्वर अजातशत्रु कभी-कभी अपने एकान्त मे काँप उठता है ।

चेलना की आँखे भर आई । वह प्रार्थना मे गुनगुनाई

'प्रभु, तुम्हारी सदा की प्रियपात्र रही हूँ मैं । फिर भी तुम्हारी चेलना की कोख ऐसी विषम, कि उसमें से आर्यावर्त का विनाश जन्मा है ! उसमे से उलग सत्ता-मद जन्मा है । मैं अमानुषिक षडयत्र, युद्ध, हत्या, रक्तपात की जनेत्री ? यह तुम्हारी कैसी कृपा है ?'

और 'सर्व-ऋतु वन' के सघन में से उत्तर सुनाई पडा .

'महावीर की जनेत्री जिस कोख को होना है, उसे इतिहास के इस सारे रक्त-स्नान और अग्नि-स्नान से तो गुजरना ही होगा !'

"सहसा ही किसी उपस्थिति की पावन मलयज देह-गन्ध मे चेलना का प्राण मुक्त होकर तैरने लगा । □

## ६

# वह सर्वनाम पुरुष कौन

श्री भगवान इधर कई महीनों से फिर मगध में ही विहार कर रहे हैं। इस समय वे राजगृही से उत्तर एक योजन पर, काचनार-वन चैत्य में समवसरित हैं।

एक दिन अपराह्ण को श्रेणिकराज देवी चेलना के संग, 'अमितवेग' रथ पर चढ़कर अर्हन्त महावीर के वन्दन को गये। प्रभु की आँखों में उस दिन एक रहस्य करवट बदलता दीखा। श्रेणिक को लगा, कि चेलना के आँचल में हर समय चिपटे सम्राट-बालक को वे प्रभु कुतूहल से देखते रह गये हैं। कोई भर्त्सना नहीं है। पर मानो पूछ रहे हैं 'आखिर कब तक, वत्स? एक पर्याय में जो इतना तन्मय हो गया है, उसका स्वप्न टूटना ही है। पर तेरा स्वप्न टूट कर भी, महत्तर स्वप्न में उत्तीर्ण हो जायेगा, राजा। क्यों कि तू मझधार में है, लेकिन अपने तट पर भी अवस्थित है। सम्यक्-दर्शी को बन्ध हो सकता ही नहीं। हर पल सम्वर है, फिर निर्जरा है। कर्म रज झड़ रही है। तेरी आसक्ति भी मुक्ति ही हो सकती है, राजन्!'

सायाह्न में श्रेणिक और चेलना राजगृही को लौट रहे हैं। शिशिर ऋतु की सन्ध्या में शीत गहरा होता जा रहा है। हिमवान में बर्फ पड़ी है। सो मैदान में भी अस्थि-वेधक तीखी ठण्डी हवाएँ चल रही हैं। उनमें झड़ते वृक्षों के पत्ते उड़ रहे हैं। सारी वनानी में सूखे पत्तों की जाजिम-सी बिछ गयी है। उसमें से एक खास तरह की सूखी पत्राली गन्ध उठ रही है। दूर-दूर तक फैले ठूँठों के बियाबान। नंगी सफेद शाखाओं में विचित्र आकृतियों का आविर्भाव। पत्रहीन दिगम्बर पेड़ों के व्यक्तित्व, कितने सजीव, विलक्षण और सांकेतिक हैं। पतझड़ के इस विनाश में भी किसी नये उत्पाद की सूचना है। सारी वन भूमि-में स्तब्ध सफेदी व्याप्त है।

तेज हड़कम्पी हवाओं में खड़खड़ाते पेड़ों के पार, गाँव-पुरवे थरथरा रहे हैं। दीन-दरिद्रों के नंगे-अधनंगे बालक अपने द्वारों पर खड़े धूज रहे हैं, दन्त-वीणा बजा रहे हैं। और ऊपर घिरी आ रही है शीत-पाले की रात। देवी चेलना का मन उन बालकों के लिये कातर हो आया। क्या अपराध है, इन छौनों का? पूर्वार्जित कर्म-बन्ध? पर क्या मनुष्य का कर्तृत्व उससे बड़ा नहीं? नहीं तो फिर मोक्ष का पुरुषार्थ किस लिये? · और राजा को इन

बेबस थरथराते बालको की दन्त-वीणा मे, अपना मुखद ऊष्म शिशिर-कक्ष याद हो आया। उसे लगा कि उस गर्म मुलायम केशर-बसी सेज का सुख कितना झूठा, अनिश्चित है? यह नग्न थर्राता दीन बालक श्रेणिक भी तो हो ही सकता है। 'और श्रेणिक वह नही है, न होगा कभी, या न रहा कभी, इसका लेखा किसके पास है?

इस सूखे सफेद वीराने मे, कही-कही चावलो के खेत अवश्य लहकते दीखते हैं। या फिर दूर-दूर तक फैले कई रगो की घासो के वन हैं। उनमे यहाँ-वहाँ चमकते जलाशयो का पानी जम गया है। तो वे बर्फ के सफेद रम्य आँगन-से दीखते हैं। राजा और रानी महाशीत के इस हिमानी प्रसार मे अपनी इयत्ता भूल गये हैं। एक अजीब उदासी से उनके मन उन्मन हो गये हैं। सायाह्न के घिरते सायो मे, कोहरा बढ़ रहा है। ठूंठो के वन उसमे अन्तर्धान होते जा रहे है। यह अवसान तो नही, ओझल होना है। और मनुष्य तो अपनी पतझड़ मे ऐसा ओझल होता है, कि फिर कभी दिखायी नही पडता। पर्याय की इस अवसान-लीला से राजा बहुत अवसाद और विषाद मे खो रहा। और रानी अपने ही से बिछुड कर, किसी नये मिलन के तट पर उतरती रही।

तभी एक स्थान पर, नदी-तीर की एक कोहरे मे धुंधलाती वनानी मे, कोई दिगम्बर योगिराट् कायोत्सर्ग मे लीन खडे दीखे। झडे रूँखडो के बीच मानो एक और हिम-श्वेत स्थाणु रूँखडा। तुरन्त रथ रोका गया। महाराज और देवी रथ से उतर कर शीतजयी जिन-पुरुष के वन्दन को गये। त्रिवार वन्दन कर, तीन प्रदक्षिणा दे, वे उस नग्न हिमवन्त को ताकते रह गये। शैलेशी दशा। उस दर्शन मे रानी को जहाँ एक परम अवस्था का आह्लाद अनुभव हुआ, वही उसके भीतर बैठी नारी-माँ पसीज गयी। हिम-वसन श्रमण के उस शीत परिषह को देखना उसे असह्य हो गया। वह आँखें मूंद कर केवल उनके प्रति समर्पित हो रही। श्रेणिक स्तम्भित खडा देखता रह गया। पास ही खडी प्राणेश्वरी के अगो की ऊष्मा मे लुप्त हो जाने के सिवाय, उसे बचने का कोई उपाय न दीखा।...

O O O

चेलना के शिशिर-कक्ष मे माणिक्य और लोहिताक्ष रत्नो की रातुल प्रभा झड रही है। सारा कक्ष केशर-कस्तूरी और अम्बर से बसा हुआ है। अग्निकान्त मणि के फानूसो मे केशर के इत्र के मद्दिम प्रदीप जल रहे हैं। अगुरु-कपूर की धूप से सारा वासर-कक्ष सुवासित है। दीवार तले बने आलय में चन्दन काष्ठ की अग्नि सुगन्धित तपन बिखेर रही है। द्वार-वातायन सब मुद्रित हैं। केवल दीवारो के सिरो पर जालीदार झजालदान खुले हैं, जिनसे प्राणवायु आती रहती है।

बाहर बर्छियों-सी वेधक ठण्डी हवाएँ चल रही हैं। और कक्ष के भीतर हंसगर्भ और ज्योतिरस रत्नों से जटित विशाल शैया में श्रेणिक और चेलना संयुक्त सोये हैं। राजा देवी की भुजलता का सिरहाना बना कर, उसके बाहुमूल में दुबके हैं, और उसके वक्ष पर बाँह ढाले लेटे हैं। दोनों चुप हैं, फिर भी राजा को अभी नींद नहीं आई है, तो रानी भी उसके साथ जाग रही है। उसने स्वामी की चाह को चीन्हा। तो स्तन को करवट दे कर उन्हें गाढ़ आलिंगन में बाँध लिया। राजा को वहाँ तुरन्त नींद आ गयी। चेलना का मन बाहर की शीत हवाओं में उड़ता हुआ, पिछले मायाह्न के यात्रा-पथ में भटक रहा है। और जाने कब उसे भी नींद आ गई।

गहरी नींद में भी चेलना कहीं सचेतन थी। केशर-भीने ऊष्म रेशमी आस्तरण में मानो वह विश्रान्त नहीं हो पा रही थी। सो उस बेचैनी में उसका एक हाथ आच्छादन से बाहर निकल आया। आलिंगन अनायास छूट गया। बिच्छू के काँटे जैसी दुःसह शीत ने रानी के हाथ को छू दिया। चेलना की नींद औचक ही उड़ गयी। ठण्ड की आक्रान्ति से सीत्कार करते हुए उसने, फिर अपना हाथ आच्छादन में सिकोड़ लिया और राजा के हृदय में मन की तरह स्थापित कर दिया।

ठीक तभी उसे याद हो आये वे मुनीश्वर, जो राह में नदी तीर के ठूंठ-वन में, निर्वसन निरे ठूंठ-से ही खड़े थे। अब भी तो वे वहाँ वैसे ही खड़े होंगे। हिमानी और शीत के झकोरों के बीच वैसे ही अकम्प। प्रतिमासन में कायोत्सर्गलीन। अपने केशर-कस्तूरी बसे आस्तरण और प्रिय के आलिंगन की ऊष्मा में भी देवी सिहर उठीं। भान न रहा, और बरबस ही उनके मुख से अस्फुट-सा उच्चरित हुआ

'हाय, उनका क्या हुआ होगा? वे कहाँ, किस अवस्था में होंगे!'

और इसके साथ ही चेलना किसी गहरी योग-तन्द्रा में लीन हो गयी। लेकिन रानी के उक्त अस्फुट वचन से राजा की नींद उचट गयी थी। उसने यह वाक्य सुन लिया था। उसके हृदय में वह वचन संशय का तीर बन कर चुभ गया। 'मेरे बाहुपाश में लेटी मेरी अभिन्न चेलना को यह किसकी चिन्ता व्याप गयी? मेरे सिवाय भी उसका कोई ऐसा गाढ़ प्रियजन है?' 'हाय, उनका क्या हुआ होगा?' यह 'उनका' सर्वनाम राजा के हृदय में वृश्चिक की तरह दंश करता चला गया। अवश्य ही यह किसी पर पुरुष में अनुरक्त है। राजा की नसों में ईर्ष्या के हरे विष की लहरें दौड़ने लगीं। उसमें प्रतीति जागी स्त्री में प्रीति रखने वाला कोई भी सचेतन पुरुष ईर्ष्या की नागिन से नहीं बच सकता। राजा शेष रात जागता ही पड़ा रह गया। उसका मन-मस्तिष्क इतना उलझ गया, कि सारा जगत् उसे अमूझ होता-सा लगा। और रानी निश्चिन्त गाढ़ निद्रा में मग्न सोई थी।

राजा बड़ी भोर ही चुपचाप उठ बैठा। जल्दी से तैयार हो कर गोपन राज-कक्ष में उपस्थित हुआ। उसने तत्काल अभय राजकुमार को बुलवा भेजा। बात की बात में अभय आ उपस्थित हुए। राजा का पुराना सत्ता-दर्पित सम्राटत्व लौट आया। वह तड़क कर बोला

'आयुष्मान अभय, कान खोल कर सुनो। मेरे अन्तःपुरों में दुराचार फैल रहा है। नारी-लोक की यही अन्तिम नियति है। इस रात वह घटस्फोट हो गया। अभय, तुरन्त मेरे अन्तःपुर के सारे प्रासादों में आग लगवा दो। देखो कि वे बेनिशान जल कर राख हो जायें।'

'तात की आज्ञा अटल है। वह पूरी होगी ही!' कह कर अभय राजकुमार एक अजीब हास्य-कौतूहल की मुद्रा में एक टक राजा को देखता रह गया। अपने भुवनजयी सम्राट-पिता का यह बालक रूप उसके लिये नया तो नहीं था।

'अविलम्ब आज्ञा का पालन हो, अभय! हम अभी बाहर जा रहे हैं।'

कह कर राजा आँधी की तरह झपटता हुआ, राज-कक्ष से बाहर हो गया। व्युत्पन्न-मति अभय को युक्ति सूझने में देर न लगी। वह सीधे वहाँ से निकल कर अन्तःपुर के पश्चिमी पार्श्व में गया। वहाँ हस्तिशाला के बागान में जो बहुत सारी जीर्ण कुटियाएँ मुद्दत से वीरान पड़ी थीं, उनमें तुरन्त हस्तिपाल से आग लगवा दी। पल मात्र में घास-फूस भभक उठा। लपटों और धुएँ से सारे अन्तःपुर आच्छन्न हो कर खलभला उठे। गवाक्षों में भय की चीखें सुनाई पड़ीं... आग आग आग। हंगामा मच गया।

चेलना जब ब्राह्मी वेला में आदतन जागी, तो महाराज को शैया में न पा कर सोच में पड़ गयी। 'ऐसा तो कभी होता नहीं, कि शैया-त्याग से पूर्व ये मेरी गोद में सर रखे बिना उठे हों। मेरे स्पर्श के बिना तो जगत् और समय इनके लिये शुरू नहीं होता।' कि सहसा ही 'आग-आग' की चीख-पुकार सुन कर वह भी अपने एक-स्तम्भ प्रासाद की सब से ऊँची बुर्ज पर आयी। उसने देखा कि जीर्ण झोपड़-पट्टी धाँय-धाँय सुलग रही है। और उन लपटों के पार, अन्तःपुरों की चीखों के पार, बाहर के राज-मार्ग पर महाराज स्वयम् अपना रथ वायु वेग से फेंकते हुए दूर के मोड़ पर ओझल हो गये। '...मुझ से कहे बिना आज ये कहाँ पलायन कर गये! प्रभु से मिलने के बाद बिना चेलना के ये कहीं भी तो नहीं जाते। और आज जगाये बिना, कहे बिना ही चले गये? कहाँ गये होंगे?' चेलना बुर्ज-गवाक्ष पर निश्चल उदासीन खड़ी शून्य ताकती रह गई।

○ ○ ○

श्रेणिक बेतहाशा उत्तेजित था । उसके क्रोध, ग्लानि, क्षोभ और बिरक्ति परा सीमा पर थे । वह अपने मनोवेग की गति मे ही रथ हाँक रहा था । उसके अस्तित्व का आयतन आज धलिसात् हो गया था । उसकी धरती छिन गई थी । उसका आकाश विदीर्ण हो गया था ।

उस आवेग मे एक तीखे डक के साथ उसे याद आ रहा था चेलना के बिना तो वह कभी भगवान् के पास गया नही था ! आज वह 'काचनार-बन चैत्य' की राह पर अकेला ही धावित था । निदान यहाँ कोई किसी का नही । तो क्या भगवान् के पास अकेले ही जाना होगा ?

'काचनार चैत्य' के समवसरण मे प्रभु का बदन कर श्रेणिक मनुष्य-प्रकोष्ठ मे उपविष्ट हुआ । पर वह पारे की तरह चचल है । बैठा नही जा रहा है । और प्रभु नितान्त मौन है । एक अखण्ड सन्नाटा छाया है । क्या प्रभु ने उसे और उसकी वेदना को अनदेखा कर दिया ? कि अचानक सुनाई पडा

'तुम चेलना मे महावीर देखते रहे, राजन् ! तुम्हे महावीर की अस्मत पर सन्देह हो गया ?'

श्रेणिक को लगा, कि उसके मनोमर्प के विषदन्त को किसी ने पल-मात्र मे तोड दिया है ।

'स्त्री-पुरुष का भेद ही चेलना की चेतना मे नही, राजन् । सो उसके लिये पर-पुरुष या पर-नारी का अस्तित्व ही नही । किसी भी पर मे वह रम सकती ही नही । वह उसका स्वभाव नही, चरित्र नही । स्वकीया और परकीया के भेद से वह ऊपर है । वह एक और अनन्य आत्मा है । एक और अनन्य मे ही वह निरन्तर रमगाण है । अन्य उसका कल्प ही नही ।'

'फिर वह किसकी चिन्ता मे पडी थी, आधी रात, भगवन् ? 'उनका' क्या हुआ होगा ? यह सर्वनाम पुरुष कौन ?'

'नदी तीर के खँडो मे खँखडा हो गया मुनि तुमको प्रिया के बाहुपाश मे भूल गया, राजन् ! महावीर के उस प्रतिरूप को चेलना न भूल सकी ! प्राणि मात्र की वेदना से सम्बेदित चेलना, शीत परीषह झेलते योगी के तप मे सहभागिनी हो गयी । चेलना निरी व्यक्ति नही । कही वह वैश्विकी है, राजन् ।'

'मुझ से भारी भूल हो गई, भगवन् !'

'और जानो राजन्, प्रीति मे जहाँ अधिकार-वासना है वहाँ सशय, ईर्ष्या, बिछोह अनिवार्य है । स्व-भाव अधिकार की पकड मे बाहर होता है । यह स्वभाव नही, कि कोई किसी को बाँध सके । यह स्वभाव नही, कि तू चेलना

में परिणमन कर सके, और चेलना तुझ मे परिणमन कर सके । ऐसा विभावरूप परिणमन जब होता है, तो उसका एक मात्र परिणाम होता है, दुःख, वियोग, विषाद ।'

राजा को लगा कि उसके अवचेतन की कई अँधेरी खोहें उजाले से भर रही हैं । कई फन्दे, जाले, ग्रंथिजाल कट रहे हैं। राजा प्रभु को इकटक इकसार ग्रहण करता रहा ।

'और सुनो श्रेणिक, यदि आर्हती चेलना पर-पुरुषगामी है, तो अर्हन्त महावीर पर-स्त्रीगामी है ! चेलना के अंगाग मे महावीर का स्पर्श-सुख पाने वाले राजा, सुन, तू अर्हत् में कलक देख रहा है ? '

'क्षमा करें नाथ, क्षमा दे मुझ अज्ञानी को, मुझे ऐसे जघन्य अपराध के नरक मे न डालें ।'

'अपना नरक तो तू आप ही रच रहा है, श्रेणिकराज ! महासत्ता ने तुझे अमृत-कुम्भ दिया, और तूने उसे माटी मे डाल दिया ! '

'प्रभु, मैं नि शक हुआ । मैं आपे मे आ गया । मुझे और प्रतिबुद्ध करें ।'

'लिंगातीत है आर्हती चेलना । फिर भी उसने अपनी पर्याय मे तुम्हें सारभूत नारीत्व का सुख दिया । महाभाग हो तुम, कि वह जन्मजात योगिनी, तुम्हारी आत्म-सहचरी और भोग्या रमणी एक साथ हो कर रही । भोग मे ही उसने तुम्हे योग का सुख दिया । धर्म और काम दोनो मे उसने तुम्हे सार्थक किया । उस आकाशिनी ने तुम्हारा बाहुबन्ध स्वीकारा । अपने आश्लेष मे तुम्हारी देह को ही गला कर, उसने तुम्हें आत्म-रमण का सुख अनुभव करा दिया । असम्भव को उसने सम्भव बनाया तुम्हारे लिये । फिर भी तुम चेलना को पहचान न सके, राजन् ! इसी मे तो तुम उसे साँसो से समीपतर लेकर भी पा न सके । बिछुड़े ही रह गये । ममत्व जब तक है, तब तक वियोग है ही । ममत्व मे ही अविच्छेद्य मिलन सम्भव है ।

'*बुज्झह बुज्झह श्रेणिकराज* ! अपने मे एकाकी, अनालम्ब रह राजन् । तो चेलना और सारा जगत् निमिष मात्र मे तेरा हो रहेगा । काल से परे, सब कुछ सदा तेरा ! '

राजा को लिंग-छेद और योनि-छेद का एक बुनियादी आघात अनुभव हुआ। और एक अनिर्वच शान्ति मे वह विश्रब्ध होता चला गया ।

आह्लादित भाव मे रथ पर चढ़ते ही, राजा को याद आया 'ओह, क्या सच ही अभय राजकुमार ने अपनी माँओं के सारे अन्तःपुरों को जला

कर भस्म कर दिया होगा ? हा हन्त, अनर्थ-अनर्थ अनर्थ ! अर्हन्त, अर्हन्त, रक्षा करें, रक्षा करें । लाज रखें, त्राण करें नाथ, वैतरणी भी मुझे डूबने को ठौर न देगी । '

और राजा मानो काल के चक्र-नेमि को झकोड़ता-उखाड़ता हुआ, अवकाश के बाहर अपना रथ फेंक रहा था।

○ ○ ○

श्रेणिक लौट कर सीधा अपने निजी राज-कक्ष मे गया । तत्काल अभय-कुमार को तलब किया गया। अविलम्ब उपस्थित हो कर अभय राज-कुमार पिता के समक्ष दण्डवत् मे नत हो गया ।

'क्या तुमने सच ही मेरी आज्ञा का पालन किया, अभय ?'

'मगधनाथ श्रेणिक की आज्ञा तो तत्त्व तक नही टाल सकते । फिर मेरी क्या बिसात, बापू !'

'नराधम, पिशाच, मातृ-हत्यारे, मेरे सामने से हट जाओ ! अपनी माँओ को जला कर भस्म कर दिया तुमने ?'

राजा को मूर्च्छा के हिलोरे आने लगे । लेकिन उधर अभय अपनी चंचल हँसी को दबा कर, गभीर मुद्रा मे बोला

'देख आऊँ, तात, भस्म हो गई कि नही ?'

'निर्लज्ज, ऐसा महापातक करके भी परिहास कर रहा है रे ? तू स्वय ही क्यो न उस अग्नि मे कूद कर भस्म हो गया ?'

'कूद पड़ा था, बापू, लेकिन पता नही कैसे उन लपटो मे भी मैं चलता रहा । तो उन ज्वालाओ ने मुझे छुआ नही । और मैं पार निकल आया। अब बताये आप ही, मेरा क्या दोष ?'

'और तुम्हारी माताएँ ?'

'तात की आज्ञा थी, अन्त पुरो मे आग लगा दो । मैंने लगा दी । फिर मैं ही कूद पड़ा उसमे । आपका आदेश होने से पूर्व ही, मैंने उसका पालन कर दिया ! फिर देखना कौन कि कौन जल कर भस्म हुआ और कौन नही ?'

'तो तुम्हारी माताएँ ? कहा है वे ?'

'कही तो होगी ही वे महासतियाँ ! उन्हे कौन-सी आग जला कर भस्म कर सकती है ?'

'अभयकुमार, पहेलियाँ न बुझाओ। जो हो, सच-सच कहो। यदि तुम्हारी माँएँ जल गई, तो तुम्हें भी इसी वक्त जिन्दा जलवा दूंगा।'

'आग तो अभी भड़क ही रही है, बापू। मुझ अभी इसी वक्त ले जा कर, उसमें झोंक दे। मैं बहुत कृतज्ञ हूँगा।'

'जिन माँओं को तुमने स्वयम् अभी महासतियाँ कहा, उन्हें तुमने जला कर भस्म कर दिया? मेरा वचन कुछ हो, तुम्हारा भी तो कोई विवेक होगा। मेरी आज्ञा ही तुम्हारी आत्मा है क्या?'

'मेरे साथ चल कर अपनी आँखों देखें, भन्ते तात। देखें कि आपकी आज्ञा और मेरी आत्मा एक हैं या दो हैं।'

ना कुछ समय में ही अभय के साथ राजा परेशान, भयभीत, पसीने-पसीने अन्तःपुर के प्रांगण में आ पहुँचे। अन्तःपुरों के महल अक्षुण्ण खड़े थे। और हस्तिशाला के चौगान में दूर तक फैली जीर्ण झोंपड़पट्टी जल रही थी। देख कर राजा के आनन्द की सीमा न रही।

'अभय, क्या जलाया किसे जलाया तुमने?'

'जो जीर्ण और ध्वस्त था, जो जड़ और मृत था, उसे जला दिया। जो भ्रष्ट और व्यभिचरित था, उसे क्षार हो जाना पड़ा। ये परित्यक्त पर्ण-कुटीरें दास-दासियों के छुपे व्यभिचार का अड्डा हो गई थीं, महाराज!'

'मेरी आज्ञा का ठीक पालन किया तुमने, बेटे!'

'अठीक मुझ से कुछ हो ही नहीं पाता, बापू। भावी तीर्थंकर श्रेणिकराज के शब्द का नहीं, साराश का ही अनुसरण करता हूँ मैं। भाव ही तो भव है, तात!'

'तो तुम्हारी माताएँ नहीं जलीं?'

'महलों में जा कर एक बार पता कर आऊँ, देव, जल गई कि जीवित हैं?'

और अभय दुरन्त क्रीडा-चपल हो कर हँस पड़ा। राजा मानो नया जन्म पा कर, नयी आँखों दुनिया को देखने लगा। यह कैसा भव्य भवान्तर हुआ है उसका, इस एक ही जीवन में। कितने तो भवान्तर हो गये इस एक ही आयुष्य-विस्तार में! इससे बड़ा चमत्कार और क्या हो सकता है?

'तुम अनन्तर हो, आयुष्यमान् बेटे राजा। मैं मगध के सिंहासन पर एक बारगी ही धर्म-चक्रवर्ती और कर्म-चक्रवर्ती को देखना चाहता हूँ। महावीर केवल तुम्हारे भीतर बैठ कर मेरी इस समागरा पृथ्वी पर राज्य कर सकते हैं। इस खुशी में हाँ कहो, तो तुम्हारे राज्याभिषेक की तैयारियाँ करूँ!'

'मैं तो अभिषिक्त ही जन्मा हूँ, तात। मेरा सिंहासन तो आर्यावर्त के चलते राज-मार्गों पर बिछा है। लाख-लाख जन का मनरंजन करता हूँ, उनकी रक्तधारा में अपनी रक्तधारा मिला कर जीता हूँ। मैं तो केवल खेलता हूँ,

तात। अपना खेल छोड, गभीर मुंह बना कर किसी टरी-टाम सिंहासन पर कीलित होना मेरे बस का रोग नही, महाराज!'

'हो तो उसी बाप के बेटे, जो केवल खेल-खेल मे ही युद्ध लडता रहा, दिग्विजय करता रहा, विलास करता रहा, प्यार करता रहा, राज करता रहा। इतना दुरन्त, इतना चपल कि किसी भी पर्याय पर रुका ही नही। बस, खेल, खेल और खेल!'

'अन्त पुरी को भस्म करवाने का यह नया खेल भी आज ही तो खेला आपने, बाप!, मेरे पिता का भी ससार मे जोड नही!'

'तो मेरे बेटे अभयराज का भी यहाँ कौन जोड है?'

और उठ कर राजा ने भावावेश मे बेटे को छाती मे भीच-भीच लिया। फिर वे तुरन्त चेलना के महल मे गये।

'देवता, आज पहली बार बिना कहे, अकेले ही चले गये, प्रभु के पास? मुझ से ऐसी क्या खता हो गई?' भर आती-सी चेलना बोली।

राजा से बोला न गया। बडी देर तक रानी के एक-एक अंग को निरतिशय मृदु भाव से सहलाते चूमते रहे। और फिर देवी को अपनी बाहुओ मे नि शेष करते हुए बोले

'खता तो तुम्हारी इतनी बडी है, देवी, कि दुनिया मे उसकी सजा नही कोई!'

'मैं तजवीज कर दूं सजा?'

'सुनूं तो!'

'मेरा त्याग कर दो, और जानो कि तुम कौन हो, मै कौन हूँ!'

'वही तो करके चला गया था, लेकिन '

'लेकिन क्या? लौट आये तो इस परपुरुष-गामिनी के पास?'

चेलना के कण्ठ-स्वर मे एक साथ रुलाई और हँसी रणकार उठी। राजा ने उस महीयसी के जुडे जानुओ को अपनी दोनो बाँहो मे कस कर, उन पर माथ ढालते हुए कहा

'आज तक मेरे अत्यन्त निर्घृण पाप-दोषो तक को तुम सदा क्षमा करती आयी। एक बार और मुझे माफ कर सकोगी?'

'देवता, अब और अपनी आत्मा को अपमानित न करो। तुम्हारी चेलना क्या वही नही?'

और वे दोनो भाव के एक ऐसे सरोवर मे जातरूप क्रीडा करने लगे, जहाँ दो आत्माएँ एक-दूसरे मे अप्रविष्ट रह कर भी, और अप्रविष्ट नही रह कर भी, अनायास सदा स्वभाव मे क्रीडायमान रहती है। □

# १०

# आम्रफल का चोर

राजगृही के दक्षिणी उपान्त मे एक उपनगरी है, 'मनोवती'। वहाँ मगध के कई श्रेष्ठ गुणीजन और कलावन्त रहते हैं। वही रहता था, विद्या-सिद्ध मातगपति। था तो वह चाण्डाल, लेकिन चर्या से वह ब्राह्मण था। उसे अनेक दैवी विद्याएँ सिद्ध थी। वह शीत ऋतु मे नदी-कछारो मे बैठ कर, जल मे उतर कर, विषैले जन्तुओ से भरी विजन कन्दराओ मे आसन जमा कर, विद्या-साधन करता था। ऐसे समय उसे कई औपपातिक देवों और यक्षियो के दर्शन हो जाते। उनमे उसे सीधे कई बीजाक्षर प्राप्त हुए हैं। उनके बल वह वर्षा कर सकता है, अन्तरिक्ष में विचर सकता है, जल पर और अग्नि मे चल सकता है। सात तालो मे रक्खी चीज उडा सकता है। एक नगर से पूरा मन्दिर या भवन उठा कर रातोरात दूसरे नगर मे ले जाकर रोप सकता है। कई भवजनो की अनेक आधि-व्याधि वह दूर कर देता है। किंवदन्ती है कि उसे वैताढ्य की विद्याधर नगरियों के कई विद्याधरो से भी अचिन्त्य विद्याएँ प्राप्त हुई हैं।

मातग की पत्नी सारिका सचमुच ही वन मे मैना के गीत जैसी मीठी आवाज वाली है। है तो वह कृष्णागुरु जैसी काली, लेकिन उसके अग-अग मे नवीन आम्र-पल्लव की स्निग्धता और लौनापन है। घने पल्लवों से छायी बावली जैसी वह गम्भीरा है। उस बार कार्तिक मास मे वह गर्भवती हुई। तो माघ-पूस मे उसे दोहद पडा कि वह डाल-पका ताजा तोडा आम्रफल खाये। उसने अपने पति से कहा कि 'मुझे ताजा आम तोड ला कर खिलाओ, और मेरी साध पूरो।' मातग ने कहा

'सारी, विचित्र है तुम्हारा दोहद, अकाल मे आम कहाँ से आये?'

'अजी तुम तो विद्याधर हो। माटी की चिमटी से मनमाँगी चीज बना सकते हो। मुझे बे-मौसम आम तक नही खिला सकते!' और सारिका मजीर-सी हँस पडी।

'सो तो तारा तोड लाऊँगा, सारी। तुम्हारी हर साध पुरेगी ही।'

मातग ने सारी विद्याएँ चुका दी। लेकिन यह क्या हुआ, कि वह आम्र-फल उपलब्ध न कर सका। उसे लगा कि किसी दूसरे महासिद्ध की शक्ति इस समय काम कर रही है, तो उसकी विद्याएँ व्यर्थ हो गई हैं। मातग ने

बड़े खिन्न स्वर मे यह बात सारिका को बताई। सारिका फिर वैसे ही खूब ज़ोर से खिलखिला पडी। बोली

'अय विद्यापति, चोरी कर सकोगे?'

'तुम्हारे लिये दुनिया उलट सकता हूँ, सारी।'

'तो सुनो, महादेवी चेलना के 'सर्व-ऋतु वन' मे एक सुन्दर आम्रकुज है। वहाँ देवी प्राय अकेली रमती है। वही उनके एक प्रिय आम्रवृक्ष की डाल पर अभी उत्तम आम्रफल पक आया है। कल वह देवी की गोद मे अपने आप चू पडेगा। वे उसे अर्हत् को नैवेद्य कर अपने स्वामी श्रेणिक को खिलायेंगी। वही आम चुरा लाना होगा, मातग। वहाँ प्रवेश सहज नही। पचशैल पहरा देते है। चुरा ला सकोगे आधी रात वह आम्रफल?'

'कल सबेरे वह आम तुम्हारी हथेली पर होगा, सारी। अब मुझे जाना होगा।'

मातगपति विपल मात्र मे आँख से ओझल हो गया। सारिका काँप उठी 'हाय, मेरा कैसा दोहद, कही ये आपदा मे न पड जाये।' ठीक मझ रात मे मातग सारी बाधा पार कर उस आम्रकुज मे पहुँच गया। और जैसे ज्योतिषी नक्षत्रो को ताकता है, वैसे ही वह उस आम्रफल को टोहने लगा। लेकिन फल बहुत ऊँची डाल मे कही छुपा था, और वृक्ष पर चढना साध्य नही था। डाल-पात खडकने से वनपाल का भी डर था। एकाएक वह फल कही शनि ग्रह-सा चमक उठा। तब मातग ने 'अवनामिनी' विद्या से ऊँची आम्र डाल को नीचे तक झुका कर वह दिव्य फल और अन्य बहुत से आम झटपट तोड लिये।

इधर सबेरे मातग ने वह आम्रफल सारिका को खिला कर उसकी साध पूरी, और उधर देवी चेलना अपने आम्रकुज मे आयी। उन्होने देखा कि वह दिव्य आम्रफल किसी ने तोड लिया है। सारे आम्रकुज को जैसे किसी ने लूटा है, और वह वाटिका मानो भ्रष्ट चित्रोवाली चित्रशाला जैसी अप्रीतिकर हो पडी है। रानी ने जा कर महाराज को बताया, कि यह असभव कैसे घट गया? महाराज ने तुरन्त सारे मत्रो के मत्रीश्वर अभय राजकुमार को बुलवा कर आज्ञा दी, कि

'जिसका पग-सचार भी देखने मे नही आता, आम्रफल के उस चोर को खोज लाना होगा, अभय। जिस चोर की ऐसी अतिशय अमानुषी शक्ति है, वह कभी अन्त पुर मे भी तो प्रवेश कर सकता है।'

'कुछ दिन का समय दें, बापू, चोर स्वयम् यहाँ हाजिर हो कर, चोरी स्वीकार लेगा।'

और उसी पल से अभयकुमार चोर की खोज मे दिवा-रात्रि राजगृही और उसके परिसर-वर्ती ग्रामो को छानने लगा। एक बार कही राजगृही के एक चतुष्क-चत्वर पर सगीत-नाटक चल रहा था। कौतूहलवश अभय राजा भी उस लोक-जनो की भीड मे बैठ कर नाटक देखने लगे। योजको की नजर पडते ही अभय पहचान लिये गये मगध के जेठे राजपुत्र, मत्रीश्वर अभय-कुमार ! लोगो ने नही माना, और अभय को रगमच के पास ही उच्चासन पर बैठना पडा।

इस बीच मध्यान्तर हो गया। उस अवकाश मे प्रेक्षको की भीड बेचैन हो रही थी। अभय को तुक्का सूझ गया वे कथा सुना कर श्रोताओ का मन-रजन करेगे। कथा कहने मे अभय का जोड कहाँ मिलेगा ? कही से भी शुरू कर देते है, और विचित्र रसीली, रहस्यभरी कथा चल पडती है। श्रोता सम्मोहित हो रहते हैं। अभय तो सर्व-विद्या पारगत है। कत्थक कथाकार, नट, बहुरूपी, गुप्तचर, गन्धर्व, नाट्य-सगीत-नृत्य के विशारद। मगधेश्वर के गोपन मत्री। लेकिन राहचारी। रथ जरूरी नही। मामूली आदमी की तरह महानगर राज-गृही की राज-रथ्याओ पर जन के साथ कन्धा रगड कर चलते दिखायी पडते हैं। कई बार चीन्हा तक नही जा सकता।

एकाएक अभय राजा की कौतुकी आवाज सुनाई पडी

'अच्छा नगर-जनो, सुनो, एक कहानी सुनाता हूँ।'

विशाल जन-मेदिनी स्तब्ध हो गई। और अभय कहानी सुनाने लगे

'वसन्तपुर नगर मे जीर्ण श्रेष्ठी नामा एक अति निर्धन सेठ रहता था। उसके एक कन्या थी, जो वर के योग्य वयवती हो गई। उत्तम वर पाने की साध ले कर, वह बाला कामदेव की पूजा के लिये किसी उद्यान मे से चोरी-चोरी फूल तोड कर लाने लगी। एक दिन उद्यान-पालक ने निश्चय किया, इस पुष्प-चोर को पकड कर ही चैन लूंगा। वह आखेटक की तरह झाडियो मे छुप कर निगरानी करने लगा। बाला नित्य की तरह, विश्वास पूर्वक बेखटक आ कर फूल तोडने लगी। वह अतिशय रूपवती थी। देख कर माली कामातुर हो गया। सो तत्काल प्रकट हो कर कॉपते-थरथराते हुए उसने कन्या को पकड लिया। पुष्प-चोरी का पाप भूल कर वह घिघियाते हुए कामार्त कण्ठ से प्रणय-निवेदन करने लगा 'हे सोनजुही बाला, तू कौन ? तेरा नाम क्या ?…' और वह उसका पाणि-पीडन करने लगा। चकोर कन्या बोली · 'हॉ वही सोनजुही, यही तो मेरा नाम है। तूने कैसे जाना, हे उद्यानपाल ?' और लडकी खिलखिल हँसने लगी।

उद्यान-पालक का रक्त आँखों मे खेलने लगा। वह बोला : 'हे सोनलवर्णी, मैं तुझ से रति-क्रीडा करना चाहता हूँ, सो तू मुझे रति सुख देकर तृप्त कर।

तो तुझे इस फूल-वाटिका की स्वामिनी बना दूंगा। मैं तुझे छोड नही सकता। मैंने अपने पुष्पो से तुझे खरीद लिया है।' सोनजुही बोली 'ओ माली, तू मुझे अभी छूना नही। मैं अभी कुँवारी हूँ, सो अभी पुरुष के स्पर्श के योग्य नही।' आरामिक बोला 'जो ऐसा है, तो हे सुन्दरी, मुझे वचन दे कि परण (ब्याह) जाने पर तू सर्व प्रथम अपने शरीर को मेरे सम्भोग का पात्र बनायेगी।' कन्या ने वचन दिया कि वही होगा। सो माली ने उसे छोड दिया।

'कन्या अपना कौमार्य अक्षत रख कर घर लौट आयी। अन्यदा एक उत्तम पति के साथ उसका विवाह हो गया। अनन्तर जब वह वासर-गृह मे गयी, तो उसने अपने पति से कहा 'हे आर्यपुत्र, मैंने एक मालाकार से प्रतिज्ञा की है कि परण कर मैं प्रथम सग उसी के साथ करूँगी। मै वचन से बँधी हूँ, सो मुझे आज्ञा दें कि मै उसके पास हो आऊँ। एक बार उससे सग करने के बाद तो आजीवन मैं तुम्हारी ही भोग्या दासी हो कर रहूँगी।' सुन कर उसका पति विस्मय से स्तब्ध हो रहा अहो, यह बाला कैसे शुद्ध हृदय वाली है। कैसी सरला है। सचमुच शुद्ध सोने जैसी है यह सोनाली। पतिप्राणा हो कर भी, पर-पुरुष को दिये वचन का पालने मे समर्थ हो सकी है। पति ने उसे आज्ञा दे दी, और वह वासर-गृह मे से बाहर निकल पडी।

'रात के मध्य प्रहर मे, विचित्र रत्नाभरणो से दमकती, वह रूपसी सत्य-वचनी बाला मार्ग मे चली जा रही थी। तभी कुछ धनकामी चोरो ने उसे टोका और रोक लिया। सोनाली उस माली की कथा सुना कर उनसे बोली 'मेरे चोर-भाइयो, जब मै अपना वचन पूरा कर लौटूं, तब तुम खुशी से मेरे रत्न-अलकार ले लेना।' माली को दिया ऐसा अपवचन निभाने जाती उस निर्दोष सत्यवती पर वे चोर भी अविश्वास न कर सके। 'अच्छा है, लौटने पर ही इसे लूटेंगे। लेकिन यह तो खुद ही लुटने को तैयार है। इसे लूटने मे मजा भी क्या ? कोई जादूगरनी है क्या ? और चोरो ने उसे जाने दिया। आगे जाने पर क्षुधा से कृश उदर वाले और मनुष्य-रूप मृगो के भोजक एक राक्षस ने उस मृगाक्षी की राह रूँध ली। लडकी ने माली की कथा दुहरा दी और कहा कि 'जब लौटू तो आनन्द से मेरा भक्षण कर लेना।' राक्षस भी उसकी सत्यनिष्ठा देख विस्मित हो गया। गल आया। भरोसा कर छोड दिया, कि यह तो मेरा ही मधुर भोजन है, कही जाने वाली नही।

**'और सुनो लोगो, कैसी अजीब मायावती है यह कन्या सोनाली। उद्यान मे पहुँच कर उसने माली को जगाया और कहा कि 'मैं वही तुम्हारी पुष्प-चोर सोनजुही हूँ। मैं नवोढा हो कर, अपनी इस सुहागरात में अपने वचनानुसार पहले तुम्हे समर्पित होने आयी हूँ!'**

सुन कर माली आश्चर्य में डूब गया 'अहो, सचमुच ही यह सत्यवती बाला कोई महासती है।' माली कन्या के पैरों में गिर पड़ा और बोला 'माँ, मुझे क्षमा करो। बोलो, तुम्हारा क्या प्रिय करूँ?' लड़की हँस कर बोली 'अपनी प्रिय चाह पूरी करो मुझ से, उद्यानपाल! वही मेरी श्रेयस् है।' माली रो आया। बार-बार क्षमा माँगी और उसके चरण छू कर उसे बिदा कर दिया।

'वहाँ से लौट कर उस बाला ने राक्षस को वह बताया, जो माली के साथ घटा। सुन कर राक्षस ने सोचा--'क्या मैं उस माली से भी हीन हूँ, जो इसका भक्षण करूँगा?' उसने सोनाली को स्वामिनी मान कर सर नवाँया और जाने की अनुमति दे दी। वहाँ से लौटते वह चोरों के पास आ कर बोली 'बन्धुओ, अब तुम मेरा सर्वस्व लूट लो, मैं हाजिर हूँ।' फिर यह वृत्तान्त भी सुनाया कि माली और राक्षस ने उसके साथ कैसा सलूक किया। चोर परस्पर बोले 'अरे हम क्या उस माली और राक्षस से भी गये-बीते हैं, कि इस सतवन्ती भागवती को लूटेंगे?' उन्होने सोनाली से क्षमा याचना कर कहा 'देवी, तू तो हमारी वन्दनीया माँ-बहन है। हमे कल्याण का आशीर्वाद दे। और सुखपूर्वक अपने पति के पास लौट जा।'

'उस वासर-कामिनी मोहागिन बाला ने लौट कर चोर, राक्षस और माली की कथा अपने पति को सुनाई। पति तो सुन कर पानी-पानी होता आया। उसके आनन्द की अवधि न रही। विपल मात्र में ही वे उस सुख-भोग में मगन हो गये, जहाँ एक दो हो कर, दो फिर एक हो जाते हैं। सबेरे उठ कर, उसने उस सती को अपने सर्वस्व की स्वामिनी बना कर, उसके आगे माथा झुका दिया। उत्तम वर पाने को कामदेव की पूजा के लिये फूल चुराने वाली उस सदा-कुँवारी बाला को समझ न पड़ा कि वह क्या करे। कथा के सभी पात्र कितने अजीब, दुष्कर, दुःसाध्य, अबूझ हैं, हे नगर-जनो?

'तो पूछता हूँ नगर-जनो, कहानी पसन्द आई?' उत्तर में भाव-गद्‌गद् लोगो ने अभय राजा की जय-जयकार की। और कहा कि कहानी आगे बढ़ाओ। अभय ने कहा—'मेरी कहानी का अन्त होता ही नहीं। आगे फिर कभी सुनाऊँगा। अभी तो मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो। सोच कर बताओ, इन सभी में सबसे दुष्कर कार्य करने वाला कौन? कन्या का पति, चोर, राक्षस या माली?' उत्तर में—जो लोग स्त्री के ईर्ष्यालु थे वे बोले सर्व में उसका पति दुष्कर करने वाला है, जिसने अपनी अनग-लग्ना नवोढ़ा को पर पुरुष के पास भेज दिया। क्षुधातुर लोग बोल पड़े सब से दुष्कर कार्य किया राक्षस ने, कि क्षुधातुर होते हुए भी, सुभग मांसला, मधुर रक्ता कन्या को उसने छोड़ दिया। जार पुरुष बोला सबों में दुःसाध्य साधन किया माली ने, जिसने मध्य-रात्रि में स्वयमेव रमण-सुख देने को पास आयी युवती

रमणी का भोग न किया। अन्त में एक ऊँची तेजस्वी आवाज सुनायी पड़ी '''मैं हूँ विद्या-सिद्ध मातगपति । मै कहता हूँ, युवराज, सबसे बड़ा त्याग उन चोरो ने किया, कि जिन्होंने सुवर्ण-रत्न से भरी बाला को बिना लूटे ही छोड़ दिया।'

सुनते ही तपाक् से अभय राजकुमार आसन छोड़ कर मातगपति के पास चले आये और बोले

'विद्या-सिद्ध मातगपति, मैं तुम्हारी विद्या को सर झुकाता हूँ। मैं तुम्हे ही तो खोज रहा था। तुमने स्वयम् ही अपनी टोह दे दी । मैं तुम्हारा आभारी हूँ। तुम सत्यवादी और विचक्षण विद्यास्वामी हो। चलो, मगधनाथ को तुम्हारी चाह है। वे तुम्हारा सम्मान करना चाहते है।'

मातगपति चकराया, उसे गन्ध-सी आयी कि अभय ने उसकी चोरी को पकड लिया है। वह बोला

'मगधेश्वर मेरा सम्मान करेंगे, अभय राजा ? ऐसी कोई सेवा तो मैंने उनकी की नही। यह सब क्या सुन रहा हूँ ?'

अभय ने इसका उत्तर न दिया। उन्होंने बड़े प्यार से मातग का हाथ कस कर पकड़ लिया, और चकित भीड को चीरते हुए वे प्रेक्षा-मण्डप से बाहर हो गये। रास्ते में मातंग को गलबाँही देते हुए वे बोले

'तुम्हारी विद्या-सामर्थ्य ने अजेय विद्याधर अभयकुमार को हरा दिया, मातंग। बताओ तो महादेवी का वह दिव्य आम्रफल तुम्हारे हाथ कैसे लग सका ?'

'विद्या के बल से, युवराज! पहले तो मेरी विद्याएँ भी निष्फल हो गईं। तब मैं प्राण को जोखिम मे डाल कर, आधी रात उस भयानक अरण्यानी में घुस पडा। मेरा पुरुषार्थ देख मेरी विद्याएँ सेवा मे आ उपस्थित हुईं, और तत्काल अचूक कार्य-सिद्धि हो गयी।'

स्थिति को भाँप कर मातग ने अविकल्प उत्तर दिया। सब कुछ ठीक-ठीक बता दिया।

'कौन-सी विद्या ? कैसे ?'

'महावेध-विद्या से मै आधी रात अरण्यानी को भेदता हुआ आम्रकुज में पहुँच गया। अदृश्य-दर्शिनी विद्या से वह आम्रफल टोह लिया। अवनामिनी विद्या के जोर से उस ऊँची डाल को झुका कर आम्रफल तोड़ लिया, और भी ढेर सारे आम तोड़ लिये।'

'साधु-साधु, मातग। ऐसा सत्यवादी और विद्याधर तीन भुवन में खोजे न मिलेगा।' कह कर अभय ने ठहाका मार कर उसकी पीठ थपथपायी।

○ ○ ○

राज-सभा मे सम्राट-पिता के सम्मुख दण्डवत् कर अभय राजा बोला :

'आम्रफल का चोर हाजिर है, महाराज ! इसने बेहिचक अपनी चोरी स्वीकार ली है। स्वयम् ही अपना भेद दे दिया। ऐसा चोर कहाँ मिलेगा ?'

राजा अवाक् मातंग को क्षण भर देखते रह गये। उन्हें तो वह घटना ही भूल गयी थी। किसकी वस्तु और कौन चोर ? बीती पर्याय को अब श्रेणिक याद नही रखते। उन्हे रोष न आ सका। फिर भी कृत्रिम क्रोध से स्वर ऊँचा करके पूछा

'कौन हो तुम ? तुम्हारा यह साहस, कि महादेवी का प्रिय आम्रफल चुराया ? गुरुतर अपराध किया तुमने। भारी दण्ड पाओगे।'

'जैसी इच्छा महाराज की। मैं विद्या-सिद्ध मातंगपति। प्रभु का क्या प्रिय करूँ ?'

'चोरी करके साधु बन रहे हो ? ऐसा ही प्रिय करने आये ो ? आश्चर्य, कि उस देव-दुर्लभ फल तक तुम पहुँच ही कैसे सके ?'

'विद्या के बल, महाराज। मुझे अनेक विद्याएँ सिद्ध है। सूर्य-विज्ञान से मैं किसी भी वस्तु से कोई भी मनचाही वस्तु बना सकता हूँ।'

'ऐसे समर्थ विद्यापति हो कर तुमने चोरी की ? वह आम्रफल विद्या से क्यो न बना लिया ? और किस लिये आम्र-फल दरकार हुआ तुम्हें ?'

'मेरी गर्भवती पत्नी को अकाल ही आम्रफल खाने का दोहद पडा। मैंने अपनी सारी विद्याएँ चुका दी, पर इस बार वे विफल हुई। आम्रफल मैं बना न सका। मेरी पत्नी ने आविष्ट हो कर दूरान्त मे दृष्टि स्थिर कर दी। फिर उँगली का इंगित कर कहा 'वह देखो, महादेवी चेलना के सर्व-ऋतु वन के आम्र-कुंज मे उनका प्रिय आम पक आया है, वही खा कर मेरी साध पुर सकेगी। '—तो चोरी के सिवाय उपाय ही क्या था, देव ?'

तब महाराज ने उससे पृच्छा कर, उन सारी विद्याओ का वृत्तान्त सुना, जिनके प्रयोग से वह आम्रफल तोड ले गया था। सुन कर वे स्तम्भित हो रहे। फिर बोले

'अभय राजा, यह तो विचक्षण विद्या-सिद्ध है। यह तो किसी दिन मुझे, देवी को, तुम्हें—हम सब को चुरा ले जा सकता है। इसकी विद्या का अन्त नही। इस खतरनाक चोर का कडा निग्रह करना होगा, अभय।'

'सो तो करना ही होगा, बापू। लेकिन सोचिये तो, कैसी तो अनोखी है इसकी पत्नी। कैसा दैवी उसका दोहद ! और कैसी चमत्कारिक इसकी विद्याएँ। कैसा इसका प्रिया-प्रेम, कैसा भयकर इसका साहस ! मस्तक दाँव पर लगा कर, प्रिया का दोहद पूरने को महादेवी का प्रिय आम्रफल तोड गया !'

'हम इस चोर की सत्यवादिता और विद्या पर, बेशक, मुग्ध हैं। सुजता नहीं, इसके साथ क्या सलूक करें? पर इसका निग्रह करना हमारा राज-धर्म है, वत्स अभयकुमार। कर्त्तव्य का पालन शीघ्र हो। क्या दण्ड-विधान करते हो?'

'हे देव, पहले इस शक्तिमान विद्याधर से इसकी विद्याएँ प्राप्त कर लें, तब मैं दण्ड-विधान करूंगा।'

तब मगध-पति श्रेणिकराज ने मातग-पति को अपने सामने बैठा कर, विद्या सीखना आरम्भ किया। लेकिन स्वयम् सिंहासन पर बैठ कर, गुरु को सामने के नीचे आसन पर बिठाने से उसकी जो अवमानना हुई, उस कारण ऊँचे स्थल पर जल जैसे ठहर नही पाता, वैसे ही राजा के हृदय मे विद्या ठहर न पाई। तब राजगृह-पति श्रेणिक ने चोर का तिरस्कार करते हुए कहा .

'तुझ मे कोई त्रुटि है, विद्या-सिद्ध, इसी कारण तेरी विद्या मेरे हृदय मे सक्रमित नहीं हो पा रही।'

ठीक तभी चतुर-चूडामणि अभयकुमार ने हस्तक्षेप किया। बोले ·

'अपराध क्षमा करें देव, इस समय यह शूद्र मातग आपका विद्या-गुरु है। और जो गुरु का विनय करता है, उसे ही विद्या स्फुरती है। अन्यथा नही स्फुरती। इसी से निवेदन है, तात, कि इस मातगपति को अपने साम्राजी सत्तासन पर बिठायें, और आप अजलि जुडा कर इसके सामने पृथ्वी पर बैठें। तभी आपको विद्या स्फुरेगी, देव, अन्यथा त्रिकाल मे भी नही!'

स्व-भाव मे निरन्तर चर्या करने से अति मुनम्य-भावी हो गये श्रेणिक ने तत्काल वैसा ही वर्तन किया। उनके मन मे बोध हुआ, कि विद्या तो नीच और अपराधी से भी ग्रहण कर लेनी चाहिये। उसके उपरान्त राजा ने मातग के गुरु-मुख से 'उन्नामिनी' और 'अवनामिनी' नामा दो महाविद्याएँ सुनी। और वे तत्काल दर्पण मे प्रतिबिम्ब की तरह राजा के हृदय मे बस गई। राजा विद्या-स्फुरण से बहुत विभोर और नम्रीभत हो आये। उन्हे भूल ही गया, कि कौन तो चोर, और कैसा तो दण्ड-विधान। सहसा ही अभय का बोल सुनाई पडा :

'देखें मगधनाथ, आपके सिंहासन पर आपके सामने चोर बैठा है, कि गुरु बैठा है, कि सम्राट बैठा है? कोई पहचान होती है?'

'राजा चोर नही है, और चोर राजा नही है, इसका क्या प्रमाण, वत्स? यह कैसा तो भेद मे अभेद, और अभेद मे भेद प्रतीयमान हो रहा है, अभय। यह तैने क्या चमत्कार किया, बेटे? मेरी तो बुद्धि ही गुम हो गई!'

'मैंने चोर को राजा बना दिया, बापू, और राजा को चोर बना दिया। आपने सत्ता-बल से इसकी दो महाविद्याएँ छीन ली। यह क्या बलात्कार नही, चोरी ही नही? आप सोचें, देव।'

''सच ही चोर को राजा, और राजा को चोर, और चोर को गुरु बना दिया तुमने। तुम्हारे षड्यन्त्रों का अन्त नहीं, अभय !'

'सो तो नई बात नहीं, बापू, बचपन में यही तो करता आया हूँ। ठीकरे को सूरज बना देना, सूरज को ठीकरा बना देना। यही भेदाभेद का खेल तो चिर दिन से खेल रहा हूँ, महाराज। आज मेरा अपराध पकड़ लिया न आपने ? दण्ड दें मुझे, सम्राट !'

'दण्ड तुम्हें दूँ, कि चोर को दूँ, कि अपने को दूँ ? समझ काम नहीं करती। यह कैसी पहेली खड़ी कर दी तुमने ?'

'तीर्थंकर महावीर के पाद-प्रान्त में एक चाण्डाल चोर, मगध के सत्तासन पर एक साथ गुरु और राजेश्वर हो कर बैठा है, महाराज। यह दृश्य देख तो रहे हैं न आप ? अब जो चाहे दण्ड आप इसे दें। यह आपके सिपुर्द है !'

महाराज दिग्मूढ़, एकाग्र, अपलक देखते रह गये। आम्रफल के इस चोर की सज़ा जगत के किसी भी दण्ड-विधान में उन्हें खोजे नहीं मिल रही। □

# ११

## आभीरी की हंस लीला

एक दिन सहसा ही श्री भगवान समवसरण मे से अन्तर्धान हो गये। फिर बहुत दूर पीठ दे कर जाते दिखाई पडे। भूमि से एक हाथ ऊँचे, उनके अन्तरिक्ष मे डग भरते चरणो का सौंदर्य कैसा निराला था।

फिर उदन्त सुनाई पडा त्रिशला-नन्दन प्रभु जन से निकल कर वन मे चले गये है। चम्पारण्य की अभेद्य गजानता को चीरते हुए, वे उसमे राहे बना रहे हैं। जल मे, थल में, अम्बर मे वे जहाँ भी चलते है, एक प्रशस्त राह खुलती चली जाती है।

भगवान् सचराचर प्रकृति के क्रोड मे निर्बन्ध विचर रहे थे। उनके चलने से धरणी नवीनी हो रही थी। कण-कण मे मार्दव, आर्जव, करुणा, मुदिता, मैत्री का सचार हो रहा था। सुनाई पडता था, कि प्रभु के विहार से हिंस्र प्राणियो से भरा चम्पारण्य अभयारण्य हो गया था। सिहनी की छाती पर शशक और मृगने निर्भय-निश्चिन्त सोते थे। वहाँ उन्हें परम सुरक्षा की समाधि अनुभव होती थी।

कई महीनो बाद एक सबेरे राज-सभा मे वनपाल ने आकर, मगधनाथ से प्रणाम निवेदन किया और सम्वाद दिया कि 'ज्ञातृनन्दन महावीर प्रभु राजगृही के 'वनलीला चैत्य' मे समवसरित हैं।' सुन कर आज सम्राट का हर्ष हिये मे न समा सका। उन्हे लगा, कि यह कोई नये आविर्भाव का मुहूर्त है। आनन्द से उन्मेषित होकर उन्होंने आज्ञा दी

'महादेवी से कहो, अभय, हम आज मगध के निःशेष साम्राजी वैभव के साथ श्री भगवान् के वन्दन को जायेगे। हमारे तमाम ऐश्वर्य और सत्ता को आज धरातल पर ले आओ, अभय। देखो, कही कुछ बचा न रह जाये?'

'सम्राट की आज्ञा का अक्षरश पालन होगा।' कह कर अभयकुमार तैयारी के लिये चल दिये।

महावीर का पुराणकार कहता है

और यह देखो, भूचर शक्रेन्द्र के समान, कल्प-विमानो को चुनौती देते ऐश्वर्य के साथ, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के स्वामी श्रेणिकराज श्रीभगवान् के वन्दन को जा रहे हैं। अमित रत्न-परिच्छद से मण्डित 'ऐरावान हस्ति' पर हस-धवल

छत्र तले महाराज, महारानी चेलना के संग विराजित हैं। गजेन्द्रो के घण्टा-रव से दिशाओ मे नाद के पूर उमड रहे हैं। हेषा-ध्वनि से मानो पर-स्पर वार्तालाप करते हजारो अश्व वाह्याली रूपा रंगभूमि मे नटो के समान पृथ्वीतल को रौंद रहे हैं। सम्राट की विशाल सेना, आकाश मे से उतरते मेघमण्डल के समान मयूरी छत्रो से शोभित थी। रथो और वाहनो के नृत्य करते घोडो की स्पर्धा मे राजा का रत्न-ताटंक भी झुमझाम कर नाच रहा था। ऐसा लगता था, मानो वह उसके आसन के साथ ही उत्पन्न हुआ हो। सम्राट और साम्राज्ञी पर जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा ने उतर कर श्वेत छत्र ताना है, और वारागनाएँ गगा और यमुना के समान चँवर उन पर ढोल रही हैं, शीतल फूल-पल्लव के विजन डुला रही है। और सुवर्ण अलकार-धारी भाट-चारण मगधनाथ का यशोगान कर रहे हैं।

आधी राह पहुँच कर ही सम्राट की आकस्मिक आज्ञा से शोभायात्रा अटका दी गई। 'ऐरावान हस्ति' नीचे बैठ गया। उससे उतर कर सम्राट ने गभीर स्वर मे अपने मंत्रियो और आमात्यो को आदेश दिया

'साम्राज्य का यह समस्त वैभव मैं तीर्थंकर महावीर के श्रीचरणो मे अर्पित करता हूँ। अब यह लौट कर राजगृही नही जायेगा। सैन्य, परिकर, हजारो सुन्दरियाँ, रानियाँ, सारे राजपुत्र पाँव-पैदल ही आगे-आगे चले, और 'बनलीला चैत्य' मे पहुँच कर प्रभु के मानस्तम्भ तले नैवेद्य हो जाये। चक्र-वर्ती की सम्पदा अब हमे निर्माल्य और नि सार अनुभव होती है। वह हमारी त्रिलोकी सत्ता-सम्पदा का अपमान है। हम बहुत आगे निकल चुके, अभय राजा ! आज्ञा यह ज्ञातृनन्दन प्रभु की है। हमारी नही। इस पर तत्काल कार्य-वाही हो।'

तपाक् से अभयकुमार ने हँस कर कौतुकी मुद्रा मे पूछा .

'जड वैभव को नैवेद्य करने का अधिकार तो, बेशक, सम्राट को है ही। लेकिन पूछता हूँ, महाराज, यह सचेतन राज-परिकर, ये अन्त पुर की सारी रानियाँ, सुन्दरियाँ, ये मत्री, आमात्य, सेनानी, सेनाएँ ? क्या ये आपकी इच्छा के खिलौने मात्र है ? जब तक ये स्वयम् न चाहें, तब तक आप इन्हे कैसे समर्पित कर सकते है ?'

'तीर्थंकर महावीर के मानस्तम्भ के सम्मुख, देखता हूँ, किसकी स्वेच्छा टिक पाती है ? राजाज्ञा का तत्काल पालन हो, अभय राजा !'

और तदनुसार पैर-पैदल ही विशाल शोभायात्रा चल रही है। राह मे दर्शको की पंति यह दृश्य देख कर मतिमूढ हो गई है। रिक्त हाथी पीछे चल रहा है, और सम्राट-साम्राज्ञी नगे पैरो पैदल चल रहे हैं, वन की कंकड़-काँटों भरी धूलभरी राह में। महाश्चर्य !

मार्ग मे चले जा रहे सैनिको को अचानक दिखाई पड़ा, कि तुरत की जन्मी एक शिशु-बालिका को, राह किनारे के एक वृक्ष-तले, हाल ही में कोई छोड गया है। जैसे कोई नरक का अंश वहाँ आ पडा हो, ऐसी तीव्र दुर्गन्ध उस परित्यक्ता बालिका के शरीर से छूटती सब को अनुभव हुई। सबने कुम्भक प्राणायाम की मुद्रा मे उँगलियो से अपने नाक भीच लिये। सम्राट ने अपने परिजन से पूछा क्या बात है? परिजन ने बताया कि सद्य प्रसूता कोई दुर्गन्धा बच्ची राह किनारे छोड दी गयी है। उसकी दुर्गन्ध से सारे परिकर ने नासिका मूँद ली है।

अर्हन्त द्वारा उपदिष्ट बारह भावनाओ से भावित राजा के चित्त मे, उस दुर्गन्ध से कोई जुगुप्सा न जाग सकी। ज्ञान मात्र किया उसका और उपराम हो गये। लेकिन बालिका पर दृष्टि पड़ते ही राजा के हृदय मे प्रबल संवेग जागा। उत्कट विराग का बोध हुआ। सम्राट तुरन्त ही शोभायात्रा से निकल कर आगे चल पड़े। देवी चेलना भी अनुगामिनी हुई।

○ ○ ○

समवसरण मे प्रभु का वन्दन करने के बाद, श्रेणिकराज ने पूछा

'त्रिकाल-दर्शी भगवन्, पूछता हूँ, राह मे छोड दी गई उस बालिका की देह से ऐसी तीव्र दुर्गन्ध क्यों फट रही है?'

प्रभु ने कोई उत्तर न दिया। वे मन, वचन, काय से परे त्रिकाली ध्रुव मे निस्पन्द दीखे। कि तभी गन्धकुटी के पाद-मूल मे से उत्तर आता सुनाई पडा

'जानो राजन्, तुम्हारे आसपास के प्रदेश मे ही शाली नामक ग्राम मे, धनमित्र नामा एक श्रेष्ठी रहता था। उसके धनश्री नामा एक पुत्री हुई थी। अन्यदा श्रेष्ठी ने धनश्री का विवाहोत्सव रचाया। तभी ग्रीष्म ऋतु मे विहार करते कुछ श्रमण वहाँ आ पहुँचे। श्रेष्ठी ने अतिथि तपस्वियो को द्वार पर पा कर धन्यता अनुभव की। गद्गद हो कर बेटी धनश्री को आज्ञा दी कि उनका आवाहन-पडगाहन कर उन्हे आहार-दान करे। विनयवती धनश्री तत्काल मुनियो को प्रतिलाभित करने को उद्यत हुई। पसीने और राह की गर्द से मलिन अग वाले उन अनगारो के शरीर से तीखी दुर्गन्ध फूटी पड रही थी। आहारदान करते समय धनश्री को वह असह्य हो गई। उसका मन मुनि-भक्ति से विरत हो गया, ग्लानि के मारे उसे वहाँ ठहरना दूभर हो गया। जैसे-तैसे आहारदान सम्पन्न कर, श्रमणो की ओर देखे या नमन किये बिना ही वह भाग खडी हुई।

'वह अपने कक्ष के एकान्त मे जा बैठी। सुगन्ध में बसी, निर्मल वस्त्र वाली, अनेक सुवर्ण-रत्न के अलंकारो मे भूषित, अगराग से आलेपित, अपने ही सौन्दर्य, सुगन्ध और शृगार मे आत्म-मुग्ध वह बाला सोचने लगी 'अर्हन्त

कथित धर्म, सभी तरह से निर्दोष है। पर उसमे यदि प्रासुक जल से स्नान करने की आज्ञा मुनि को होती, तो उसमे कौन-सा दोष आ जाता ?' अगोचर मे उसे प्रतिबोध-वाणी सुनाई पडी 'स्वयम् सूर्य, चन्द्र और मेघधाराएँ प्रकृति-जयी श्रमण का अभिषेक करती हैं। देहभाव मे मूर्च्छित बाले, तूने उन्हें केवल देहमल रूप देखा, उनकी विदेह विभा तैने नही देखी। तुझे अपनी देह-सुगन्ध का अभिमान हो गया। तो अपनी देह-सुगन्ध का अन्त-परिणाम जान !' लडकी भयभीत हो कर भाग निकली। और वह अपने देहराग मे शरण खोज कर और भी प्रमत्त हो गई।

'विपुल देह-सुख मे रम कर, एक दिन वह धनश्री यथाकाल मर गई। मुनियो के स्वेद-मल की दुर्गन्धि से उत्पन्न जुगुप्सा उसके अवचेतन को एक निविड कर्मपाश मे जकडे हुए थी। उस ओर वह कभी सावधान न हो सकी, न कभी उसकी आलोचना कर सकी, न उसमे प्रतिक्रमण कर सकी। सो मर कर वह धनश्री राजगृह नगर की एक वेश्या के गर्भ म आयी। माँ के गर्भ मे बस कर भी वह माँ के हृदय मे असह्य अरति और ग्लानि उत्पन्न करने लगी। परेशान हो कर गणिका ने गर्भपात की अनेक औषधियाँ सेवन की। फिर भी गर्भ गिर न सका। यथासमय वेश्या ने एक पुत्री को जन्म दिया। पूर्व भव की उत्कट जुगुप्सा जन्म के साथ ही, उसकी देह मे से प्रबल दुर्गन्ध बन कर फूट निकली। उस अमानुषी गन्ध को वह वेश्या सह न सकी। माँ ने स्वयम् अपनी गर्भजात बेटी को विष्ठा की तरह त्याग दिया। हे राजन, राह किनारे परित्यक्त पडी वही दुर्गन्धा तुम्हारे देखने मे आयी है।'

श्रेणिक ने फिर पूछा 'हे प्रभु, कृपा कर बतायें इसके बाद यह बाला कैसा तो सुख-दुख अनुभव करेगी ?'

प्रभु वैसे ही निश्चल निरुत्तर रहे। पर इस बार गन्धकुटी के अशोक वृक्ष मे से उत्तर सुनाई पडा

'धनश्री ने दुख तो सारा ही भोग लिया। अब तो यह सुन राजा, कि वह सुखी कैसे होगी। वह किशोर वय मे ही तेरे मन की एक और महारानी होकर रहेगी। उसकी प्रतीति के लिये तुझे एक निशानी देता हूँ। हे राजन्, वन-विहार मे क्रीडा करते हुए यदि कभी कोई रानी तेरे पृष्ठ-भाग पर चढ कर हंस-लीला करने लगे, तो जान लेना कि वह यही आज की दुर्गन्धा है !'

प्रभु की यह अचिन्त्य वाणी सुन श्रेणिक बडे सकोच और असमजस मे पड गया। उसका सर झुक गया उसकी आवाज रुँध गई। बडी हिम्मत करके दबे स्वर मे उसने कहा

'यह एक और रानी कैसी, प्रभु ? जो हैं, वही सब तो पीछे छूट रही हैं। फिर यह आगे एक और कौन खडी है ? और केवल सोलह वर्ष की

बाला, और वह भी यह दुर्गन्धा, सत्तर वर्ष के श्रेणिक की रानी होगी? यह सब क्या सुन रहा हूँ, प्रभु?'

'ऋणानुबन्ध के उत्तर नहीं होती, श्रेणिक! वे यथाकाल पूरे हो कर रहते हैं। कर्म का खेल बड़ा सकुल, अप्रत्याशित और अटल होता है, राजन्। अपने ही बाँधे पुण्य-पाप को भोगे बिना, योगी का भी निस्तार नहीं। तेरे भोगानुबन्ध अन्तहीन हैं, श्रेणिक। अपने में अचल रह, राजा, और सारी पर्यायें जल-प्रवाह में मछली की तरह तैरती निकल जायेंगी। उससे जल के जलत्व में क्या अन्तर आ सकता है!'

राजा का मन विकल्प से छूट कर अकल्प के महा-अवकाश में सरित होता चला गया। वह प्रभु को नमन कर, अपना तमाम साम्राजी वैभव श्रीपाद में मन ही मन समर्पित कर वैसे ही नंगे पैरों, अपने राजमहालय को लौट आया।

( ) ( )

उधर यह कैसा तो अकस्मात् घट गया। ठीक मुहूर्त पल आते ही, अनायास पूर्व कर्म की अकाम निर्जरा से उस दुर्गन्धा बच्ची की दुर्गन्ध जाती रही। ऐसे ही समय, एक वन्ध्या आभीरी (अहीरन) दूध की कलसी उठाये वहाँ से गुजरी। उसकी दृष्टि बालिका पर पड़ते ही, वह जाने कैसी ममता से अवश हो गई। उसने उस बच्ची को अपनी ही बेटी कह कर उठा लिया। अनुक्रम से उस आभीरी ने अपनी उदर-जात पुत्री की तरह बड़े लाड़-कोड से उसका लालन-पालन किया। काल पा कर उस आभीर-बाला के लावण्य और यौवन में पूनम के समुद्र उछलने लगे। ऐसा रूप, कि हर बार देखने पर नया ही दिखाई पड़े।

अन्यदा मनोहर कौमुदी उत्सव आया। राजगृही की आभीर-पल्ली में उसकी भारी धूम मच गई। रंग-गुलाल और शारदीय फूलों की बौछारों से सारी राजगृही गमगमाने लगी। आभीर रमणियाँ गीत-नृत्य करती आईं, और बड़ी मनुहार से सम्राट श्रेणिक और अभय राजकुमार को कौमुदी उत्सव में आने का आमंत्रण दे गईं। पिता-पुत्र दोनों ही तो एक-से लीला-चंचल, खिलाड़ी और कौतुकी। हर कहीं रमते-रमते ही राम हो रहते हैं। श्रेणिक और अभय-कुमार जरी किनार के श्वेत वस्त्रों में सज्ज हो कर, मुक्ताहार मालती-माला और फुलेल धारण किये कौमुदी उत्सव में आये। ऐसा लगता था जैसे दोनों ही बाप-बेटा ब्याहन को घोड़ी चढ़े हों।

योगायोग कि इस बीच उस दुर्गन्धा बालिका के तन में कोई दैवी सुगन्ध आने लगी थी। सो आभीरनी माँ ने उसका नाम रख दिया था सुगन्धा। वह उद्भिन्न यौवना रूपसी सुगन्धा भी, अहीर वेश में सज्ज होकर, कौमुदी उत्सव में मातुल हो कर नाच-गान कर रही थी। उत्सव का प्रवाह मृदंग की धमक

और शहनाई की तानों पर आसमान छू रहा था। श्रेणिकराज और अभय भी आते ही उस लोक-प्रवाह मे गोता लगा कर नाच-गान करने लगे। उनकी जयकारों और जयगानो से रगमण्डप में कोई नया ही समा बँध गया।

पुराणकार कहता है कि 'चाँदनी रात मे उस रासोत्सव के मर्यादाहीन समर्द मे, सम्राट का हाथ उस आभीरकुमारी सुगन्धा की ऊँचे स्तन वाली छाती पर पड गया। तत्काल राजा के मन मे उस अहीर बाला पर राग उत्पन्न हो गया।' उधर अपने नीले लहँगे के ज़री-गोटेदार घेर को मयूरी की तरह तान कर नाचती अहीर बाला के हाथों मे लहँगे के छोर छूट गये। वह पीनस्तनी रोमाच से पसीज कर झुक गयी और अपने अँचरे मे छाती छुपाती हुई, लाज से नम्रीभूत हो रही। राजा ने उसे एक चितवन देखा, और चुपचाप कपनी नामाकित मुद्रिका निकाल कर उसकी पीठ पर पडे आँचल के छोर मे बाध दी। शास्त्रकार कहता है, कि वह मानो सम्भोग का वाग्दान था!

राजा की कोई करतूत अभय से छुपी नही रह पाती। सो अभय ने उस बाला का पल्ला खीच उसे युगल-नृत्य का आमत्रण दिया। अहीर कन्या चौंकी और लाज से मरती-सी अभय के सग डाँडिया-रास खेलने लगी। कुछ देर बाद अपने कधे पर कोई स्पर्श पाकर अभयकुमार चौंका। 'ओ, अच्छा, बापू!' कह कर वह राजा के पास चला गया। राजा हाथ पकड उसे दूर ले गये। व्यग्र स्वर मे बोले 'मेरी नामिका मुद्रिका किसी ने चुरा ली, अभय, जरा चोर का पता तो लगाओ!' राजा का श्वास तेज़ी से चल रहा था।

पिता के हर दर्द का दर्दी अभय, राजा की उस मदनाहत मुद्रा को एकटक देखता रहा, फिर बोला

'मुद्रिका का चोर तो अभी पकड लाऊँगा तात, लेकिन किसी के मन के चोर को कैसे पकड पाऊँगा?'

'मन-मन के मरम मे विचरते अभय के लिये वह भी तो असम्भव नही!' राजा ने गोपन परिहास किया।

'तो पिता आज की चाँदनी रात मे, फिर कही अपना हृदय खो बैठे है! अभय के सिवाय यह कौन जान सकता है। और इसका निकाल भी और कौन ला सकता है?

'अपना चोर अपने ही भीतर जो बैठा है, तात, उसका पता कौन दे? खैर, आपकी अँगूठी का चोर तो मेरे अगुष्ठ मे बच कर जा नही सकेगा। उसे अभी हाज़िर कर दूंगा।'

और तुरन्त अभयकुमार ने घण्ट बजाकर उद्घोष किया

'अरे सुनो लोकजनो, इस स्वच्छन्द रास-क्रीडा मे बहुतों की चोरी हो गई है। सभी तो कुछ न कुछ गँवा बैठे हैं। राजाज्ञा है कि सब चोरो को पकड़ूँ,

और उनसे चुराया धन बरामद करूँ। रंग-मण्डप के सब द्वार बन्द कर दिये जायें। मुख द्वार से एक-एक कर सब नर-नारी बाहर निकलें। मैं एक-एक की तलाशी लूँगा, और चोरो को रँगे हाथ पकड़ूँगा।'

सारा नर-नारी वृन्द खूब ठहाका मार कर हँस पडा। खूब हैं हमारे अभय राजा! इस बार कौमुदी उत्सव मे इन्होने चोर-पकड-क्रीडा का यह नया खेल रचा कर, बरबस ही जन-जन का मन मोह लिया। और एक-एक कर रंग-गुलाल मे नहाये स्त्री-पुरुष रग-मण्डप के मुख द्वार से निकलने लगे। अभय नि सग लीला-कौतूहल की भगिमा से हर निकलने वाले स्त्री-पुरुष के वस्त्र, केशपाश और पान-रचे मुखो की भी छानबीन करने लगा। अनुक्रम से जब वह आभीर कुमारी निकलने लगी, तो उसकी झडती लेते हुए अभय का हाथ उसके पल्ले की एक गाँठ पर पड गया। अभय ने हँस कर वह गाँठ खोली, तो उसमे से महाराज की वह स्व-हस्ताक्षरित मुद्रिका निकल आई।

अभय ने बडी प्यार भरी मृदु भगिमा से पूछा

'यह ऊर्मिका तूने क्यो चुराई, कल्याणी?'

लडकी हैरान हो गयी। उसने मुद्रिका चुराई? हाय, किसने उसके साथ यह चोट की है? और वह कुछ गुनती-सी मीठी-मीठी लजा कर झुक आयी। उससे उत्तर न बना। अभय ने उसकी चिबुक कनिष्ठा से छू कर उठा दी और बोला

'तुमने उत्तर न दिया, सुन्दरी! तुमने यह मुद्रिका कहाँ से ली?'

चोरी का कलक सुन उस अहीर बाला ने दोनो कानो पर हाथ धर लिये। फिर रुद्ध कण्ठ से बोली

'मुझे तो कुछ भी नही मालूम!'

निर्दोष कुरगी जैसी भूली-भौरी ताकती उस कुमारिका का वह विलक्षण सौन्दर्य देख कर अभय स्तब्ध हो रहा। निश्चय ही इसने समुद्रजयी श्रेणिक का चित्त चुरा लिया है। पिता के इस अपरिसीम भोलेपन पर पुत्र को मन ही मन बहुत हँसी आई और बहुत प्यार भी आया। सामने मुग्ध-मौन खडी लडकी से अभय ने कहा

'तुम अद्भुत हो, आभीरी। चुरा कर भी नही मालूम कि चुरा लिया है? इस सरलपन पर मैं बलिहार! मगधनाथ श्रेणिक इस भोलेपन पर साम्राज्य बार देंगे। आओ, अपने महाराज से मिलो, कल्याणी। तुम्हारे रत्न का मोल केवल वे ही परख और चुका सकते है!'

'आओ, बाले!' कह कर अभय बेझिझक उसका हाथ पकड कर उसे सम्राट के समक्ष ले गया। चौनजर होते ही कन्या माधवी लता-सी लरज कर

छुईमुई हो रही। राजा को लगा कि जैसे एक और भवान्तर हो रहा है। जनम-जनम की इस पहचान को वे कैसे तो झुठलाये।

'इसी आभीरनी ने आप की मुद्रिका चुराई है, तात। वह मनो-मुद्रिका इसके अँचरे की कोर में बँधी मिली। चाहो तो मुद्रिका लौटा दो, आभीरी। वह सम्राट की अँगूठी है।'

'मनोमुद्रिका? कैसी मनो-मुद्रिका?' सम्राट चाकन्ने से पूछते रह गये। अभय की तीरन्दाजी को राजा ने भाँप लिया।

और अहीर-कन्या पर जैसे आभ टूट पड़ा। लड़की को कहीं जगह न दीखी, कि जहाँ वह लुप्त हो जाये। मुद्रिका उसने चुराई ही नहीं, तो क्या लौटाये, किसे लौटाये? वह अयानी बाला बड़ी परेशानी में पड़ गयी। राजा से वह सहा न गया। वे अधीर होकर बोल ही तो पड़े

'एक मुद्रिका क्या, इस मुग्धा सरला पर तो तीन भुवन का साम्राज्य निछावर है। यह हमारी भव-भव की परिणीता है, अभय राजा। हमारे गान्धर्व परिणय का उत्सव रचाओ।'

बात की बात में कौमुदी का रासोत्सव, गान्धर्व परिणय के रमोत्सव में बदल गया। नृत्य-गान में झूमते, सहस्रों नर-नारी के घूमते मण्डलों के बीच ही, बाँसुरी की तान पर, और शंख-ध्वनियों के नाद के साथ भाँवरें पड़ गयीं। पाणिग्रहण हो गया। उस निर्दोष अगो वाली बाला को ब्याह कर, सम्राट ने उसे अपने एक और मनोदश की महारानी बना लिया।

महाराज जब नवोढ़ा को लेकर अन्तःपुर में आये, तो चेलना ने हँस कर कहा 'मेरे प्रिय के कितने रूप, कितने रहस्य, वे तो अनन्त और सदा-वसन्त! वे उम्र में नहीं जीते, मुझ में जा जीते हैं!' राजा देख कर स्तब्ध। इस आकाशिनी में श्रेणिक के हर फितूर को अवकाश है।

○ ) )

समय का हिरन कब कहाँ जा निकला, पता ही न चला। लेकिन श्रेणिक के जीवन में जैसे सारा कुछ अनबीता ही रह कर नया होता चल रहा है। बहुत दिन बीत जाने पर, एक बार महाराज कुछ दिनों के लिये अपनी सारी रानियों के साथ वन में वसन्त-क्रीड़ा को गये। वहाँ रातुल पुष्पित पलाश-वनियों में राजा अपनी रानियों के साथ कई तरह के खेल खेलने लगे। एक दिन खेल में दाँव लगा कि जो जीते वह हारने वाले की पीठ पर सवारी करे। खेल खूब जमा। अनेक बार राजा भी हारे, और उनकी पीठ पर रानियों के सवारी करने का मौका आया। पर वे सारी कुलांगनाएँ शालीनता वश ऐसा न कर सकीं। राजा की पीठ पर चढ़ने के प्रसंग को, वे अपना अधोवस्त्र राजा की पीठ पर डाल कर ही टाल देतीं। और सब खब

खिल-खिला कर हँस पडती। राजा के बहुत अनुनय करने पर भी कोई कुलवन्ती रानी उन पर सवार होने को राजी न हो सकी।

योगात् वह नवयौवना आभीरी रानी राजा से जीत गयी।' क्षण भर तो वह झिझकी, और फिर वह वन्या एकाएक क्रीडा-मत्त हो कर झरने की तरह खिल-खिलाती हुई, अपने प्रीतम की पीठ पर सवार होकर हस-लीला करने लगी। फिर वह दुरन्त हो कर जैसे घोडा दौडाने लगी। कितना तो वेग था उसकी उस उन्मत्त अश्व-क्रीडा मे उसकी उन दालायित जघाओ मे। राजा को उस थनगनते स्पर्श की गाढता मे, एकाएक याद हो आया 'प्रभु ने कहा था, यही दुर्गन्धा एक दिन तेरी रानी होगी। निशानी दी थी—कि क्रीडा मे जीतने पर यदि कोई तेरी रानी तेरे पृष्ठ भाग पर चढ कर हस-क्रीडा करे, तो जान लेना कि यह वही दुर्गन्धा है, जो अभी राह किनारे परित्यक्त पडी है।' राजा का हृदय जाने कैसी तो तीव्र आरति और रति से एक साथ भर आया।

श्रेणिक तत्काल उस आभीरनी रानी को ले कर वनानी के किसी एकान्त वानीर कुज मे चले गये। तलदेश की स्निग्ध पल्लव-शैया पर उससे युगलित हो कर बैठते ही वे विवश हो गये। और एक वेतस-लता मे उँगली उलझाते हुए अपनी आभीरी रानी से, उसके पूर्व जन्म से लगाकर अब तक की वह सारी कथा कह गये जो उन्हे श्री भगवान के पादमूल और अशोकवृक्ष मे से सुनाई पडी थी।

सुनते-सुनते आभीरी की अर्धोन्मीलित आँखो मे, उसके जाने कितने जन्मान्तर चित्रपट की तरह खुलते चले गये। और इस जन्म मे अब दुर्गन्धा, फिर सुगन्धा, फिर आभीर-कन्या। फिर रानी, साम्राज्ञी! कौन कुल, कौन ग्राम, कौन गोत्र, कौन माता-पिता? कौन बता सकता है? अपने सिवाय तो अपना कोई नही यहाँ। अपनी आत्मा के सिवाय तो अपना कोई पता-मुकाम नहीं यहाँ। आज की सुगन्धा फिर दुर्गन्धा भी तो हो ही सकती है। आज की रानी, फिर राह किनारे की परित्यक्ता बालिका भी तो हो ही सकती है। आभीरी का चित्त क्षण मात्र मे ससार-मूल से कट गया। उसका जी अपनी जन्म-नाल से विच्छिन्न हो गया।

वह उठ खडी हुई। आँचल माथे पर ओढ कर आँखो मे आँसू भर, पति के चरण छू लिये। फिर विगलित स्वर मे बोली

'तुमने मेरा वरण कर, मुझे तार दिया, स्वामी। चिर काल तुम्हारी कृतज्ञ रहूँगी। अब मैं ससार मे नही ठहर सकती। जाऊँगी उन्ही सर्वज्ञ, सर्वप्रीतम, सत्य-नित्य महावीर प्रभु के पास, जिनसे मिलने पर जन्म-मरण कट जाते हैं, भवान्तर समाप्त हो जाते है, सुख-दुख की साँकल टूट जाती है, जिनके मिलन

मे कभी बिछोह नही होता। दुर्गन्धा और सुगन्धा दोनो को, केवल वही समान रूप मे अपना सकने हैं।'

कह कर आभीरी चुप हो गई। फिर बोली

'एक विनती है मेरी, मानोगे ? दुर्गन्धा को भी भूल जाना, सुगन्धा को भी भूल जाना। केवल अपने मे रहना। वचन दो, रहोगे न ?'

राजा की आँखो मे वियोग और विराग के आँसू एक साथ उमड़ आये। वे एकटक उस मुक्त हंसिनी को देखते रह गये। और वह जाने कब उनके हाथ से उड निकली। दूर वनान्तर मे पीठ दिये जाती दिखायी पडी। और हठात् जाने कहाँ अन्तर्धान हो गयी।

सभी रानियो ने दूर से यह विचित्र दृश्य देखा। किस रहस्य-लोक से आयी थी वह आभीरी ? और क्या उसी रहस्य की जगती मे वह फिर लौट गयी ? आश्चर्य से हताहत वे सब देखती रह गयी।

राजा दूर परिप्रेक्ष्य मे एकाकी, प्रतिमासन मे खड़े दीखे। चेलना ने मुस्करा कर कहा .

'अलबिदा, आभीरी ! कोई कही जाता-आता नही, खोता नही। शाश्वती के चन्द्र-सरोवर तट पर फिर तुम से भेंट होगी ही।'

सभी रानियाँ सुन कर नि शब्द हो रहीं। और वे महाराज सहित चेलना देवी का अनुगमन कर गयी। □

# १२

## तुम्हारी सम्भावनाओं का अन्त नहीं

*उस प्राक्तन काल मे*, *आर्य घरो में एक नियम अटल चलता था।* किसी भी गृहस्थ या श्रावक के यहाँ अतिथि को आहार दिये बिना परिवार को भोजन नही परोसा जाता था। *'अतिथि देवोभव'* ही आर्य गहस्थ की मर्यादा थी। प्राय गह-स्वामिनी ही सबेरे के नित्य कर्म से निवृत्त हो, द्वार पर अतिथि के स्वागत को खडी रहती थी। महारानियाँ भी इसका अपवाद नही थी। तिस पर अतिथि के रूप मे कोई साधु आ जाये, तो भाग जागे।

सो नित्य-नियमानुसार उस दिन भी महादेवी चेलना, श्रीफल-कलश साजे सिंह-तोरण पर अतिथि का द्वारापेक्षण कर रही थी। कि अचानक द्विमास-उपवासी महामुनि वैशाखदत्त गोचरी करते हुए दूर पर आते दिखाई पडे।

चेलना गद्‌गद् हो गयी। उसे पता था कि वे दो महीने से उपासे हैं। बार-बार अन्तराय आने पर, वे अनियत काल के लिये आहार त्याग कर कायोत्सर्ग मे शिलावत् खडे रह गये थे। सुना जाता था, कि उनकी तपस्या से शिशिरकाल मे भी पर्वतो का शिलाजीत पिघल कर बहने लगता है। स्वयम प्रकृति के आँसू आ जाते है।

चेलना ने नि श्वास छोडते हुए मन ही मन कहा : हाय, ऐसे वीतराग पुरुष को देख कर भी किसी का हृदय नही पसीजा ? कि बार-बार इनके आहार मे अन्तराय आती रही। और प्राय ये दीर्घ उपवासो पर उतर जाते रहे। वह प्रार्थना से कातर हो आई . 'हे मेरे अनुत्तर प्रभु, बताओगे नही, किस बाधा से श्रमणोत्तम वैशाख मुनि को अन्तराय हो रही है ? ' कि तभी वे *कृशकाय तपस्वी सम्मुख आते दिखायी पड़े।*

'भो स्वामिन्, तिष्ठ' तिष्ठ., आहार-जल शुद्ध है, आहार-जल कल्प है।' कहते हुए चेलना ने उनका आवाहन कर उन्हे पडगाहा, और सविनय बिना पीठ दिये, पीछे पैरो चलती उन्हे पाकशाला मे ले गयी। उनका पाद-प्रक्षालन करके जब वह अंग-प्रक्षालन करने लगी, तो अचानक कुछ देख कर वह चौंकी।...

तपस्वी का उपस्थ उद्वेलित था। उनका इन्द्रिय-वर्द्धन हो रहा था। आत्म-रमण योगी के शरीर मे यह कैसा उत्तेजन, उत्तोलन ? · फिर भी चेलना त्वचा पर न रुक सकी। मास पर न रुक सकी। वह उनके मनोदेश मे निर्बाध उतराती

चली गई। उसने मुनि के मन में भी कहीं कोई रोध या विकार नहीं पाया। वह पार तक देखती गयी। मुनि स्व-रूप में लीन थे। देह और देह के बीच निरा शून्य था। फिर यह किसका मन है, किसकी पर्याय है, किसका विकार है? वह काँप आयी। गहरी अनुकम्पा से द्रवित हो गयी। चेलना की आँखें अब अश्लील कुछ देख ही नहीं पाती, श्लील ही देखती है। चर्म पर उसकी दृष्टि ठहरती नहीं, चरम पर ही जा कर विरमती है। सो उसे जुगुप्सा तो हो ही कैसे सकती थी।

'तो क्या यह कोई बाहरी छाया है? कोई पर रूप या पर पर्याय यहाँ घट रही है? ओ, समझ गयी। यही तो अन्तराय है, जिसके चलते वैशाख मुनि महीनों आहार ग्रहण नहीं कर पाते। तपस्वी एक दम ही क्षीण हो चले हैं। चेलना ने फिर मन ही मन प्रार्थना की 'मेरे अन्तर्देवता, इस बार यदि यह अन्तराय न टली, तो मैं भी तब तक आहार-जल ग्रहण न करूँगी, जब तक ये न करें। मेरा पारण अब इनके साथ ही हो सकेगा!'

और चेलना ने मातृ-वात्सल्य से विगलित हो कर, शान्त समर्पण भाव से तपस्वी का अंग लुछन किया। और उस देह-विक्रिया को दुर्लक्ष्य कर वह उनके पाणिपात्र में उत्तम फल और पायस अर्पण करने लगी। मुनि एकस्थ भाव से आहार लेते गये। और चेलना की निगाह से यह बच न सका, कि आहार के प्रत्येक कवल के साथ मुनि का उपस्थ अधिक-अधिक वर्द्धमान हो रहा था। लेकिन यह क्या, कि मुनि की चेतना उस उत्तेजन से अछूती ही रही! सहसा ही हाथ खींच कर तृप्त तपस्वी ने, माँ का स्तनपान कर परितुष्ट हुए शिशु की तरह एक बार चेलना की ओर सस्मित देखा। और वे उन्मनी मुद्रा में ध्यानस्थ हो गये।

चेलना की रुकी साँस जैसे फाँसी से छूट गयी। सदेह मुक्ति का सुख अनुभव किया उसने। लगा कि उसका नारीत्व कृतार्थ हो गया। उसका मातृत्व जैसे उमड़ कर चराचर में व्याप गया।

आहार समापन होने पर, फिर से अंग-प्रक्षालन और लुछन के बाद, जब मुनि की आँखें खुली, तो वे एक बार फिर चेलना के मुख पर व्याप गई। मुनि फिर ईषत् मुस्करा आये। चेलना ने समझ लिया कि यह सीमान्त वचनातीत है।

वैशाख मुनि तत्काल विहार कर गये। चेलना उनकी उस गतिमान पीठ को देखती रह गयी।

○ ○ ○

**वैशाख मुनि किस ओर जा रहे हैं, उन्हें नहीं मालूम। गन्तव्य ही इस क्षण उनकी गति हो गया है। चलने में कोई आयास नहीं। शरीर कितना**

निर्भार हो गया है। मानो कि अन्तरिक्ष मे स्थिर पख ताने कोई गरुड उड रहा है। चल रहे हैं, कि खडे है? स्थिति मे है, कि गति मे हैं? पता नही, कहना कठिन है। वे तो अचल भी है, और चलायमान भी। यही तो मौलिक वस्तु-स्थिति है। कूटस्थ भी, त्रियाशील भी। परात्पर उडान का यह कैसा आह्लाद है! यह किसके स्पर्श का जादू है?

और जाने कब वे योगी विपुलाचल पर चढ आये। भरी दोपहरी के प्रखर सूर्य-तले, वे सम्मुख आयी एक ऊबड-खाबड चट्टान पर बैठ गये। कि तभी उन्हे सामने खडा एक विशाल न्यग्रोध वृक्ष आमत्रण देता दिखायी पडा। कितना विस्तृत है उसकी छाया का परिमण्डल। पर तपस्वी तो शीतल छाया की शरण नही खोजता। फिर यह ऐसा आवाहन क्यो, जिसे टाला नही जा सकता। न्यग्रोध के मूल-देश मे एक स्निग्ध शिला उरुमण्डल-सी उद्भिन्न हो कर गर्भाधान को आकुल दिखाई पडी। उन्होने फिर इन्द्रिय-वर्द्धन का प्रबल आवेग अनुभव किया। योगी का वह उत्तान शिश्न पारान्त पर पहुँच कर, देह को भेद कर, विदेह मे प्रवेश कर गया। अपरिमीम अवकाश उस शिलातल मे खलता आया। और जाने कब वैशाख मुनि उस खलाव मे ध्यानस्थ दिखाई पडे।

काल वहाँ स्थगित दीखा। योगी ने अपने को नीली आभा मे तैरता अनुभव किया। गहराई मे तलातल पार उतर गये। ऊँचाई मे ऐसी उडान, कि आकाश ही पख बन गया। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति, सब अपने तत्त्व मे लयमान दिखाई पडे। शरीर साँस मे लय हो गया। साँस प्राण मे विरम गयी। इन्द्रियाँ तन्मात्रा हो कर, चिन्मात्रा हो गई। प्राण मन मे अवसान पा गया। मन चेतस् के मृणाल मे सक्रमण करता, चैतन्य मे विश्रब्ध हो गया। कार्मिक पुदगल परमाणुओ के पाश अदृश्य माटी की तरह झडने लगे। मन के सूक्ष्मतम आवरण भी विदीर्ण हो गये। शुद्ध स्वभावी दर्शन और ज्ञान, दीपक और उसके प्रकाश की तरह युगपत् प्रभास्वर हो उठे। शुक्ल-ध्यान की अमृत मे आर्द्र चाँदनी मे योगी भीजने ही चले गये। उस परम स्नान मे एक पर एक अनेक कोश उतरते गये। वे हठात् क्षपक श्रेणि पर आरूढ हो गये। समयातीत दर्शन और ज्ञान पर पडे, मोह और अन्तराय के सूक्ष्मतम आवरण भी छिन्न हो गये। अन्तरमुहूर्त मात्र मे उनका चैतन्य, अपनी अस्तस्थ कैवल्य-प्रभा से आलोकित हो उठा। त्रिकाल और त्रिलोक उनके करतल पर, स्फटिक गोलक के समान घूमते दिखाई पडे। वैशाख मुनि सयोग केवली होकर, अपने अन्तर-सरोवर के महासुख-कमल मे विहरने लगे। मकरन्द की तरह, उनके मख से परावाणी उच्चरित होने लगी। मन, वचन, काय मे सचरित हो कर उनकी कैवल्य-धारा कण-कण, क्षण-क्षण मे व्याप चली।

चेलना को सम्वाद मिला, कि विपुलाचल पर वैशाख मुनि को केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया। वे अर्हत् केवली हो गये। सुनते ही चेलना की

मातृ-चेतना, जाने कैसे तो प्रीति-जल से सम्भृत हो आई। जैसे आषाढ़ की पहली कादम्बिनी। और उस भीतर की बादल-बेला मे, उसके जाने किस अज्ञात अन्तरित घर मे, कोई सूरज दीया हो कर जल उठा। कैसे तो आत्मीय आलोक ने सारे तन-मन को अणु-अणु मे उजाल दिया।

वह पल भर भी और रुक न सकी। महाराज श्रेणिक उन दिनो अपने एकान्त मे प्राय ध्यानस्थ रहते थे। सो चेलना अकेली ही, बडी भोर रथ पर चढ कर विपुलाचल पर चली गयी। कैवल्य के प्रभामण्डल से आभा-वलयित अर्हन्त वैशाख प्रभु को सामने पा कर वह आत्म-विभोर हो गयी। त्रिवार वन्दना, प्रदक्षिणा कर वह केवली के सम्मुख, नाति दूर, नाति पास, जानु के बल बठ गयी। वैशाख मुनि उसके हाथो निरन्तराय आहार ग्रहण कर सीधे विपुलाचल पर चढ गये थे, और कायोत्सर्ग मे लवलीन हो गये थे। यह उदन्त उसे मिल गया था। तभी से उसके मन मे खटक बनी थी, कि वे जाने किस असुर शक्ति मे सघर्ष कर रहे होगे? वे उस पर-पर्याय के उपसर्ग से शीघ्र मुक्त हो, यही प्रार्थना उसके जी मे दिवा-रात्रि चल रही थी।

आज उन्हे केवली रूप मे विनिर्मुक्त देख कर, उसके आनन्द की सीमा नही थी। उसके मन की जिज्ञासा उदग्र हो आई, कि पूछे इस त्रिकालदर्शी योगी से, कि क्या रहस्य था एक कठोर वीतरागी तपस्वी के उस उपस्थ-उत्थान का? वह पशोपेश मे थी कि कैसे पूछे? उस समय अर्हत् एकाकी थे, फिर भी देवी का साहस न हुआ कि वैसी बात पूछे। उसकी चेतना मे एक सुख खब घना हो कर, गहरा होता जा रहा था। कामदेव के तने हुए पुष्प-धनुष को व्यर्थ करके, उन्होने निरन्तराय उसके हाथो पायस पिया। वे शिशुवत् प्यासे ओठ, उनका वह आत्मीय पायस पान! और फिर उनकी वह परितृप्त दृष्टि। और वे एक स्मित दे कर बिन बोले ही चले गये थे।

हठात् महादेवी चेलना को सुनाई पडा

'तुम्हारा पयस परम रसायन सिद्ध हुआ, देवी। मुझी मे से उठा काम, चरम पर पहुँच कर, मुझी मे लय पा गया। मै निष्क्रान्त हो गया। क्षपक श्रेणि के शिखर पर से, केवली ने तुम्हारे स्नेह-चिन्ताकुल मन को देखा है। तुम्हारा मनोकाम्य पूरा हुआ। अर्हत् महावीर जयवन्त हो!'

झुकी आँखो, फलभार-नम्र-सी चेलना, अर्हत् के पद-नखो को अपलक निहारती रही। सोचा, इनसे मेरा प्रश्न छुपा तो नही। ये जाने मेरी जिज्ञासा, और मुझे आलोकित करें। कि ठीक तभी अर्हत् वैशाख के भीतर से अनाहत ओंकार ध्वनि उठती सुनाई पडी। और वह अनक्षरी, सर्वबोधिनी दिव्यध्वनि, न्यग्रोध वृक्ष के ऊर्ध्व-मूलो और अधो-शाखाओ मे से शब्दायमान होने लगी। चेलना ने मर उठा कर, योगी के तेजोवलयित, शान्त मुख-मण्डल को देखा।

निष्पलक नासाग्र दृष्टि तन्ने, एक अकारण मुस्कान खिली थी। ओठ निस्पन्द थे। और न्यग्रोध के परिमण्डल में से सुनाई पड़ा

'बहुत पहले की बात है, कल्याणी! पूर्वाश्रम में मैं पाटलिपुत्र का राज-कुमार वैशाख था। युवा होकर मेरा मन कहीं किसी को खोजने लगा। पता नहीं, मुझे किसकी खोज थी। भीतर कहीं टीसता कोई अभाव, कोई रिक्त। एकदा वन-क्रीड़ा में वन-कन्या कनकश्री को देखा। लगा, अरे यही तो है वह, जिसे मैं खोज रहा हूँ। और मैंने वहीं कनक से गान्धर्व-परिणय कर लिया। उसे इतना पाया, कि वह चुक गयी। फिर अवसाद। निर्वेद। प्रश्न कौंधता जी में 'कनकश्री, तुम बस इतनी ही हो? तुम्हें पाने ही जाना चाहता हूँ, लेकिन तुम वहाँ नहीं हो, जहाँ मैं तुम्हें अशेष पाता ही चला जाऊँ।' मैंने कनक से कुछ कहा नहीं। वह मेरी उदासीनता को देख कर उद्विग्न ज़रूर थी। लेकिन मेरी व्यथा उस तक पहुँच न सकी। मेरा आत्म, उसके आत्म में सक्रमित न हो सका। उसने कुछ पूछा नहीं, पर चुप रह कर भी मेरे शरीर को जगाने में उसने कुछ बाकी न रक्खा। पर उसकी हर चेष्टा विफल हो गयी। पत्थर पर पानी। तब हार कर वह चुप उदास घुलती रही।

'उसी बीच मेरे गृहत्यागी बाल-सखा, युवा मुनि सूर्यमित्र एक दिन अचानक हमारे आम्रकुंज में ध्यानलीन दिखाई पड़े। उनकी वह उन्मनी मुद्रा देख, मेरी सारी बेचैनी ग़ायब हो गयी। एक गहरी शान्ति में मेरा मन, बहुत काल बाद बालकवत् सो गया। मुझे चरणों में उपस्थित जान, मुनि ने समाधि से व्युत्थान किया। मुझे देख प्रसन्न दिखाई पड़े। बोले

'कनकश्री को देने को क्या उत्तर है तुम्हारे पास, वैशाख?'

'जैसा, जो मैं सामने हूँ, वही तो!'

'तुम्हीं तो उसे खोज रहे थे? उसका क्या दोष? क्या खोज रहे थे उसमें तुम?'

'कैसा तो सूना-सूना लगता था। जी में तड़प थी कि कोई आये और मेरे उस सूनेपन को भर दे!'

'कनकश्री ने तुम्हारे उस सूनेपन को भर दिया?'

'मैं और भी अधिक अकेला हो गया, स्वामिन्। निरुपाय, निरुत्तर अकेला। जिसे कोई और न भर सके, ऐसा।'

'तुम्हारे उस रिक्त को, तुम्हारे अपने सिवाय और कौन भर सकता है?'

'लेकिन वह मैं कौन? कैसे तो अविकल और अन्तिम जानूँ उसे?'

'निर्ग्रंथ हुए बिना, भगवान आत्मा का दर्शन कैसे हो!'

'लेकिन नवोढा कनकश्री ? वही एक दिन की पूर्ति, आज मेरे मुक्ति-मार्ग की सबसे बडी बाधा है।'

'अभीप्सा अविचल हो, तो बाधा ही राधा हो जाती है, वैशाख। एक बार तो गाँठ तुडा कर, हाथ छुडा कर, निकल ही जाना होगा। तथास्तु!'

'कह कर, अतिथि श्रमण जैसे आये थे, वैसे ही अकस्मात् विहार कर गये।'

' उसके बाद, मैं घर मे ही विरत भाव से रहने लगा। ऐसी तन्मयता छायी, कि बाहर आना क्षण भर भी अच्छा नही लगता था। सामने लोहित ज्वाला-सी दहकती वासनावती कनकश्री थी। उसका अम्भोज-सा उत्तान और उत्क्षिप्त रूप और यौवन था। एकाकी सेज मे, एक सोहागन की छटपटाहट को हर रात सहना होता था।

'…वह सब रत्ती-रत्ती प्रेक्षण करता हुआ, मै खुली आँखो ही ध्याना-वेश मे मग्न हो जाता। मेरे अचल शरीर पर उसके दावो का अन्त नही था। मुझे उस पर करुणा हो आती। विवश भाव से उसे देखते हुए, आँखो ही आँखो कहता 'कनकश्री, मै क्या कर सकता हूँ तुम्हारे लिये ? उसी एक सुख की धृष्ट पुनरावृत्ति ? कितना नीरस, छूँछा, फीका हो गया है वह सब ?' लेकिन कनक मेरी आँखो की भाषा को कैसे पढ पाती ? मै ही उसकी बेचैन रति के आलोडन मे, कहाँ उसका सहभागी हो पा रहा था।…

'कुछ समय बाद, अब मै एक अलग कक्ष मे ही रात सोने लगा। मानिनी कनक आँसू घूँटती रही, पर उसने मेरे एकान्त मे विक्षेप नही डाला। अब ऐसा कुछ क्रम हो चला, कि रात को मै अपने कक्ष मे निर्वसन नग्न हो कर ही सामायिक-ध्यान करने लगा। कक्ष बन्द करने का भी भान मुझे साँझ के बाद नही रहता था। साँझ नमते ही मेरी आँखो मे, ध्यान-तन्द्री खुमारी की तरह घिरने लगती थी। उसी सवेग की मस्ती मे वस्त्र फेक कर, मैं अपने अन्तर-रस मे डूब जाता।

'एक रात के तीसरे पहर, वह समाधि-सुख परा सीमा पर पहुँच गया। ठीक तभी अचानक एक धक्के के साथ, मैं व्युत्थान कर बहिर्मुख हुआ। पाया कि जातरूप नग्न, विह्वल विक्षिप्त कनकश्री ने, अमरबेल की तरह मेरे सारे शरीर को चारो ओर से गूँथ लिया है। उसके उस पाश का मैंने प्रतिरोध न किया। आत्मस्थ, अचल, उसे अवकाश देता गया। उस अवकाश मे उसकी वासना की पकड व्यर्थ, निष्फल हो पडी। घायल सिंहनी-सी झपट कर उसने मेरे अंग-अग नोच डाले, काट लिये। फिर भी मैं डिग न पाया। तो वह बहुत हताश, हताहत हो कर मूर्च्छित हो गई।

'उसकी मूर्च्छित नग्न काया की ओर अपने उद्बोधन का हाथ उठा कर, मैं उसी क्षण घर से निकल पडा । श्रमण सूर्यमित्र मेरी प्रतीक्षा मे ही थे । मैं उनके चरणो मे प्रव्रजित हो, उनका अनुगमन कर गया ।

'उधर कनकश्री अपनी अवदमित वासना से छटपटाती हुई, देहत्याग कर गयी । उसका काम-मानसिक शरीर अदृश्य व्यन्तरो के रूप मे जन्मा । और वह व्यन्तरी अपनी भवान्तरो की एकाग्र वासना ले कर पद-पद पर मेरा पीछा करने लगी । उसने अपनी अव्याहत काम-शक्ति से मेरे उपस्थ पर अधिकार कर लिया । मेरे मन को तो वह छू न पायी, लेकिन मेरी देह के शक्ति-केन्द्र को उसने अपनी प्राणहारी वासना से आक्रान्त कर लिया । उसमे चाहे जब, इन्द्रिय-उत्थान होने लगा । विशेष कर आहार के समय आहारक शरीर का वह उद्वेलन मुझे अनिर्वार विवश कर देता । आहार का निवाला उठते ही, कामदण्ड उत्थान कर मानो चुनौती देता 'पहले मेरा उत्तर दो, तब खाओ !' मुझे अन्तराय हो जाती । आहार का रस और ओजस् क्या केवल इसी लिये है ? कोई बरबस मेरा कण्ठावरोध कर देता । मैं निराहार ही निकल पडता । हर दिन आहार बेला मे वही उपद्रव । अन्तराय हो जाती । महीनो उपासे निकल जाते ।

'उस दिन ऐसे ही द्विमासिक उपवास के बाद पारण को निकला था । कोई अपेक्षा, प्रत्याशा तो नही थी । देह अपने स्वधर्म मे विचर रही थी, आत्मा अपने स्वधर्म मे । एक छाया तब भी मेरा पीछा कर रही थी । कि अचानक तुम्हारा पडगाहन-स्वर सुनाई पडा, कल्याणी ! तुम्हारे प्रक्षालन से देहभाव विदेशीय गन्ध-सा तिरोहित हो गया । देह मे क्या हो रहा था, पता ही न चला । तुम्हारे पयस् पान से अन्तिम परितुष्टि हो गयी । देह की शेष ग्रंथि भी खुल गयी । उस निर्वेद शान्ति मे मैं विस्मित हो रहा । क्या ऐसा भी हो सकता है ?

'कनकश्री को ले कर मेरे मन मे गहरा पूर्वग्रह बँध गया था । निश्चय हो गया था, कि मुक्ति-मार्ग की अटल बाधा है नारी । तुमने उस पूर्वग्रह की कुण्ठा का विपल मात्र मे मोचन कर दिया । सचमुच पाया, कि बाधा स्वयम् ही राधा हो गयी है । गुरु का आप्त-वचन प्रमाणित हो गया । स्वयम् महासत्ता ही नारी रूप मे प्रकट हो आयी । ऐसी कि, उसका पार नही । एक अक्षय्य मार्दव के सिवाय और कुछ भी तो नही । केवल अपनी अनन्या आत्मा । और कोई नही ।

'मैं ह्लादिनी महाशक्ति के उसी आह्लाद मे विपुलाचल पर चढ़ आया । यहाँ एक बार फिर काम चरम पर पहुँचा, और स्वयम् ही अपने से निष्क्रान्त हो गया । और मैं शुक्लध्यान की आर्द्रा मे भीजता, नहाता क्षपक-श्रेणि पर आरूढ हो गया । वहाँ मे देखा, एक करुणामयी माँ को । प्राण मात्र

की धात्री को । और उसी मे से मेरी मुक्ति का द्वार खुल गया । देवी चेलना शाश्वती मे जयवन्त हो !'

'लेकिन उस बेचारी पीड़िता व्यन्तरी कनकश्री का क्या होगा, भगवन् ?'

'वह अब शान्त और समय-सुन्दर भाव से अर्हत् की सेवा मे निवेदित है । रात की निम्तब्धता मे वीणा वादन करती हुई, वह विपुलाचल की वनानियो मे अर्हन्त महावीर का स्तुतिगान करती रहती है ।'

'उसके सगीत मे अर्हन्त वैशाख क्या सुनते ह, क्या देखते है ?'

'यही, कि जो नारी मनुष्य को जन्म देती है, वही उसे जन्म-मरण से मुक्त करने की शक्ति भी रखती है । महावीर के युगतीर्थ मे नारी-माँ की इस शक्ति का जयगान होगा ।'

चेलना की कृतार्थता अकथ हो गयी । उसके नारीत्व को फिर एक बार अचूक उत्तर मिल गया । उसकी आँखो के पानी मे उसके अन्तर्वासी प्रभु उजल आये ।

निरजन महावीर, तुम्हारी सम्भावनाओ का अन्त नही ! □

# १३

## मुक्ति की अनजानी राहें

सभी कुछ तो घूम रहा है। पृथ्वी, आकाश, ग्रह-नक्षत्र, कण-कण, क्षण-क्षण सब घूम रहे है। सब अपने मे घूम रहे है, और सब एक-दूसरे के चारो ओर घूम रहे है। देश, काल, भूमण्डल, खमण्डल, मनुष्य, इतिहास, पदार्थ, परमाणु---सभी निरन्तर चक्रायमान है। रेखिल कुछ भी नही, सभी चक्रिल है। कोई भी स्थिति या गति सपाट रेखा मे नही है, चक्राकार है। सामने दीखती रेखा के दोनो छोर कही न कही जाकर मिल जाते है। इसी से सत्ता मे कही आदि या अन्त नही है। सभी कुछ अनादि और अनन्त है। इसी से घूमना ही गति का अन्तिम स्वरूप है। अन्तत सीधा कुछ नही, सब गोल है। सब छोर पर शून्याकार है। निराकार शून्य का जो बिम्ब दर्शन या गणित मे उभरता है, वह गोल है। सब कुछ गोलाकार, अखण्ड मण्डलाकार।

सत्ता और पदार्थ का स्वभाव है परिणमन, अपने ही निज स्वरूप मे निरन्तर घूमना। इसी से सृष्टि मे सर्वत्र एक गोलाकार गतिमत्ता का आभास है। एक ही आदि अन्तहीन चक्र मे घूमते हुए भी, हर वस्तु अपने को दुहराती नही, नित-नयी होती रहती है। हजारो लाखो वर्ष पूर्व जो घटित हुआ था, वह ठीक इस क्षण फिर नया हो कर हमारे सामने आ रहा है। अभी और यहाँ जो भी घटन या विघटन है, वह अनादि काल-बिन्दु के परिप्रेक्ष्य से जुड़ा हुआ है।

ऐसे मे भला हमारी कथा भी सीधी सपाट रेखा मे कैसे चल सकती है। महावीर, श्रेणिक, चन्दना या चेलना अनादि मे भी थे, और आज भी है। सो उनकी कथा भी घूम-फिर कर बारम्बार अनादि परिप्रेक्ष्य तक जाती है, और निरन्त भविष्यत् तक को मापती और व्यापती है। हर कथा लौट कर किसी अदृश्य मे लय होती है, और उतने ही वेग से वह अदृष्ट भावी मे दूर-दूर तक जाती दीखती है। ऐसे मे सौ-पचास वर्ष के एक आयु-खण्ड मे यदि कथा फिर पीछे तक जा कर, फिर आज मे लौटती है, और आगे तक चली जाती है, तो क्या आश्चर्य है।

देखिये न, मै भी कथा कहते-कहते आपको शून्य मे घुमाने लगा हूँ। छोड़िये, हम फिर कथा के रूपायमान जगत् मे लौटें। अभी हम जहाँ है,

वहाँ से फिर बरसों पहले के दिनों मे लौटने की जरूरत पड गयी है। जो अभी घटित होने जा रहा है, उसका पूर्व छोर पच्चीस-तीस बरस पहले कहीं हाथ आता है।

तब भगवान् नन्द्यावर्त प्रासाद मे ही अपना कुमारकाल बिता रहे थे। गान्धार-नन्दिनी रोहिणी तब तक ब्याह कर वैशाली नही आयी थी। उसी जमाने की बात है। गान्धार देश के महापुर का राजा था महीपाल। यह महागान्धार का ही एक छोटा राजकुल था। महीपाल का इकलौता बेटा था सात्यकी। वह स्वभाव से ही बहुत खामोश और एकाकी था। वह तक्षशिला के विश्वविद्यालय का स्नातक रहा था। तभी वहाँ के कुलपति और गान्धार के ज्येष्ठ राजकुल के वशज आचार्य बहुलाश्व की तेजोमती बेटी रोहिणी का उस पर बहुत प्यार हो गया था। उस एकल विहारी गम्भीर लडके से वह बरबस आकृष्ट थी। सात्यकी इस जगत् मे ताल मिला कर नही चल पाया था। वह लीक छोड कर चला था। और एकान्त निर्जनो मे भटकता हुआ अपनी पग-डण्डियाँ आप ही बना रहा था।

समकालीन आर्यावर्त की विख्यात वीरागना और धनुर्धर थी गान्धार-बाला रोहिणी। वह भी सीधी राह कहाँ चल पायी थी? सुदूर खैबर के दुर्गम दर्रों मे घोडा फेंकती इस दुरन्त लडकी ने गुरुकुल की मर्यादा पहले ही दिन से तोड दी थी। ऐसी दुर्दान्त थी वह कि अपने गगन-वेधी तीर से शून्य तक को चीर कर, उसके रहस्य खोल देने को मचलती रहती थी। सारे गान्धार मे कनिष्ठ राजकुल का बेटा सात्यकी ही उसका एक मात्र मन-मीत था। सात्यकी ऐसा विरागी था, कि परिवार मे या बाहर कोई निजी सम्बन्ध वह बना पाया ही नहीं। उसकी थाह पाना मुश्किल था। पर रोहिणी उससे खूब परच गयी थी। केवल वही उसे पहचानती थी। और सात्यकी भी चुपचाप अपनी उस बडी दीदी के वशीभत-सा हो गया था। प्राय वह चुप ही रहता था। लेकिन कभी उसके जी मे आता, तो कितनी ममता से वह पुकारता रोहिणी को 'दीदी!'।

फिर भी वे बहुत कम ही मिलते थे। दोनो अपने-अपने एकान्तों मे अपनी विचित्र राहों के अन्वेषण मे खोये रहते। लेकिन दोनो ही को लगता था, कि वे सदा साथ है। कई बार घोडे पर सवार हो कर सात्यकी सुदूर सुलेमान पर्वत के पार पश्चिमी समुद्र-तट पर एकाकी विचरता दिखायी पडता। देखता, कि लहर में से उभरती लहर अन्तहीन होती हुई पारावार हो जाती है। सीमाहीन विस्तार और अगाध मे खो जाती है। और उसे लगता कि ऐसा ही तो है उसका मन। ऐसा ही तो है। उसका अपना भी रूप। कैसा तो आनन्द होता उसे, अपने आप को उस आरब्ध समुद्र की तरगो पर आरोहण

करते देख कर। ऐसे क्षण उसका जी चाहता, कि कोई उसे देखे, कोई इस अछोर यात्रा के आनन्द मे उसका सहचर और सहभागी हो।

○ ○ ○

'एक दिन की बात। सात्यकी इसी तरह आरब्य समुद्र के तट पर एक नारियल वृक्ष की छाँव मे अकेला निश्चल खडा था। वैसी ही सामुद्री मुद्रा। जैसे वह स्वय ही यह समुद्र हो गया है। अपने अलग होने का कोई भान नही। तभी हठात् उसकी वह तल्लीन मुद्रा भग हो गयी। उसने देखा, समुद्र की सुदूर वेला मे से कोई नारी आकृति उठ कर लहरो को चीरती हुई उसकी ओर चली आ रही है। मानो जल ही उसका शरीर है, जल ही उसका चीर है। निरी जलजाया, जलवसना। कोई जल-परी ? कोई अप्सरा ? अरे कौन है यह ? कौन है यह, जिसने मेरे आवाहन को सुना है ? जिसने मेरे इस स्वरूप को देखा है ! जो मेरे इस सौन्दर्य और आनन्द मे सहभागिनी हुई है।

और वह उसके साथ तन्मय होता गया। उसे फिर अपनी इयत्ता बिसर गयी। कि सहसा ही वह जल-कन्या उसे ठीक अपने सामने खडी दिखायी पडी। वह चौका और बोल उठा

'ओ, दीदी, रोहिणी दीदी !'

'यहाँ कोई दीदी-वीदी नही। मै केवल एक स्त्री हूँ। मेरा कोई नाम नही, किसी एक सम्बन्ध से मैं बँधी नही।'

'तो दीदी, तुमने भी मुझे छोड दिया ?'

'कोई भी तुम्हे छोड देगी। इतने बडे होकर भी तुम पुरुष न हो सके, आपे मे न आ सके !'

'लेकिन, दीदी, सुनो तो तुम यहाँ कैसे ?'

'तुम यहाँ कैसे ?'

'मैं मैं बस ऐसे ही, जैसे तुम यहाँ हो !'

'क्या चाहते हो मुझ से ?'

'कुछ नही, बस तुम रहो दीदी मेरे लिये !'

'तो तुम रहो, मै चली !'

'दीदी, न, न, मत जाओ, मुझे अकेला छोड कर।'

सात्यकी का कण्ठ रुँध गया। उसने वेगपूर्वक जाती हुई रोहिणी का हाथ पकड लिया। रोहिणी बेबस हो गयी। वह धप् से वही बैठ गयी। सात्यकी भी जहाँ था, वही बैठ गया। दोनो की आँखे मिली दोनो की आँखें छलछला रही थी। बडी देर मौन छाया रहा। बीच मे एक दूरी अपार होती गयी। कि तभी भरभराते गले से बोली रोहिणी

'तुम अब भी पुरुष न हो सके! भीरु कहीं के। मैं कब तक तुम्हें पकड़े बैठी रहूँगी। हरेक की अपनी एक नियति होती है, और वह उस ओर बरबस चला जाता है। इतना भी नहीं समझते? अब निरे बच्चे तो नहीं तुम!'

'तो तुम मुझे छोड़ जाओगी, दीदी?'

'छोड़ना और रखना, कुछ भी क्या मेरे हाथ है? देख रही हूँ, अपने ही को नहीं रख पा रही हूँ। आज एक बेरोक पुकार खींच ले गयी। और मैं समुद्र में तैरती हुई, उसके आभोग प्रदेश तक चली गयी। बेतरह हाथ-पैर मारती मानो इस सागर को अपने में बाँध लेना चाहती थी, कि तभी कि तभी ।'

'तभी क्या, दीदी?' सहमा हुआ-सा सात्यकी बोला।

'मुझे समुद्र के सुदूर प्रत्यन्त देश से आती एक आवाज सुनाई पड़ी रोहिणी मामी रोहिणी मामी! किसने पुकारा? मैं किसी की मामी नहीं किसी की कोई नहीं। कौन है वह मामा, कौन है वह भानजा? निरी जल्पना, बकवास। रोहिणी किसी की बन्धक नहीं हो सकती। लेकिन, सात्यकी, ऐसा लगता है जैसे किसी अटल नियति ने पुकारा है अनबूझ है यह खेल!'

'तो तुम मुझे छोड़ जाओगी, दीदी?'

'मुझे कुछ नहीं मालूम, सात्यकी! लेकिन लेकिन मेरे रहते तुम आदमी बन जाओ। अपने आप में आओ। फिर पीछे कौन देखने वाला है। किसे पड़ी है ।' रोहिणी का गला भर आया।

'दीदी!' फूट कर सात्यकी ने दीदी के जानु पर सर ढाल देना चाहा। रोहिणी ने कहा 'नहीं, अब और नहीं, सत्तू । बेला टल रही है, चलो अब लौट चलें। फिर दर्रों में अँधेरा घिर आयेगा। '

और विपल मात्र में ही दोनों अपने घोड़ों पर सवार हो कर, सुलेमान पर्वत की घाटियाँ पार करने लगे। दोनों चुप थे। एक अजस्र और शुद्ध गतिमत्ता में वे एकाकार थे। बस्तियों के दीये दूर पर चमकने लगे। एक चतुष्क पर पहुँच कर उनके घोड़े थम गये। बोली रोहिणी

'मेरे भैया राजा, कितने प्यारे हो तुम। देखो, मैं कल गान्धार के लिये रवाना हो रही हूँ। हो सके तो तुम भी अपनी राह घर लौट चलो। दो-तीन दिन में हम दोनों ही घर पहुँच जायेंगे। तब तुम्हें रोज ही मेरे पास आना होगा। मैं तुम्हें शास्त्र, शस्त्र और शिल्प सब की मौलिक शिक्षा दूँगी। मैं तुम्हें अजेय धनुर्विद्या सिखाऊँगी। जानते तो हो, तुम्हारी दीदी को धनुर्विद्या में आज तक कोई हरा न सका। हाँ, तो आओगे न रोज मेरे पास?'

'हाँ दीदी, आऊँगा जरूर। लेकिन तुम कहीं चली मत जाना!'

'पागल कहीं के ' कह कर रोहिणी खिलखिला पड़ी। और वह अपने मामा के घर रथमैथनगर की ओर धावमान दीखी। सात्यकी के मुँह से सिसकी फूट पड़ी। और फिर वह खोया-भूला-सा अपने प्रवास की पान्थशाला की ओर घोड़ा दौड़ाने लगा।

○ ○ ○

रोहिणी प्राणपण से सात्यकी को काव्य, कला, शास्त्र, शस्त्र—सारी विद्याओं के गुह्य रहस्य सिखाने लगी। सीखा उसने सब, लेकिन उसका मन कहीं से नहीं था। मगर अब वह बेशक पुरुष हो गया। अपने स्वत्व में आ गया। औरों के प्रति तो पहले भी वह उदासीन ही था। लेकिन दीदी को लेकर जो गलदश्रु विकलता उसमें थी, वह तिरोहित हो चली थी। कहीं से वह निश्चल और नीराग कठोर हो आया—सा लगता था। बहुत कम बोलता, और शिक्षण समाप्त होते ही, अचानक चला जाता। रोहिणी को सन्तोष हुआ कि सात्यकी अब अपने में आ गया है। वह निश्चिन्त हुई।

उन्हीं दिनों वैशाली के महासेनापति सिंहभद्र किसी आवश्यक राजकीय कार्य से, राजदूत हो कर गान्धार आये हुए थे। वे अप्रतिम धनुर्धर महाली के शिष्य थे, और उनका तीर अचूक माना जाता था। उन्होंने वीरांगना रोहिणी की गगन-वेध धनुर्विद्या की ख्याति सुनी थी। गान्धार में उन्होंने रोहिणी का वह पराक्रम अपनी आँखों देखा। रोहिणी के व्यक्तित्व की गरिमा और तेजस्विता से वे प्रभावित हुए। तो साथ ही रोहिणी की मौन मृदुता ने भी उनका मन मोह लिया। एक दिन उनके बीच, खेल-खेल में, शिखर-वेध की होड़ लग गयी। सिंहभद्र का तीर, लक्षित शिखर से टकरा कर टूट गया, लेकिन रोहिणी ने शिखर को बींध दिया। इस हार से वैशाली के महा-सेनापति सिंह की आँखें रोहिणी के सामने झुक गई। रोहिणी मुग्ध स्तम्भित देखती रह गयी। और अगले ही क्षण उसने एक जयमाला सिंहभद्र के गले में डाल दी और बोली

'तुम हार कर भी जीत गये, मैं जीत कर भी हार गई!'

उसी सन्ध्या को तक्षशिला में उन दोनों के गान्धर्व परिणय का भव्य आयोजन हुआ। सात्यकी भी उस उत्सव में शरीक हुआ था। कितना तटस्थ अकेला विचर रहा था वह, उस वादित्रों से गूंजती जनाकीर्ण परिणय-सन्ध्या, में। वह ज़रा भी आहत या प्रभावित नहीं लगता था। शिलित निश्चल था मानो। रोहिणी दूर से ही उसे देख कर गर्व से मुस्करा रही थी। 'मेरा सत्तू सच ही आदमी बन गया। पर इतना विरागी? क्या यह भी कोई निगूढ़ राग ही नहीं है?' पर अपने नन्हे भैया के इस अप्रत्याशित परुष पौरुष को देख वह आहत हो गयी। उसने सिंहभद्र से सात्यकी का परिचय कराया

'यह मेरा भैया सात्यकी, मौनी मुनि है। लेकिन यही मेरा अकेला सगी है, हमारे सारे गान्धार मे। काश यह थोडा उन्मुख होता, तो भला मैं आपको जयमाला क्यो पहनाती, सेनापति !'

'ओहो, तो भाई से ही काम चल जाता, पति अनावश्यक हो जाता !' कह कर सिंहभद्र ठहाका मार कर हँस पडे। उन्होने भोलेभाले सात्यकी को पास खीच कर सीने से लगा लिया। तभी रोहिणी बोली

'यह मेरा राजा भैया ही मुझे पहुँचाने वैशाली आयेगा।'

'सच ही तो, पराये पुरुष का भरोसा भी क्या, कब राह मे दगा दे जाये ! यह तो आपका रक्तजात भाई, लोही की सगाई। मैं इसकी बराबरी कैसे कर सकता हूँ !'

कहते हुए सिंहदेव फिर जोर मे हँसे, और सात्यकी को अपनी बगल मे ले कर उसके गलबाँही डाल दी। रोहिणी का नारीत्व अपनी अगाधता मे निमज्जित हो गया। वह कृतार्थता के तीर्थ-सलिल से आचूड भीज आई।

O O O

'मैं वैशाली नही चलूंगा, दीदी !'

'ऐसा रूठ गया मुझ से ? मेरा विवाह करना अपराध हो गया ?'

'इतना ही समझती हो मुझे ? छोडो वह। सोचो तो, तुम्हारे पल्ले को कोर बँधा कब तक, कहाँ-कहाँ घूमता फिरूँगा ? यह क्या मेरे पुरुष के लायक होगा ?'

रोहिणी की आँखें लाड भरे गर्व से भीनी हो आई। भीतर के कण्ठ से बोली

'यह तुझे क्या हो गया है, सत्तन् ? तुझे पुरुष होने को कह कर मै हत्यारी हो गयी। पुरुष होने का अर्थ यह तो नही, कि मुझ से पराया हो जायेगा ! और न यही, कि सब से भागा फिरेगा। तू नही चलेगा पहुँचाने, तो मैं भी नही जाऊँगी वैशाली !' कहते-कहते रोहिणी का स्वर डूब गया।

तब कैसे मने करता सात्यकी। वह दीदी के साथ वैशाली आया। वहाँ सिहभद्र और रोहिणी के विवाह का उत्सव बडी धूम-धाम से हुआ। कई दिनो तक चलता रहा। दूर-दूर मे आ कर सारा परिवार एकत्र हुआ था। सिहसेनापति की सारी बहने आयी थी। कुण्डपुर से त्रिशला, चम्पा से पद्मावती, कौशाम्बी से मृगावती। उज्जयनी से शिवादेवी, वीतिभय से प्रभावती। और राजगृही से चेलना। सुज्येष्ठा और चन्दना तो कुँवारी ही थी। रोहिणी ने सभी से सात्यकी का परिचय कराया था। सब को वह बहुत प्रिय लगा था। सिंहभद्र ने अपने भाई दत्तभद्र, धन, सुदत्त, उपेन्द्र,

सुकुम्भोज, अकम्पन, सुपतग, प्रभजन और प्रभास—सभी से सात्यकी का मेल-जोल करा दिया था। और भी कई लिच्छवि युवाओ ने उसे बडे प्यार और सम्मान से अपनाया था। लेकिन सात्यकी की मनोमुद्रा कुछ और ही तरह की थी। यो सब से हँस-बोल लेता था। लेकिन प्राय चुप रहता था। उसके मन की तह मे कोई झाँक नही पाता था। अन्त.पुर के विशाल गोष्ठीकक्ष मे सारे परिवार के स्त्री-पुरुषो की महफिल जमती। हँसी-चुहल के फव्वारे उडते। कि ठीक तभी सात्यकी कब चुपचाप वहाँ से गायब हो जाता, किसी को पता न चलता। लेकिन रोहिणी की आँख से यह पलातक बच नहीं पाता।

रोहिणी के मन मे एक काँटा और भी चुभ रहा था। वर्द्धमान कुमार नही आये? रोहिणी मामी के उस गोपन रिक्त को दूसरा कौन समझ सकता था। किसी से यह बात पूछ भी कैसे सकती थी? तो फिर किस लिये पुकारा था मुझे—आरव्य सागर की लहरो पर से? यो रोहिणी ने परोक्षत जान लिया था कि वर्द्धमान तो प्रसग पर कही जाते नही। अप्रासगिक चर्या करते है। प्रवासी अतिथि का क्या भरोसा—कब कहाँ होगा? सो रोहिणी ने अपने मन को समझा लिया था। अलक्ष्य भविष्यत् मे आशा की टकटकी लगा दी थी।

लेकिन इस सात्यकी का क्या हो गया है? होना क्या है। यही तो उसका स्वभाव रहा सदा से। रोहिणी के जी मे अपने चुप्पे भाई का दर्द बना रहता। पर अब वह उसे टोकती नही थी। चुपचाप उसके हाल को देखती रहती। राजपुत्रो की आपानक गोष्ठियो मे वह कही न होता। पूरे परिवार की वन-क्रीडा और वन-भोजनो मे भी, वह किनारे कही छिटका दीखता। फिर अन्तर्धान।

सात्यकी की इस विरागी चर्या को कोई एक और चुपचाप देखती रहती थी। 'चेलना से छोटी सुज्येष्ठा इस चुप्पे लडके के रहसीले मन मे झाँकने को उत्सुक थी। मन्दार फूलो-सी दूर-गन्धा वह लड़की, खुद भी तो कम रहसीली नही थी। वैसी ही तो चुप्पी, सुगम्भीर प्रकृति। सदा उजले श्वेत वस्त्रो मे शोभित कोई कैरवी। सात्यकी ने एक बार उसे अपनी ओर देखते, देख लिया था। कैसी सरल निवेदन भरी थी वह चितौनी। एक शान्त झील, जिसमे सब सहज प्रतिबिम्बित है। ऐसा कई बार हुआ था। सात्यकी को भय-सा लगा था। नही, बन्धन और व्यथा ले कर वह नही सोयेगा।' और वह छिटक जाता।

लेकिन सुज्येष्ठा भी उसके बाद कब कहाँ चली जाती, किसी को पता ही न चलता। "हर सबेरे वह स्नान-गन्ध से पवित्र हो कर 'चन्द्रप्रभ चैत्य-

उपवन' में भगवान् चन्द्रप्रभ की पूजा के लिये जाती। पवित्र श्वेत बसन, खुले केश। लिलार पर रक्त चन्दन का टीका। हाथ की चाँदी की थाली में गन्धराज, बेला, स्थल-कमल के फूल। अभिषेक-जल की सुवर्ण झारी। केशर की कटोरी।

एक दिन बडी भोर ही सात्यकी चन्द्रप्रभ देव के दर्शन कर लौट रहा था। कि अचानक ही देवालय की सीढियो पर पूजा-द्रव्य लिये सन्मुख आती दीखी सुज्येष्ठा। दोनो का परस्पर से बचाव न हो सका। दृष्टियाँ मिली। विनय से नत हो कर सुज्येष्ठा ने अतिथि का अभिवादन किया। सात्यकी ने भी हाथ जोड कर सर झुका दिया।

'ज़रा रुकेंगे, आर्य सात्यकी ? पूजार्घ्य का पुष्प-प्रसाद लेते जायें।'

कह कर झटपट सुज्येष्ठा चैत्यालय मे चली गयी। बहुत एकाग्र मन से उसने चन्द्रप्रभ प्रभु का पूजन-अर्चन, धूप-दीप किया। अन्तरतम मे प्रार्थना की 'मेरी राह प्रकाशित करे, प्रभु। और ये अतिथि देव जीवन मे अपना मनोकाम्य लाभ करे, और कृतार्थ हो।' लौट कर सुज्येष्ठा ने, दोनो हाथो से सात्यकी को पुष्प-प्रसाद दिया। उनके भाल पर केशर का टीका लगा दिया। फिर उन पर अक्षत-फल बरसा दिये। और एक-दूसरे को बिना देखे ही दोनो अपनी-अपनी राह चले गये।

चन्द्रप्रभ उपवन के उत्तरी प्रत्यन्त भाग मे एक पीले कमलो का सरोवर था। वहाँ प्राय सुज्येष्ठा कभी-कभी साँझ बेला मे एकान्त विहार करती थी। सात्यकी को इसका कोई आभास भी नही था।

एक दिन साँझ की द्वाभा बेला मे सात्यकी भी उधर निकल आया। वह निर्जन सरोवर की एक सीढी पर बैठा, नितान्त भाव से उन मुद्रित होते कमलो की भीनी लयमान गन्ध मे अपनी मनोवेदना का पता खोज रहा था। कि तभी अचानक सुज्येष्ठा वहाँ आयी। उसे देखते ही सात्यकी उठ खडा हुआ। ' ओ, क्षमा करे, मुझे पता न था।' कह कर वह चल पडा। सुज्येष्ठा के मुँह से बरबस ही निकला 'ओ आप ! मैंने आपकी तन्मयता में आघात पहुँचाया।' सात्यकी रुका और उसने पीठ से ही सुना 'मुझ से भूल हो गयी क्या ? आप इस तरह चले जायेंगे ? ' फिर रुक कर वह बोली 'यदि आप को नाराज़ी है, तो मैं ही चली जाती हूँ।' कह कर सुज्येष्ठा दूसरी वीथी से उल्टी दिशा मे चल पडी।

'नही, देवी, आप से कौन नाराज़ हो सकता है ? फिर मै कैसे ? दोष तो मेरा था। मालूम न था कि यह आप का एकान्त विहार-स्थल है। नही तो मैं यहाँ क्यो आता, भला। जाने से पहले मुझे क्षमा नही कर जायेंगी ?'

मुज्येष्ठा को यह बात तह तक छेद गई। मन ही मन हुआ 'क्या मैं इस योग्य भी नही कि एक बार आँख तक न उठाई इन्होंने ?' मुज्येष्ठा ने मुड कर न देखा। उसके नारीत्व का कोरक बिद्ध हो गया था।

सात्यकी बहुत चाह कर भी, फिर मुज्येष्ठा को कभी न देख सका। न पारिवारिक गोष्ठियो मे, न वन-क्रीडाओ मे।

और एक दिन बहुत भरे मन से रोहिणी ने सात्यकी को बिदा कर दिया। इस सागर-वेला को कब तक बाँध कर रख सकूँगी ?

उस बिदा के क्षण सात्यकी ने वैशाली के सारे राजमहालयो के हर वातायन को एक बार बडी साधभरी आँखो से निहारा था। काश, वह सुगम्भीर चेहरा कही दीख जाता! रथ पर जाते हुए राह मे, वैशाली के हर पेड-पालो से वह मुद्रा झांकती दीखी थी। जो अब मानो सदा को कही अन्तर्धान हो गई थी।

○ ○ ○

गान्धार का वह मर्मीला और शर्मीला लडका! मुज्येष्ठा उसे किसी भी तरह भुला न सकी। उसमे उसने एक अचिन्त्य गहराव देखा था। कैसा अदम्य था उसका आकर्षण। उसके मरम को जाने बिना ठहराव शक्य नही। 'हाय, कैसी भूल हो गयी मुझ से। वे तो स्वयम् ही मेरे एकान्त मे आये थे। भले ही मुझे देखते ही चल पडे थे, लेकिन मेरे सम्बोधन पर वे रुके भी थे। पर मै अधिकार का दावा ले कर अभिमान कर बैठी। मेरी तिरिया-हठ ने अनर्थ कर दिया। और अब तो दिशाएँ भी निरुत्तर है। कहाँ होगे वे, कैसे होगे वे ? क्या मुझे भूल सके होगे वे ? कौन उत्तर दे!'

रोहिणी भाभी से सुज्येष्ठा ने बहुत परोक्ष ढग से कुछ पृच्छा की थी। उदास हो कर वे बोली थी 'सात्यकी का भेद मैं ही न जान सकी, तो औरो को क्या बताऊँ। वह इस धरती का जीव ही नही। उसका कही होना या न होना बराबर-सा ही है।' प्रतीक्षा रही कि रोहिणी भाभी कभी गान्धार जायेंगी, तो शायद कुछ पता चले। लेकिन रोहिणी तो फिर बरसो गान्धार गई ही नही। सुज्येष्ठा बहुत साहस कर के, वैसी ही सान्ध्य द्वाभा मे एक बार 'चन्द्रप्रभ-चैत्य' के कमल सरोवर पर गयी थी। उस सीढी पर कोई उपस्थिति महसूस हुई थी पर कोई दिखाई तो नही पडा। हर वन-वीथी मे बस एक लौटती पीठ ही दीखी थी।

चप्पे-चप्पे पर उसकी आँखे बिछ गई थी। शायद कोई गान्धार-ध्वज-वाही रथ अचानक आता दीख जाये। शायद कोई पारावत या सूआ प्रणय-पत्र ले कर सुज्येष्ठा की वातायन-रेलिग पर आ बैठे। शायद कोई हरकारा या दूत आने की खबर मिले। अभी-अभी कुछ होगा लेकिन कभी कुछ न हुआ।

उधर सात्यकी शून्य-मनस्क हो दिन पर दिन, बरस पर बरस गुजारता चला गया। जी मे एक फाँस गडी है, दो नीलसर आँखे कसकती हैं। आरब्ध समुद्र के छोर छा लिये है, उन आँखो की प्रतीक्षाकुल टकटकी ने। लेकिन क्या उपाय है। पश्चिम के इस दिगन्त से पूर्व के उस दिगन्त तक, दो कभी न लिखी जाने वाली प्रणय-पत्रिकाओ की प्रत्याशा भटके दे रही है। सात्यकी सोचता है, मेरा सत्य कही कोई होगा, तो एक दिन सामने आयेगा ही। सुज्येष्ठा सोचती भूल मुझी से हुई, मैं रूठ गई, मान कर बैठी। लेकिन समय के शून्याश मे इतना अवकाश कहाँ। काल और दिगन्त निश्चिह्न मौन है। जान पडता है, वह मेरा सत्य नही था।

और एक दिन सुज्येष्ठा बिना कहे ही, आधी रात घर छोड गई।

उन दिनो श्री भगवान् वैशाली से कुछ दूर, सोनाली तटवर्ती 'नीलाजन उपवन' मे विहार कर रहे थे। एक दिन भिनसारे भगवती चन्दन बाला उपवन के एक निभृत एकान्त मे, खुली आँखो सचेतना-ध्यान मे अवस्थित थी। ठीक तभी सुज्येष्ठा वहाँ आ पहुँची। उसे वन्दना करने की भी सुध न रही। हाथ जोड, जानू के बल बैठ, नयन भर बोली

'माँ, ससार मे अब पाने को कुछ न रहा। कही जी लगता नही। मुझे अपने जैसी ही बना लो।'

चन्दना चुप। लम्बी चुप्पी। सुज्येष्ठा हताहत होती गई। फिर भी उत्तर न आया। सुज्येष्ठा ने फिर अनुनय की

'माँ के चरणो मे भी ठौर नही ? तो कहाँ जाऊँ ?'

भगवती एकाग्र तृतीय नेत्र से सुज्येष्ठा को ताकती रही। पर उत्तर न दिया।

'प्राणि मात्र की माँ, इतनी कठोर हो गई ? मेरा कोई आत्मीय नही, घर नही। मेरा कोई भूत, वर्तमान, भविष्य नही। मुझ अनाथिनी के नाथ केवल महावीर, मेरी माँ केवल तुम !'

'अपने मन को देख, कल्याणी !' माँ का स्वर सुनाई पडा।

'मन अब कहाँ बचा माँ, कि उसे देखूं ! विमन शून्य हो गई हूँ। तभी तो माँ की शरणागता हुई हूँ।'

'नही हुई शून्य, नही हुई समर्पित। कही अन्यत्र है तू !'

सुज्येष्ठा अवाक् रह गई। उसने माँ के चरण पकड लिये।

'वह अन्यत्र कहाँ है, कोई पता नही। मुझे अपनी सती बना लो, माँ !'

'वह अन्य और अन्यत्र है। देखोगी एक दिन। उस मुहूर्त की प्रतीक्षा करो।'

'मैं कहाँ ठहरूँ, कहाँ लौटूँ ? मुझे अपने मे आयतन दो माँ, आधार दो माँ!'

'जिसमे तुझे सुख हो, वही कर, कल्याणी। स्वधर्म के मार्ग मे कोई प्रतिबन्ध नही।'

सुज्येष्ठा स्वयम् आप से ही भगवती दीक्षा लेकर, श्री भगवान के समवसरण मे उपस्थित हो गई। भगवती चन्दनबाला ने उसके प्रणत मस्तक पर वासक्षेप की वर्षा की। प्रभु उसके मर्म मे रहस्य के एक मुद्रित मुकुल-से भर आये, और मुस्करा दिये।

○ ○ ○

योगायोग। तभी एक सन्देशवाहक अश्वारोही वैशाली से गान्धार आया। उसके द्वारा उदन्त फैला 'देवी सुज्येष्ठा श्री भगवान् की परिव्राजिका हो गई!'

सुन कर सात्यकी की आँखो मे दुनिया बुझ गयी। आरब्य सागर की अफाट और अकाट्य जलराशि मे फाट पड गई। हिन्दूकुश के दर्रे सनाका खा गये। सात्यकी को लगा, कि ससार के किनारे वह अकेला छूट गया है। अब जगत् मे उसके पाने का बचा ही क्या है?

सामने की राह रुँध गई है। दिशा नही, क्षितिज नही। कहाँ ठहरे सात्यकी। क्या करे? कहाँ जाये? और उसकी आँखो मे अर्हन्त महावीर के समवसरण की ऐश्वर्य-प्रभा झलक उठी। प्रभु के प्रभा-मण्डल मे ही तुम्हें खड़ी देखूँगा, सुज्येष्ठा। तुम्हारा वह भागवत तापसी रूप! निर्बन्धन में ही हम मिल सकते है।

...और एक सबेरे सात्यकी श्रीभगवान के चरण-प्रान्त में उपस्थित दीखा।

'जगत् मे पाने का कुछ न रहा, भगवन्। प्रभु से बाहर अब कही जी नही लगता। मुझे अपना ही अग बना ले।'

'सच ही तू यहाँ महावीर को पाने आया है, या किसी और को?'

'प्रभु के भीतर ही मेरी चाह पूरी हो। अन्यत्र नही!'

'अन्य और अन्यत्र अभी शेष है। तू पर-भाव मे है, सात्यकी। तू प्रतीक्षा कर, अपने भोग्य का तू सामना कर। तू पलायन कर रहा है। मुक्तिकामी पलायन नहीं करता, सामना करता है।'

'पलायन भी तो प्रभु के भीतर ही कर रहा हूँ। मुझे अपने जैसा ही नग्न और निर्ग्रंथ बना लें, स्वामी।'

'अन्तिम ग्रंथि का सामना कर, सात्यकी। वही आत्मवेध है।'

श्री भगवान् ने सात्यकी पर ही छोड दिया, कि वह चाहे तो नग्न हो जाये। लेकिन प्रभु अनुमत नही थे। आदेश नही दिया था। सात्यकी श्रीमाँ चन्दना के आगे कातर गुहार करता हुआ शरण खोजने लगा। माँ को उस पर करुणा आ गयी। माँ की वासक्षेप वर्षा तले सात्यकी दिगम्बर हो गया। माँ को लगा, अपने बच्चे की मोहरात्रि को भी उन्हे ही तो सहना होगा।

समय बीतता चला। सात्यकी ने एक बार प्रभु के ऐश्वर्य की द्वाभा मे, देवी सुज्येष्ठा का पवित्र आनन देखा था। मिलते ही चारो आँखो के पलक ढलक गये थे। उसके बाद वे एक-दूसरे से बच कर ही चलते थे। मानो कि यहाँ सभी मिलन मे है, केवल यही दो आत्माएँ बिछडी हुई है। चैतन्य की लीला यदि विचित्र है, तो राग की लीला विचित्र क्यो न होगी।

कुछ बरस बीत चले।

सात्यकी मुनि एक दिन गुफा मे ध्यान-मग्न बैठे थे। बाहर आँधियो के साथ जोर का पानी बरस रहा था। तभी योगात् आर्या सुज्येष्ठा आहार-चर्या से लौटते हुए बरसात मे भीग गईं। वे अपनी शाटिका सुखाने के लिये उसी अन्धी कन्दरा मे अकस्मात् चली आई, जहाँ सात्यकी ध्यानावस्थित थे। बेभान सुज्येष्ठा ने अपने को एकाकी जान, शाटिका उतार दी, और उसे निचोडने लगी।

अचानक बिजली चमकी। सात्यकी के सामने मानो उसकी आत्मा ही परमा सुन्दरी के रूप मे नग्न खडी थी। तमाम सृष्टि को दहलाती हुई बिजलियाँ कडकने लगी। तूफान गरजने लगे। मेघो के डमरू गडगडाने लगे। वर्षा के उस विप्लव मे सब डूबता जान पडा।

और उस अन्धी गुफा मे एक नग्न पुरुष और एक नग्न नारी आमने-सामने खडे थे। प्रकृति और पुरुष की तात्विक भूमिका। उस युगल का देह-भान जाता रहा। देह, देह मे लीन हो गई आत्म, आत्म मे रम्माण हो गया।

इन्द्रियो के सीमान्त आ गये। वे दोनो आगे न बढ सके। वे फिर भी बिछुडे ही रह गये ? हाय, इतनी मुक्त अवगाढता के बाद भी ऐसा वियोग और विषाद ? दीना-पावना चुक गया। वे एक-दूसरे की ओर न देख सके। और वे अपनी-अपनी राह चले गये।

○ ○ ○

राजगृही के राजमहालय मे अबेला ही चेलना के द्वार पर दस्तक हुई। देवी ने द्वार खोला। सम्राट नही, सुज्येष्ठा थी। उजाड़, उदास, वृन्त-च्युत कल्प-लता। प्रभात का शीर्ण पाण्डुर चन्द्रमा।

सुज्येष्ठा चेलना के अक मे लिपट कर बेहद रोने-बिसूरने लगी। चेलना को अपनी सहज-बोधि से पता चल गया। अपने अथाह मौन मे वह अपनी

बहन सुज्येष्ठा को समाती हीं चली गयी। सुज्येष्ठा का रुदन चुक गया, पर चेलना दीदी ने कुछ न पूछा। ज्येष्ठा बहुत आश्वस्त हो आयी। फिर भी रहा न गया तो पूछा

दीदी, मैं इतनी गिर गयी, कि तुमने मुझे कुछ पूछने योग्य भी न समझा ?' और सुज्येष्ठा रो आयी।

'क्रमबद्ध पर्याय के इस खेल मे वह पर्याय अनिवार्य थी, ज्येष्ठा । आई और चली गयी। उसकी पूछ-ताछ क्या ? और अपनी ज्येष्ठा को क्या मैं जानती नही। गिरना उसके अभिधान मे ही नही है। तुम दोनो का राग परमाणु मे भी अधिक सूक्ष्म था। पहले ही दिन से तुम दोनो देह-भाव मे नही थे। और आत्म-भाव भी एक अन्तिम अवगाढ अभिव्यक्ति के बिना, आप्त-काम नही हो सकता।'

'तुम कैसी तो बात रही हो, दीदी ! वीतराग महावीर की मर्यादा हो तुम। और तुमने अमर्यादा को '

'अमर्याद है महावीर, ज्येष्ठा। उसमे हर क्षण नव-नव्य मर्यादा उदय हो रही है। प्रतिक्षण सदोदित है महावीर। त्रिकाली ध्रुव। उसमे उत्थान-पतन नहीं। तुम्हें उस ध्रुव पर उठा लिया है प्रभु ने। परभाव से स्वभाव मे प्रति-यात्रा करो, सुज्येष्ठा । प्रभु तुम्हे पुकार रहे है।'

और एक सबेरे सुज्येष्ठा नतमाथ भगवती चन्दन बाला के सम्मुख प्रस्तुत हुई। उसके मुँदी आँखो वाले विनत आनन पर आँसू की धाराएँ बँधी थी।

'अनिवार्य भोग का शोक कैसा, सुज्येष्ठा ! तू उच्चारोही भव्यात्मा है। तू मुक्ति-कामिनी है, कल्याणी। तुम दोनो की वासना भी मुक्ति के बाहर नही थी। तुमने परस्पर को मुक्त किया। तुम दोनो परायेपन से अपनपन मे लौटने का विवश हुए। तो अब किये का प्रेक्षण करो, आलोचन करो। प्रतिक्रमण करो।'

क्षणैक चुप रह कर श्रीमाँ ने सुज्येष्ठा के पीछे की ओर सम्बोधन किया 'काया मे नही, कामेश्वरी आत्मा मे रमण करो, सात्यकी !'

श्रीमाँ ने देख लिया था। सात्यकी भी ठीक सुज्येष्ठा के पीछे ही कब से आ बैठा था। वह प्रबुद्ध हर्षित हो बोला 'माँ, क्षणिक के पर-राज्य मे नही, तुम्हारे अमृत के स्व-राज्य मे मेरी यह अछोर वासना निर्बन्धन और मुक्त हो जाये।'

'वर्जित नही, विवर्जित विचरो, तो ग्रथिछेद हो जायेगा।'

श्रीमाँ ने सात्यकी को अपनी भुवनेश्वरी चितवन से पुनर्दीक्षित किया, और वह शान्त भाव से चला गया।

तभी सुज्येष्ठा ने मानो धरती मे गडते-से पूछा

'मेरे लिये क्या आदेश है, माँ ?'

'चेलना के सरक्षण मे तुम्हारी प्रसूति होगी। और यथाकाल अतिथि आत्मा का स्वागत होगा!'

'पाप के मूल का सरक्षण कैसा, माँ ? ससार बीज का पोषण कैसा, माँ ?'

'आत्मा न पाप है, न ससार है। वह बस एक शुद्धात्मा है। शेष सब अनिवार्य पर्याय-क्रम है। आया और गया। अनागत जन्मा आत्मा का स्वागत ही हो सकता है।'

'अवैध जातक का अस्तित्व कहाँ, माँ ?'

'कैवल्य मे वैध-अवैध कुछ नही। वहाँ केवल उत्पाद, व्यय और ध्रुव है। आया, बीता, और शेष मे केवल त्रिकाली ध्रुव है। वही होगा तुम्हारा जातक।'

अचानक श्री भगवान् का स्वर सुनायी पडा। वे हठात् अधरासीन विराजित दीखे, भगवती के दक्षिणाग मे! वीतराग जिनेश्वर ने न्याय-विधान किया

'अपनी नियति का स्वामी वह स्वयम् है, कल्याणी। तुम अपने को उसकी जनेत्री, धात्री मानने वाली कौन ? उसके साथ अपने को तदाकार करने वाली तुम कौन ?'

एक स्तब्धता गहराती चली गयी। फिर सहसा ही सुनायी पडा

'यह आमातृ-पितृजात अवैध पुत्र, एक अज्ञात सूर्य की तरह किसी दिन कलिकाल मे महावीर के धर्म-चक्र का सवाहक होगा!'

देवांगनाओ ने फूल बरसाये। देव, दनुज, मनुज की जयकारो मे पाप का अस्तित्व ही तिरोहित हो गया।

मनुष्य को अपने हर मोड पर, मुक्ति की नई और मनचीती राहे खुलती दिखाई पडी। □

# १४

## फाँसी के उस पार

'यहाँ सर्वज्ञ बिराजमान है !'

ऐसा वचन लोगो से सुन कर कोई एक धनुष्यधारी पुरुष प्रभु के पास आया। अपराध बोध से वह नम्रीभूत था। सो प्रभु के बहुत निकट ही खड़ा दिखाई पड़ा। प्रभु की उसे अधिक जरूरत थी सो वह दूर न रक्खा जा सका।

उसने मन ही मन प्रभु से अपना सशय पूछा। प्रभु बोले

'आप्त अर्हन्त की इस सभा म, पर कोई नही, केवल स्व है यहाँ। कैवल्य की इस ज्योति-लेखा मे कुछ भी छुपा नही, सब उजागर है। स्व के इस राज्य मे पर का भय और सकोच कैसा ? तू अपना सशय वचन द्वारा व्यक्त कर, आत्मन्। तो अन्य भव्य प्राणी भी प्रतिबोध पा सकेगे।'

फिर भी लज्जावश वह धनुष्यधारी स्पष्ट न बोल सका। सो उसने सकेत भाषा मे पूछा

'हे स्वामी, यासा, सासा ?'

'एवमेव, कल्याणवरेषु !'

एक रहस्य वातावरण मे छा गया। हज़ारो आँखे प्रश्नायित दीखी। तब आर्य गौतम ने पूछा

'यासा, सासा ? इस वचन का अर्थ कहे, नाथ।'

गन्धकुटी की सीढियाँ स्पन्दित हुई। और उनमे से सुनाई पड़ा

'अनादि सन्दर्भ मे से यह प्रश्न उठा है, वही है उत्तर भी आ रहा है। जो आज भाई-बहन है, वे कभी पति-पत्नी भी थे, और आगे कुछ भी हो सकते है। बात उतनी ही नही, जितनी सामने है। वह पीछे बहुत दूर से, अगोचर मे से चली आ रही है, और आगे अगोचर तक है उसका व्याप। कथा के उस पूर्व छोर को सुनो, जानो भव्यजनो !

'इसी भरत क्षेत्र की चम्पा नगरी मे पूर्वे एक स्त्री-लम्पट सुवर्णकार था। वह पृथ्वी पर फिरता था, और जहाँ भी कोई रूपवती कन्या उसका मन मोह लेती, उसे वह पाँच सौ सुवर्ण-मुद्राएँ अर्पित कर ब्याह लाता। इस प्रकार

अनुक्रम से उसने पाँच सौ स्त्रियों को ब्याहा था। हर स्त्री को उसने सर्व अंगों के आभूषण बनवा दिए थे। और जब जिस स्त्री की बारी आती, वह स्नान-अंगराग कर, सारे ही आभूषण पहनती। और रत्न-कांचन क्रीता, वह भोग्या दासी उसके साथ क्रीड़ा करने चली जाती। अन्य स्त्रियाँ उस दिन कोई शृंगार नहीं कर सकती थीं, यदि करतीं तो सुवर्णकार उनका बहुत तिरस्कार और ताड़न करता।

'अपनी स्त्रियों के स्त्रीत्व पर उसको अत्यन्त ईर्ष्या थी। यह सारा नारीत्व मात्र, मानो एकमेव उसका भोग्य था। किसी और को ये न मोह लें, इसी अरक्षा और भय में वह जीता था। गृहद्वार छोड़ कर कभी कहीं जाता नहीं। दिन-रात वह अपने अन्तःपुर पर पहरा देता रहता था। सुवर्ण तो पर्याप्त था, सो करने को और कुछ था नहीं। वह सर्वकाल इसी एक स्त्रैण वृत्ति में रमा रहता था। इसी कारण वह अपने स्वजनों को भी कभी अपने घर जिमाता नहीं। और इसी अविश्वास के चलते वह भी औरों के घर भोजन पर न जाता।

'एक बार सोनी का एक प्रिय मित्र सोनी की इच्छा न रहते भी, उसे अत्यन्त आग्रह से अपने घर भोजन पर ले गया। बरसों बाद मुक्ति की साँस ले कर उसकी पाँच-सौ स्त्रियाँ आपे में आ गई। मुदित हो कर वे सब एकत्र हुईं। अपनी व्यथा परस्पर को कही। धिक्कार है हमारे इस घर को, हमारे इस यौवन को, हमारे इस जीवन को। कि हम इस कारा-गृह में बन्दिनी हो कर जी रही हैं। हमारा पति यमदूत की तरह कभी अपना द्वार छोड़ता नहीं। सुयोग है कि आज वह कहीं चला गया है। तो आओ, आज हम थोड़ा समय स्वेच्छा से बितायें, मनचाहा वर्तन करें। अपने जीवन को क्षण भर जी चाहा जियें। आओ, इस फाँसी से मुक्त हो कर विहरें।

'ऐसा विचार कर सब स्त्रियों ने स्नान किया, सुगन्ध-फुलैल, अंगराग, उत्तम पुष्पमालादि धारण किये। सुशोभित वेश-परिधान किया। फिर वे सब अपने-अपने हाथों में अपना दर्पण ले कर उसमें अपना रूप निहारने लगीं। ठीक तभी अचानक वह सोनी लौट आया। यह दृश्य देख कर वह ईर्ष्या और क्रोध से पागल हो गया। उसने उनमें से एक स्त्री को पकड़ कर ऐसा मारा, कि वह हाथी के पैर तले कुचली गई कमलिनी की तरह मृत्यु को प्राप्त हो गई।

'एक भयंकर सन्नाटे में बाकी स्त्रियाँ पत्तों-सी थरथराने लगीं। सोनी तत्काल ही अन्यत्र चला गया। सोच में पड़ गया कि वह क्या करे? क्यों न सब को मार डाले? तो फिर किसे भोगेगा? उधर उन स्त्रियों ने परस्पर काना-फूसी की: अरे यह कृतान्त तो हम सभी को इसी तरह बेमौत

मार डालेगा। तो क्यों न हम सभी मिल कर इसी का मार डालें। इस पापी को जीवित रख कर, हम कब तक अपनी आत्माओं का घात करती रहेंगी? तभी सोनी फिर आक्रमणकारी की तरह सामने झपटता आया। तो उन सारी स्त्रियों ने निःशंक निर्भय हो कर, एक साथ अपने चार-सौ-निन्यानवे दर्पण एक चक्र की तरह अपने उस पति नामधारी दानव पर फेंके। उससे तत्काल सोनी परम धाम पहुँच गया।

'लेकिन वे तो स्त्रियाँ थी न! माँ की जाति थी। सो वे रो कर, विलाप कर, पश्चात्ताप करने लगी। उन्होंने उस घर को ही चितावत् सुलगा दिया। और वहीं रह कर वे भी जल कर भस्म हो गई। वे सतवतियाँ अपने ही मन की सती हो गई। पश्चात्ताप योग से, अनजाने ही उनके कर्मों की अकाम निर्जरा हुई। अयाचित ही उनके कई पुरातन दुष्कर्म झड गये। सो वे चारसौ-निन्यानवे स्त्रियाँ किसी एक ही प्रदेश में पुरुष हो कर जन्मी। संयोगात् वे एकत्र हो गई। जाने कौन एक दमित द्रोह और दर्द उनमें प्रति-हिंसा बन कराह रहा था। हमको सब ने लूटा, अब हम सब को लूटेंगे। हम चोरी करेंगे. सारे जगत को चरा लेंगे। इस कारागार को तोड़ेंगे। सो वे सब एकमत हुए, और अरण्य में अपना एक गुप्त किला बाँध कर चोरी का व्यवसाय करने लगे।

'उधर वह सोनी मर कर तिर्यंच गति में पशु हो कर जन्मा। उसके द्वारा मारी गयी. उसकी वह एक पत्नी भी तिर्यंच में पशु हो कर जन्मी। फिर एक ब्राह्मण के कुल में पुत्र हो कर पैदा हुई। वह पुत्र जब पाँच वर्ष का हुआ तब वह सोनी भी उसी ब्राह्मण के घर, उसकी बहन बन कर उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने अपने पाँच वर्ष के पुत्र को अपनी पुत्री के लालन-पालन का भार सौंप दिया। वह बहुत प्यार से अपनी बहन का लालन करता। लडकी बडी तो हो चली, पर जाने किस कारण चाहे जब रोया ही करती। भाई के किसी भी पुचकार-जतन से वह चुप न होती। आठ वर्ष की हो गयी, भाई तेरह का हो गया। लडकी सुबकती ही रहती। द्विज-पुत्र एक बार उसे चुप करने को बहुत सहला-पुचकार रहा था। अचानक उसका हाथ लडकी के गुह्यांग को छू गया। और वह तुरन्त रोती बन्द हो गई। उसका चिर काल का रुदन थम गया। लडका चकित था, यह कैसी अद्भुत् माया है! उसे कुंजी मिल गयी। फिर लडकी जब भी रोती, लडका उसका गुह्यांग हलके से छू देता। वह चुप हो जाती।

'एक बार उस लडके के माता-पिता ने उस उक्त क्रिया करते देख लिया। उन्होंने उसे कोई पापात्मा पिशाच समझ, मार-पीट कर घर से निकाल दिया। वह किसी पर्वत की गुफा में जा कर रहने लगा। फल-मूल खाता, वह अरण्य में ही अनिर्देश्य भटकता फिरता। योगात् एक दिन वह

उस पाल मे आ पहुँचा, जहाँ वे चार-सौ-निन्यानवे चोर रहते थे। पूर्व संयोग से उन चोरो मे वह घुलमिल गया। और चौर्य कला मे निपुण हो, उनका सहयोगी हो गया।

'उधर उसकी बहन यौवन को प्राप्त हो कर कुलटा हो गई। वह स्वच्छन्द विचरती हुई एक गाँव मे आ पहुँची। योगायोग कि उन चार-सौ-निन्यानवे चोरो ने तभी उस गाँव मे डाका डाला। उसे खूब लूटा। वहाँ उनके हाथ लगी वह स्वैराचारी कुलटा युवती। सौदर्य और यौवन से कसमसाती हुई। उन्होने उसे पकड़ कर अपने दुर्ग के अन्त पुर मे कैद कर दिया, और वे सब उसे अपनी अङ्गना मान कर उसका उपभोग करने लगे। अति सम्भोग से वह दिन-दिन क्षीण, पीली और श्रीहीन हो चली। तब उन चोरो को भी उस पर करुणा आ गयी। उन्होंने सोचा, यह बेचारी अकेली बाला हम सब को कै दिन झेल सकेगी? ऐसे तो यह मर जायेगी।—ऐसा सोच कर वे एक और स्त्री को अपनी भोग्या बना लाये। तब वह पहले वाली कुलटा ईर्ष्यालु हो कर इस नवागता के छिद्र खोजने लगी। और उसे अपनी सौत मान कर रात-दिन दाह से जलने लगी।

'एक बार वे सारे चोर कही चोरी करने गये थे। तब कुछ माया-छल करके, वह पूर्वाङ्गना कुलटा इस नयी वहू को किसी बहाने एक कुएँ के पास ले गयी। बोली कि 'भद्रे, देख तो इस कुएँ मे कुछ है!' वह सरल स्त्री कुएँ मे झाकने लगी, कि तभी उस कुलटा ने उसे धक्का दे कर उस अन्ध-कूप मे गिरा दिया। लौट कर चोरो ने उससे पूछा कि—वह नवोढा कहाँ गयी? पूर्वाङ्गना बोली—मुझे क्या पता, तुम अपनी स्त्री को सम्भाल कर क्यो नही रखते। चोरो ने समझ लिया, कि निश्चय ही इस सर्पिणी पूर्वा ने उस बेचारी की ईर्ष्यावश हत्या कर दी है।

' हठात् वह नवागत ब्राह्मण उन पाँच-सौ चोरो मे से छिटक कर खडा हो गया। सहसा ही उसका हृदय किसी अज्ञात आघात से विदीर्ण हो उठा। उसके जी मे एक जलती शलाका-सा प्रश्न उठा क्या यह मेरी वही दुःशीला बहन हो सकती है? मैने अपनी बहन का भोगा? कदाचित्!

'विपल मात्र मे वह द्विज-पुत्र उस पाँच-सौ की पाँत से बाहर हो गया। वह सारे जगत् से बाहर खडा हो गया। निर्वासित, एकाकी, अनाथ, सर्वहारा। उसने पाया कि इस ससार मे उसका अब कोई हीला-हवाला न रहा। वह कहाँ जाये, कहाँ खडा हो? किससे पूछे अपना पता-मुकाम? क्या यहाँ उसका कोई सन्दर्भ नही? और कौन है वह बहुपुरुष-गामिनी कुलटा नारी? उसकी बहन? कौन बताये? तभी उसे कही से सुनाई पडा 'यहाँ सर्वज्ञ विराजमान है।'

'यह धनुष्यधारी पुरुष वही द्विज-पुत्र है, हे भव्य जनो ! अभी लज्जा-वश इसने अपना सशय मन ही मन पूछा। फिर शास्ता का आदेश होने पर, यह वचन मे बोला तो सही, पर स्पष्ट न पूछ सका। इसने सकेत वाणी मे ही पूछा 'यासा सासा ?'—क्या वह स्त्री मेरी बहन है ?' शास्ता ने भी सकेत वाचक मे ही उत्तर दिया 'एवमेव' —हाँ, यह वही है।'

और गन्धकुटी की सीढियाँ निस्पन्द हो गयी। दिव्य ध्वनि परावाक् मे विलीन हो गई।

सर्वज्ञ के उस वचन मे द्विज-पुत्र के अवचेतन की सारी अँधियारी तहो का छेदन हो गया। उसकी चेतना पर से पर्त-दर-पर्त जाने कितने ही मोह-कोश छिलको-से उतरते चले गये। अपनी आत्मा के आदि उद्गम से, इस क्षण तक के उसके सारे भवान्तर, जन्मान्तर, पर्याय, कर्म-बन्ध, मन के जाने कितने ही भावानुभाव राग-द्वेष एक साँकल की तरह उसे टूटते अनुभव हुए। एक क्षण मात्र मे ही वह काल के असख्य अन्ध सागरो मे से यात्रा-परिक्रमा करता, सर्वज्ञ के चरण-तट पर आ खडा हुआ। फिर लौट कर काल की तिमिर-रात्रि के सारे पट चीरते हुए उसने पार तक देखा। कितने जन्म, कितने जीवन, कितनी पर्याय, कितने नाते-रिश्ते—इन सब मे उसका अपना कोई चेहरा कहाँ है ? कहाँ है इसमे उसकी अपनी कोई इयत्ता ? कोई अपनी अमिट आत्मवत्ता ? सारी पर्यायो मे कितने सारे मैं ? मैं मै मैं । कही तो नही दीख रहा इस पर्याय-परम्परा मे, उस 'मैं' का अपना कोई एकमेव चेहरा। इनमे वह आप तो कही कोई नही। वे सारे मोह-माया के नाते-रिश्ते ? सब कहाँ खो गये ? लहरो की तरह, वे जहाँ से उठे, उसी जल मे विलीन हो गये। वह किसे कहे अपना, किसे कहे पराया ? सारे सन्दर्भ, परिप्रेक्ष्य विलुप्त हो गये।

जहाँ उसी भव मे बालपन मे ही, भाई के मन मे बहन के प्रति, गुह्य काम जागा। जहाँ इसी भव मे भाई बहन के साथ सो गया, वहाँ किसी भी सत्य सम्बन्ध का आधार क्या हो सकता है ? वहाँ कौन अन्तत किसी का है ? मै और मेरा के इस माया-राज्य मे, कोई भी तो अन्तत मेरा नही। हर सम्बन्ध, हर नाता निराधार है। एक वीतमान पर्याय मात्र। भाई-बहन हो कि पति-पत्नी हो, समागम मे क्या अन्तर पडता है ! मास के इस दरिये मे किसी भी लहर पर कोई नाम-नाता अकित नहीं। सब केवल देखत-भूली का खेल।

'द्विज-पुत्र क्या करे, कहाँ लौटे ? क्या कही कोई उसका उद्गम नही, घर नही, स्वदेश नही, स्वभूमि नही, जहाँ से वह आया है, और जहाँ वह लौट सके ? उसकी वेदना चरम पर पहुँच गई। वह बिद्ध हो गया। उसने प्रभु के चरण पकड लिये। हठात् सुनाई पडा

'तू अपने घर लौट आया, वत्स। आनन्द!'

तभी स्त्री-प्रकोष्ठ मे से उसकी वह विपथगा बहन बाहर छलाँग पडी। और झपट कर उसने भी प्रभु के चरण पकड लिये। पुकार उठी

'मेरे नाथ, मेरे अन्तर्यामी प्रभु, तुम से बिछुड कर ही तो मै वासना के अँधेरो मे तुम्हे खोजती भटक रही थी। तुम्हे न पा कर ही मैं व्यभिचारिणी हो गयी। स्वामी, मुझे अगीकार करो। मेरे पापो को क्षमा कर दो!'

सहसा ही प्रतिसाद मिला

'स्वैराचारी हुई तुम, कि अपने अन्तर्वासी प्रभु की सती हो सको। हर वासना के छोर पर, तुम्हारा प्रभु ही तो खडा है। तुम देख न सकी?

'देख लिया आज, इसी से तो दौडी आयी!'

'फिर पाप कैसा? क्षमा कैसी?'

'जहाँ आप है नाथ, वहाँ पाप कहाँ?'

तभी वहाँ उपस्थित चार-सौ-निन्यानवे चोरो ने एक स्वर मे कहा

'प्रभु, इस ससार मे अब हमारे लौटने को भी ठौर न रहा। हमारा किला टूट गया। हम अरक्षित है। राज्य की फाँसी हम पर झल रही है। श्रीचरणो के सिवाय अन्यत्र त्राण नही!'

'फाँसी पर चढ जाओ तुम! मृत्यु के पजे को देखो। उसे सहो। उससे छूट कर तुम यही गिरोगे। चार-सौ-निन्यानवे कोमल अङ्गनाओ ने दर्पण-चक्र चला कर, अपने सत् के लुटेरे का मस्तक उतार लिया। अपने सत्य की आग मे जल कर वे आत्माएँ अपनी ही सती हो गई। अपने उस पुरुषार्थ को भूल गये तुम?'

'सब याद आ रहा है, भगवन्। इसी से तो हम आज यहाँ है।'

'तो फाँसी स्वीकार लो। राजदण्ड की सीमा भी देख लो!'

चोरो ने जा कर राजा को आत्म-समर्पण कर दिया। चार-सौ-निन्यानवे फाँसियो पर झूलने गले, अचानक कहाँ गायब हो गये? □

# १५

## मनुष्य का हलकार

याद आ रही है, बहुत पहले की बात। प्रभु तब छद्मस्थ अवस्था मे तप के अग्नि-वनो से गुजर रहे थे। और उस दिन वे गगा पार करने के लिये भला नाव पर क्यो चढे होगे? वे चाहते तो उस जल-राशि पर चल भी सकते थे। लेकिन नही, उनकी राह अतल जल-लोको के भीतर मे ही गयी थी। अहैतुक हो कर भी कितनी सहैतुक थी प्रभु की वह नौका-यात्रा! जल लोक के राजा सुदष्ट्र नागकुमार की प्रतिशोध के कषाय स पीडित आत्मा ने उन्हे पुकारा था। तो सुदष्ट्र की उस वासना को तृप्त किये बिना, प्रभु कैसे आगे बढ सकते थे?

सो वह सुदष्ट्र जल की उस अन्ध कारा मे छुट कर, एक गाँव मे हालिक कृषिबल हो कर जन्मा था। उसे जोतन को मानव-क्षेत्र मिला था, जहाँ से मुक्ति का चरम पुरुषार्थ सम्भव होता है। एक दिन वह हालिक अपने खेत मे हल जोत रहा था, तभी श्रीभगवान् उस क्षेत्र मे विहार कर रहे थे। उन्होंने आदेश दिया आर्य गौतम को

'जाओ, देखो ना गौतम पास ही एक ग्राम के खेत मे कोई कृषक हल चला कर पृथ्वी को जोत रहा है!'

'क्या वह कोई आत्मार्थी है, भगवन्?'

'जाओ, और स्वयम् जानो, वह कौन है!'

आर्य गौतम ने उस ग्रामाङ्गन मे विहरते हुए, खेत मे हल जोतते उस कृषक को चीन्ह लिया। उन्हे श्रीकृपा का आवेश अनुभव हुआ। उनके भीतर कितना-कुछ स्फुरायमान होने लगा। कृषक को सहसा ही सम्बोधन सुनाई पडा

'अरे हालिक कृषिकार, कब तक माटी मे खेती करेगा रे? मै तुझे मनुष्य मे खेती करना सिखा दूँगा। आ, मेरे पीछे आ!'

हालिक दौडा आया। आर्य गौतम की भव्य शान्त, दिव्य मूर्ति देख कर वह अवाक रह गया। ऐसा लोकोत्तर तेज और सौन्दर्य तो उसने मनुष्य मे पहले कभी देखा नही था। वह मत्र-मुग्ध ताकता ही रह गया। गौतम बोले.

'बोल रे हालिक, क्या तेरा बहुत जी लगता है ससार मे?'

'सच ही, नही लगता, भदन्त! आप ठीक समय पर आये। मेरा मन बहुत उद्वेलित है। कही लगता नही। जी करता है, कही और ही चला जाऊँ। किसी अन्य ही देशान्तर मे, जहाँ ऐसा उचाट और अवसाद न हो। जहाँ मन लग जाये।'

'ओ रे आ, मेरा अनुसरण कर। मै वही जा रहा हूँ, जहाँ जाने को तू बेचैन है!'

'क्या वह देश बहुत दूर है, स्वामिन्?'

'दूर से भी दूर, पास से भी पास। पूछ मत, पीछे चला चल चुपचाप।'

हालिक कृषिकार भगवद्पाद गौतम के पीछे चल पडा। बिना किसी आदेश-उपदेश के अपने आप से ही वह, क्षमाश्रमण गौतम की चर्या का अनुसरण करने लगा। ऐसे ही चुपचाप काल निर्गमन होता गया। एक दिन अचानक वह नग्न हो कर गौतम के सामने आ खडा हुआ। श्रीगुरु गौतम ने उसे पीछी-कमण्डलु प्रदान किये। नवकार मत्र की दीक्षा दी। सब मौन-मौन ही सम्पन्न हो गया। हालिक चुपचाप पूर्ववत् ही अपने श्रीगुरु का अनुगमन करने लगा। अचानक एक स्थल पर रुक कर हालिक ने पूछा

'हम कहाँ जा रहे है, देव?'

'तेरे मन के देश, जहाँ कोई तेरी प्रतीक्षा मे है। वह तुझे माटी मे नही, मनुष्य मे बीज बोना सिखा देगा!'

हालिक विचार मे पड गया। कुछ अचकचाया। बोला

'आप ही क्या कम है, स्वामिन। आप से बडा तो मुझे कोई त्रिलोकी मे दीखता नही।'

'एक है त्रिलोकीनाथ, जो छोटे से भी छोटा है, बडे से भी बडा है। वह छोटे-बडे से ऊपर महाशाल पुरुष है। तीन लोक, तीन काल उसकी हथेली पर है। उन्होने तुझे याद किया है।'

हालिक स्तब्ध रह गया। बोला

'मुझ जैसे एक क्षुद्र कृषक को त्रिलोकीनाथ ने याद किया है? मुझे डर लग रहा है, भगवन्। मुझे किसी षड्यत्र की गन्ध आ रही है।'

'षड्यत्र के बिना, क्या इतना बडा जगत चलेगा रे? फिर वे तो तीनो लोक के राजा है। उनकी गति वही जानें। हम-तुम क्या समझेंगे रे। तू चल कर ही देख न!'

'भगवन्, वे आपके कौन होते है?'

'वे मेरे गुरु हैं रे, वे प्राणि मात्र के तारनहार श्रीगुरु हैं। तेरे भी।'

'मेरे भी? आप के भी? आप ही जब इतने महिमावान हैं, तो आपके गुरु तो जाने कैसे होंगे!'

'चौंतीस अतिशयों से युक्त विश्वगुरु सर्वज्ञ महावीर, अवसर्पिणी के चरम तीर्थंकर, कलिकाल के तारनहार। प्राणि मात्र के मित्र, वल्लभ। मन-मन की हर लेते पीर। हर मन के मीत। कीड़ी के भी, कुंजर के भी, तेरे भी मीत। इसी से तुझे याद किया रे।'

सुनते ही हालिक के मन में प्रभु के प्रति प्रीत जग आयी। और उसी क्षण उसने बोधि-बीज का उपार्जन किया। और फिर पूर्ववत् गौतम का अनुगमन करने लगा।

○ ○ ○

लेकिन यह क्या हुआ, कि प्रभु के समक्ष पहुँचते ही, उन्हें देखते ही हालिक के चित्त में वैर-भाव जाग उठा। वह क्रोध से भर उठा। उसे पूर्व जन्म का जाति-स्मरण हुआ। उसे याद आया, जन्मों पार एक दिन वह नगारण्य में जंगल का स्वच्छन्द राजा सिंह था। और तब यह कमलासन पर बैठा पुरुष त्रिपृष्ठ वासुदेव था। यह प्रभुता के मद से प्रमत्त था। इसने मृगया में केवल अपने क्रीडा-भाव को तृप्त करने के लिये, मेरे प्राण का हनन किया था। वही हत्यारा त्रिलोकी का नाथ कैसे हो सकता है? प्राणि मात्र का और मेरा मित्र और तारक कैसे हो सकता है? उसने आर्य गौतम से कम्पित स्वर में पूछा

'क्या यही आपके गुरु और विश्वगुरु सर्वज्ञ महावीर हैं?'

'ओ रे हालिक, तू सूर्य को स्वयम् न पहचान सका? क्या वह भी तुझे दिखाना होगा?'

'यदि यही आपके गुरु हैं, भन्ते, तो मेरा आप से अब कोई लेना-देना नहीं। न आपकी दीक्षा ही मुझे चाहिये। लीजिये, इसे लौटा लीजिये। इसे अपने पास ही रक्खें। मैं चला!'

कह कर क्षण मात्र में ही पीछी-कमण्डलु फेंक कर, वह हालिक कृषिबल बेरोक आँधी की तरह वहाँ से निकल गया। और फिर अपने खेत में लौट कर हल चलाने लगा।

उधर गौतम ने प्रभु को नमन् कर पूछा

'हे नाथ, आपको देख कर तो सकल चराचर जीव हर्षित हो उठते हैं। ऐसे आप से इस हालिक को द्वेष क्यों हुआ? ऐसा बैर, कि दुर्लभ बोधि-बीज अर्जन करके भी, वह उसे फेंक कर चला गया। भगवती दीक्षा को त्याग

कर पीछी-कमण्डलु फेंक गया। इसकी आत्मा पर ऐसा कौन तमस का पर्दा पड़ा है, नाथ ?'

प्रभु का उत्तर सुनाई पड़ा :

'त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव मे तुगगिरि की गुहा के जिस सिंह को मैंने मारा था, उसी का जीव है यह हालिक कृषिकार, गौतम। सुदष्ट्र नागकुमार के रूप मे भी यही मुझ से बैर लेने आया था। उसका दोष नही, उसका कषाय अभी चुका नही। लेकिन अब देर नही है । प्रतीक्षा करो।'

'लेकिन प्रभु, इस हालिक को मुझ पर प्रीति क्यो कर हुई ?'

'उस पूर्व भव मे, तुगगिरि के अरण्य मे तू ही मेरे रथ का सारथी था। तुझे उस क्रोध और पीड़ा से फड-फड़ाते सिंह पर करुणा आ गयी थी। तूने उसे सामवचनो द्वारा शान्त किया था। तभी से तेरा वह स्नेही है, और मेरा वह द्वेषी है।'

'लेकिन आज जो कण-कण, प्राण-प्राण के वल्लभ प्रभु है, उनके आगे भी उसका वह पुरातन द्वेष टिक सका ? जिन श्रीचरणो मे सिंह और गाय एक घाट पानी पीते हैं, वहाँ भी उसका क्रोध शान्त न हो सका ?'

'हालिक का क्या दोष उस मे ? महावीर की वीतरागता कसौटी पर है। उसका प्रेम ही शायद कम पड़ गया !'

'प्रेम के समुद्र मे सीमा ही कहाँ, प्रभु ! लेकिन उस जीव की पीड़ा कितनी विषम है। क्या वह उस वैर-ग्रंथि से मुक्त न हो सकेगा ?'

कि ठीक तभी वह हालिक कृषिकार लौट कर श्रीमण्डप मे आता दिखाई पड़ा।

'पृथ्वी जोतने मे अब मन नही लगता, भगवन्। अब कही भी मन नही लगता। कहाँ जाऊँ ?'

'तो तू यहाँ क्यो आया रे हालिक ? यहाँ तो तेरा जी लगा नही। तू यहाँ से तो पलायन कर गया था। जहाँ जी लगे, वही जा रे। यहाँ क्यो आया ?'

'अपने बैरी वासुदेव का सत्यानाश किये बिना, मेरा जी कैसे लग सकता है ?'

'इसी लिये तो तुझे पुकारा है रे, कि तेरे बैरी को पकड़ लाया हूँ, तू उसका उन्मूलन कर दे !'

हालिक को लगा कि वह सिंह रूप मे प्रकट हो कर, कराल डाढे फाड कर, त्रिपृष्ठ वासुदेव पर झपट रहा है। हठात् यह क्या हुआ, कि वासुदेव

स्वयम् ही उसकी डाढो मे कूद कर उसका आहार हो गये! उसके उदर मे प्रवेश कर, उसके मूलाधार मे उतर गये। हालिक को लगा कि जाने कौन उसके भीतर के एक-एक रक्ताणु, उसके तन-मन के एक-एक परमाणु को सहला रहा है। प्यार कर रहा है।

हालिक जब उस प्रीत-समाधि से बाहर आया, तो उसने पाया कि स्वयम् प्रभु हालिक मुनि पर पुष्प-वर्षा कर रहे है।

'अरे हालिक, तू तो महावीर के श्वेत रक्त मे हल चला रहा है। उसकी नसो मे से दूध चू आया है। ओ मेरे हलकार, मनुष्य के जाने कितने ही क्षेत्र, तेरे हल-चालन की प्रतीक्षा मे है। तेरा बोधि-बीज अनजाने ही, जाने कितनी ही आत्माओ मे कल्पवृक्ष बन कर फलेगा। तेरी जय हो हालिक कृषिकार!'

और हालिक को अनुभव हुआ, कि उसके रक्त मे यह कैसे अवगाढ मधुर गोरस का सचार हो रहा है। यह पृथ्वी स्वयम् ही हो गयी है उसकी कामधेनु! ☐

१६

# विचित्र लीला चैतन्य की : राजर्षि प्रसन्नचन्द्र

पोतनपुर के महाराज प्रसन्नचन्द्र ने बहुत वर्ष सुखपूर्वक राज्य किया। मगर ऐन्द्रिक सुख मे भी अमरत्व का भ्रम होने लगे, इस हद तक उन्होने पृथ्वी के सारभूत सुख भोगे। उनकी रानी चन्द्रनखा भी ऐसे शीतल स्वभाव की थी, मानो कि चन्द्रपुरी से ही आयी हो। राजा को उसका हर स्पर्श ऐसा लगता, जैसे उसमे चन्द्र किरणो का अमृत झडता हो।

एक वसन्त ऋतु की चाँदनी रात मे, राजा प्रसन्नचन्द्र महल की खुली छत के रत्न-पर्यंक पर अपनी रानी के साथ सोये थे। चाँदनी मे वासन्ती फूलो की गन्ध कुछ सन्देश देती-सी लगी। राजा का आलिगन एकाएक छूट गया। रानी उस ऊष्मा मे अवश मूर्च्छित छूटी पडी रह गयी। राजा ने ग्रह-तारा खचित आकाश को देखा। लेकिन चन्द्रमा तो स्वयम् उनकी शैय्या मे ही आ लेटा है! कितने नक्षत्र-लोक, कितने जगत्, कितने भुवन, कितने ब्रह्माण्ड। अनन्त सामने खुल गया। सान्त का छोर राजा के हाथ से निकल गया।

· प्रसन्नचन्द्र को लगा कि इन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डो मे उसका अस्तित्व क्या! एक बिन्दु भर भी तो नही। तो उसका होना या न होना कोई माने नही रखता? और राजा को अपनी अस्मिता शून्य मे विसर्जित होती लगी। उसका 'मैं' उसे कपूर की तरह छूमन्तर होता अनुभव हुआ। तो वह कौन है, और कहाँ टिके वह? मृगशीर्ष नक्षत्र के मृग पर चढ कर, वह माना अस्तित्व के छोर छू आया।· आगे जो सीमाहीन का निस्तब्ध राज्य देखा, तो उस अथाह के समक्ष वह शून्य हो गया।

·फूलो की शैया मे लेटी परमा सुन्दरी रानी। आस-पास सजी नाना भोग-सामग्री। जलमणि की फुलैल-मजूषा। नाना सुगन्ध, आलेपन, अलकारो के खुले रत्न-करण्डक। ऐन्द्रिक सुख के अपार आयोजन। सब कुछ क्षण मात्र मे दर्पण की प्रतिछाया-सा विलीन हो गया। सारे लोकालोक उसकी आँखो मे नक्षत्रो की धूल से झडते दिखायी पडे।

·और यह चन्द्रनखा? काल के प्रवाह मे ऐसी जाने कितनी चन्द्रनखाएँ, हर क्षण तरंगों-सी उठ कर मिट रही हैं। इसके चरम तक जा कर भी, क्या

इसे पा सका ? क्या मै इसके साथ तदाकार हो सका, जो हुए बिना मुझे अब छिन भर भी अब चैन नही।

'और राजा सामने खुलते शून्य मे थरथराते बच्चे की तरह प्रवेश कर गया।

○ ○ ○

उस काल, उस बेला श्री भगवान् पोतनपुर के 'मनोकाम्य उद्यान' मे समवसरित थे। उस दिन सवेरे अचानक महाराज प्रसन्नचन्द्र प्रभु के सम्मुख उपस्थित दीखे। वे निरालम्ब मे काँप रहे थे।

'इधर देख राजा, और जान कि शून्य है कि सत् है। अमूर्त है कि मूर्त है। इधर देख !'

राजा ने सर उठा कर प्रभु को एक टक निहारा। समय से परे अपलक निहारता ही रह गया। फिर हठात् वह बोला आया

'शून्य भी, सत् भी। मूर्त भी, अमूर्त भी। शून्य ही सत् हो गया मेरे लिये। अमूर्त भी मूर्त हो आया, मेरे लिये। यह क्या देख रहा हूँ, भगवन् !'

'क्या तू अब भी निरालम्ब है ? क्या तू अब भी अकेला है ? क्या तू अब भी नास्ति है ? क्या तू अब भी शून्य है ?'

'मैं अब निरालम्ब नही, स्वावलम्ब हूँ। मै अब अकेला नही, क्यो कि मैं अर्हत् सयुक्त हूँ। अर्हत् के ज्ञान से बाहर तो कुछ भी नही। मैं अब नास्ति नही, अमिट अमित अस्ति हूँ। मै अब शून्य नही, एकमेव सत्ता हूँ।'

'तू कृतार्थ हुआ, राजन्। तू जिनो के महाप्रस्थान का पथी हुआ !'

महाराज प्रसन्नचन्द्र ने दिगम्बर हो कर जिनेश्वरी दीक्षा का वरण किया। और उसी क्षण उन्हे सम्यक् बोधि का अनुभव हुआ।

यह बहुत पहले की बात है। इधर कई वर्षों से वे प्रभु के सग विहार कर रहे हैं। कायोत्सर्ग का तप उन्हे चेतना की उच्च से उच्चतर श्रेणियो पर ले जा रहा है। वे सूत्रार्थ के पारगामी हो गये हैं। सत्ता का स्वरूप उनमे प्राकट्यमान होता दिखायी पडता है।

○ ○ ○

अन्यदा प्रभु, राजर्षि प्रसन्नचन्द्र और अपने विशाल श्रमण-मण्डल से परिवरित राजगृही पधारे। वे 'वेणु-वन चैत्य' मे समवसरित हुए।

महाराज श्रेणिक अपनी रानियो और परिकर के साथ नगे पाँव, पैदों चल कर ही प्रभु के वन्दन को जा रहे थे। सब से आगे उनके सुमुख और दुर्मुख नामा दो व्यवस्था-सचिव चल रहे थे। वे तरह-तरह की बातें करते जा रहे थे। कि अचानक मार्ग के दायी ओर की वनभूमि में सब की दृष्टि

गई। महातपस्वी प्रसन्नचन्द्र एक पैर पर खडे हो, बाहु ऊँचे कर, सूर्यमुखी मुद्रा मे आतापना ध्यान करते दिखायी पडे। श्रेणिक ने परिकर सहित क्षण भर रुक कर, दूर से ही उनका वन्दन किया। तभी आगे चल रहे सुमुख मत्री ने भी रुक कर वन्दन किया और साश्चर्य कहा

'अहो, कैसा दिव्य है इनका तपस्तेज! स्वर्ग और मोक्ष भी इनके चरणो पर निछावर है।'

तुरन्त ही दुर्मुख ने तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहा

'अरे क्या खाक तपस्तेज है! तुझे तो पता ही क्या, सुमुख, कि कैसा पलातक और पातकी है यह साधु। यह पोतनपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र है। अपने बाला राजकुमार पर सारा राज्य-भार छोड, बिना कहे ही यह घर से भाग कर मुनि हो गया। इस निर्दय ने एक गोवत्स को बडी भारी ससार-गाडी मे जोत दिया। इसकी देवागना जैसी रानी इसके निष्ठुर विरह मे सूख कर काँटा हो गयी है। पर इस कायर को रच मात्र दया-माया नही। और इसके मत्रियो ने चम्पापति अजातशत्रु के महामत्री वर्षकार से मिल कर, इसके बालकुमार का राज्य हडप लेने का कुटिल जाल फैलाया है। अरे सुमुख, इस पाखण्डी पलातक को देखना भी पाप है।'

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के कान मे जाने कैसे ये शब्द चले गय। उनके ध्यान-सुमेरु पर जैसे वज्राघात हुआ। उनकी निश्चल चेतना मे दरारे पड गयी। वे चैतन्य के शिखर से लुढ़क कर, चिन्तन के विकल्पो मे करवटे बदलने लगे। 'अहो, धिक्कार है मेरे अकृतज्ञ मत्रियो को। मैंने निरन्तर उनका सत्कार किया। उन्हें कितना धन-मान दिया, उच्च पद दिया। फिर भी मेरे निर्दोष पुत्र के साथ वे दावघात कर रहे है। मेरा दुधमुँहा बेटा आज अनाथ है। चन्द्रलेखा श्री-सौभाग्य विहीन हो कर छिन्न लता-सी मुर्झाई पडी है। वह अपने आपे मे नही। उसका नारीत्व, उसका मातृत्व सब मिट्टी मे मिल गया। मेरे गृह-त्याग से ही तो उनकी ऐसी दुर्दशा हो गयी। मेरे अपराध की क्षमा कही नही। और वे मेरे मत्री, मेरे रहते वे मेरे शशक जैसे बाल और मेरी मृगी जैसी रानी का सर्वनाश कर देगे? ऐसा कैसे हो सकता है। मैं, मेरा, मेरी रानी, मेरा पुत्र, मेरा राज्य, मेरे मत्री, मेरे शत्रु मै प्रतिकार करूँगा। मै मेरा, मैं मेरा, मैं मैं मैं।'

और व्यथित, विक्षिप्त राजर्षि प्रसन्नचन्द्र, अपने मनोदेश मे ही, अपने मत्रियो के साथ युद्ध मे प्रवृत्त हो गये। युद्ध अन्तहीन होता चला गया। युद्ध मे से युद्ध। इस दुश्चक्र का कहाँ अन्त है?

○ ○ ○

ठीक उसी समय श्री भगवान् के समवसरण मे, महाराज श्रेणिक ने सर्वज्ञ महावीर से प्रश्न किया

'जयवन्त हो त्रिलोकीनाथ! अभी वन-पथ मे राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को पूर्ण ध्यान मे लीन देखा। कायोत्सर्ग की उस विदेह दशा मे यदि वे मृत्यु को प्राप्त हो, तो वे कौन गति पायें, भगवन् ?'

तपाक् से प्रभु का उत्तर सुनाई पडा

'सातवाँ नरक!'

सुन कर श्रेणिक आश्चर्य से अवाक् रह गया। ऐसे महाध्यानी मुनि अन्तिम नरक के रसातल मे कैसे पड सकते है। ऐसा तो नही कि प्रभु का उत्तर श्रेणिक ने ठीक से न सुना हो? शायद उसके सुनने मे ही भूल हो गयी। सो क्षण भर रुक कर श्रेणिक ने फिर पूछा

'हे भगवन्, राजयोगी प्रसन्नचन्द्र यदि ठीक इस समय काल करें, तो कहाँ जायें? किस योनि मे पुनर्जन्म ले?'

भगवन्त के श्रीमुख से उत्तर सुनाई पडा :

'सर्वार्थ सिद्धि के विमान मे?'

श्रेणिक बडी उलझन म पड गया। एक क्षण के अन्तर पर ही भगवान् के कथन मे भेद कैसा? अविरोध-वाक् सर्वज्ञ की वाणी मे अन्तर्विरोध कैसे हो सकता है? श्रेणिक ने तत्काल उदग्र हो प्रश्न किया

'हे प्रभु, आपने क्षण मात्र के अन्तर से दो भिन्न बाते कैसी कही?'

उत्तर सुनाई पडा

'ध्यान-भेद के कारण। चेतना मे हर क्षण नयी-नयी अवस्थाएँ आती-जाती रहती है। आत्म-परिणामो की गति बडी सूक्ष्म और विचित्र है, राजन्। उत्पाद, व्यय का खेल निरन्तर चल रहा है। उसमे ध्रुव पर रहना ही तो योग है। प्रसन्नचन्द्र ध्यान मे ध्रुवासीन हो कर भी, दुर्मुख के वचन सुन सहसा ही कुपित हो गये। वे समत्व के शिखर से ममत्व के पक मे लुढक पडे। मेरा बालकुमार, मेरी रानी, मेरा राज्य, मेरे मत्री, मेरे शत्रु! और वे क्रोधावेश मे आ कर मन ही मन अपने मत्रियो से रक्ताक्त युद्ध लडने लगे। जब तुमने उनकी वन्दना की राजन्, तब वे उसी मनोदशा मे थे। इसी से उस समय वे सप्तम नरक के योग्य थे।

'लेकिन जब तुम यहाँ चले आये, राजन्, तब प्रसन्नचन्द्र ने एकाएक अनुभव किया कि—मेरे सारे आयुध तो चुक गये, अब मै कैसे युद्ध करूँ? और वे फिर उद्यत हुए कि—अहो, मै अपने शत्रु को शिरस्त्राण से मारूँगा। और उनका हाथ शिरस्त्राण खीचने को पहुँचा, तो पाया कि वहाँ शिरस्त्राण नही, श्रमण की केश-लुचित मुण्ड खोपडी थी। तत्काल प्रसन्नचन्द्र को

प्रत्यभिज्ञा हुई : अरे मैं तो सर्वत्यागी महाव्रती श्रमण हूँ। कौन राजा, किसका राज्य, किसका युवराज, किसकी रानी, कौन शत्रु, किसका शत्रु? वे सारी पर्यायें जाने कब की बीत चुकी। मैं वह कोई नहीं, मैं हूँ केवल एक स्वभाव मे स्थित निरजन आत्म। वीत-पर्याय, वीत-राग, वीत-द्वेष, वीत-शोक। अवीत-मान ध्रुव आत्म।

'यो आलोचना, प्रतिक्रमण करते हुए, प्रसन्नचन्द्र फिर प्रशस्त ध्यान मे अवस्थित हो गये। तुमने जब दूसरी बार प्रश्न पूछा तब एक समयांश के अन्तर से ही प्रसन्न राजर्षि प्रशस्त ध्यान की परा भूमि मे विचर रहे थे। सर्वार्थ सिद्धि विमानो के प्रदेश मे उनकी चेतना उड्डीयमान थी। '

कि ठीक तभी वन-भूमि में राज-सन्यासी प्रसन्नचन्द्र के सामीप्य मे देव-दुदुभियो का नाद होता सुनायी पडा। देवागनाये फूल बरसाती दिखायी पडी। विस्मित-चकित भाव से श्रेणिक ने फिर से पूछा :

'हे स्वामी, अकस्मात् यह क्या हुआ?'

प्रभु का अविलम्ब उत्तर सुनायी पडा

'शुक्लध्यान की अन्तिम चूडा पर आरोहण कर, राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। कल्पवासी देव उनके कैवल्य का उत्सव मना रहे है।'

'तीन ही क्षणो मे, एक ही आत्मा क्रमश. सप्तम नरक का तल छू कर, सर्वार्थ सिद्धि को पार कर, कैवल्य के महासूर्य मे आसीन हो गयी? अबूझ है भाव की गति, भगवन्!'

'काल के प्रवाह से ऊपर है चैतन्य का खेल, श्रेणिक। महाभाव के राज्य मे काल का वर्तन नही। अपने ही भावो की गति देख, और जान, कि तू ठीक इस क्षण कहाँ चल रहा है!'

श्रेणिकराज ने अपने भीतर झाँका। एक नीली स्तब्धता मे, कितनी सारी गतियाँ, और कोई गति नही। केवल एक नि स्वन मैं, आप ही अपने मे तरंगित। □

१७

# तेरा विधाता तू ही है

अचानक यह कैसा अपलाप घटित हुआ ? स्वरूपमान प्रभु के सान्निध्य मे यह कैसी विरूपता, कुरूपता ?

गलित-पलित काया वाला एक कुष्ठी वहाँ आया। और वह हड़काये श्वान की तरह, प्रभु के समीप बैठा दिखायी पडा। सम और सम्वाद के सुन्दर राज्य मे ऐसा वैषम्य क्यो कर ?

अरे यह कैसी पिशाच-लीला है ? वह कुष्टी निर्भय नि शक हो कर अपने रक्त-पीव मे चन्दन की तरह, प्रभु के चरणो को चर्चित करने लगा। देख कर, मनुष्य-कक्ष मे बैठा राजा श्रेणिक क्रोध से बेकाबू हो उठा अरे यह गलिताम मास का लोथडा, यह महा पापात्मा कौन है ? इसका इतना साहस, कि जगत्-स्वामी प्रभु की ऐसी आशातना (अवमानना)कर रहा है ! प्रभु ने इसे रोका नही ? इन्द्रो और माहेन्द्रो की सत्ता भी इसमे हस्तक्षेप नही कर सकती ? परवाह नही, मै उसका वध करूँगा। यह उठे तो वहाँ से।

इतने मे ही एक और अपलाप घटित हुआ। अठारह देह-दोषो से रहित अर्हन्त तो छीकते नही। पर यह क्या हुआ, कि जैसे अशोक वृक्ष मे से छीक सुनाई पडी। मानो कि महावीर को छीक आगई। और तत्काल वह कुष्ठी बोल पडा 'मृत्यु पाओ'! कि ठीक तभी राजा श्रेणिक को छीक आयी। तो कुष्ठी बोला 'बहुत जियो'। कि सहसा ही अभय राजकुमार छीक पडे। कुष्ठी बोला 'जियो या मरो'। एक सन्नाटा, और फिर काल-सौकरिक कसाई छीक उठा, तो कोढी बोला 'जी भी नही, मर भी नही'।

'ऐ, इस कोढी ने प्रभु से कहा कि तुम मर जाओ ?'–श्रेणिकराज क्रोध से आग-बबूला हो गये। उन्होंने पास ही बैठे अपने सुभटो को आज्ञा दी कि जैसे ही यह मौत का कुत्ता वहाँ से उठे, इसे पकड लेना। धर्म-सभा विसर्जन होते ही, कोढी प्रभु को नमन कर वहाँ से उठा, कि तभी—किरात जैसे शूकर को घेर लेते है, वैसे ही श्रेणिक के सुभटो ने उसे घेर लिया। लेकिन यह कैसी विचित्र घटना, कि वह कोढी उनके देखते-देखते क्षणवार मे ही दिव्य रूप धारण कर, एक नक्षत्र की तरह आकाश मे उड गया।··

श्रेणिक दिङ्मूढ हो देखता रह गया। जैसे पर्दे उठ रहे हैं। वस्तु के भीतर एक और वस्तु है। व्यक्ति के भीतर जाने और कितने व्यक्ति है। कोढी में देव छुपा है, देव मे कोढी छुपा है। यह कोई चमत्कार तो नही, आँखो देखी घटना है!

○ ○ ○

अपरान्ह की धर्म-पर्षदा मे श्रेणिक ने प्रभु से विज्ञप्ति की

'वह कुष्ठी कौन था, भगवन्?'

'वह देव था, श्रेणिक!'

'तो वह कुष्ठी क्यो हो गया?'

श्रीभगवान् निस्पन्द, मौन दिखायी पडे। उनके प्रभामण्डल मे से दिव्य प्रतिध्वनि सुनाई पडने लगी

'बहुत पहले की बात है। कौशाम्बीपति शतानीक के राज्यकाल मे, उनके नगर मे एक सेडक नामा अति दरिद्र और महामूर्ख ब्राह्मण रहता था। अन्यदा उसकी स्त्री गर्भवती हुई, तो उसने अपने पति से कहा 'मेरी प्रसूति के लिये घी ले आओ, उसके बिना यह व्यथा मुझ से न सही जायेगी।' ब्राह्मण बोला 'मुझ विद्याविहीन को, क्यो कोई घी देगा?' ब्राह्मणी बोली 'राजा से जा कर याचना करो। लोक मे वही दीन का कल्पवृक्ष है।' उसी दिन से ब्राह्मण राजा की यो सेवा करने लगा, जैसे रत्न-कामी जन फूल-श्रीफल से सागर की आराधना करता है।

'तभी एक बार चम्पापति दधिवाहन ने अचानक विपुल सैन्य के साथ कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। शतानीक अपने अजेय दुर्ग के द्वार बन्द करवा कर, अपनी प्रजाओ और सेनाओ सहित, बाबी मे बन्द हो गये सर्प की तरह, भूगर्भी नगर मे उतर गया। चम्पापति की सेनाओ ने दुर्गभेद का मरणान्तक संघर्ष किया। हजारो सैनिक मारे गये। पर दुर्गभेद न हो सका। हार कर दधिवाहन, दिन के डूबते तारो की तरह अपने राज्य की ओर लौट पडे। राजसेवा के लिये उद्यान मे पुष्प तोडते सेडुक को पराजय का यह दृश्य देख, एक युक्ति सूझ गयी। बेदम शतानीक के पास पहुँच उसने कहा 'महाराज, चम्पापति टूटे पेड-सा लौटा जा रहा है। इस भग्न शत्रु को पकड कर, इसे निर्मूल कर देना ही ठीक है। मृतप्राय सर्प की मणि को छोड देंगे आप?' युक्ति काम कर गयी। शतानीक का सैन्य हुकारता हुआ, चम्पापति के बिखरे सैन्यो पर टूट पडा। वे अपना सब कुछ छोड, प्राण ले कर भाग गये। बेशुमार हाथी-घोडे, द्रव्य और शस्त्र बटोर कर शतानीक अपने नगर मे लौट आये।

'सेडुक ब्राह्मण को बुला कर राजा ने कहा भूदेव, तुम्हारी अल्प बुद्धि का चमत्कार देख हम प्रसन्न हुए। बोल क्या चाहता है, माँग ले, दे दूंगा। —मूर्ख विप्र ने सोचा, अपनी चतुरा ब्राह्मणी से पूछ कर ही माँगना ठीक होगा। वह बोला महाराज की कृपा है, मै कल उत्तर दूंगा। —उधर ब्राह्मण की बात सुन कर ब्राह्मणी ने सोचा 'यदि गाँव-गरास मँगवाऊँगी इससे, तो यह जन्मो का भूखा ब्राह्मण, निश्चय ही वैभव पा कर प्रमत्त हो, दूसरी स्त्री ब्याह लायेगा। सो उस चतुर-चकोरी ने सोच कर कहा मेरे स्वामी, तुम तो परम निर्लोभ हो। यही तो ब्राह्मण के योग्य है। तुम्हारे तप-त्याग से ही तो राजा जीत गया। धन-धरती माँगना ठीक नही। माँग लो कि प्रति दिन तुम्हे उत्तम भोजन मिले, और दक्षिणा मे एक सुवर्ण-मुद्रा। तुम्हारे लिये यही अनन्त हो जायेगा।

'ब्राह्मण की इतनी स्वल्प माग से राजा चकित, मुदित हो गया। उसने ब्राह्मण को अपना निजी पुरोहित बना लिया। राजा उस पर कृपावन्त हुआ, तो सारी कौशाम्बी के महर्द्धिक जनो के द्वार उसके लिये खुल गये। चमत्कारी है यह भू-देवता। उसने राजा का युद्ध मे जय दिलायी। हर दिन ब्राह्मण के आगे विपुल व्यजनो से भरे भोजन-थाल लगने लगे। हर दिन कई आमत्रण। छोडे भी कैसे, ब्राह्मण का जीव, भोजन कैसे जाने दे! सो वह ब्राह्मण पहले खाया वमन करके फिर-फिर भोजन पर जाता। और जितने भोजन, उतनी सुवर्ण-मुद्रा पाता। जितनी मिले, बटोर लाता। भोजन, वमन, फिर भोजन, फिर वमन। और सोनैयो की बरसात। देखते-देखते ब्राह्मण दक्षिणा के द्रव्य से सम्पन्न हो गया, और वटवृक्ष की जटाओ की तरह पुत्र-पौत्रादिक से भी उस का घर भर गया। लेकिन नित्य अजीर्ण अन्न के वमन से अपक्व आँव-रस ऊपर चढने के कारण उसकी त्वचा दूषित हो गयी। लाख-झरने पीपल-वृक्ष की तरह वह व्याधिग्रस्त हो गया। अनुक्रमे वह कोढी हो गया, उसकी नाक, और हाथ-पैर सड-गल कर झडने लगे, गिरने लगे। फिर भी वह अग्नि की तरह अतृप्त हो, हर दिन वमनपूर्वक अनेक भोजन करता रहा, दक्षिणा बटोरता रहा।

'राजमत्री ने एकदा राजा को सावधान किया इसका कुष्ठ भयकर हो रहा है। इसकी छूत से सारे नगर मे कोढ व्याप जायेगा। इसके बदले इसके किसी भी नीरोगी पुत्र को ही भोजन-दक्षिणा देना उचित होगा। जब कोई प्रतिमा खण्डित हो जाये, तो उसके स्थान पर दूसरी अखण्डित प्रतिमा स्थापित करना ही इष्ट होता है। ब्राह्मण ने इस नयी व्यवस्था को स्वीकार लिया। पुत्र राज-पौरोहित्य पा कर प्रमत्त हो गया। उसने मक्खियो से भिनभिनाते पिता को घर से बाहर दूर पर एक झोपडी मे रख दिया। उसकी जो पुत्र-वधुएँ जुगुप्सा-पूर्वक उसे खिलाने आती, वे नाक बन्द कर लेती, मुँह फेर

कर थूंक देती। पुत्र तो उसकी ओर झाँकते भी नहीं। निरे श्वान की तरह काष्ठ के पात्र में उसे भोजन डाल दिया जाता।

'ब्राह्मण जहर के घूंट उतारता गया। एक दिन उसने एक भयकर निश्चय किया : 'जैसे मेरे पुत्र मुझ से जुगुप्सा करते है, उसी तरह एक दिन ये भी जुगुप्सा के पात्र हो जायेंगे!' ब्राह्मण ने षड्यन्त्र रचा। एक दिन पुत्रों को बुला कर कहा 'हे पुत्रो, अब जीना मेरे लिये असह्य हो गया है, सो मैं इच्छा-मरण करूँगा। पर हमारे कुल की रीत है, कि इच्छा-मरण करने वाला व्यक्ति अपने परिवार को एक अभिमंत्रित पशु का दान करे। सो जरा एक पशु तो ले आओ।'–पुत्र हर्षित हुए कि थोड़े मे बला टल गई। फाँसी छूट जायेगी हमारी। उन्होने एक अभिमंत्रित पशु पिता को भेंट कर दिया। और वे उसके मरण की राह देखने लगे।

'उधर ब्राह्मण अपने अंगो से झरता रक्त-पीव अन्न मे घोल-घोल कर नित्य उस पशु को खिलाने लगा। देखते-देखते पशु कुष्ठी हो गया। तब विप्र ने उस पशु को मार कर, पुत्रों को उसका प्रसाद दिया, कि वे उसे खा कर पितृ-ऋण से मुक्त हो जाये। वे मुग्ध अज्ञानी पुत्र सपरिवार उस मास का पाक कर, बड़े स्वाद से खा गये। और तत्काल ही विप्र ने कहा कि 'अब मैं तीर्थ-यात्रा पर जाऊँगा। वहीं देह-त्याग कर दूंगा।' पुत्रों ने उसे सहर्ष बिदा कर, मुक्ति की साँस ली।

'ब्राह्मण अनिर्देश्य भटकता हुआ अरण्य मे जा निकला। राह मे उसे बहुत प्यास लगी, तो अटवी में जल खोजने लगा। तभी अनेक वृक्षों से घिरे एक प्रदेश मे, दुर्लभ मित्र जैसा एक जल का झरना दिखायी पड़ा। उस झरने से बना सरोवर, तीर पर खड़े अनेक जाति के वृक्षों के पत्र, पुष्प और फलो से व्याप्त था। मानो कोई खोया आत्मीय इन निर्जन मे मिल गया। सूर्य-किरणो मे तपे उस पुष्करिणी के जल को प्यासे विप्र ने जी भर कर पिया। मानो वह कोई सुगन्धित औषधि-क्वाथ हो। फिर ब्राह्मण वही वृक्षों तले वास करने लगा। सरसी पर पड़े पात-फूल-फल खा कर, उसका पानी पी तृप्त रहने लगा। कई दिन वह प्राकृतिक औषधि-जल पीने रहने से कुष्टी का शरीर एकदम नीरोग हो गया। और वसन्त ऋतु के वृक्ष की तरह उसके सारे अंग फिर ज्यो के त्यों प्रफुल्लित हो उठे। आरोग्य लाभ के हर्षावेग में वह विप्र एक दिन अपने गाँव-घर की ओर चल पड़ा। काँचली छोड़े सर्प जैसी देदीप्यमान देह वाले उस पुरुष को नगर मे विचरते देख, ग्रामजन विस्मय से विमूढ़ हो गये। नगर-जन हँस कर उसे टोकते 'अरे भूदेव, तुम्हारा तो नया ही अवतार हो गया? क्या तुम वही हो? विश्वास नहीं होता। कहाँ पा गये ऐसा महारसायन?' ब्राह्मण कहता: 'देवता के आराधन से!'

'घर पहुँच कर विप्र ने देखा, उसके सारे ही पुत्र और पुत्रवधुएँ कुष्ठ से किलबिला रहे हैं। हर्षित हो कर उसने कहा 'देखता हूँ, तुम्हें मेरी अवज्ञा का फल मिल गया!' सुन कर वे पुत्र और बहुएँ एक स्वर मे चीख उठे 'अरे नराधम, तू पिता है कि पिचाश है। तू ने अपने खून के साथ विश्वासघात किया!' ब्राह्मण चिल्ला पडा 'तुम पिशाचो ने तो अपने रक्त को ही भुला दिया। अपने जनक और पालक पिता को तुमने राह के कुत्ते की तरह हँकाल फेंका।' पर उसका वह अरण्य-रोदन किसी ने न सुना। सारा गाँव उस पर थूंकने लगा। तब वहाँ से भाग कर, हे राजन्, वह निराश्रित हो, आजीविका खोजता तुम्हारी राजगृही मे चला आया। तुम्हारे द्वारपाल ने उसे आश्रय दिया।

'तभी हमारा यहाँ आगमन हुआ। सो द्वारपाल अपने काम पर उस ब्राह्मण को जुडा कर, हमारी धर्म-देशना सुनने चला आया। वह विप्र द्वार पर नियुक्त खडा था। उसने देखा कि सामने दुर्गादेवी के मन्दिर मे बलि चढायी गयी है। फिर उसकी जनम-जनम की सोई बुभुक्षा जाग उठी। उसने कस-कस कर बलि प्रमाद खाया, मानो कभी देखा न हो। आकण्ठ पेट भर जाने मे और ग्रीष्म-ऋतु के ताप से उसे बहुत तेज़ प्यास लगी। मरुभूमि के पथी की तरह वह छटपटाने लगा। लेकिन द्वारपाल के भय से वह कहीं पानी पीने न जा सका। उस क्षण उसे लगा कि हाय, कितने सुखी है जलचर जीव! पानी मे जन्म ले कर, उसी मे रहते है। अपने भावानुसार ही उसने नया भव बाँध लिया। और पानी-पानी पुकारता वह तृषार्त्त ब्राह्मण मर कर, नगर-द्वार के पास की एक बावली मे जलचर दर्दुर मेढक हो गया।

'कालान्तर से हम विहार करते हुए लौट कर फिर इसी नगर मे आये। लोकजन सम्भ्रम पूर्वक अर्हन्त महावीर के दर्शन-वन्दन का आने लगे। उस समय उस वापिका मे जल भरती स्त्रियो से उस मेढक ने हमारे आगमन का वृत्तान्त सुना। सुन कर दर्दुर सोच मे पड गया 'मैंने ऐसा कहीं पहले सुना है!' वह उहापोह करता चला गया, वापिका के पानी मे गहरे उतराता गया। हठात् उसे स्वप्न की स्मृति की तरह जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। तुरन्त ही मेढक के मन मे स्फुरित हुआ पूर्व द्वारपाल मुझे द्वार पर छोड कर जिन भगवन्त के वन्दन को गया था, वे भगवन्त अवश्य ही यहाँ आये हैं। मैं भी अन्य लोगो की तरह क्यो न उनके वन्दन का जाऊँ। क्यो कि गंगा तो सब की माँ है, वह किसी की बपौती नही। और हर्ष से उमग कर, वह मेढक उस जलाशय की एक कमल-कली मुँह मे लिये, फुदकता हुआ, वापिका से निकल कर मार्ग मे चल पडा।

'और सुन श्रेणिक, वापिका से यहाँ आते हुए, तेरे ही एक अश्व की टाप मे कुचल कर वह मर गया। लेकिन हमारे प्रति प्रीति भाव ले कर मरने से, वह जलचर दर्दुर दर्दुरक नामा देव हो कर जन्मा। अनुष्ठान के बिना

भी भाव फल जाता है। और सुन राजा, आज ही इन्द्र ने सभा मे कहा कि 'श्रेणिक जैसा श्रद्धालु कोई श्रावक नही है।' दर्दुराक देव इस पर विश्वास न कर सका। और वह यहाँ तेरी परीक्षा लेने चला आया। उसने गोशीर्ष चन्दन से अर्हत् के चरण चर्चित किये थे। वह दिव्य देवकुमार था। पर तुम्हें वह कोढी दीखा। उसके चन्दन मे तुम्हें पीव दीखा। क्योंकि तुम्हारे दर्शन पर अब भी मोह का आवरण पडा हुआ है। सो यह तुम्हारा ही दृष्टिभ्रम था, कि तुम सुन्दर मे भी असुन्दर ही देख सके। देव मे भी कोढी देखते रहे। तुम्हारे भीतर का कोई छुपा कोढ ही तुम्हे अब भी स्वरूप मे विरूप दिखा रहा है। दर्दुराक को देखो श्रेणिक, उसे पहचानो। उसने तुम्हारी भ्रान्ति का पर्दा चीर दिया।'

यह सारा वृत्तान्त सुन कर श्रेणिक महाभाव प्रीति से भर आया। कोढी और देव का अन्तर उसके मन से हठात् दूर हो गया। लब्धि के आनन्द से पुलकित हो कर श्रेणिक ने पूछा

'आप की छीक पर वह अमगल बोला, और सब की छीक पर वह मगल बोला, इसका क्या कारण, भगवन्?'

प्रभु के पद-नखो मे उत्तर सुनायी पडा

'सुन राजा, इस रहस्य को भी सुन। अर्हत् को तो छीक का प्रमाद होता नही। वह भी एक देवमाया ही तो थी। मुझ मे उसने कहा कि 'मृत्यु पाओ'। तो उसका आशय था कि तुम अब ससार मे क्यो ठहरे हो, शीघ्र मोक्ष-लाभ करो। तुझ से कहा, राजन्, कि 'जियो'। अर्थात् तुझे तो जीने मे ही सुख है, मर कर तो नरक जाना है। अभयकुमार से कहा कि 'जियो या मरो।' यानी जियेगा तो धर्म करेगा, मरेगा तो अनुत्तर विमान मे जायेगा। और काल-सौकरिक कसाई से कहा कि 'तू जी भी नही, और मर भी नहीं'। क्यो कि जियेगा तो पापकर्म करेगा, मरेगा तो सातवे नरक जायेगा। देख, राजन्, देख, ज्ञान के इस कमल-कोश को देख। इसकी मुद्रित पाँखुरियो का पार नही।'

श्रेणिक सुन कर प्रसन्न हुआ, लेकिन अगले ही क्षण उसका समाधान भग हो गया। उसका प्राण उचाट हो गया। उसने कम्पित कठ से पूछा

'आप जैसे जगत्पति मेरे स्वामी है, और मुझे नरक मे पडना होगा, भगवन्? यह कैसा अपलाप है। यह किसका विधान है!'

'यह तेरा अपना ही विधान है, श्रेणिक! तेरा विधाता तू ही है, मैं या कोई और अन्यत्र नही।'

'लेकिन मेरे सर्वसत्ताधीश प्रभु मेरे विधान को तोडने मे समर्थ नही? ऐसा कैसे हो सकता है? जो प्रारब्ध को न टाल सके, वह प्रभु कैसा?'

प्रभु ने कोई उत्तर न दिया। वे अपने स्थान पर से ही अन्तर्धान होते दिखाई पडे। □

# १८

## मा पड़िबन्ध करेह

'जो प्रारब्ध को न टाल सके, वह प्रभु कैसा?'

कल की धर्म-पर्षदा मे श्रेणिक की इस चुनौती का प्रभु ने कोई उत्तर न दिया था। वे स्व-स्थान पर ही अन्तर्धान हो गये थे। तो श्रेणिक प्रभु से रुष्ट हो गया था। उसका मन अपने स्वामी से विमुख हो गया था। उसके भीतर नरक के द्वार खुल रहे थे। वह निरस्तित्व हुआ जा रहा था। अपनी हस्ती को ही उसने नकार दिया था, फिर महावीर कहाँ। वह अन्तिम द्वंद्व की यातना से गुजर रहा था। आज के समवसरण मे भी वह प्रभु के सामने उपस्थित था। फिर भी प्रभु से अब कुछ और पूछना, उसे अपनी आत्मा का अपमान लगा। माना कि सचित कर्म है, उदयागत प्रारब्ध है, लेकिन कुछ क्रियमाण भी तो है। तो फिर शायद प्रभु के पास मेरे प्रश्न का उत्तर नही है। मैंने पूछा था 'जो प्रारब्ध को न टाल सके, वह प्रभु कैसा?' श्री भगवान इसका उत्तर न दे सके? मेरे स्वामी, और इतने असमर्थ?

एक गहराते मौन को चीरता, प्रभु का उत्तर सुनाई पड़ा

'नही, अन्तत कोई किसी अन्य का प्रभु नही, कोई किसी के प्रारब्ध को नही निवार सकता। हर आत्मा स्वयम् ही अपनी प्रभु है, अपने हर प्रारब्ध की वही विधात्री है। अपने अर्जित को वह स्वयम् ही काट सकती है, अन्य कोई नही। यही सत्ता का शाश्वत विधान है। इसमे मीन-मेख नही हो सकती।'

'तो मैं अपने आसन्न नरक-गमन को कैसे काटूं, भगवन्?'

'जो बाँधा है, उसे भोगे बिना योगी का भी निस्तार नही। हर आत्मा का अपना एक स्वतत्र उपादान है, अपनी एक सम्भावना और नियति है। उसी के विधान से आत्मा अनेक पर्यायो के क्रम से गुजरता है। इष्ट-अनिष्ट पर्यायो के इस क्रम को जो एकाग्र सयुक्त और समभाव से देखने लगता है, वह इनसे ऊपर तैर आता है। तब उदयागत सुख-दुख घटित होते हुए भी, उस आत्मा को बस छू कर निकल जाते है। उसके आत्म का जी अपने ही मे सदा लगा रहने से, वे वेदनाएँ और व्याकुलताएँ उसे व्यापती नही। तू उत्तम सम्यक् दर्शी है, सब को एकाग्र ठीक देख-जान रहा है। फिर तू आहत, त्रस्त क्यो है, आयुष्यमान्?'

'मैं कुछ ऐसा करूँगा, कि इस नरक को तो टलना ही होगा!'

'तेरे पुरुषार्थ को अर्हत् महावीर देखना चाहेंगे।'

'लेकिन राह तो प्रभु को ही दिखानी होगी। क्या उपाय करूँ नाथ, कि मुझे नरक न जाना पडे?'

प्रभु के अधर-कमल पर एक वीतराग लीला की मुस्कान खेल गयी। श्रेणिक को सुनाई पडा

'देवानुप्रिय श्रेणिक, यदि कपिला ब्राह्मणी द्वारा तू हर्ष-पूर्वक साधुओ को भिक्षा दिलवा सके, और कालसौकरिक कसाई से यदि तू कसाई वृत्ति छुडवा सके, तो आसन्न नरक से तेरा छुटकारा हो जाये। इसके सिवाय और उपाय नही।'

श्रेणिक प्रभु के इस उपदेश को हार की तरह हृदय पर धारण कर, श्रीगुरुनाथ को नमन कर, हर्षित भाव से स्व-स्थान की ओर चल पडा।

राह मे श्रेणिक ने सहसा ही एक जगह देखा कोई साधु ढीमर की तरह अकार्य कर रहा था। जिनो का प्रवचन कलंकित होते देख, राजा कातर हो आया। वह उस साधु को अकार्य से निवार कर फिर अपने घर की ओर चला। आगे चल कर, एक सगर्भा श्रमणी दिखायी पडी। राजा ने उसे वत्सल भाव से अपने महल मे ला कर गुप्त रक्खा। उसके सुखी प्रसव का आयोजन कर दिया। निरन्तर श्रेणिक के पीछे प्रच्छन्न भाव से चल रहा दर्दुराक देव, राजा की इस उदात्त श्रद्धा से प्रीत हो गया। मुग्ध और विनत हो आया।

एक दिन श्रेणिक के सामने प्रत्यक्ष हो कर वह बोला

'आप सम्यक्त्व के मन्दराचल है, महाराज। आपकी श्रद्धा के मूल अतल मे पडे है। इन्द्र ने अपनी सभा मे जो आपका अहोगान किया था, वैसा ही पाया मैंने आपको। आपकी जय हो, राजन्!'

कह कर दर्दुराक देव ने, दिन मे छिन्न नक्षत्रो की श्रेणि रची हो, ऐसा एक हार, और दो गोले राजा को उपहार दिये। और बोला

'जो इस टूटे हुए हार को जोड़ देगा, उसकी मृत्यु हो जायेगी!'

इतना कह कर वह देव स्वप्न मे देखे पुरुष-सा तत्काल अन्तर्धान हो गया।

राजा ने बहुत प्रसन्न हो कर हार चेलना को दिया, और गोले नन्दश्री को दिये। मनस्विनी नन्दा को इससे पीडा हुई, शायद ईर्ष्या हुई। मन ही मन बोली 'क्या मै इस तुच्छ दान के योग्य ही हूँ?' और फिर आवेश मे आ कर उसने उन दोनो गोलो को स्तम्भो पर मार कर फोड दिया। देख

कर स्तब्ध रह गयी वह एक गोले मे चन्द्रमा जैसे निर्मल दो कुण्डल निकले, दूसरे मे से दो देदीप्यमान रेशमी वस्त्र निकले।

नन्दश्री की आँखो मे आँसू आ गये। एक क्षुद्र कण मे से भी विभूति प्रकट हो सकती है। अन्तर्जगत् के रहस्यो को किस ने जाना है। प्रभु की कृपा जाने कितने ही अपमानो और अभिशापो मे छुप कर आती है।

नन्दश्री का देहाभिमान गल गया। चेलना से बडी होते हुए भी, उसने आ कर चेलना के चरण छू लिये। चेलना मन ही मन सब कुछ समझ गयी। प्रभु की निरन्तर कृपा-वर्षा से, वह सदा सर्व के साथ तन्मय भाव मे जीती थी। उसने नन्दश्री को आलिंगन मे बाँध लिया। दो समुद्र, एक-दूसरे की तहो मे उतराने लगे।

O O O

अनन्तर राजा ने कपिला ब्राह्मणी को बुला कर कहा

'हे भद्रे, तू साधुओ को श्रद्धापूर्वक भिक्षा दे। मै तुझे अपार धन-राशि से निहाल कर दूंगा।'

'चाहे आप मुझे सारी ही सुवर्ण की बना दे, अथवा मुझे मार भी डाले, पर ऐसा अकृत्य मैं कभी न करूँगी, महाराज !' कपिला ने अविचल स्वर मे उत्तर दिया।

राजा ने उसके बहुत निहोरे किये। कहा कि अपना आधा राज्य तुझे दे दूँगा, तुझे महावीर से स्वर्ग की इन्द्राणी बनवा दूंगा, तुझे मोक्ष दिलवा दूंगा। बोल क्या चाहती है? हर चाह पूरी कर दूंगा तेरी, तू इतना कर दे, कपिला !' कपिला ने जोर से अट्टहास कर राजा का मजाक उडा दिया। और तत्काल वहाँ से चली गयी।

तब श्रेणिक ने कालसौकरिक कसाई को बुला कर कहा

'ओ रे भाई कालसौकरिक, तू अपनी यह हिसक कसाई वृत्ति त्याग दे, तो मैं अपने सारे धन-रत्न की निधियाँ तुझ पर वार दूंगा। धन के लोभ से ही तो तू यह अधम वृत्ति करता है।'

'मेरी वृत्ति को अधम क्यो कहते है, महाराज? मेरे इस कृत्य से तो अनेक मनुष्य आहार पा कर जीते है। आपके अनुयायी जिनमार्गी महर्द्धिक राजे-महाराजे, श्रेष्ठी, ब्राह्मण तक, और सारे आर्यजन छुप-छुप कर, मेरे यहाँ से मांस मँगवा कर बडे स्वाद से खाते हैं। मै अपनी इस वृत्ति मे रोज अभिजातो के असली चेहरे देखता हूँ। उनके सुन्दर मुखडो मे छुपे, खूनी जबडे देखता हूँ। ऐसा सत्य-दर्शी धन्धा मै कभी नही छोड सकता, राजन्। स्वयम् काल भी मुझ से मेरी यह वृत्ति नही छुडवा सकता!'

'यह महावीर का आदेश है तेरे लिये, हे भद्र! क्या तू उसे भी टाल सकता है?'

'मै औरो के आदेश-उपदेश पर नही चलता, महाराज! कसाई हूँ तो क्या हुआ। मै निर्भय हूँ, और स्वतत्र हूँ। मैं केवल अपने स्वयम् के ही आदेश का पालन करता हूँ। अपने ऊपर कोई सत्ता मैं नही स्वीकारता!'

'चक्रवर्ती श्रेणिक के राज-दण्ड की सत्ता भी नही?'

'त्रिलोकीनाथ महावीर से क्या श्रेणिक अधिक शक्तिमान है, महाराज!'

कसाई का यह अटल निश्चय, तेज और स्वतत्र निर्भीक चारित्र्य देख, श्रेणिक स्तम्भित हो गया। श्रेणिक ने कहा कि–'तू मेरा सिहासन ले ले, कालसौकरिक, मेरी सारी सम्पत्ति ले ले, जो चाहे माँग ले, अप्सराओ के स्वर्ग, सिद्धो का सिद्धालय। मेरे प्रभु तुझे मुँह माँगा दे देगे।'

'मैं किसी का याचक नही हो सकता, राजन्। जगत्पति महावीर का भी नही। मैं उनकी चरण-रज हो सकता हूँ, पर मेरी नियति को वे नही बदल सकते! वह तो केवल मै स्वय ही बदल सकता हू!'

'ऐसा है तेरा अहकार, ओ जीवो के हत्यारे, कि तू प्रभु को नकारने का दुःसाहस कर रहा है? देखूं, तू अब कैसे कसाई वृत्ति करता है!'

कह कर राजा ने क्रोधावेश मे आ कर, कालसौकरिक को एक रात-दिन के लिये अन्ध-कूप मे बन्द करवा दिया। और फिर श्री भगवन्त के समक्ष जा कर कहा

'हे स्वामी, मैंने एक अहोरात्र के लिये कालसौकरिक से उसकी कसाई वृत्ति छुड़वा दी है।'

त्रिकालो के पार देखते सर्वज्ञ प्रभु सहज मुस्करा आये, और बोले .

'ओ राजा, तू जान, कि उस अन्ध कूप मे भी कालसौकरिक ने मृत्तिका (मिट्टी) के पाँच-सौ पाडे बना कर उनका हनन किया है!'

और राजा की आँखो मे प्रत्यक्ष झलक गया वह अन्ध कूप का दृश्य। पाँच सौ मिट्टी के पाडे बना कर, उनका वध करता वह बन्दा कसाई। देख कर श्रेणिक अवाक् रह गया। अहो, पर की वृत्ति बदलने वाला, मै कौन होता हूँ! मैंने कालसौकरिक को अन्ध कूप मे बन्दी बनाया, पर मै उसकी वृत्ति को कैद कर सका क्या? उसके परिणमन को बदल सका क्या?

कि औचक ही एक आश्चर्य घटित हुआ। कालसौकरिक प्रभु के सम्मुख उपस्थित, नमित दिखायी पड़ा। राजा को फिर एक गहरा झटका लगा। ओ, मेरा ऐसा दुर्भेद्य कारागार भी, इसके ठोस पुद्गल तक को बन्दी न रख सका?

तो मेरे हाथ मे सिवाय यह जानने-देखने के और कोई सत्ता नही क्या ? मैं केवल साक्षी भर हो सकता हूँ ?

''कि हठात प्रभु से उत्तर सुनाई पडा

'यह देखना-जानना ही सब से बडी सत्ता है, राजन्। साक्षी भाव ही, परम भाव है। यह आत्मा की अचूक ज्ञान-सत्ता है। अन्य सब सत्ताएँ इसकी चेरियाँ हैं। तू सब देख-जान कर भी, अज्ञानी क्यो हो रहा है रे श्रेणिक ?'

क्षण भर मौन व्याप रहा। श्रेणिक का माथा झुक गया था। काल-सौकरिक उन्नत माथ, प्रभु से आँखे मिला कर उन्हें साश्रुनयन देख रहा था।

'इस कालसौकरिक को देख, श्रेणिक। कसाई हो कर भी यह ज्ञानी है। इसने हर अन्य पर-सत्ता मे अपने को परे माना। अपनी स्व-सत्ता पर इसने महावीर तक की सत्ता को मानने से इनकार कर दिया। यह कसाई हो कर भी, कसाई नही है। यह तर जायेगा'! '

तभी कपिला ब्राह्मणी आ कर प्रभु को नमित हुई। तो श्री भगवन्त बोले

'और इस कपिला को देख, श्रेणिक तेरी सारी धनराशि और आधा राज्य भी इसे इसके स्व-भाव से विचलित न कर सके। तेरे धन और राज्य की सत्ता कितनी तुच्छ हो गयी! तूने अपने धन और राजसत्ता से भगवान्, मोक्ष और परम सत्ता के स्वरूप को भी खरीद लेना चाहा ? महावीर तक को खरीद लेना चाहा! देख ले उस धन और राज्य की अन्तिम सामर्थ्य! कौडी का मोल नही उसका।'

फिर क्षण भर एक स्तब्धता व्याप रही। अनन्तर फिर श्री भगवान् बोले

'महावीर और मोक्ष के मोल भी तू इन्हे न खरीद सका। यदि महावीर और मोक्ष के मोल पर भी तू नरक को खरीद कर अपने अधीन कर सके, तो जा, तुझे आज्ञा है, वह भी कर देख!'

राजा एक महामोह के अँधेरे मे हठात्, बाहर के विराट् उजाले मे निकल आया। उसने क्षण भर अनुभव किया, देखा, कि वह विदेह हो कर नरक की अग्नियो मे चल रहा है। कि उस अग्नि को सीधे झेल कर, वह उसका पूर्ण सचेतन भाव मे वेदन कर रहा है। इस महाजलन के बीच भी कैसी एक आनन्द की हिलोर है! लाँघ जाने की, अतिक्रमण कर जाने की! वह मन ही मन प्रभु के चरणो मे, अपने ही नयन-जल से अपना प्रक्षालन करने लगा।

हठात् कपिला ब्राह्मणी और कालसौकरिक ने मानो एक ही स्वर मे कहा

'हमारे लिये क्या आज्ञा है, प्रभु ! भगवन्त के हर आदेश को हम समर्पित हैं !'

फिर कपिला का अलग स्वर सुनाई पडा

'प्रभु की आज्ञा हो, तो मै पाँच-सौ श्रमणो को श्रद्धापूर्वक भोजन कराऊँ !'

कृपया कालसौकरिक ने विनती की

'प्रभु की आज्ञा हो, तो मै कसाई वृत्ति इसी क्षण त्याग दूँ !'

प्रभु का सदा का वही उदात्त और अन्तिम आदेश सुनायी पडा

'*अहासुह देवाणुप्पिया, मा पडिबन्ध करेह !* तुझे जिसमे सुख लगे, वही कर देवानुप्रिय। कोई प्रतिबन्ध नही है !'

एक परम स्वतन्त्र हवा मे, दिग्वधुओ ने अपने आँचल खसका दिये। □

१६

# मित्र की खोज

श्रेणिक ने मृत्यु और नरक को स्वीकार लिया। और उसने दृष्टि उठा कर चारो ओर फैले चराचर लोक को देखा। अब इसके साथ उसका क्या सम्बन्ध बचा ? सहसा ही भीतर परिमल-भीने तीन उजले फूल खिल आये। तीन शब्द मंत्र की तरह स्फुरित हुए। मुदिता, करुणा, मैत्री। प्रत्यक्ष हुआ, कि अन्तत लोक के साथ उसका यही तो सम्बन्ध है।

और औचक ही उसे लगा कि मन मुदित हो आया है। कण-कण के प्रति जी मे करुणा का जल भर आया है। प्राणि मात्र से मैत्री करने को उसका हृदय आकुल हो उठा है।

जब बाहर के साम्राज्य मे उसका मन रमा था, तब भी तो कितने ही देश-देशान्तर के साथ सदा मैत्री-वार्ता चलती रहती थी। पूर्वीय और पश्चिमी समुद्र के तमाम देशों मे, मगध के राजदूत मैत्री-वार्ता करने जाया करते थे। श्रेणिक स्वयम् भी छद्म वेश मे कई देशान्तरो मे मैत्री का सन्देश ले कर जाता था। और अभय राजकुमार के लिये तो यह मैत्री-क्रीडा ही सर्वोपरि थी। प्रयोजन उसे याद न रहता, वह अकारण और खेल-खेल मे ही जाने कितने दूर-दूर के राज्यों और राजाओ से मैत्री का सूत्र बाँध आता था।

आज श्रेणिक को याद आ रहा है, कि अभय के सिवाय अन्य सारी मैत्री-वार्ताएँ साम्राज्य-विस्तार का कूट-कौशल थी। वे सब झूठी मित्रताएँ थी। वह अपने और सब के साथ छल था, प्रवचना थी। आत्म-प्रतारणा ने ही सर्व-प्रतारणा बन कर मित्रता का मोहक बाना धारण किया था। वह स्वार्थों का गठ-बन्धन था। सारी पृथ्वी का चक्रवर्ती होने के लिये, सारे भूपतियो से दोस्ती करके ही तो उन्हे अपने अँगूठे तले लाया जा सकता था। कोई नू-नच करता था, तो मगधेश्वर की साम्राजी तलवार उसके मस्तक पर मँडलाने लगती थी।

लेकिन आज का यह मैत्री भाव अकारण है। निष्प्रयोजन है। न्यस्त स्वार्थ के सारे किले टूट गये हैं। कोई हेतु-प्रत्यय नही रहा। एक सीमाहीन मैत्री भाव दिगन्तो तक हरियाली की तरह लहरा रहा है। अब श्रेणिक पृथ्वी के एक-एक राजा को, एक-एक जीव को अपना मित्र बनायेगा। श्रीभगवान्

का सारा जीवन और धर्मचक्र-प्रवर्तन और है ही क्या ? कण-कण से मैत्री करने को ही तो वे घर से निकल पड़े हैं। मैत्री की खोज में ही वे अतल पातालो तक मे उतर गये है। अँधियारे भूगर्भों की तहें छानी हैं। सकट और मृत्यु की वर्जित घाटियो तक मे वे गए है। अपने हर शत्रु का हृदय जीत लेने के लिए। *'मित्ती मे सव्व भूदेसु'*।

'श्रेणिक का जी चाहा कि वह कही निष्काम मैत्री का सन्देशा भेजे। पहले पहल वह किस राजा को अपनी अकारण मित्रता की सौगात भेजे ? महाविदेह, पुष्करवर द्वीप, प्रभास द्वीप, नन्दीश्वर द्वीप--सभी तो एक साथ उसे मैत्री के लिये पुकार रहे है। सकल चराचर उसे मित्रता का आवाहन दे रहे हैं। कहाँ से आरम्भ करे ?

तभी श्रेणिक की आँखो मे एक सुदूर समुद्र-तट झलका। ' समुद्र के ठीक कटिदेश मे पाताल-भुवन जैसा आर्द्रक देश। आज का अदन का बन्दर-गाह। उस काल का आर्द्रक-पत्तन। वहाँ के राजनगर का भी नाम आर्द्रक। राजा का नाम भी आर्द्रक। रानी का नाम आर्द्रा। उनके युवराज का नाम आर्द्रक कुमार। वही सर्व प्रथम अहैतुकी प्रीति का उपहार भेजना होगा।

और एक दिन मगध का गृहमत्री शीलभद्र आर्द्रक राजा के दरबार मे हाजिर हो गया। मानो स्वयम् श्रेणिक ही मूर्तिमान मैत्री हो कर सामने खडा है। आर्द्रकराज को किसी अननुभूत मुदिता का अनुभव हुआ। जाने कैसी अनन्य करुणा से उनका मन आर्द्र हो आया। शीलभद्र ने सिंहासन पर समुक्त बैठे राजा-रानी के समक्ष अपना मैत्री सन्देश निवेदन किया। फिर सौवर्ण, निम्बपत्र और कावल उन्हें भेट किये। काश्मीर का केशर, वैताढ्य-गिरि की हस्ति-दन्त बीणा, मान-सरोवर का हस, नीलाजन पर्वत का मयूर और ताम्रलिप्ति की रत्नमजूषा, कामरूप मृग की कस्तूरी, यमुनाचल के इत्र-फुलेल। देख कर राजा-रानी, सारी राजसभा, मुग्ध हो कर नम्रीभूत हो आये।

परस्पर कुशल-वार्ता पूछी गयी। तभी पास के एक भद्रासन से उठ कर युवराज आर्द्रक कुमार ने पूछा

'पितृदेव, वे मगधेश्वर श्रेणिक कौन है, जिनके साथ आप की प्रीति, बसन्त के साथ कामदेव की प्रीति का बोध कराती है ?' लड़के की कविता पर सारी परिषद् मुग्ध हो कर हँस पडी।

'बेटे राजा, आर्यावर्त के चक्रवर्ती सम्राट श्रेणिक पृथ्वी पर हमारे अनन्य आत्मीय बन्धु है। हमारी मैत्री का कमल कभी कुम्हलाता नही।'

आर्द्रक कुमार के जी मे जैसे एक अमृत की तरग-सी उछली। उसने अभ्यागत मंत्री शीलभद्र से पूछा .

'महानुभाव, क्या श्रेणिकराज के मेरा समवयस्क कोई पुत्र है ? उससे मित्रता करने को मेरा मन हो आया है।'

शीलभद्र ने उत्तर दिया 'हमारे अभय राजकुमार आप जैसे ही तो लगते है। मगध का साम्राज्य उन्ही की बुद्धि की धुरी पर टिका है। फिर भी राज्य मे उन्हें कोई रस नही। सारे ही दिन तो वे नये-नये मित्रो की खोज मे घूमते है। प्रीत और मीत, यही उनका एक मात्र आमोद-प्रमोद है। प्रेम-क्रीडा मे ही उनका सारा समय बीतता है। ऐसा कोई गुण नही, जो उनमे न हो। बुद्धि के सागर, कलाओ के रत्नाकर। कथा कह कर राह चलते को वश कर लेते हैं। लीला-खेल मे ही वे मगध का साम्राज्य-सचालन करते हैं। आप जैसा मित्र पा कर तो वे गद्गद् हो जायेगे।'

आर्द्रक कुमार का मन जाने कैसी पूर्व स्मृति से भीना हो आया। वह स्तब्ध हो, मानो बहुत दूरी मे देखता हुआ, कुछ भूला-सा याद करने लगा। फिर एकाएक वर्तमान मे जाग कर उसने मागध मत्री से कहा :

'महाभाग मत्री, मुझ से कहे बिना न चले जाये। आप के अभय राज-कुमार के लिये मुझे कुछ सन्देश भेजना है। उन्हे पहचानता हूँ, शायद। कभी कही उनका चेहरा देखा है!'

कह कर आर्द्रक कुमार फिर जैसे दिगन्त ताकने लगा। आर्द्रकराज और आर्द्रा रानी को बहुत आनन्द हुआ देख-सुन कर, कि उनका पुत्र सच ही उनका सच्चा उत्तराधिकारी है। यह हमारी परम्परागत मैत्री का सवहन कर, हमारे राजकुल को यशस्वी बनायेगा। सो 'तथास्तु!' कह कर राजा ने पुत्र का अहोभाव किया। मागध मत्री आर्द्रकेश्वर की आज्ञा ले अपने अतिथि वास मे चले आये।

O O O

आर्द्रक कुमार अपने महल की अटारी पर चढ कर, अनजान दिशाओ को टोह रहा है। आरब्य समुद्र की लहरो पर मन ही मन सवार हो कर, उसके क्षितिज की अर्गला को खीच कर जैसे तोड देना चाहता है। 'कहाँ कुछ है? कोई क्षितिज तो हाथ नही आता। एक विराट् मण्डल, जो छुआ नही जा सकता, पकडा नही जा सकता, पहुँचा नही जा सकता। लाँघा नही जा सकता। निरा शून्याण्ड। वह केवल भ्रान्ति है। तो उसके पार जाना होगा, पता करना होगा कि आगे क्या है? और आगे और आगे कही और कोई और!

और हठात् उसने देखा कि दिशाओ पर छाये कुहरे मे जालियाँ खुल गई हैं। वे जल-जालियाँ जल से उठी हैं, और जल मे ही पर्यवसान पा रही हैं। आगे चमकीली नीहारिकाओ की यवनिकाएँ सिमट रही हैं। एक

अति दूरगम नील वेला पर कोई वातायन खुल रहा है। मित्र, क्या वही है तुम्हारा घर ? एक दिन आऊँगा वहाँ। लेकिन मैं तो अभी छोटा हूँ। अकेले वहाँ कैसे पहुँचूँगा ? कौन राह बतायेगा मुझे इस जलारण्य के बीहड़ो में ? लेकिन तुम हो तो !

निष्काम आनन्द से आर्द्रक का मन तरंगित हो उठा। उसे ख्याल आया, मन-मीत अभय राजकुमार के लिये कुछ भेजना होगा न। तत्काल वह अपने निधि-कक्ष मे गया। प्रवाल के एक करण्डक मे मुक्ताफल दीपित थे। एक जलकान्त आभा स्फुरित करते हुए। ओ अपरिचित बन्धु, तुम्हें अपना यह आरव्य सागर भेजता हूँ !—और आर्द्रक कुमार ने मुक्ताफलो के प्रवाल करण्डक को बन्द कर दिया। समुद्र-शैवाल से बने अशुक-वस्त्र मे उसे आवेष्टित कर, उस पर अपनी प्रिय मुद्रा अंकित कर दी। सामुद्री पोत-मुद्रा।

मागध मत्री की विदा का समय आया। आर्द्रकराज ने उसे मरुस्थल के उत्तम खजूर, सोलोमन सुवर्ण की युगल-मुद्रिकाएँ, बालुका-वेलि तथा चाँदनी जैसे शीतल मोतियो का हार, मगधेश्वर और महारानी चेलना के लिये उपहार दिये। आर्द्रक के पत्तन-घाट पर तुगकाय पोत के एक-सौ-छप्पन पाल खुल गये। मागधी ध्वजा फहराने लगी। लगर उठ गये। ठीक तभी कही से अचानक आ कर आर्द्रक कुमार ने अपनी भेट की मजूषा शीलभद्र का सौपते हुए कहा

'युवराज अभयकुमार क्या मेरी यह तुच्छ भेट स्वीकारेंगे ? उनसे कहना, आरव्य पत्तन का एक छोटा लडका तुम्हे याद करता है !'

आर्द्रकराज परिकर सहित अपने महालय लौट आये। लेकिन अस्तग सूर्य की किरण से अंकित मागधी पोत का मस्तूल जब तक आँख से ओझल न हो गया, तब तक आर्द्रक कुमार उसे देखता ही रह गया।

उस दिन के बाद आर्द्रक कुमार का सारा समय समुद्र निहारने मे ही बीतता। दूर-दूर पर जाते पोतो और नावो पर अन्त तक उसकी आँखे अपलक लगी रहती। क्या ये सारी नौकाएँ भरतखण्ड की राजगृही नगरी को ही जा रही है ? ओ कोई अज्ञात नाविक, तुम मुझे नही ले चलोगे वहाँ लवग-लता से छाये, दारु-चीनी से सुगन्धित उन समुद्र तटो पर, जहाँ नारिकेल-वन के श्रीफल के भीतर सारा समुद्र बन्द हो कर मधुर हो जाता है ?

ऐसा ही तो बन्धुर है, वह मेरा अनदेखा बन्धु। वह मेरा मनचीना मीत। मन की प्रिया परम दुर्लभ है। पर उससे भी दुर्लभ है मन का मीत। वह, जिसके साथ रेशे-रेशे मे, पर्त-दर-पर्त मन को बँटाया जा सकता है, बुना जा सकता है, गूँथा जा सकता है। जिसके साथ अन्त तक निरापद जाया जा सकता है। प्रिया और प्रेमिक के बीच कामना है। वह सदा रहेगी।

नर और नारी का मिलन कामोत्पल है। वह कभी न कभी कुम्हला ही जाता है। कामना मे सघर्ष अनिवार्य है। लेकिन समलिंगी नर-नारी की मैत्री निष्काम होने से, निर्बाध है। उसमे पीडा के पारावार नही, सन्देह के शूल नही, खतरे के भँवर नही, आसक्ति के तमसावन नही। लेकिन ऐसे मित्र से दुर्लभ तो ससार मे कुछ भी नही! वह भला कब, कहा मिलेगा?

आर्द्रक राजकुमार का मन चिरकाल से उसी मनोमणि मित्र को खोज रहा है।

O O O

मत्री शीलभद्र से आर्द्रक कुमार का सदेश और उपहार पा कर, अभय राजा को पुलक-रोमाच हुआ। वे अपने कक्ष के एकान्त मे चले गये, और वह प्रवाल-करण्डक खोल कर देखा। मुक्ताफलो की आभा मे समग्र आरब्य समुद्र तरगित है! अभय को अपने हृदय की पँखुरियो मे एक विचित्र स्पन्दन का अनुभव हुआ। स्फुरित हुआ कि 'अहो, यह कोई मुक्तिकामी है, आसन्न भव्यात्मा है। अभव्य मेरी प्रीति का चाहक नही हो सकता। जो आत्मकामी न हो, वह मेरे प्रति आकृष्ट नही हो सकता, मेरा आप्त जन नही हो सकता। अभव्य अनार्य देश मे जन्म ले कर भी, निश्चय ही वह आर्द्रक आर्य है। वह आत्मा के ऐश्वर्य से आलोकित है। मै उसे ऐसा उपहार भेजूंगा, जो उसे यहाँ बलात् खीच लायेगा। आर्द्रक, अभय तुम्हारी प्रतीक्षा मे है!

अभय अपने पूजा-गृह मे गया। कपाट बन्द कर लिये। नीराजन मे दीपक अकुरित कर दिया। पूजासन पर बिराजमान मूलनायक सीमन्धर प्रभु के रत्न-छत्र के भीतर गोपित, एक छोटी-सी गहरे हरे पन्ने की मूर्ति उसने निकाली। सन्मुख ले कर उसे एकटक निहारा। आदिनाथ ऋषभदेव की दीर्घकेशी अवधूत मुद्रा। निरतिशय कोमल बाल्य मुखश्री। एक छोटे-से मर्कत-खण्ड मे उत्कीर्ण। फिर भी कितनी सुरेख, स्पष्ट, प्राजल, जीवन्त। मानो कि बोल रही है, बात कर रही है, सम्बोधन कर रही है। एक बोलती चिन्तामणि। रेशमीन रूई मे लपेट कर उसे स्फटिक की डिबिया मे बिराजित किया। पूजा के सारे उपकरणो के बीच, उस पर केशर छिटकी, अक्षत-फूल चढाये। धूपधूना, आरती, शख-घण्टा ध्वनि से उसे जागरित किया। फिर डिबिया को बन्द कर, अनेक रेशम-पट्टो मे आवेष्टित कर, एक सुदृढ ताम्र-पेटिका मे उसे बन्द कर के, उस पर धर्म-चक्र से अकित मगध की सील-मुहर लगा दी।

आर्द्रकराज का जो दूत उनके उपहार ले कर शीलभद्र के साथ आया था, उसे फिर अनेक उपहार दे कर मगधेश्वर ने बिदा किया। जब वह अपने जलपोत मे सवार हो गया, तो उसके कक्ष मे अभय उसकी प्रतीक्षा मे था। ताम्र-पेटिका उसे सौंपते हुए अभय ने कहा 'देवानुप्रिय आर्द्रककुमार को यह

मंजूषा दे कर कहना इसे वे अपने एकान्त मे अकेले ही खोले। और इसमे जो वस्तु है, वह केवल उन्ही के देखने की है। उसे किसी अन्य को दिखाना न होगा। और आर्द्रक से कहना 'पोत पर से उडा हुआ कपोत जायेगा कहाँ, लौट कर फिर अपने पोत पर ही तो आयेगा!—ठीक यही शब्द कह देना, बन्धु, यह लिख कर नही दिया सकता।'

और आर्द्रक देश का दूत लौट कर अपने स्वामी की राजसभा मे उपस्थित हुआ। श्रेणिक के भेजे उपहार आर्द्रकराज को भेंट किये। और आर्द्रक कुमार के निजी कक्ष मे जा कर, अभय द्वारा भेजी ताम्र-पेटिका उसे दे कर, उनका सन्देश शब्दश आर्द्रक को सुना दिया। यह पोत का कपोत कौन? बार-बार दिशाओ तक उड कर भी, क्या फिर उसे उसी पोत पर रैन-बसेरा खोजना होगा?

आर्द्रक ने अपने खण्ड के सारे भारी पर्दे डाल कर, मुद्रित कक्ष के भीतर वह पेटिका, और वह स्फटिक की डिबिया खोली। सारा कमरा एक अपार्थिव आलोक से जगमगा उठा। एक बोलता-सा बाल्य चेहरा : जैसे उसका अपना ही भीतरी चेहरा, जो उसकी आँखो मे अनजाने ही सदा बसा रहता है। एक हरियाली शीतल आलो-छाया मे आविर्भूत यह कौन मुखडा है? यह जैसे मुझ से कुछ कह रहा है। मेरी कुशल पूछ रहा है। नाम ले कर बुला रहा है। कितनी परिचित और प्यारी है यह दूरियो से आती आवाज! जैसे यह मेरे रक्ताणुओ को बिद्ध कर के भीतर की सुषुम्ना नाडी मे से सुनाई पड रही है। लेकिन यह एक मणि ही तो है। मैंने पहले कभी, कही इसे देखा है।

यह कैसी प्रत्यभिज्ञा? यह किसकी याद है? यह कहाँ की पहचान है? कौन है यह सामायिक? यह कौन बन्धुमती उसे विकल हो कर पर पार से पुकार रही है? स्मृतियो के जाने कितने कोशावरण भीतर खुलते चले गये। उस आनन्द-वेदना मे आर्द्रक कुमार मूर्च्छित हो गया। उसे जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। वह अपनी परा चेतना मे अपने पूर्व जन्मान्तर को आँखो आगे देखने लगा

'अरे, अब मे पूर्व के तीसरे भव मे मैं हूँ वसन्तपुर का सामायिक नामा एक कुनबी। और यह मेरी स्त्री बन्धुमती है। अन्यदा सुस्थित नामा आचार्य के पास हम आर्हत् धर्म सुन रहे है। उनके प्रतिबोध से हम दोनो ने विरागी हो कर आर्हती दीक्षा अंगीकार कर ली। कुछ वर्षों बाद, विहार करते हुए जिस नगर मे मैं अपने गुरु के साथ आया, वही योगात् बन्धुमती भी अपनी प्रवर्त्तिनी महासती के साथ आयी। एक दिन अचानक उसे देख कर मुझे पूर्वाश्रम की उत्संग-क्रीडा का स्मरण हो आया। अनिवार दीखा वह अनुराग।

मैं अवश हो गया। मैंने एकान्त मे सुयोग पा कर बन्धुमती से कहा : 'मुझे उत्संग-सुख दो, वर्ना मैं जी न सकूंगा !' बन्धुमती बहुत दिनो से मेरा भाव जान गयी थी। वह ज्वाला-सी लहक कर बोली 'मेरी देह चाहिये न तुम्हे, वह तुम्हे मिलेगी !' और तत्काल बन्धुमती ने कुम्भक मे सारे प्राण खींच कर, देह को उच्छिष्ट की तरह त्याग दिया। मैं वही मूर्च्छित हो उस सती के चरणो मे गिर पडा। और क्षणमात्र मे ही मैं भी उसके प्राण का अनुगमन कर गया। हम दोनो ही ईशान कल्प मे देव-देवी हो कर जन्मे। साथ-साथ रह कर भी कितने बिछुडे और अपरिचित ! हमारे बीच कितनी तपाग्नियो का वन था। ' हम जाने कब अपनी-अपनी अलग राहो पर मुड गये।

'ईशान कल्प से च्यवन करके ही तो मैं यहाँ इस अनार्य देश मे जन्मा हूँ। यहाँ कोई दरद नही, दरदी नही। प्रीत नही, मीत नही। यहाँ भाव और ज्ञान का प्रकाश नही। यहाँ कोई जिज्ञासा नही, कोई लक्ष्य नही। यहाँ मुझे कोई नही पहचानता। कितना अकेला हूँ मैं, इस समुद्र के जल-जलान्त वीरानो मे। ओ दूरगामी जलयानो, तुम किस ओर जा रहे हो? तुम मुझे अपने घर पहुँचा दो न ! आर्यखण्ड, मगध देश, वसन्तपुर के सामायिक कुनबी का घर जानते हो? नही नही वहाँ नही। वहाँ अब कोई नही मेरा। राजगृही का राजपुत्र अभय क्या तुम्हारे जलयान मे यात्रा कर रहा है? उससे कहो कि यान रोक दे, कहो कि एक कपोत तुम्हारे मस्तूल को खोजता, जाने कब से अपरिचय के नैर्जन्य मे अश्रान्त भटक रहा है। '

और उस दिन के बाद आर्द्रककुमार नित्य अपने निजी कक्ष मे आदीश्वर ऋषभदेव के बिम्ब से बाते करता, उनका पूजन-अर्चन करता। और यो बड़ी बेचैनी से काल निर्गमन करने लगा।

○ ○ ○

एक दिन आर्द्रककुमार ने अपने पिता से विज्ञप्ति की 'मैं अभय राजा के पास जाना चाहता हूँ। कहाँ है वह आर्यों का देश, कहाँ है वह राजगृही, जहाँ अभय रहता है?' · आर्द्रकराज पुत्र की उत्क्षिप्त मनोदशा को कई दिन से देख रहे थे। सो तपाक् से बोले 'जानो बेटे, राजाओ की मैत्री दूर से ही कायम रहती है। पास जाने पर वह टूट जाती है।' आर्द्रक की ठीक तह मे जैसे चोट हुई झूठ ! पिता झूठे है, यह सारा ससार झूठ मे जी रहा है। वह तीखे स्वर मे बोला.

'आपने तो कहा था, महाराज, कि हमारी मैत्री का कमल कभी कुम्हलाता नही। और वह इतनी जल्दी कुम्हला गया? मैं उस सरोवर को खोज निकालूँगा, जहाँ खिलने वाला मैत्री का कमल कभी कुम्हलाना नही जानता।'

राजपिता चौंके, और सावधान हो गये। कि तभी आर्द्रककुमार वहाँ से गायब दिखायी पडा। पुत्र की इस पागल-विकल चित्त-स्थिति को राजा ने

बाँध लिया। उन्होने अपने मत्रियो से मत्रणा करके यह व्यवस्था की, कि पाँच-सौ सामन्तो की निगहदारी मे आर्द्रक राजकुमार को सदा नजर-कैद रक्खा जाये। दीवार-द्वारो के भी आँखें खुल गई, कान खुल गये। आर्द्रक को दीखा कि उसके हर पग पर रोक-टोक है। वह एक विराट् कारागार मे बन्दी है। सारा ससार ही उसे एक कैदखाना लगने लगा। मानो दिशाएँ तक उस पर पहरा दे रही है। और यह सामने का क्षितिज, जैसे मुद्रित कपाटो पर जडी एक महा साँकल की तरह अचल है। देखूँ, कौन रोकता है मुझे अभय के पास जाने से? मैं लाँघ जाऊँगा ये दिगन्त। मैं तोड दूँगा इस क्षितिज पर जडी साँकल को। वह केवल एक भ्रान्ति है। मैं उसे विदीर्ण कर, अपने प्यारे अभय के पास चला जाऊँगा। और आर्द्रक का अन्न-जल छूट गया। वह दिवा-रात्र अपने एकान्त मे आँसू बहाता रहा। क्या इन्ही आँसुओ के बल वह ससार के वज्र कारागार को ध्वस्त कर सकेगा? क्या इन्ही आँसुओ से वह दिगन्त और क्षितिज के मण्डल को लाँघ जायेगा?

एक दिन आर्द्रक कुमार को अचानक राह सूझ गयी। वह हर दिन सबेरे घोडे पर सवार हो कर वायु-सेवन को जाने लगा। उस समय वे पाँच-सौ सामन्त उसके अगरक्षक होकर उसके साथ रहने लगे। आर्द्रक कुमार सहसा ही घोडे को एड दे कर तेज़ दौडाता हुआ, सामन्तो से आगे निकल जाता। सामन्त भयभीत हो पवन-वेग से घोडा दौडाते हुए उसका पीछा करते। कि हठात् आर्द्रक कुमार घोडे की बाग मोड कर खिलखिलाता हुआ लौट पडता। सामन्तो को ताली देता, घोडे को हवा पर फेंकता, वह अपने महल मे जा छुपता। हर दिन वह इसी तरह क्रमश अधिक-अधिक दूर निकल कर, फिर उसी तरह हँसता-खेलता लौट आता। इससे सामन्त आश्वस्त हुए कि यह तो कुमार की क्रीडा मात्र है, वह कही जाने वाला नही है।

उधर आर्द्रककुमार ने गुप्त रूप से अपने विश्वस्त अनुचरो द्वारा समुद्र के विजन भाग मे एक जलपोत तैयार रखवाया। उसे रत्नो से भरवा दिया, ताकि इस अनिश्चित दुर्गम यात्रा मे दीर्घ काल तक निर्वाह सम्भव हो सके। और अभय की भेजी हुई आदीश्वर की मूर्ति भी उसने पहले ही अपने पोत-कक्ष मे सुरक्षित रखवा दी। अनन्तर नित्य की अश्वचर्या मे एक दिन वह सामन्तो की पहुँच से बाहर निकल गया। और प्रस्तुत जलयान मे आरूढ हो कर वह आर्यों के देश की ओर चल पडा। मानो आर्द्रक राजकुमार अपने देश और इस ससार की भी सीमा लाँघ कर, अज्ञात समुद्रो के बीहडो मे निष्क्रमण कर गया। इतिहास तट पर खडा ताकता रह गया। वह एकान्त मे रोने वाला कमज़ोर दिल नाज़ुक लडका उसकी पहुँच से आगे जा चुका था।

निदान एक दिन आर्य देश के तट पर उसका जलपोत आ लगा। आर्द्रक ने पत्तन-घाट पर उतर कर चारो ओर देखा मानो कि वह अपनी

माँ भोम को सामने खडी देख रहा है। उसकी आँखे सजल हो आयी। वह निमिष मात्र मे ही अपने भीतर समाहित हो गया। वह आत्मस्थ हो गया। उसने नहीं पूछा किसी से मित्र अभय का पता। नही पूछा मगध और राजगृही का रास्ता। उसने आदीश्वर की मूर्ति सादर एक विश्वस्त अनुचर के हाथ अभय के पास भिजवा दी। कोई सन्देश न भेजा, अपना कोई पता न दिया। आदीश्वर प्रभु उसे अपने घर लिवा लाये है। सन्देश तो उजागर ही था।

आर्द्रक ने अपने साथ लाया सारा रत्न-धन सात क्षेत्रो मे बिखेर दिया। और स्वयम् ही यतिलिंग धारण कर लिया। सारे वस्त्राभरण समुद्र मे फेंक वह दिगम्बर हो गया। उस समय वह बिना किसी से सीखे ही आपोआप सामायिक उच्चरित करने लगा

*सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्*
*माध्यस्थभाव विपरीत वृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव।*

औचक ही आकाश मे से देववाणी सुनाई पडी

'हे महासत्व, तू अभी आर्हती चर्या मत कर। अभी तेरे भोग्य कर्म अवशेष है। वह भोगानुबन्ध अनिवार्य है। उसे भोग कर ही तू यतिलिंग में रह सकता है। भोग्य कर्म तो तीर्थंकर को भी भोगे बिना निस्तार नही। कही कोई कमल-लोचनी तेरी प्रतीक्षा मे है। सावधान!'

लेकिन उसे तो किसी कमल-लोचनी की प्रतीक्षा नही। वह अपनी राह जाने को स्वतन्त्र है। स्वधर्म मे कोई बाहरी वर्जना की बाधा कैसी? उसने देववाणी की अवहेलना कर दी। वह अपनी मुक्ति की राह पर स्वच्छन्द विचरने लगा। प्रत्येकबुद्ध हो कर वह उत्कट तपश्चर्या करने लगा। चलते-चलते वह अनायास वसन्तपुर नगर मे आ पहुँचा। नगर के वन-प्रागण मे, वह किसी निर्जन देवालय मे प्रवेश कर प्रतिमा-योग मे निश्चल हो गया। सारी उपाधियों से उपराम हो कर वह कायोत्सर्ग मे लीन हो रहा। उसका देहभाव जाता रहा।

○ ○ ○

उसी वसन्तपुर मे देवदत्त नामा एक कुलीन श्रेष्ठी था। बन्धुमती का जीव देवलोक से च्यवन कर, देवदत्त की भार्या की कुक्षि से पुत्री रूप मे जन्मा। उस बाला का नाम हुआ श्रीमती। देवागना-सी सुन्दरी, वनिताओ के बीच शिरोमणि। धात्रियो द्वारा मालतीमाला-सी लालित वह ललिता, क्रमश किशोरी हो कर रजोक्रीडा के योग्य हो गयी। एकदा श्रीमती नगर की अन्य बालाओ के साथ 'पति-वरण' का खेल खेलने को पूर्वोक्त देवालय मे आई, जहाँ आर्द्रक मुनि कायोत्सर्ग मे उपविष्ट थे। सब बालाओ ने मिल कर कहा 'सखियो, हम सब आपस मे ही अपने-अपने मनचीते पति का वरण करें।'

सो सब कन्याएँ पारस्परिक रुचि के अनुसार, शर्त लगा कर, अपने बीच से ही एक-दूसरे को वर गईं। तभी अचानक श्रीमती ने कहा :

'ओ री सखियो, मैं तो इन भट्टारक मुनि का वरण करूँगी। इस दिगम्बर कुमार ने मेरा मन मोह लिया है।'

तभी आकाश मे से देववाणी सुनाई पडी 'तू अचूक है, बाले। तूने ठीक अपने नियोगी का वरण कर लिया।' मेघगर्जना के साथ देवो ने वहाँ रत्न-वृष्टि की। उस गर्जना से भीत हो कर श्रीमती ध्यानस्थ मुनि के चरणो मे लिपट गयी। मुनि का प्रतिमायोग भग हो गया। वे तत्काल वहाँ से प्रभजन की तरह प्रयाण कर गये। श्रीमती आकस्मिक उल्कापात से आहत-सी देखती रह गई 'मेरा नियोगी पुरुष मुझे छोड कर पलायन कर गया! हाय, उस निष्ठुर ने मेरी ओर देखा तक नही!'

श्रीमती रोती-विलाप करती घर लौट आयी। देववाणी और रत्न-वर्षा की खबर राजा तक पहुँची। वह धरती का धनी अपनी भूमि पर बरसे रत्नो को अपने अधिकार की वस्तु जान, उन्हे बटोरने को देवालय आया। राजा के सेवक जब राजाज्ञा से वह रत्न द्रव्य लेने को देवालय मे प्रवेश करने लगे, तो नागलोक के द्वार समान वह स्थान अनेक सर्पों से व्याप्त दिखायी पडा। तत्काल अन्तरिक्ष वाणी सुनायी पडी 'यह रत्नराशि कन्या के वर को दिया गया उपहार है। अन्य कोई इसे न छुए। कन्या का पिता इसे ले जा कर अपनी निधि मे सुरक्षित रखे। और कन्यादान के मुहूर्त की प्रतीक्षा करे।'

काल पा कर श्रीमती रूप और यौवन के प्रकाम्य कल्प-वृक्ष की तरह फूल-फलवती हो आयी। अनेक श्रीमन्त कुमार, अनेक कामदेव उसके पाणि-पल्लव के प्रार्थी हुए। श्रेष्ठी मान-मनौवल कर के हार गया, पर कन्या अपने निश्चय पर अटल रही। 'मैं केवल उस दिगम्बर पुरुष की वरिता हूँ, मेरा भर्तार केवल वही! तीन लोक मे और कोई नही!'

माँ और पिता ने श्रीमती को समझाया 'गृहत्यागी मुनि का वरण कैसा? उस अनगारी, पन्थचारी का क्या ठिकाना? उसका कोई घर नही, ग्राम नही, नाम नही। उस निर्नाम गगनविहारी पछी को कहाँ तो खोजा जाये? उसका अभिज्ञान कैसे हो? उसकी पहचान किसके पास?' श्रीमती ने कहा 'बापू, मैं उसे पहचान लूंगी। उसी दिन पहचान लिया था। देवकृत मेघनाद से सत्रस्त भीत हो कर, मैं अपने उन प्रिय स्वामी के चरणो मे लिपट गयी थी। तब उनके चरण का एक चिन्ह मैने देख लिया था। बापू, कल से प्रति दिन नगर मे आने वाले हर मुनि का मै द्वारापेक्षण करूँगी। उन्हे भिक्षा दूंगी। एक न एक दिन मेरे स्वामी, निश्चय ही भिक्षार्थी हो कर मेरे द्वार पर आयेंगे। और मैं उन्हे पहचान लूंगी।' श्रेष्ठी ने समुचित व्यवस्था

कर दी। श्रीमती प्रति दिन आगन्तुक श्रमणो का आवाहन और आहारदान करने लगी। चरण-वन्दना करते समय वह हर मुनि के चरण मे उस चिह्न को टोहने की चेष्टा करती।

…ठीक बारह वर्ष बाद दिङमूढ-सा एक तेज काय योगी श्रीमती के द्वार पर आ खडा हुआ। बिना चरण-चिह्न देखे ही श्रीमती ने उसे पहचान लिया। विह्वल रुदन मे फट कर, वह योगी के चरणो मे गिर पडी। उन धूल भरे पगो को उसने बाहुओ मे कस कर, अपनी छाती मे भीच लिया। फिर बोली .

'उस बार तुम मुझे दगा दे गये, नाथ, पर अब मेरे हाथ से छूट कर तुम जा नही सकते। मेरे जन्मान्तर के वल्लभ हो, देखो देखो मेरी ओर। मुझे पहचानो। योगी हो कर सत्य से भागोगे ? नही, नही, त्रिलोकी की कोई सत्ता अब तुम्हे मुझ से नही बिछुडा सकती !'

योगी को अचूक लगी उस नारी की वाणी। अनिवार्य थी उसकी ऊष्मा, उसका सम्मोहन ! चिरकाल की परिचित लगी उसकी देह-गन्ध, केशगन्ध। और यह प्यारी आवाज, कितनी अपनी, कैसी आप्तकाम ! आर्द्रक मुनि को अचानक वह देववाणी याद आ गयी वह वर्जन-वाणी कि—'तेरा भोग्य अभी शेष है, वह भोगे बिना निस्तार नही !'

मुनि मौन, अपने उपादान को समर्पित, अवश खडे रह गये। वे नकार न सके। श्रीमती उन्हे हाथ पकड कर अपनी हवेली मे लिवा ले गई। ' और उसी सन्ध्या की गोधूलि बेला मे, उस अज्ञात कुल-गोत्र अनाम योगी ने यज्ञ-हुताशन के साक्ष्य से श्रीमती का पाणिग्रहण कर लिया।

○ ○ ○

जाने कितने वर्ष श्रीमती के साथ रमण-सुख भोगते बीत गये। लेकिन आरव्य देश के उस नीली आँखो वाले निर्नाम योगी को नही लगा, कि कही कुछ बीता है, या रीता है। उसे नही लगा, कि उसने अपने से अन्य किसी को भोगा है। एक आकाश क्षण-क्षण नाना रूपो मे व्यक्त हो कर, अनन्य भाव मे केवल अपने ही को भोगता रहा। एक निश्चल समुद्रगर्भ अपनी ही तरगो मे खेलता रहा। मात्र अपनी ही एक और अभिव्यक्ति, अपना ही एक और अनिवार्य परिणमन।

एक-दूसरे मे अप्रविष्ट, फिर भी अप्रविष्ट नही रह कर, वे परस्पर के छोर तक पहुँचने का संघर्ष करते रहे। उस सघर्ष मे से एक दिन एक चिनगारी उठी वह पिण्डित और रूपायित हुई। श्रीमती ने शुभ लग्न मे एक पुत्र प्रसव किया। राजशुक की तरह तुतलाता, नाना बाल्य-क्रीडा करता वह पुत्र देखते-देखते एक दिन बडा हो गया। अनन्तर आर्द्रक को नियत क्षण आने पर सहसा ही प्रत्यभिज्ञान हुआ, प्रतिबोध हुआ, कि पर्याय का यह खेल खत्म हो गया !

आर्द्रक ने सुयोग देख कर श्रीमती से कहा 'तुम्हारी कामना का वृक्ष फल गया। तुम पुत्रवती हुई। तुम अब रमणी न रही, माँ हो गयी। तुम्हारी प्रीति अब विभाजित हो गई। खण्ड रमण मे सुख कहाँ, नितान्त एकत्व और अनन्यत्व कहाँ। श्रीमती, अब मै चला। मेरा भोग पूरा हो गया।' पूछा श्रीमती ने 'कहाँ जाओगे?' उत्तर मिला 'उस रमणी के पास, जिसका भोग अविभाज्य और अखण्ड है। जो मुझ से अन्य नही, जो मेरी अनन्या है। जिसके और मेरे बीच देह की अभेद्य दीवार नही।' श्रीमती को कुछ समझ न आया। उसने यही समझा, कि अब यह पुरुष मुझ से ऊब गया है यह किसी अखण्ड कुँवारी की खोज मे जाना चाहता है।

श्रीमती चुप रही। उसने एक युक्ति रची, और उसी के द्वारा अपने पुत्र को इस वियोग की प्रज्ञप्ति करनी चाही। वह प्रति दिन नियम मे रुई की पोनी ले कर, एक चर्खे के त्राक पर सूत कातने लगी। माँ को यो रात-दिन सूत कातते देख कर, एक दिन पुत्र ने पूछा 'माँ, तुम किसी दीन-अकिंचन जुलाहिन की तरह यह क्षुद्र कर्म क्यो कर रही हो?' श्रीमती ने उत्तर दिया 'तेरे पिता को मुझ से विराग हो गया है। वे कभी भी घर छोड़ जायेंगे। मुझ पति-विरहिता के लिये तब यह त्राक ही तो शरण होगा।' छोटा-सा निर्बोध लडका माँ का दु ख देख कातर और क्रुद्ध हो कर बोला 'ओ माँ, तुम चिन्ता न करो। मै अपने पिता को बाँध कर पकड़ रक्खूंगा। देखूं, वे कैसे कहाँ जा पाते है।'

इस बीच आर्द्रक मुनि घर मे ही एकासन मे ध्यानस्थ रहने लगे थे। बाहर उनके शरीर के साथ क्या होता है, इस पर उनका लक्ष्य ही नही रह पाता था। नित्य का आहार-निहार वे यन्त्रवत् करके फिर अपने एकान्त कक्ष मे ध्यानस्थ हो जाते। एक दिन वे बाहर के प्रति एकाएक सचेतन हुए। उन्होंने देखा कि—जैसे ऊर्णनाभ मकड़ी अपनी लार मे तनुजाल बुनती जाती है, वैसे ही उनका वह निर्दोष पुत्र अपनी माँ के काते त्राक के सूत्र मे अपने पिता के चरणों को लपेट रहा है। हाय, निष्कलुष बालक के इस स्नेहानुबन्ध को काट कर मैं कैसे जाऊँ? मेरे मन के पछी को इसने कैसे सूक्ष्म तन्तुओ मे बाँध लिया है! इस निसर्ग वात्सल्य को ठुकरा कर, क्या मुक्ति पा सकूंगा? इस प्रेमल पुत्र ने अपने प्रेम के जितने सूत्रो से मेरे चरणो को बाँधा है, उतने वर्ष और इसके साथ रह कर, इसकी अकारण प्रीति का ऋण तो चुकाना ही होगा। अर्हत् जैसे ही इस पवित्र बालक को आघात कैसे दे सकता हूँ?

बालक ने सूत्र के बारह आँटे आर्द्रक के चरणो मे लपेटे थे। सो बारह वर्ष और वह योगी गृह-ससार मे रह कर, पत्नी और पुत्र का दीना-पावना चुकाता रहा। बारह वर्ष की अवधि पूरी होते ही, एक रात के अन्तिम प्रहर मे वह सोयी भार्या और सोये पुत्र को छोड़ कर, चुपचाप चला गया। सबेरे

**जाग कर श्रीमती ने देखा, वया पछी उड चुका था। सूत्र-तन्तुओं के जाल से बुना वह नीड खाली पडा था। उसकी खोखल में सूरज की एक किरण पड रही थी।**

'उस किरण मे जाने कितनी दूरियाँ खुलती आयी। एक पर एक कितने दृश्यान्तर, कितने रूपान्तर, कितने जन्मान्तर। यह कैसी प्रत्यभिज्ञा हो रही है? यह कैसा प्रतिक्रमण है? श्रीमती को जाति-स्मरण ज्ञान हो आया। उसकी आँखो से आँसू झरने लगे। मन ही मन बोली ' 'ठीक ही तो हुआ, तुम चले गये सामायिक! मैं हूँ बधुमती। उस भव मे तुम्हारी चाह पूरी न कर सकी थी इच्छा-मरण कर गयी थी। और तुम भी तो फिर जी न सके थे। ईशान स्वर्ग मे देव-देवी हो कर हम साथ रहे, फिर भी तो बिछुडे ही रह गये। तुम्हारा रागानुबन्ध शेष न हो सका। इसीलिये तो लौट कर फिर मैं श्रीमती हुई, तुम्हारे लिये। पर तुम मुझ से भागते फिरे। आखिर बाँध लायी तुम्हें तुम पहचान गये मुझे। तुम्हारी इच्छा को नि शेष तृप्त कर, अब फिर तुम्हें अपनी मुक्ति की राह पर लौटा दिया मैने। मेरा जन्म-कर्म भोग-योग पूरा हुआ। मै कृतार्थ हुई, निष्क्रान्त हुई। मेरा नारीत्व कृतकाम हुआ। बेखटके जाओ, तुम्हारा चिर मगल हो, चिर कल्याण हो! तुम्हारे मन की मनई तुम्हे मिले!'

और श्रीमती की आँखो से झरते आँसुओ मे जाने कितने जन्मो की मोह-ग्रथियाँ गल-गल कर बहती चली गयी। दूर दिगन्त को ताक कर बोली 'मै अन्य कोई नही, तुम्हारी आत्मा ही हूँ! तुम जहाँ भी विचरोगे, मै सदा तुम्हारे साथ हूँ। '

और द्रुत पगो से अनिर्देश्य विहार करते दिगम्बर आर्द्रक मुनि को हठात् अपने लक्ष्य का शिखर दिखायी पड गया। वे निर्दिष्ट और बेखटक ठीक दिशा मे चल पडे। उनकी अन्तश्चेतना मे आपोआप स्फुरित हुआ 'श्रीमती, तुम मेरा बन्धन नही, मुक्ति हो। यह बात मै निर्वाण की सिद्धशिला और प्राग्भार पृथ्वी पर पहुँच कर भी भूल न सकूँगा। '

○ ○ ○

वसन्तपुर से राजगही की ओर जाते हुए आर्द्रक कुमार ने, एक जगह पाँच-सौ सामन्तो को चोरी का उद्यम-व्यवसाय करते देखा। सामन्तो ने अपने खोये राजपुत्र को पहचान लिया। आर्द्रक को दिगम्बर यतिलिंग मे देख कर, वे बरबस उनके चरणो मे नमित हो गये। आर्द्रक मुनि ने कहा 'सामन्तो, तुमने यह अधम आजीविका क्यो ग्रहण की? इतने गिर गये तुम?'—सामन्त बोले 'हे स्वामी, जब आप हमे धोखा दे कर चले गये, तो हम अपना काला मुँह ले कर आर्द्रकराज के पास कैसे जाते? सो आप की खोज मे ही पृथ्वी पर सर्वत्र भटक रहे है। इस आर्य देश मे किसी ने हम पर विश्वास न किया। तब निर्धन शस्त्रधारियो के लिये जीने का और उपाय ही क्या था? हम चोरी करके अपना उदर पोषण करने लगे।'

'निर्वसन निष्किचन हो कर मेरा अनुसरण करो, भव्यो ! तुम्हारा जीवितव्य अयाचित ही तुम्हे मिलता जायेगा। तुम्हारी सारी कामनाएँ पूरी होंगी। तथास्तु !'

वे पाँच-सौ सामन्त चोर अपने वस्त्र-शस्त्र और सारा चुराया धन, क्षण भर मे जीर्ण कैंचुल की तरह त्याग कर, निर्ग्रंथ दिगम्बर हो गये। और अपने एकमेव स्वामी और गुरु का अनुगमन करने लगे।

यह उन दिनो की बात है, जब गोशालक अर्हन्त महावीर का द्रोही हो कर, लोक मे घूर्णि-चक्र की तरह घमता हुआ, अपने अष्टागी भोगवाद और नियतिवाद का धुँआधार प्रचार कर रहा था। राजगृही के मार्ग पर अपने पाँच-सौ निगण्ठ शिष्यो के साथ धावमान आर्द्रक मुनि की, सहसा ही गोशालक से भेट हो गयी। सन्मुख राह रूँध कर गोशालक बोला

'ओ रे कोमल कान्त कुमार, तू अपनी देव-तुल्य काया को इस कृच्छ्र तपस्-क्लेश से क्यो नष्ट कर रहा है ? क्या तेरे इस श्रम से तुझे सिद्धि मिल जायेगी ? पुरुषकार सत्य नही, पुरुषार्थ मरीचिका है। सब कुछ नियत है रे, सब कुछ नियत। जो होना है, वह हो कर रहेगा, फिर तुम सब अपने को क्यो मिट्टी मे मिला रहे हो ? अरे तुम इस जगत् को जी भर भोगो, इच्छामत जियो, मुक्ति ठीक समय पर आप ही मिल जायेगी !'

धीर गम्भीर स्वर मे आर्द्रक कुमार ने उत्तर दिया

'जब नियति ही अनिवार्य सत्य है, सौम्य, तो हमारी वर्तमान चर्या भी, क्या उसी के अन्तर्गत नही ? जब पुरुषकार है ही नही, तो जो भी हम कर रहे है, वही क्या हमारी नियति नही ? हर एक की नियति भिन्न है, महानुभाव आर्य। आप अपनी नियति मे विचर रहे हैं। हम अपनी नियति मे। नियति के बाहर क्या कुछ सम्भव है, कि आप हमारे आचार को पुरुषकार कह रहे है ? आपने पुरुषकार को नकार कर ही, उसे स्वीकार लिया, आचार्य, यह शायद आप भूल रहे है !'

गोशालक निरुत्तर स्तम्भ-सा खडा रह गया। और आर्द्रक मुनि एक अनिर्वार नियति-पुरुष की तरह, अपने पाँच-सौ शिष्यो सहित आगे प्रयाण कर गये।

आगे चल कर स्वायम्भुव ऋषि आर्द्रककुमार हस्ति-तापसो के एक आश्रम मे गुजरे। वहाँ उन्होने देखा कि पर्ण-कुटियो के प्रागण मे हाथियो का मास सूखने को धूप मे डाला हुआ था। वहाँ के वासी तापस एक बडे हाथी को मार कर, उसका मास खा कर अपना निर्वाह करते थे। उनका ऐसा मत था कि, एक बडे हाथी को मार डालना ही श्रेयस्कर है, ताकि एक जीव के घात से प्राप्त मास से ही बहुत काल निर्गमन हो सके। मृग, तीतर, मत्स्य

आदि अनेक क्षुद्र जीवो तथा अनेक वनस्पति कायिक धान्य और शाकादि जीवो का सहार करने से क्या लाभ? उस तरह अगणित जीवों की हिंसा करने से, अपार पाप लगता है।

ऐसे उन दयाभासी तापसो ने उस समय अपने आहार हेतु मारने के लिये, एक महाकाय हाथी को भारी-भारी साँकलो से बाँध रखा था। अचानक करुणामूर्ति महर्षि आर्द्रक की दृष्टि उस साँकलो मे जकडे हाथी पर पड गयी। वे चलते-चलते वही रुक गये। तभी आस-पास के अनेक वन्य और ग्राम्यजन वहाँ आ कर एकत्र हो गये। वे पाँच-सौ मुनियो से परिवरित तेज पुँज महर्षि आर्द्रक का अनेक प्रकार से वन्दन-पूजन करने लगे।

उस निश्चल सुमेरु-से-खडे करुणामूर्ति योगी को देख कर, लघुकर्मी गजेन्द्र की अन्त सज्ञा जाग उठी। उसके मन मे ऐसा प्रीति भाव जागा, कि यदि मैं मुक्त होऊँ, तो मैं भी जा कर इन भगवन्त की चरण-वन्दना करूँ। गजेन्द्र का यह भावोद्रेक चरम पर पहुँचा। वह विकल हो उठा। कि तभी हठात् उसके पैरो की साँकले तडाक् मे टूट गईं। जैसे गरुड़ के दर्शन मात्र से नागपाश छिन्न हो गया हो। वह मातगराज मुक्त हो कर, विह्वल हर्षावेग के साथ मुनीश्वर के चरणो की ओर दौड पडा।

लोग हाहाकार कर उठे 'हाय, यह अपने बन्धन का सताया प्रचण्ड वन-हस्ती, अभी-अभी निश्चय ही, इन मुनिराज को एक ही ग्रास मे निगल जायेगा।' और वे सारे मानुषजन भय के मारे भाग खडे हुए।

लेकिन महायोगी आर्द्रक तो अपने स्थान पर ही निष्कम्प खडे रहे। उनके शिष्य भी वैसे ही अटल रहे। दूर खडे लोग देख कर अवाक् रह गये। अरे यह क्या हुआ, उस गजेन्द्र ने नम्रीभूत हो, अपने कुम्भस्थल को नमित कर, अपनी सूँड उठा कर, श्रमण को प्रणाम किया। फिर सूँड नीचे की ओर पसार कर उनके चरणो का स्पर्श कर लिया। तब उस हस्ति को ऐसा अनुभव हुआ, कि वह अघात्य और अवध्य हो गया है। उसे कोई अब मारने मे समर्थ नही! कदली-कर्पूर जैसे उन चरणो के शीतल स्पर्श से, उसकी वह महाकाया रोमाचित हो आयी। उसने एक भरपूर दृष्टि से महर्षि को निहारा, और निर्बाध निराकुल हो कर अपने वन-राज्य मे स्वच्छन्द विचरने लगा।

मुनि के इस प्रभाव और हाथी के भाग निकलने से, वे दया-पालक तापस अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। वे दाँत किट-किटाते हुए, एक जुट हो कर, उस पागल पन्थचारी साधु पर आक्रमण करने को दौडे आये। लेकिन निकट पहुँचते ही, जाने कैसे एक अन्तरिक्षीय मार्दव के स्पर्श ने उन्हे अश्रु-पुलकित कर दिया। एक अखण्ड निस्तब्धता मे वे सारे तापस अपने ही स्थानो पर स्तम्भित हो, नम्रीभूत नतमाथ हो रहे। फिर उन्होने समवेत स्वर मे विनती की

**'जिन श्रीगुरु की हमे चिर दिन से प्रतीक्षा थी, वे आ गये ! हे तरण-तारण गुरु भगवन्त, हमे जिन-दीक्षा दे कर अपना ही अनुगामी बना लें।'**

**'तीन लोक, तीन काल के गुरु भगवान् महावीर स्वयम्, इस समय तुम्हारी इस भूमि मे विहार कर रहे है। उन्ही के पास जाओ, तापसो ! तारणहार केवल वही हैं, मै कोई नही। मै हूँ केवल उनका एक दृष्टान्त, एक पूर्वाभास मात्र !'**

कह कर तत्काल आर्द्रक महर्षि अपने सघ सहित, सन्मुख पूर्वाचल की ओर विहार कर गये।

राजगृही मे हलचल मच गयी। एक ही उदन्त चारो ओर सुनायी पड रहा था। कोई आर्द्रक महर्षि राजगृही के परिसर मे विहार कर रहे है। पाँच-सौ चोर उनके निकट आत्म-समर्पण कर, निर्ग्रंथ श्रमण हो गये। उनके एक दृष्टिपात मात्र से, वज्र साँकलो मे जकडे एक दुर्मत्त गजेन्द्र के पैरो मे बंधी साँकले तडाक् से टूट गयी। उस हाथी के मास के लोलुप पाँच-सौ हस्ति-तापस, आर्द्रक ऋषि के शरणागत हो गये। ऋषि ने उन्हे प्रतिबोध दे कर श्रीभगवान् के समवसरण मे भेज दिया। अनार्य देशवासी आर्द्रक मुनीश्वर जयवन्त हो ! और हज़ारो मागध उस अनार्य श्रमण के दर्शन को निकल पडे।

अभय राजकुमार विस्मय मे पड गया। क्या सच ही मेरा चिरकाल का स्वप्न-मित्र आ गया? श्रेणिकराज भी आपोआप समझ गये, कौन आया है। दोनो पिता-पुत्र रथ पर चढ कर उनके वन्दन को गये। वन्दन प्रदक्षिणा के उपरान्त, आर्द्रक मुनि के समक्ष हो कर बोला अभय राजकुमार

'अपने मित्र अभयकुमार को भूल गये, महर्षि आर्द्रक? उसी से मिलने तो घर छोड कर निकल पडे थे एक दिन। लेकिन उसी से मुंह मोड गये?'

'ठीक मुहूर्त आने पर ही तो, आत्मा के मित्र से मिलन हो सकता है अभय राजा ! मेरे आदिकाल के स्वप्न, तुम तक पहुँचने के लिये भीतर-बाहर के जाने कितने अगम-दुर्गम चक्रपथों की यात्रा करनी पडी। लगता था, उन अगम्यो मे पग-पग पर तुम्ही तो मेरे साथ चल रहे हो। सो मित्र को बाहर कही खोजने की बात ही भूल गई!'

'प्राणि मात्र के मित्र, त्रिलोकी के अनन्य आत्मीय अर्हन्त महावीर तुम्हारी प्रतीक्षा मे है, हे सर्यतिन् !'

'वही तो मुझ पथहारा को, अपने चिर काक्षित मित्र के पास ले आये, अभय राजा। तपस् के अग्नि-मण्डलो को पार किये बिना, मन का मनई कैसे मिल सकता है?'

अभय ने देखा, सामने कोई पुरुष नही, केवल परा प्रीति का एक प्रभा-पुंज जाज्वल्यमान है। उसकी अन्तर-विभा मे चराचर सृष्टि सवेदित और रोमाचित है।

O O O

…अगले ही दिन सबेरे अनायास, आर्द्रक मुनि श्री भगवान् के चरण-प्रान्तर मे, द्राक्षा-लता की तरह भूसात् दिखायी पडे।

'आत्मन् आर्द्रक, महावीर तुम्हारी मैत्री का चिरकाल से प्यासा और प्रत्याशी है!'

'मेरे खोये-बिछुडे आत्म ने ही मुझे स्वयम् पुकार कर अपना लिया। मै पूर्णकाम हुआ, भगवन्!'

'स्वयम्भुव आदीश्वर का तेजाशी पुत्र आर्द्रक, जन्म से ही अर्हत् का आप्त और निखिल का मित्र रहा है।'

'अनार्यजन्मा आर्द्रक?'

'आत्मा तो स्वभाव से ही आर्य है, मेरे सखा। उसके राज्य मे भूगोल और इतिहास के विभाजन नही। वह सार्वभौमिक है, और सर्वत्र है। अफाट तपते रेगिस्तान मे कब समुद्र लहराने लगता है, सो कौन जान सकता है!'

'मेरे लिये क्या आदेश है, भगवन्?'

'तथाकथित अनार्य देशो मे जाओ आत्मन्, जहाँ मनुष्य अपना ही मित्र नहीं, अपना ही सगा नही। जहाँ वह अपने ही से चिरकाल से बिछुड गया है। अन्धकार के उस राज्य मे विचरो, प्रिय। वहाँ की हर आत्मा को उसका अपना ही मित्र और प्रियतम बना दो। विश्वामित्र आर्द्रककुमार जयवन्त हो!'

स्वर्गों के फूल बरसाते कल्प-वृक्षो मे से जयकारें गुंजायमान हुईं.

*त्रिलोक-मित्र भगवान् महावीर जयवन्त हों!*
*मित्रों के मित्र आर्द्रक कुमार जयवन्त हों!* □

# अगम पन्थ के सहचारी

राजगृही के निकट ही शालि ग्राम मे कोई धन्या नामा स्त्री आकर बस गयी थी। उसका वश उच्छेद हो गया था। केवल उसका एक सगमक नामा पुत्र था। सगमक नगरजनो के बछडो को चराता था। उस भोले लडके को अपने योग्य ही एक मृदु आजीविका मिल गयी थी । एकदा पर्वोत्सव के दिन, घर-घर पायसान्न का भोजन पाक हुआ। सगमक गन्धशालि चावल, दूघ, केशर और मेवो की सुगन्ध मे मुग्ध मगन घर आया। उसने अपनी विपन्ना माँ से कहा 'माँ मुझे भी पायसान्न खिलाओ'।

रंकिनी धन्या पायसान्न कहाँ से लाये? और पुत्र की माँग को नकारे भी कैसे? बेटे के सिवाय उसका कौन है जगत् मे? क्या उसकी इतनी-सी साध भी वह न पूर सकेगी? धन्या अपने पुराने वैभव को याद कर तार-स्वर मे रुदन करने लगी। संगम अबूझ ताकता रहा। समझ न सका, यह क्या हो रहा है? पर उसकी माँ के विलाप से द्रवित हो कर एक पडोसिन दौड आयी और उसके दु:ख का कारण पूछा। धन्या ने सिसकियाँ भरते हुए अपनी व्यथा कही। तत्काल ही पडोसिनो ने मिल कर पायसान्न की सारी सामग्री उसे ला दी। धन्या ने हर्षित होकर क्षीर का पाक किया। फिर बहुत प्यार से एक थाली मे बेटे को खीर परस कर, अन्य गृहकाज मे लग गयी। सगमक ने अभी खीर का ग्रास न उठाया था। वह, बस उसे मुग्ध हो कर देख रहा था।

तभी एक मासोपवासी श्रमण पारण के लिये उसके द्वार पर आ खडे हुए। सगमक अपने को भूल, भौरा-सा मुनि को देखता रहा। अहो, तपे हुए सुवर्ण-सा कान्तिमान यह नग्न पुरुष कौन है? सचेतन चिन्तामणि रत्न, जगम कल्प-वृक्ष, अपशु कामधेनु! अहा, मैं कितना भाग्यशाली हूँ, कि स्वयम् भगवान् मेरे द्वार पर याचक हो कर आये है। कैसा चमत्कार है, कि आज चित्त, वित्त और पात्र का त्रिवेणी सगम घटित हुआ है। मेरा सगमक नाम आज सार्थक हो गया! ...ये कैसे शब्द मुझ मे फूट रहें है!

...सगमक ने कई बार प्रणिपात कर भिक्षुक का वन्दन किया। मुनि ने पाणिपात्र पसार दिया। सगमक सारा ही पायसान्न क्रमश. उनकी अजुलि मे उँड़ेलता चला गया। उसे अपनी इच्छा और क्षुधा ही भूल गयी। योगी-गुरु

तृप्त हो, सगमक पर अनुगृह की एक चितवन डाल, मुस्करा दिये । और चुपचाप अपनी राह चले गये। सगमक उनके दूर जाते पग संचार को देखता रह गया, सुनता रह गया । उसका जी चाहा, कि उन्हीं के साथ चला जाये ।

तभी उसकी माँ वहाँ आ पहुँची। देखा, थाली खाली पड़ी है, और सगमक दूर-दूर तक की राह ताक रहा है। धन्या अपने पुत्र के इस मौन और धुनी स्वभाव को जानती थी। वह तो कभी कुछ माँगता नही। आज जाने क्या घटा, कि सगमक ने खीर माँग ली। खाली थाली देख माँ ने सोचा मेरा लाल सारी खीर बहुत स्वाद से खा गया न। सो खुश होकर उसने दूसरी बार थाली भर पायसान्न परस दिया।

सगमक को अब अन्न मे रुचि नही रह गयी थी। उसकी क्षुधा मानो सदा को शान्त हो गयी थी। लेकिन माँ को वह यह सब कैसे बताये। वह विस्मित है, उच्चकित है, बूझ रहा है यह क्या हो गया है मुझे ? वह कुछ बोल न सका। उसने माँ का मन रखने के लिये विमन, विरत भाव से ही आकण्ठ उस खीर का आहार कर लिया। विचित्र हुआ, कि उसी रात सगमक को विशूचिका हो गयी। और सबेरे द्वार पर आये श्रीगुरु का स्मरण करते हुए ही, उसने देह त्याग दी। उस दिन का उसका आत्मदान, आत्मोत्थान का शिखर हो उठा।

○ ○ ○

उस रात सगमक का जीव शालि ग्राम से च्यवन करके जो निकला, तो राजगृही के गोभद्र श्रेष्ठी की भद्रा नामा अगना के गर्भ मे यह कैसा विदग्ध कम्पन हुआ ! उस रात का ससर्ग सुख परा सीमा को पार कर गया। रात्रि के पिछले प्रहर मे भद्रा ने स्वप्न मे शालि क्षेत्र देखा। लहलहाती हरियाली का प्रसार। प्रात भद्रा ने अपने भाविक और दैवज्ञ पति मे इस स्वप्न का फल पूछा। श्रेष्ठी ने कहा 'तुझे अक्षत सुख के भोगी पुत्र का लाभ होगा, प्रिये !' यथाकाल भद्रा को ऐसा दोहद हुआ, कि वह सात दिनो तक राजगृही की राहो पर रत्न लुटाती हुई निकले। और तभी ऐसा हुआ कि गोभद्र की निधि मे से रत्नो का मानो स्रोत उमडता आया। और भद्रा को उस रत्न उछालती मातृमूर्ति को देख लोगों को लगा, कि क्या पृथा देवी स्वयम् ही प्रकट हो आयी है राजगृही के राजमार्गों पर ?

नव मास ग्यारह दिन बीतने पर, भद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। मानो कि विपुलगिरि की भूमि ने वैदूर्य मणि को प्रसव किया हो। उसके उद्योत से दिशाओ के मुख उजल उठे। स्वप्न के शालि-क्षेत्रो मे से आये पुत्र को नाम दिया गया शालिभद्र। उस मुहूर्त मे पाँच धात्रियो ने अपने मुक्ताहार पृथ्वी पर बिछाते हुए प्रभु का बारम्बार वन्दन किया। पद्म-दलो के

मार्दव और परिमल मे बालक का लालन-पालन होने लगा। 'जब वह आठ वर्ष का हुआ तो गुरुकुल मे विद्यार्जन को भेजा गया।' 'जो भी सिखाया जाता, शालिभद्र को जैसे पहले ही मालूम था। वह शास्त्रो से भी आगे की बातें बोलता। गुरु ने कहा 'इसे सिखाने योग्य विद्या मेरे पास नही है !' शालिकुमार घर लौट आया। वह जगत् प्रवाह को देखता रहता। वह सोये मे भी जागता हुआ, सृष्टि के हर पदार्थ को, हर पर्याय को, एक बहुरगी मणि की तरह निहारता रहता। हर वस्तु के भीतर एक हीरा है, जिसमे कभी लाल किरण फूटती है, कभी नीली, कभी पीली, कभी हरियाली।

एकदा उष काल मे शालिभद्र अकेला ही वन-विहार करके घर लौट रहा था। तो उसने राह मे देखा, घरो के द्वार-पल्लो की ओट से, गवाक्षो से, जाने कितनी ही चितवनें उसे एकटक निहार रही हैं !

कालान्तर मे युवा होकर शालिकुमार, युवति-जन का वल्लभ हो गया। राह चलते जाने कितनी सुन्दरियों के मन मोहता हुआ, वह नवीन प्रद्युम्न की तरह लोक मे विचरता रहता है। उपद्रवी है यह लडका, सब जमे-जमाये को यह तोड़-फोड देता है। इसके चलने से स्थापित नीति-मर्यादायें खतरे मे पड जाती हैं। सो नगर के सरपच श्रेष्ठियो ने गोभद्र को बुला कर उसके साथ गम्भीर परामर्श किया।' और शुभ लग्न मे बत्तीस श्रेष्ठि-कन्याएँ शालिकुमार को ब्याह दी गईं। लडके को मन ही मन हँसी आती रही। केवल बत्तीस ? इतने से क्या होगा ! गिनती की बत्तीस ? मर्यादा की इस बेडी मे अनन्त रमण-सुख कैसे सम्भव है ? वह निराकुल कैसे हो सकता है ? और वे उतनी सारी आँखें क्या प्यासी ही रह जायेंगी ?

लेकिन ये बत्तीस कुमारिकाएँ, जायें तो कहाँ जायें ? इन्हें सुख न दे सकूँ, तो वह मेरी ही सीमा होगी। मैं इतना छोटा कैसे पड़ सकता हूँ ? और शालिभद्र उन अगनाओ के साथ आचूड विलास मे डूब गया। दिन-रात का भेद लुप्त हो गया। रत्न-दीपो की सान्द्र प्रभा में, पराग के पेलव शयनो पर स्पर्श-सुख का मार्दव और दबाव अगाध होता गया। एक ऐसी प्रगाढता, जिसमे चेतन अचेतन हो जाता, अचेतन चेतन हो जाता। अपने भीतरी आकाश के पलँग पर, शालिकुमार जैसे सागर-मेखला मे तरगो पर उत्सगित हो रहा था। जैसे शून्य के फलक पर हर समय नयी चित्रसारी हो रही थी। पर्याय के प्रवाहो पर वह उन्मुक्त तैरता जा रहा था।

इस बीच गोभद्र श्रेष्ठी चरम तक पार्थिव सुख भोग कर विरागी हो गये। उन्होंने जिनेन्द्र महावीर के चरणो मे भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। भूख-प्यास से ऊपर उठ कर, हवा और जल तक से अनिर्भर हो कर, उन्होंने प्रायोपगमन सन्यास द्वारा देह त्याग कर दिया, और देवलोक मे चले गये। 'वहाँ से

अवधिज्ञान द्वारा वे पुत्र की इस हंस-लीला का निरन्तर अनुप्रेक्षण करते रहते। नेपथ्य मे रहकर ही, पुत्र के रत्न-विमान जैसे विलास-महलो मे, कल्प-वृक्ष की तरह सारी मनोवाछित भोग-सामग्रियाँ वे प्रकट करते रहते।

इस भोग-चर्या में तल्लीन शालिभद्र ने, वर्षों से दिन का उजाला तक नही देखा था। भोग की लीनता मे भी, वह एक और ही उजाला देखने मे तन्मय था। सो बाहरी घर-संसार का सारा काम-काज भद्रा सेठानी ही चलाया करती थी।

O O O

अन्यदा हस द्वीप का एक रत्न-व्यापारी, कुछ रत्न-कबल ले कर श्रेणिकराज के दरबार मे उपस्थित हुआ। उनका मूल्य इतना अधिक था, कि श्रेणिक ने उनका क्रय करने से इन्कार कर दिया। व्यापारी घूमता-घामता एक दिन शालिभद्र की हवेली पर आ पहुँचा। भद्रा सेठानी ने मुँह-माँगा द्रव्य दे कर वे रत्न-कम्बल खरीद लिये। योगात् एक दिन चेलना देवी ने महाराज से कहा 'मुझे एक रत्न-कम्बल चाहिये।' राजा ने तुरन्त हस द्वीप के रत्न-श्रेष्ठी को बुलवा भेजा। श्रेष्ठी ने कहा, अब वे रत्न-कम्बल कहाँ! भद्रा सेठानी ने सारे ही तो खरीद लिये। ओ, तो राजगृही मे ऐसी भी कोई धन-लक्ष्मी है, जिसने वे सारे रत्न-कम्बल खरीद लिये, जिन्हे स्वयम् मगधनाथ भी न खरीद सका! आश्चर्य! राजा ने तुरन्त एक दूत को सेठानी की हवेली भेजा, कि जो माँगे मूल्य देकर एक रत्न-कम्बल ले आये। भद्रा ने कहा 'उन सारे रत्न-कम्बलो के टुकडे कर मैने अपनी पुत्र-वधुओ को पैर पोछने के लिये दे दिये है। यदि उन जीर्ण कम्बलो मे काम चल जाये, तो महाराज से पूछ आओ, और ले जाओ। मूल्य उनका हो ही क्या सकता है। शालिभद्र के भोग्य पदार्थ का मूल्य कौन चुका सकता है!'

कौन है यह शालिभद्र, जिसके भोग और ऐश्वर्य ने सर्वभोक्ता श्रेणिक की सामर्थ्य को भी परास्त कर दिया? राजा ने सन्देश भेजा कि शालिभद्र आ कर उनसे मिले। वे उस लोकोत्तर युवा को देखना चाहते है। तब भद्रा सेठानी ने स्वयम् आ कर महाराज से नम्र निवेदन किया कि 'देव, मेरा पुत्र तो बाहरी सूर्य का उजाला देखता नही। बरसो हो गये, वह धरती पर चला नही। सो वह तो आ सकता नही। कृपा कर महाराज स्वयम् ही हमारे महल पधारे और शालिभद्र को अपने दर्शन से कृतार्थ करे।'

श्रेणिक अपनी जिज्ञासा को टाल न सके। वे नियत समय पर भद्रा के 'इन्द्रनील प्रासाद' मे मेहमान हुए। वहाँ का स्वप्न-वैभव देख कर वे अवाक् रह गये। मानो अच्युत स्वर्ग के कल्प-विमान मे आ बैठे हो। ऐसा अपार ऐश्वर्य, कि उसमे रमते ही मन विरम जाये, विश्रब्ध हो जाये। प्रासाद के चौथे खण्ड मे सम्राट एक हस-रत्न के सिंहासन पर आसीन हुए। नाना प्रकार से,

नाना भोग-द्रव्यो द्वारा उनका आतिथ्य किया गया। देवांगनाओ-सी सुन्दर दासियाँ उन पर विजन डुलाती रहीं।

तब भद्रा सेठानी ने सप्तम खण्ड पर जा कर शालिभद्र से कहा 'बेटा, सागर-मेखलित पृथ्वी के अधीश्वर सम्राट श्रेणिक स्वयम् तुझ से मिलने आये है। चतुर्थ खण्ड मे विराजित वे तेरी प्रतीक्षा मे है। जिस श्रेणिक को देखने को सारा जगत् उत्सुक रहता है, वही श्रेणिक आज तुझे देखने को उत्सुक है!' शालिकुमार शून्य ताकता रह गया। वह कुछ समझ न सका।

'श्रेणिक ? यह कौन पदार्थ है, माँ ? जानती तो हो, मैं तो कोई क्रय-विक्रय करता नही। तुम्ही सब देखती हो। तुम्हारे काम का हो यह पदार्थ, तो जो माँगे दाम दे कर ले लो!'

भद्रा सेठानी हँस पडी। आस-पास घिरी वधुएँ भी एक-दूसरी से गुँथ कर, हँस-हँस कर लाल हो गईं। भद्रा ने कहा

'श्रेणिक पदार्थ नही है, बेटा। वे तो चक्रवर्ती राजा है। वे तो हम सब प्रजाओ के स्वामी है। वे मेरे भी स्वामी है, तेरे भी स्वामी है।'

'मेरा भी कोई स्वामी है, माँ ?'

'हाँ, बेटा राजा तो सब का स्वामी है, तो तेरा भी है ही!'

'तो मेरे ऊपर भी कोई है इस जगत् मे ?'

'राजा तो सब के ऊपर है, तो तेरे ऊपर भी है ही!'

'तो मैं स्वाधीन नही ?'

'स्वाधीन यहाँ कौन है ? हर एक के ऊपर कोई है।'

'तो मैं किसी के अधीन हूँ ?'

'अधीन यहाँ कौन नही ? हम सब परस्पर के अधीन है!'

'तो मैं स्वतंत्र नही ?'

'स्वतंत्र यहाँ कौन है ? ये तेरी बत्तीस अगनाएँ, क्या ये तेरे अधीन नही ? और क्या तू इनके अधीन नही ? क्या तू इनके वशीभूत नही ?'

'ओ, तो मैं यहाँ बन्दी हूँ, मै कारागार मे हूँ। मैं स्वाधीन नही ? मै स्वतंत्र नही ? मेरा भी कोई स्वामी है ? मेरे ऊपर भी कोई है ? हम सब एक-दूसरे के दास है ? हम सब एक-दूसरे के बन्धन हैं ? हम सब परस्पर की बेडियाँ है ?'

भद्रा सेठानी और उसकी सारी पुत्र-वधुएँ शालिभद्र के उस विक्रान्त उत्क्रान्त रूप को देख कर भयभीत हो गई। मानो कि यह उद्यत पुरुष इसी क्षण सब कुछ को ध्वस्त कर के भाग निकलेगा। एकाएक शालिकुमार मे संवेग जागृत हो उठा। वह बोला

'जहाँ मेरा भी कोई स्वामी है, जहाँ मेरे ऊपर भी कोई है, जहाँ कोई भी स्वाधीन नहीं, जहाँ हम सब एक-दूसरे के बन्दी है, उस लोक मे अब मैं नही ठहर सकता ! '

कह कर शालिभद्र कुमार, हठात् वहाँ से पलायमान हो गया। किसी की हिम्मत न हुई कि उस प्रभजन को रोक सके। देखते-देखते वह किसी विदेशी विहगम की तरह, सब की आँखो और पकड से परे, जाने किन आसमानो मे उड निकला। सेठानी का सारा परिकर उसकी खोज मे निकल पडा। लेकिन शालिभद्र ऐसा चम्पत हुआ, कि दूर-दूर तक उसका कोई पता-निशान ही न मिल सका।

'इन्द्रनील प्रासाद' के विस्तृन उद्यान के पश्चिमी छोर पर, प्राकृतिक वन-भूमि है। गोभद्र श्रेष्ठी ने वैभार पर्वत की एक गुफा कटवा कर मँगवा ली थी, और उसे इस वनखण्डी मे स्थापित करवा दिया था। भूमि से जुड कर वह प्राकृतिक ही लगती थी। गोभद्र श्रेष्ठी भावज्ञानी था। उसमे आत्मा की कविता स्फुरित थी। उसे कल्पना हुई, कि वैभार गिरि की गुफा उसके उद्यान मे आये, और वह उसमे ध्यान-साधन करे। कौन जाने कभी योगीश्वर महावीर ने ही उसमे कायोत्सर्ग ध्यान किया हो! उसका सपना सिद्ध हुआ, गुफा का नाम रख दिया—'चिन्मय गुहा।'

उस दिन शालिभद्र भाग कर और कही न गया था, इस 'चिन्मय गुहा' मे ही जा घुसा था। भद्रा सेठानी के अनुचर योजनो तक शालि को खोज आये थे, घर-उद्यान का कोना-कोना छान मारा था। लेकिन इस गुहा के अन्धकार मे प्रवेश करने की उनकी हिम्मत न हो सकी थी। और भला जो साँकल तुडा कर भागा है, वह इस गुहा मे क्यो छुपेगा? लेकिन बचपन से ही शालिकुमार इस गुहा से आकृष्ट था। अपने अन्तर्मुखी भाविक पिता को उसने इस गुहा के अन्धकार मे प्राय ध्यानस्थ देखा था। तब से इस कन्दरा का गोपन एकान्त उसे बेतहाशा खीचता रहता था। सो उस दिन इसी गुहा मे घुस कर, वह इसके तमाम अँधेरो का भेदन करता हुआ, इसके पार निकल जाने का चरम सघर्ष कर रहा था।

चलते-चलते गुफा के भीतर एक और अन्तर्गुफा सामने आयी। उसमे एक निरावरण पुरुष, प्रतिमा-योगासन मे ध्यानस्थ बैठा था। वह अपनी ही आन्तर विभा से भास्वर था। उसकी पृष्ठभूमि मे एक अथाह नील शून्य था। शालिभद्र अवाक्, विमुग्ध देखता ही रह गया। उसके हृदय की व्यथा से अनुकम्पित हो कर धर्मघोष मुनि समाधि से बाहर आये। उनकी प्रशम रस से विजडित दृष्टि को देख, शालिभद्र को किसी अननुभूत सुख का रोमाच हो आया। मुनि ने उसकी ओर सस्मित निहारा। और शालिभद्र से पूछते ही बना

'क्या करने से राजा का स्वामित्व न सहना पडे, देव?'

'मेरे जैसा ही नग-निहग हो जा, तो दिग्विजयी चक्रवर्ती का शासन भी तुझ पर नही चल सकता!'

'तो इसी क्षण मुझे अपने जैसा बना ले, भगवदार्य!'

'भाग कर जायेगा रे? व्यथा तेरी ही नही, तेरी माँ और तेरी स्त्रियो की भी तो है। ग्रथि तोड कर नही, खोल कर ही निहग हो सकेगा। अपना भोग्य भोग कर आ, ऋणानुबन्ध पूरे हुए बिना निस्तार नही।'

'मैं अब क्षण भर भी बँध और बाँध नही सकता,' स्वामिन्!

'न बँधने और न बाँधने का अहम् जब तक शेष है, तब तक तू स्वतत्र कहाँ? अपनी स्वतत्रता के लिये अब भी तू औरो पर निर्भर है रे। औरो को लेने या त्यागने वाला तू कौन? वह सत्ता तेरी है क्या? पर को त्यागने का दम्भ करके, तू मुक्त होना चाहता है?'

'तो क्या आज्ञा है, देव?'

'अपने महल मे लौट जा, अपनी माँ और अगनाओ के पास लौट जा। उनसे अपनी अन्तर-व्यथा का निवेदन कर। उनकी व्यथा का समवेदन कर, उससे अनुकम्पित हो, उनके प्रति समर्पित हो कर रह जा। वे तुझे निर्ग्रंथ कर देगी। माँ की जाति है रे, जो गाँठ बाँधती है, खोलना भी केवल वही जानती है!'

और एक दिन अप्रत्याशित ही शालिभद्र शान्त मौन भाव से महल मे लौट आया। उस दिन सारा अवसन्न महल अचानक उत्सव के आनन्द मे मगन हो गया। यथा प्रसग शालिकुमार ने माँ और पत्नियो का क्रमश अपनी पुकार कह सुनाई। माँ की आँखे हर्ष के आँसुओ से भर आई। बोली 'जनम के ही योगी रहे तेरे बापू, बेटे। उन्ही के तेजाश ने तो मेरी कोख भरी थी एक दिन। योगी का वीर्य नीचे कैसे आ सकता है, ऊपर ही तो जायेगा!'—कह कर माँ ने मौन-मौन ही नयन भर कर अनुमति दे दी। अनन्तर हर रात शालिभद्र अनुक्रम से अपनी प्रत्येक पत्नी के साथ बिताने लगा। सबेरे उठ कर हर पत्नी, अपने स्वामी के मुक्तिकाम को समर्पित हो जाती। हर सबेरे वह एक और रमणी, एक और शैया से उत्तीर्ण हो जाता।

हर पत्नी अपने पति के इस सर्वजयी पौरुष के प्रति नि शेष समर्पित होती गयी। सब की निगाहे उस महापथ पर लगी थी, जिस पर एक दिन उनका प्राणनाथ प्रयाण करता दिखायी पडेगा। और फिर वे भी तो उसी के चरण-चिह्नो पर चल पडेगी!

○ ○ ○

राजगृही का धन्य श्रेष्ठी नवकोटि हिरण्य का स्वामी था। वह शालिभद्र की छोटी बहन विपाशा का पति था, सो उसका बहनोई था। दोनो मे परस्पर

बड़ी प्रगाढ़ मैत्री थी। विपाशा अपने भाई के गृह-त्याग की तैयारी से बहुत उदास और शोकमग्न रहने लगी थी। गर्व भी कम न था, कि उसका भाई महाप्रस्थान के पथ पर आरोहण करेगा। लेकिन नारी हो कर ममता के आँसुओं की राह ही तो वह अपने भाई को मोक्ष-यात्रा का श्रीफल भेंट कर सकती थी। शालिभद्र की माँ और पत्नियाँ भी तो, आठो याम ममता के अश्रुफूल बरसा कर ही उसे समता के सिंहासन पर चढ़ने को भेज रही थी।

उस दिन अपने पति धन्य श्रेष्ठी को नहलाते हुए, विपाशा की आँख से एक आँसू सहसा ही धन्य के चेहरे पर टपक पड़ा। विनोदी धन्य ने मज़ाक किया 'आज मुझ पर ऐसा प्यार उमड़ आया, कि अश्रुजल से नहला रही हो?' विपाशा चुप ही रही। तो चपल धन्य श्रेष्ठी ने फिर उसे छेड़ा: 'अरे विपाशा, ऐसी भी क्या रूठ गयी, ज़रा से मज़ाक पर!' विपाशा भरे गले से बोली 'तुम्हे तो हर समय मजाक ही सूझता रहता है। मेरा भाई हर दिन एक और शैया, एक और स्त्री त्याग कर जोगी होने जा रहा है, और तुम्हे कुछ होश ही नही?' धन्य और ज़ोर से खिलखिलाकर बोला

'अरे खूब होश है, विपाशा। तेरा भाई हीन सत्व है, असमर्थ है, कि बत्तीस परमा सुन्दरियों का अन्तःपुर त्याग कर, जंगल की धूल फाँकने जा रहा है! छि यह कायरता है। यह नपुंसकता नही, तो और क्या है?'

यह सुन कर विपाशा तो एक गहरे मर्माघात से विजड़ित और मूक हो रही। पर उसकी अन्य स्त्रियो ने परिहास मे अपने पति धन्य को ताना मारा

'हे नाथ, यदि आप ऐसे महासत्व और शूरमा है, तो हम भी देखे आपका पौरुष! है हिम्मत, कि आप भी हमे त्याग कर आरण्यक हो जाये!'

शालिभद्र ने भी लीला-चंचल हँसी हँस कर ही तपाक् से कहा

'साधु साधु, मेरी पतिव्रताओ! तुम धन्य हो, तुम मेरी सतियाँ हो। तुमने मेरे मोक्ष-कपाट की अर्गला खोल दी। यो भी शालिकुमार से वियुक्त होकर, मैं भला क्या इस घर मे रहने वाला था। सोच ही रहा था, कैसे तुम्हारे मायापाश से मुक्ति मिले। लेकिन मेरा अहोभाग्य, कि तुमने स्वयम् ही काट दिये मेरे बन्धन। 'मैं चला देवियो, लोकाग्र के तट पर फिर मिलेंगे!' कह कर धन्य उठ खड़ा हुआ।

स्त्रियो ने रो-रो कर उससे अनुनय की, कि 'वह तो हमने निपट विनोद मे ही कह दिया था उससे भला इतना बुरा मान गये? नही, हम भी पीछे न छूटेंगी। तुम्हारी सतियाँ होकर तुम्हारा सहगमन ही करेंगी। तुम जिस जंगल मे विचरोगे, हम उसकी धूल होकर तुम्हारे चरणो मे लोटती रहेंगी।'—धन्य बोला 'धूल हो कर क्यो रहोगी, चाहो तो अपने ही सौन्दर्य का फूल हो कर रहना!'

कह कर धन्य श्रेष्ठी उस अर्द्ध-स्नात, अर्द्ध-वसन अवस्था मे ही वैभारगिरि की ओर प्रयाण कर गये। और उनकी तमाम पत्नियाँ भी अपने मणि-कंकण और रत्न-मुक्ताहार राहगीरो को लुटाती हुई, उनका अनुगमन कर गईं।

उधर 'इन्द्रनील प्रासाद' मे बत्तीसवी रात का प्रभात हुआ। अन्तिम शैया, और अन्तिम रमणी भी पीछे छूट गयी। शालिभद्र महापन्थ की पुकार पर निकल पडा। द्वार पर माँ भद्रा, और बत्तीस अगनाएँ निरुपाय ताकती रह गयी। देखते-देखते शालिभद्र दृष्टिपथ से ओझल हो गया।

'क्षण मात्र मे ही सारी पृथ्वी घूम गयी। उसकी एक और परिक्रमा पूरी हो गयी। उसके चारो ओर सूर्य की एक और प्रदक्षिणा भी पूरी हो गयी। द्वार पर खडी स्त्रियाँ भी फिर महल मे न लौट सकी। वे भी अपनी-अपनी अलक्ष्य राह पर निकल पडी, उसी एक लक्ष्य पर जा पहुँचने के लिये।

○ ○ ○

वैभार गिरि पर श्री भगवान् का समवसरण विराजमान है। श्रीमण्डप मे एक ओर खडा है धन्य श्रेष्ठी। और जाने कितनी स्त्रियाँ उसके पीछे खडी है। वे यहाँ मोक्ष लेने नही आयी, अपनी प्रीति को अनन्त करने आयी है!

दूसरी ओर खडा है शालिभद्र, ठीक श्री भगवान् के सम्मुख निर्भीक मस्तक उठाये। और उसके पीछे खडी है भद्रा-माँ, और बत्तीस नवोढाएँ। वे एक और ही नवीन परिणय की प्रतीक्षा मे है। श्री भगवान् चुप हैं। हठात् वह स्तब्धता भग हुई। शालिभद्र का अन्तिम अहम् तीर की तरह छूट कर मुखर हो उठा

'देखता हूँ, यहाँ भी मेरी वेदना का उत्तर नही है। यहाँ भी तो मेरे ऊपर एक त्रिलोकीनाथ बैठा है। यहाँ भी तो मेरे ऊपर एक स्वामी है। मैं अर्हत् के राज्य मे भी स्वतत्र नही?'

'अरे अन्त तक अन्य को देख कर ही जियेगा रे शालिभद्र, अपने को नही देखेगा? अन्त तक पर को देख कर ही अपना मूल्य आँकेगा? अपने को देख और जान कि ऊपर है या नीचे है। देख देख देख!'

शालिभद्र एकाग्र भगवान् की आँखो मे आँखे डाले रहा। और फिर प्रभु का अगाध स्वर सुनाई पडा

'देख, तू मेरे ऊपर बैठा है, शालिभद्र! देख, तू त्रिलोकीनाथ के तीन छत्र के ऊपर बैठा है। तू अशोक वृक्ष के भी ऊपर, अधर मे आसीन है!'

और शालिभद्र ने खुली आँखो देखा सचमुच ही वह लोकालोक के छत्रपति के मस्तक पर आरूढ है।

'देख, देख शालिभद्र, तू लोकाग्र पर बैठा है, और तू लोकतल के अन्तिम वातवलय मे खोया जा रहा है। तू इसी क्षण सब से ऊपर है, तू इसी क्षण सर्व के चरण तले पड़ा है! '

'यह क्या देख रहा हूँ, भन्ते त्रिलोकीनाथ। मैं ऊपर भी नही हूँ, नीचे भी नही हूँ। आगे भी नही हूँ, पीछे भी नही हूँ। मैं इसी क्षण अपने स्व-समय मे, अपने स्व-द्रव्य मे स्वतन्त्र खेल रहा हूँ!'

'तेरे चरम अहम् का आवरण छिन्न हो गया। तेरा अन्तिम अहकार टूट गया। तू अर्हत् का आप्त हुआ, शालिभद्र! तू स्वयम् का नाथ हो कर, सर्व का नाथ हो गया। तेरी जय हो!'

और वे कितनी सारी ममताली स्त्रियाँ, प्रभु के उस अनगजयी मुख की माहिनी मे बेसुध हो रही। नारी होकर, वे तो जन्मना ही समर्पिताएँ थी। अहकार वे क्या जाने, मिटने के लिये ही मानो वे जन्मी है। प्रभु की तत्व-वाणी वे न समझी। केवल उस श्रीमुख की मोहिनी मे विद्ध होकर, वे उसे समर्पित हो गई, जो उनके असीम समर्पण को झेलने मे एक मात्र समर्थ पुरुष है। उन्हे अपना परम प्रीतम मिल गया। वह, जो एक ही क्षण मे शालिभद्र भी है, धन्य भी, महावीर भी है।

यहाँ पुरुष स्त्री के अस्तित्व की शर्त नही। स्त्री पुरुष के अस्तित्व की शर्त नही। कोई किसी के ऊपर या नीचे नही। सब यहाँ समकक्ष हैं, वे परस्पर के पूरक है, प्रेरक है। परस्पर के कर्ता, धर्ता, हर्ता नही। समर्पण के इस राज्य मे, स्त्री, पुरुष, शूद्र, दास, सम्पन्न-विपन्न, राजा-प्रजा--कोई किसी के होने की अनिवार्यता नही।

तभी सम्मुख प्रस्तुत स्त्रियों को सम्बोधन किया प्रभु ने

'माँओ, तुम अपने भाव से ही कृतार्थ हो गयी। तुम्हारा समर्पण ही तुम्हारा मोक्ष हो रहा। तुमने शाश्वत काल मे कितने ही गोभद्रो, कितने ही शालिभद्रो और कितने ही धन्यो को स्वयम् जन्म दे कर, जन्म-मरण के पार पहुँचा दिया। मातृजाति के इस ऋण से महावीर कभी उऋण न हो सकेगा!'

कितने सारे पुरुष और कितनी सारी स्त्रियाँ, प्रभु के पाद-प्रान्तर मे, अपनी ही सत्ता मे स्वतत्र विचरते दिखायी पडे। कोई किसी का स्वामी नही, दास नही। कोई किसी के ऊपर नही, नीचे नही।

वे सब किसी अगमगामी महापथ के विहगम सहचारी है। ☐

२१

# प्रभु का रूप भी अक्षय नहीं ?

सुर और असुर द्वारा समान रूप से सेवित श्री भगवान् पृष्ठा-चम्पा नगरी पधारे। वहाँ का राजा साल और उसका युवराज महासाल प्रभु के वन्दन को आये। धर्म-देशना सुनी। सहसा ही वे उन्मन हो गये। अरूप निरंजन के इस सौन्दर्य-राज्य से लौटना उनके लिये सम्भव न रहा। वह रूप देख लिया, कि जिसके बाद और कुछ देखने की इच्छा ही न रही।

सालराज का एक भाजा था गागली। वह उनकी इकलौती बेटी यशोमती और उनके जमाई पिठर का एकमात्र पुत्र था। अपने सिंहासन पर उसी का राज्याभिषेक कर के, साल और महासाल प्रभु के परिव्राजक हो गये। कालान्तर मे विहार करते हुए प्रभु चम्पा मे समवसरित हुए। भगवन्त की आज्ञा लेकर श्रीगुरु गौतम, साल और महासाल के साथ पृष्ठ-चम्पा गये। कही से कोई आवाहन तो था ही।

पृष्ठ-चम्पा मे राजा गागली ने बड़े भक्ति-भाव से प्रभुपाद गौतम का वन्दन-पूजन किया। सारे पौरजन भी गुरु के दर्शन-वन्दन को आये। यशोमती और पिठर भी श्रीगुरु चरणो मे प्रणत हो, उनके सम्मुख ही बैठ गये। उनके बीच बैठा था गागली। देवोपनीत सुवर्ण-कमल पर आसीन हो देवार्य गौतम ने धर्म-वाणी सुनाई। सुन कर यशोमती, पिठर और गागली को लगा कि— उनके भीतर सदा-वसन्त फलो के वन है और बाहर के संसार मे पतझर ही पतझर है। भीतर का रति-सुख इतना सघन लगा कि बाहर से मन आपो-आप ही विरत हो गया। पृष्ठा-चम्पा का राज्य प्रजा को अर्पित कर, राजा गागली माता-पिता सहित श्रीगुरु गौतम के पदानुगामी हो गये।

साल, महासाल, गागली, यशोमती और पिठर—ये पाँचो चम्पा के मार्ग पर गुरु गौतम के पद-चिह्नो का अनुसरण करते हुए चुपचाप विहार कर रहे है। उन पाँचो की चेतना इस समय एक ही महाभाव मे एकत्र और सम्वादी है। उन्हे हठात् लगा, कि भीतर एक ऐसा आलोकन है, कि बाहर का अवलोकन अनावश्यक हो गया है। सहसा ही वे निरीह हो आये। वे एक ऐसे अन्तर-सुख मे मगन हो गये, कि उन्हें कैवल्य और मोक्ष की भी कामना न रही। चाह मात्र एक चिन्मय लौ हो रही।

चम्पा पहुँच कर अपने पाँचो शिष्यो सहित श्रीगुरु गौतम समवसरण मे यो आते दिखायी पड़े, जैसे वे पांच सूर्यो के बीच खिले एक सहस्रार कमल की तरह

चल रहे हैं। पाँचो शिष्यो ने गुरु को प्रणाम कर, आदेश चाहा। गौतम उन्हें श्रीमण्डप मे प्रभु के समक्ष लिवा ले गये। फिर आदेश दिया कि

'आयुष्यमान् मुमुक्षुओ, श्री भगवान् का वन्दन करो ?'

वे पाँचो गुरु-आज्ञा पालन को उद्यत हुए, कि हठात् शास्ता महावीर की वर्जना सुनाई पडी .

'केवली की आशातना न करो, गौतम। ये पाँचो केवलज्ञानी अर्हन्त हो गये है। अर्हन्त, अर्हन्त का वन्दन नही करते।'

तत्काल गौतम ने अपने अज्ञान का निवेदन कर, अपने पाँचो शिष्यो से क्षमा-याचना की।

O O O

· गौतम का मन खिन्न हो गया। मेरे मुख से प्रभु की धर्म-प्रज्ञप्ति सुन-कर इन पाँचो आत्माओ ने क्षण मात्र मे कैवल्य-लाभ कर लिया। पर मैं स्वयम् कोरा ही रह गया। शिष्य गुरु हो गये, गुरु को शिष्य हो जाना पडा। उसे शिष्यो के प्रति प्रणत हो जाना पडा। गौतम का मन गहरी व्यथा से विजडित हो गया। प्रभु के अनन्य प्रिय पात्र और पट्टगणधर हो कर भी, वर्षों प्रभु के साथ तदाकार विहार करते हुए भी, अर्हत् की कैवल्य-कृपा उन्हे प्राप्त न हो सकी ? और इस बीच कई आत्माएँ प्रभु के समीप आकर अर्हन्त पद को प्राप्त हो गयी। · 'क्या मुझे कभी केवलज्ञान प्राप्त न होगा ? क्या मुझे इस भव मे सिद्धि नहीं मिलेगी ?'

गौतम को अचानक याद आया, बहुत पहले उन्हें एक देववाणी सुनाई पडी थी। उसमे कहा गया था कि 'एक बार अर्हन्त भगवन्त ने अपनी देशना में कहा था—कि कोई व्यक्ति यदि अपनी लब्धि के बल अष्टापद पर्वत पर जा कर, वहाँ विराजमान जिनेश्वरो को नमन करे, और वहाँ एक रात्रि वास करे, तो उसे इसी जन्म मे सिद्धि प्राप्त हो सकती है।'

· त्रिलोक-गुरु महावीर स्वयम्, गौतम के एकमेव श्रीगुरु हैं। उनके होते वह देववाणी, और अष्टापद-यात्रा ? ऐसी बात वह प्रभु से कैसे पूछे ? गौतम अन्यमनस्क और उदास हो गये। वे बडी उलझन मे पड गये। श्री भगवन्त ने उनकी पीडा को देख लिया। तत्काल आदेश दिया

'देवानुप्रिय गौतम, अष्टापद पर्वत पर जाओ। वहाँ से पुकार सुनाई पडी है। अर्हत् की कैवल्य-ज्योति का उस दुर्गम मे सवहन करो।'

गौतम की आँखो मे परा प्रीति के आँसू झलक आये। मेरे प्रभु कितने सम्वेदी है, वे मेरे हर मनोभाव मे मेरे साथ हैं। मेरे मन की हर साध बिन कहे ही पूर देते हैं।

प्रभु की पाद-वन्दना कर तत्काल श्रीपाद गौतम समवसरण से प्रस्थान कर गये। और चारण-ऋद्धि के सामर्थ्य से, वायुवेग के साथ गा कुछ समय मे ही अष्टापद पर्वत के समीप आ पहुँचे। उस काल, उस समय कौडिन्य, दत्त, शैवाल आदि पन्द्रह सौ तपस्वी, अष्टापद को मोक्ष का हेतु सुन कर, उस गिरि पर चढने का पराक्रम कर रहे थे। उनमे से पाँच सौ तपस्वी चतुर्थ तप करके आर्द्र कन्दादि का पारण करते हुए भी, अष्टापद की पहली मेखला तक ही आ सके थे। दूसरे पाँच सौ तापस छट्ठ तप (छह उपवास) करके मात्र सूखे कन्दादि का पारण करते हुए भी, उस गिरि की दूसरी मेखला तक ही पहुँच सके थे। तीसरे पाँच सौ तापस अट्ठम तप करके, सूखे शैवाल का पारण करते हुए भी, तीसरी मेखला से आगे न जा सके थे। इससे अधिक तपस्या की सामर्थ्य न होने से, वे इन तीन मेखलाओ मे ही रुके पडे थे। उनके मन में प्रश्न था कि क्या केवल तपस्या से ही चूडान्त पर पहुँचा जा सकता है? उनमे बोध-सा जाग रहा था, कि कोरा कायक्लेश मोक्षलाभ नही करा सकता।

तभी उन्होने अचानक देखा, कि तप्त सुवर्ण के समान कान्तिमान, एक पुष्ट काय महाशाल पुरुष वहाँ आकर पर्वतपाद मे उपविष्ट हुए है। पर्वत के समक्ष वे कायोत्सर्ग मे लीन हो गये है। उन्हे अष्टापद पर चढने को उद्यत देख, वे तापस परस्पर कहने लगे, हम कृषकाय हो कर भी तीसरी मेखला से आगे न जा सके, तो ये विपुल शरीर महाकाय पुरुष कैसे ऊपर चढ सकेंगे? वे कौतूहल-प्रश्न ही करते रहे, और उधर गौतम न जाने कब उस महागिरि पर चढ गये, और देव के समान उनकी आँखो से अदृश्य हो गये। तब उन सब को निश्चय हो गया, कि इन महर्षि के पास कोई महाशक्ति है। सो उन्होने निर्णय किया कि जब ये महापुरुष लौट कर नीचे आयेंगे, तब हम सब इनको गुरु रूप मे स्वीकार कर, इनका शिष्यत्व ग्रहण कर लेंगे। और वे, पर्वत-चूल पर एकाग्र ध्यान लगाये गौतम की प्रतीक्षा करने लगे।

उधर गौतम लब्धि बल से, क्षण मात्र मे ही अष्टापद पर्वत की चूडा पर जा पहुँचे थे। वहाँ उन्होने शाश्वत विद्यमान चोबीस तीर्थंकरो के अकृत्रिम और आकाशगामी, उत्तान खडे दिव्य बिम्बो का बडे भक्ति-भाव से वन्दन किया। उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो नन्दीश्वर द्वीप के भरतेश्वर द्वारा बनवाये हुए चैत्य मे उन्होने प्रवेश किया हो। चैत्य मे से निकल कर गौतम एक विशाल अशोक वृक्ष के नीचे बिराजमान दिखायी पडे। वहाँ अनेक सुरो, असुरो और विद्याधरो ने उनकी वन्दना की। गौतम ने उनके योग्य धर्म-देशना उन्हें सुनायी, जिससे उनके कई चिरन्तन प्रश्नो का समाधान हो गया। वहाँ एक रात्रि परम ध्यान मे निर्गमन करके, प्रात काल वे पर्वत से उपत्यका मे उतर आये।

**तब वे सारे तापस प्रभुपाद गौतम के समीप उपनिषत् हुए। गौतम ने स्वयम् ही उन तापसो की जिज्ञासा जान ली। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की महिमा का प्रतिबोध दे कर गौतम बोले.**

'परम कल्याणवरेषु तापसो, देह की स्थूलता और क्षीणता चेतना के ऊर्ध्वगमन की निर्णायक नही। साधक श्रमण की आत्म-शक्ति के विकास पर ही यह निर्भर करता है। आत्मजयी अर्हत् देह मे विद्यमान हो कर भी, देहातीत विचरते है। चारित्र्य-शुद्धि के कारण भावलिंगी यतियो की चेतना मे जब महाभाव आलोकित हो उठता है, तो उनके निकट ऐसी दैवी ऋद्धियाँ स्वत सहज प्रकट हो उठती हैं, जो मानुषी अवस्था मे सम्भव नही। ये ऋद्धियाँ और लब्धियाँ उन मुनि भगवन्तो का काम्य नही, लक्ष्य नही, प्रयोजन नही। वे आप ही मानो उनकी चरण-चेरियाँ हो कर, उनकी सेवा मे उपस्थित रहती है। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण हेतु कभी-कभी वे स्वयम् ही मुनीश्वर की सहायक हो जाती है। अणिमा और महिमा ऋद्धि पल मात्र मे देह को लघु या गुरु कर देती है। तब चैतन्य के ऊर्ध्व आरोहण मे देह दासी की तरह अनुगमन कर जाती है। मैं खेल-खेल मे ही कैसे इस महागिरि पर चढ कर उतर आया, यही तो तुम्हारी जिज्ञासा थी?'

'हे भदन्त महाश्रमण, आप अन्तर्ज्ञानी है। आप हमारे तन-मन के स्वामी हैं। हमे कुछ और भी प्रतिबुद्ध करे। श्रमण भगवन्तो को सहज सुलभ ऋद्धियो के कुछ प्रकार और स्वरूप हमारे लिये आलोकित करे।'

'अणु मात्र शरीर करने की सामर्थ्य, अणिमा-ऋद्धि है। मेरु से भी महत्तर शरीर करने की सामर्थ्य, महिमा-ऋद्धि है। पवन से भी हलका शरीर करने की सामर्थ्य, लघिमा-ऋद्धि है। वज्र से भी भारी शरीर करने की सामर्थ्य, गरिमा-ऋद्धि है। भूमि पर बैठ कर उँगली के अग्रभाग से मेरु पर्वत के शिखर तथा सूर्य-चन्द्र के विमान को स्पर्श करने की सामर्थ्य, प्राप्ति-ऋद्धि है। जल पर भूमि की तरह, तथा भूमि पर जल की तरह गमन करने की सामर्थ्य, और धरती का निमज्जन तथा उन्मज्जन करने की सामर्थ्य, प्राकाम्य-ऋद्धि है। त्रैलोक्य का प्रभुत्व प्रकट करने की सामर्थ्य, ईशत्व-ऋद्धि है। देव, दानव, मनुष्य आदि सर्व जीवो को वश करने की सामर्थ्य, वशित्व-ऋद्धि है। पर्वतो के बीच आकाश की तरह गमनागमन करने की शक्ति, और आकाश मे पर्वतारोहण की तरह गमनागमन करने की सामर्थ्य, अप्रतिघात-ऋद्धि है। अन्तर्धान होने की सामर्थ्य, अन्तर्धान-ऋद्धि है। युगपत् (एक साथ) अनेक आकार रूप शरीर करने की सामर्थ्य, कामरूपित्व-ऋद्धि है। ऐसी अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ स्वत ही योगी के अधीन हो रहती हैं।'

**श्रीपाद गौतम के ऐसे वचन सुन कर, पन्द्रह सौ तापस चकित निःशब्द, निर्मन-से हो रहे। फिर उन्होंने एक स्वर में निवेदन किया:**

'हे महायतिन्, हम सब श्रीचरणो मे समर्पित हैं। आप हमारे एकमेव श्रीगुरु हो जायें, और हमे अपने शिष्य रूप मे ग्रहण करें।'

'सुनो तापसो, इस समय पृथ्वी पर एकमेव श्रीगुरु हैं, गुरुणागुरु सर्वज्ञ अर्हन्त महावीर। मैं स्वयम् तो केवल उनका पादपीठ हूँ। समस्त लोकालोक के गुरु वही त्रिलोकपति भगवान् तुम्हारे एकमेव गुरु हो सकते हैं। चाहो तो मेरे सग उन प्रभु के जगत्-वन्द्य समवसरण मे चलो, और उन्हे श्रीगुरु के रूप मे प्राप्त करो।'

'हे महाभाव मुनीश्वर, पहले हमे भी अपने ही जैसा निर्ग्रंथ दिगम्बर बना लें। हमे जिनेश्वरी दीक्षा दे कर, अपने पदानुसरण के योग्य बना लें। तभी तो हम आपके अनुगमन के पात्र हो सकते हैं। तभी तो हम अर्हन्त महावीर की कृपा के भाजन हो सकते हैं।'

तापसो की प्रबल अभीप्सा और अटल आग्रह देख, श्रीगुरु गौतम प्रसन्न हुए। उन्होंने सहर्ष उन्हें यतिलिंग प्रदान किया। अदृष्य देव-शक्ति ने उन्हें पिच्छी-कमण्डल दान किये। फिर विन्ध्यगिरि मे जैसे यूथपति महाहस्ति के साथ दूसरे हाथी चलते हैं, वैसे ही भदन्त गौतम अपने पन्द्रह-सौ शिष्यो के साथ, श्रीभगवान् के समवसरण की दिशा मे प्रस्थान कर गये।

O O O

''भगवद्पाद गौतम को जाने क्या सूझा, कि उन्होने राजमार्ग छोड कर पथहीन अरण्य की राह पकडी। तापस नि शक हो कर अपने गुरु का अनुगमन करने लगे। जाने कब से वे दीर्घ और कठिन तपस्या कर रहे थे। गुरु-प्राप्ति के उल्लास से उन्हें एक अपूर्व और तीव्र भूख लग आयी। खूब प्यास भी लग रही थी। गौतम अपने शिष्यों की इस एषणा को जान गये। वे उनकी तितिक्षा की कसौटी करते रहे। शिष्य भूखे-प्यासे, देह की पुकार की अवहेलना कर, एकाग्र चित्त से श्रीगुरु के पीछे द्रुत पग चलते चले गये। गौतम को प्रत्यय हुआ कि ये तापस देहभाव से अनायास उत्तीर्ण हो रहे हैं। तभी अचानक एक स्थान पर रुक कर, श्रीगुरु गौतम ने आदेश दिया

'देवानुप्रियो, आहार की वेला हो गयी। स्थिर खड़े हो कर अपनी अजुलियाँ ऊपर उठाओ। आहार-जल प्रस्तुत है!'

वे पन्द्रह सौ श्रमण पहले तो सुन कर अवाक् रह गये। इस जनहीन जलहीन अरण्य मे आहार-जल कैसे? कहाँ प्रस्तुत है वह? कहाँ से आयेगा वह? अगले ही क्षण उनका प्रश्न और विकल्प जाने कहाँ विलीन हो गया। वे भीतर-बाहर निरे शून्य हो रहे। आपोआप ही वे नासाग्र पर दृष्टि स्थिर कर, ध्यानावस्थित हो गये।

'आयुष्यमन्, आहार जल ग्रहण करो!'

तापस उन्मग्न हो, पाणि-पात्र उठा कर आहार-जल ग्रहण करने को उद्यत हो गये। उन्होने देखा कि जाने कहाँ से उनकी अंजुलियो मे प्रासुक जलधारा बरसने लगी। वे ईप्सित जल पी कर शान्त हो गये। मानो प्यास सदा को बुझ गयी। कि तत्काल उनके उठे पाणि-पात्रो मे दिव्य केशर-सुरभित पयस् ढलने लगा। उन्होने जी भर कर सुमधुर पयस् का आहार किया। अहो, ऐसा मधुरान्न तो आज तक चखा न था। पार्थिव भोजनो मे ऐसा माधुर्य कहाँ? क्या इसी को अमृत कहते है? क्या हमने उसका प्राशन किया? और अचानक उन्होने ऐसी परितृप्ति अनुभव की, मानो उनकी भूख सदा को मिट गयी। तब आनन्द और आश्चर्य से गद्‌गद् हो तापसो ने श्रीगुरु से पूछा

'श्रीगुरुनाथ, यह सब कहाँ से? कैसे? और हमे यह क्या हो गया है?'

'परम मुमुक्षु तापसो, जानो कि अक्षीण महानस लब्धि तुम्हारी सेवा मे आ खडी हुई है। तुम कल्प-काम हुए, श्रमणो! तुम्हारा काम्य पानी और पयस् तुम्हारे ही भीतर से उदगीर्ण हो आया। तुम आत्मकाम हुए, आयुष्यमानो!'

और उन पन्द्रह सौ तापसो ने अनुभव किया कि जैसे उनका शरीर अनायास परिमल की तरह हलका और व्याप्त हो चला है। भीतर के पोर-पोर मे शून्य उभर रहा है। बाहर भी सब कुछ मे एक विश्रब्ध शून्य गहराता जा रहा है। औचक ही उन सब को लगा, कि उनका 'मैं' विलुप्त हो गया है। प्रथम पुरुष भी नही, द्वितीय पुरुष भी नही, बस निरे पन्द्रह सौ तृतीय पुरुष, बिना किसी आयास या इच्छा के स्वत सचालित चले चल रहे है। कर्त्ता भी नही, भोक्ता भी नही, व्यक्ति भी नही। निरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य एकीभूत अनन्य अन्य पुरुष। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन एकाकार हो गये है। 'और हठात् उन सब को सम्वेदित हुआ कि, उनके भीतर जाने कितने सूर्यों की एक नदी-सी बह रही है।

परम मुहूर्त घटित हुआ। दत्त आदि पाँच-सौ तापसो को दूर से ही प्रभु के अष्ट प्रतिहार्य देख कर उज्ज्वल केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वैसे ही कौडिन्य आदि पाँच-सौ तापसो को दूर से ही सर्वज्ञ महावीर का दर्शन हो गया और निमिष मात्र मे वे कैवल्य से प्रभास्वर हो उठे। शुष्क शैवाल-भक्षी पाँच-सो तापसो को, प्रभु पर छाये अशोक वृक्ष की हरी छाया अनुभव कर कैवल्य लाभ हो गया।

○ ○ ○

समवसरण के श्रीमण्डप मे पहुँच कर देवार्य गौतम ने विधिवत् तीन प्रदक्षिणा दे कर, श्रीभगवान् का त्रिवार वन्दन किया। उनके पीछे खडे तापसों का देहभाव अनायास चला गया। वे वन्दना-प्रदक्षिणा से परे चले गये। वे कायोत्सर्ग मे लीन हो, निश्चल ध्रुवासीन हो रहे। और विप ल मात्र मे ही अर्हन्त महावीर के साथ तदाकार हो गये।

**तभी श्रीगुरु गौतम ने अपने पन्द्रह सौ तापस शिष्यों को आदेश दिया :**
'महाभाग तापसो, श्रीभगवान् की वन्दना करो!'

तत्काल प्रभु ने वर्जना का हाथ उठा कर निर्देश किया.

'केवली की आशातना न करो, आयुष्यमान् गौतम! केवली, केवली की वन्दना नही करते। ये पन्द्रह सौ तापस कैवल्य-लाभ कर अर्हन्त हो चुके हैं। अर्हन्त, अर्हन्त को प्रणाम नही करते, वे परस्पर को दर्पण होते है।'

सुन कर गौतम की सुप्त व्यथा फिर जाग उठी। धन्य हैं ये महात्मा! मेरे ही द्वारा प्रतिबोधित और दीक्षित मेरे ये पन्द्रह सौ शिष्य भी केवली हो गये? और मै स्वयम् निरा ठूंठ ही रह गया! प्रभु के निकटतम हो कर भी, मैं अब तक उनकी कैवल्य-कृपा न प्राप्त कर सका? निश्चय ही इस भव मे मुझे सिद्धि नही मिलेगी। तभी अचानक श्रीभगवान का स्वर सुनाई पडा :

'देवानुप्रिय गौतम, तीर्थंकर का वचन सत्य, कि देववाणी सत्य?'

'तीर्थकर का वचन सत्य, भगवन्?'

'महावीर तुम्हारे लिये कम पड़ गया? तुम्हें उसकी सामर्थ्य पर शका हुई? तुम देववाणी का आदेश मानकर, अष्टापद पर्वत पर गये। वहाँ कैवल्य मिला तुम्हे?'

**गौतम ने चाहा कि धरती फट पड़े, और वे उसमे समा जाये। चाहा कि, दौड़ कर प्रभु की गोद मे सर डाल रो पड़े। कि तत्काल सुनाई पड़ा.**

'महावीर की गोद मे सर डाल देने से कैवल्य मिल जायेगा? अपनी ही गोद में सर डालने को तुम्हारा जी नही चाहता न? क्यो कि तुम आप में नही, पर मे जी रहे हो। तुम महावीर के रूप में मोहित हो कर, उसी की मूर्च्छा मे जी रहे हो। महावीर की आत्मा से अधिक तुम्हे उसका शरीर प्रिय है। पर्याय पर ही अटके हो, पर्यायी को नही देखोगे? आवरण पर ही अनुरक्त हो रहे तुम, तो आवरण कैसे हटे, आत्म का दर्शन कैसे हो?'

गौतम के उस भव्य शान्त मुख-मण्डल पर आँसुओ की धाराएँ बँध गईं। उन्हें फिर सुनाई पड़ा

'सुनो गौतम, शिष्य पर गुरु का स्नेह कमल के हार्द मे स्वत स्फुरित पराग की तरह होता है, जो अनायास सर्वव्यापी हो जाता है। और गुरु पर शिष्य का ममत्व, तुम्हारी तरह ऊन की गुंथी चटाई जैसा सुदृढ और प्रगाढ होता है। चिरकाल के ससर्ग से, जन्मो के ऋणानुबन्ध से हम पर तुम्हारा मोह बहुत दृढ़ हो गया है। इसी से तुम्हारा केवलज्ञान रुंध गया है। जब तक यह पर भाव मे रमण है, जब तक यह भगुर रूप की आसक्ति है, तब तक अमर आत्म का दर्शन क्यो कर सम्भव है?'

'तो मैं प्रभु से दूर चला जाऊँ ? मैं प्रभु को भूल जाऊँ ?'

'हाँ, दूर चले जाना होगा, एक दिन। भूल जाना होगा, एक दिन। स्वयम् महावीर तुम्हें ठेल देगा, एक दिन । तब जानोगे, कि तुम कौन हो, मैं कौन हूँ ? कल्याणमस्तु, गौतम !'

प्रभु चुप हो गये। उनकी इस वज्र वाणी से सारे चराचर पसीज उठे। जीव मात्र गौतम के प्रति सहानुभूति से करुण-कातर हो आये।

गौतम को लगा कि प्रभु ने उन्हे लोकाग्र की सिद्धशिला पर से, लोक के पादमूल मे फेंक दिया है। देह का पिंजर भेद कर हंस, उस क्षण जाने किन चिदाकाशों मे यात्रित हो चला।

और उस उडान मे भी गौतम के मन मे एक ही भाव उभर रहा था 'ओह, मेरे प्रभु कितने सुन्दर हैं ? क्या तीर्थंकर महावीर का यह त्रिलोक-मोहन रूप भी नाशवान है ? नही, ऐसा नही हो सकता ! मैं काल को हरा दूंगा, और अर्हन्त के इस सौन्दर्य को एक-न-एक दिन अमर हो जाना पडेगा। मेरे लिये ! ' □

२२

# शिवोभूत्वा शिवम् यजेत्

अनुक्रम से विहार करते हुए प्रभु इस समय दशार्ण देश मे विचर रहे हैं। राजधानी है दशार्ण नगर। राजा है दशार्णभद्र। उस दिन सायकाल की राजसभा मे एक अजनवी चर-पुरुष अचानक आ कर हाजिर हुआ। उसने राजा को सन्देश दिया कि . कल प्रात काल आपके नगर के 'ईशान चैत्य' मे तीर्थंकर महावीर समवसरित होगे। सुन कर राजा के हर्ष और गौरव का पार न रहा। जैसे मेघ की गर्जना से विदुरगिरि मे रत्न के अकुर प्रस्फुटित होते है, वैसे ही दूत की यह वाणी सुन कर राजा के सारे शरीर मे हर्ष के रोमाच का कचुक उभर आया।

तत्काल राजा दशार्णभद्र ने सभा के समक्ष घोषित किया

'हम कल सबेरे ऐसी समृद्धि के साथ प्रभु के वन्दन को जायेगे, जैसी समृद्धि से पूर्व कभी किसी ने प्रभु की वन्दना न की होगी। मन्त्रियो, रातोरात हमारे राजमहालय से प्रभु के समवसरण तक, सारे राजमार्ग का ऐसा शृगार करो, कि कुबेर की अलका का वैभव भी उसे देख कर लज्जित हो जाये। हमारी सारी निधियो का नि शेष रत्न-काचन कल प्रभु की राह पर बिछा दो।'

आज्ञा दे कर, राजा तत्काल उसी हर्षावेग मे अपने अन्त पुर के सर्वोच्च खण्ड मे जा चढा। वातायन से, दूर तक चारो ओर फैली अपने राज्य की पृथ्वी को उसने सिह-मुद्रा से निहारा। उसे लगा, कि उससे बडा भूपेन्द्र इस समय भूतल पर कोई नही। 'ऐसा मैं, जब कल प्रात अपने समस्त वैभव के साथ त्रिलोकपति महावीर की वन्दना करूँगा, तो तीनो लोको का वैभव फीका पड जायेगा!' राजा को उस रात नीद न आयी। उसके मन मे उमगो के हजार-हजार फानूस उजलते चले गये। 'मै ऐसे वन्दना करूँगा, मैं वैसे वन्दना करूँगा। प्रभु मेरे ऐश्वर्य को खुली आँखो देखेंगे। वे मेरे रूप, राज्य और रनिवास की अनुपम विभा को एकटक निहारेंगे। वे मेरी भक्ति और वन्दना की अनोखी भगिमाओ को देख कर विभोर हो जायेंगे। वे मेरी प्रार्थना के आँसुओ से विगलित हो जायेंगे। मैं, मेरा राज्य, मेरी समृद्धि, मेरी श्री-सम्पदा, मेरा सौन्दर्य, मेरा विशाल व्यक्तित्व, मेरी रानियो का अतुल्य लावण्य! मेरी प्रार्थना के आँसू! मैं मेरा मैं मेरा मैं मेरा । और प्रभु? वे केवल 'मैं' और 'मेरा' के एकमेव दर्शक, एकमात्र साक्षी। केवल इसीलिये वे मेरे प्रभु

है, कि वे केवल मुझे निहारें, केवल मेरा प्रताप देखे।' ···और इसी आह्लाद में आलोड करते, करवटें बदलते, राजा ने अपलक ही सारी रात बिता दी।

ब्राह्म मुहूर्त में ही उठ कर, राजा और उसकी सारी रानियाँ स्नान-प्रसाधन मे व्यस्त हो गये। रानियों को आज्ञा हुई कि 'ऐसा शृंगार करो, कि कामागना रति भी लज्जित हो जाये। अप्सराएँ तुम्हारी पगतलियो की महावर हो जायें। स्वयम् त्रिलोकीनाथ तुम्हारे रूप और शृगार को निहारते रह जाये!'

उधर सबेरा होते ही नगर से समवसरण तक का सारा राजमार्ग, उत्सव के वाजित्रो और हर्ष-ध्वनियो से गूंजने लगा। राजपथ की रज पर कुकुम के जल छिडके गये हैं। राह की भूमि पर सर्वत्र फूलो के गालीचे बिछ गये हैं। फूलो के दरिये मे जैसे पृथ्वी डूब गयी है। पद-पद पर, सुवर्ण के स्तम्भो और द्वारो पर बहुरगी मणियो की बन्दनवारे झूल रही है। जगह-जगह सोने-चाँदी के घटो और पात्रो को परोपरि चुन कर, उनकी श्रेणियाँ और मण्डल रच दिये गये है। उन्हे विपुल सुगन्धित फूलो और श्रीफलो से सजा दिया गया है। चारो ओर टँगे हैं चित्रित चिनाई अशुक के पर्दे, चन्दोवे। रत्नो के दर्पण, मणि-मुक्ता के पखे, पन्ने और नीलम की झारियाँ। सारी राह के अन्तरिक्ष मे केशर-जल की नीहार अविरल बरस रही है। नाना पुष्पो के गन्ध-जल जहाँ-तहाँ रत्न-झारियो से छिडके जा रहे है। जगह-जगह द्वारो के शीर्ष-झरोखो पर नौबत-मृदग बज रहे हैं। अनेक जगह रचित रग-मचो पर गन्धर्व-किन्नर युगलो की तरह, वादक, गायक, नट-नटियाँ तुमुल सगीत-समारोह के साथ नाच-गान और नाट्य कर रहे है। देव-बालाओ-सी सुन्दरियाँ फूल बरसा रही है।

और इसी शोभा की अलका के बीच से गुजरते हुए, महाराज दशार्ण-भद्र अपने दिग्गज समान श्वेत गजेन्द्र पर आरूढ हो कर, प्रभु की वन्दना को जा रहे हैं। उनके रत्नाभरणो की कान्ति से दिशाएँ दमक उठी है। उनकी रथारूढ रानियो के सौन्दर्य और शृगार को देख, सारा जनपद जयजयकार कर उठा है। महावीर की जयकार नही, महाराज और उनके अन्त पुर की, उनके वैभव की। माथे पर हीरक-छत्र, विजन और चँवर डुलाती वारागनाओ के बीच बैठे महाराजा और महारानी। राजा ने फिर अपनी पृथ्वी और समृद्धि का सिहावलोकन किया। पीछे हजारो सामन्तो की सवारी। आगे चलते विपुल सैन्य के चमकते शस्त्रास्त्र। सहस्रो अश्वारोहियो की उड़ती पताकाएँ। और सबसे आगे सैनिक वाजित्रो का तुमुल घोष। रण का मारू राग उसी मे मिला आनन्द और गौरव का हर्षराग। और राजा के गजेन्द्र को घेर कर, उनकी स्तुति का गान करते चल रहे बन्दीजनो का विपुल कोलाहल और जय-जयकार। राजा को लगा, कि वह चौदहो भुवन का स्वामी है, और वह जगत्पति भगवान् की वन्दना को जा रहा है। इससे बडी घटना इस घडी पृथ्वी पर क्या हो सकती है!

○ ○ ○

" मानस्तम्भ पर दशार्णपति की निगाह न उठ सकी। मानागना भूमि पार हो गयी। समवसरण के अनेक मण्डलो से राजा गुजर रहा है। पर उसके अलौकिक ऐश्वर्य को उसने देखा ही नही। वह देख रहा है, केवल अपने साथ चल रहे अपने परिकर के वैभव को। अपनी रानियों के रूप और शृगार को। अपने रत्नाभरणो को, अपनी मुकुट-मणि को। नरनाथ दशार्णभद्र केवल अपने को और अपने विभव-विस्तार को देख रहा है।

श्रीमण्डप मे प्रवेश कर राजा ने, अपने समस्त परिकर और अन्त:पुर के साथ श्रीभगवान का त्रिवार वन्दन-प्रदक्षिण किया। और सन्मुख आ कर प्रभु की दृष्टि को एक टक निहारने लगा। कि वे कैसे उसे और उसके वैभव को देख रहे है। किन आँखो से देख रहे है।' लेकिन राजा ने देखा कि प्रभु तो कुछ नही देख रहे, और सब कुछ एक साथ देख रहे हैं। वे केवल अपने को देख रहे हैं, और उसमे आपोआप सब कुछ देखा जा रहा है। तो क्या दशार्णपति की ऐसी वैभवशाली वन्दना घटित ही न हुई? मानो उसका यहाँ आना, कोई बात ही न हुई! कोई अपूर्व घटना घटी ही नही!

ऐसा कैसे हो सकता है। उसने फिर लौट कर अपने परिमण्डल और वैभव पर दृष्टिपात किया। उसका ओर-छोर नही है, सारा समवसरण उसके परिमण्डल की छटा मे व्याप्त है। उसकी रानियो के रूप और रत्नो मे सारा श्रीमण्डप जगमगा रहा है। और श्री भगवान् ने एक निगाह देखा तक नही, कि कौन आया है? कैसे अमूल्य रत्नों की भेंट लाया है? ऐसा कैसे हो सकता है?

'कि सहसा ही दशार्णपति ने देखा, सुदूर अन्तरिक्ष का नील खुल रहा है। और उसमे से आता दिखायी पडा, एक विशाल जलकान्त विमान। उसके तरल स्फटिक जैसे जल-प्रान्तर मे सुन्दर कमल विकस्वर है। हस और सारस पक्षी वहाँ क्रीडा-कूजन कर रहे है। देव-वृक्षो और देव-लताओ की श्रेणी मे से झरते फूलो से वह शोभित है। वहाँ नील-कमलो के ऐसे वन है, मानो उस सरोवर पर इन्द्रनील मणि के बादल घिर रहे हो। मर्कत आभा वाली नलिनी मे, विकस्वर सुवर्ण कमल की आभा का प्रवेश। रग और प्रभा की कैसी मोहन माया। सारे विमान मे निरन्तर बहुरंगी जल की तरंगें उठ रही है। वही मानो इसके अनेक ग्गी द्वार है, तोरण-बन्दनवार हैं। वही इसकी पताकाएँ है।

और इस विशाल जलकान्त विमान की केन्द्रीय पुष्पराज वेदी पर बैठा है इन्द्र, अपनी प्रियस्विनी ऐन्द्रिला के साथ, अपने सहस्रो सामानिक देव-मण्डलो से घिरा हुआ। हजारो देवागनाएँ उस पर चँवर ढोल रही हैं। लावण्य की लहरों-सी नाचती अप्सराएँ। आकाश के नेपथ्य से बहती संगीत की सुरमाला।

अचानक विमान ने भूमि स्पर्श किया। उससे उतर कर इन्द्र मनुष्य लोक मे जब चला, तो उसके चरण पात से मर्कत के मृणाल पर माणिक्य

के कमल खिलने लगे। फिर इन्द्र अपने एरावत हस्ती पर आरूढ हुआ, मानो कि हिमवान पर चढा हो। उसकी पालकी में बैठते समय, देव-वधुओ ने उसे अपनी बाँहो का सहारा दिया। इन्द्र की सवारी यो चली, जैसे वनाकीर्ण मेरु पर्वत चल रहा हो।

जिस समय इन्द्र अपने सारे स्वर्ग-पटलो के साथ आ कर श्रीभगवान् को नमित हुआ, उस समय उसके जलकान्त विमान की क्रीडावापियो के कमलो के भीतर सगीत होने लगा। प्रत्येक सगीत के साथ, इन्द्र जैसे ही वैभव वाला एक-एक सामानिक देव अपने दिव्य रूप, वेश और ऐश्वर्य के साथ प्रकट होने लगा। उनमे से हर देव का परिवार, इन्द्र के परिवार जैसा ही महर्द्धिक और विस्मयकारी था। एक इन्द्र, उसके अगणित देव-मण्डल। उनका हर देव, एक और इन्द्र की महामाया से मण्डित। और जब इन्द्र ने अपने नक्षत्र माला जैसे हीरक हार को गन्धकुटी की पादभूमि मे ढालते हुए, प्रभु को साष्टाग प्रणिपात किया, तो श्रीमण्डप की सारी भूमि मे कोई नया ही उजाला छा गया।

देख कर दशार्णभद्र दिङ्मूढ हो रहा। नगर की समृद्धि को देख कर जैसे कोई ग्रामीण स्तम्भित रह जाता है, वही हाल दशार्णपति का हुआ। वह धूल-माटी हो कर, धरती मे समा जाना चाहने लगा। उसे लगा कि उसका तो कोई अस्तित्व ही नही, महासत्ता के इस राज्य मे। अपनी ही निगाह मे वह अपने को बिन्दु की तरह विलीन होता दीखा। नही, इतना तुच्छ हो कर वह सत्ता मे रहना पसन्द न करेगा। यदि हो सका, तो इन्द्र के इस वैभव से शतगुना ऐश्वर्य उपलब्ध करेगा वह, या नही रह जायेगा!

और सहसा ही प्रथम बार राजा अपने आसपास के समवसरण की सौदर्य-प्रभा मे जागा। लक्ष-कोटि इन्द्रो के ऐश्वर्य-स्वर्ग, श्रीभगवान् की सेवा मे यहाँ निरन्तर समर्पित है। राजा ने पहली बार अपने को भन्न कर, केवल श्रीभगवान् की ओर निहारा। वे प्रभु कितने मृदु वत्सल भाव से उसे देख रहे थे! क्षीर समुद्र जैसा भगवान् का वह वक्षदेश। ज्ञान के उस महासूर्य मे से, सारे मनोकाम्य भोग और वैभव, किरणो की तरह झड रहे है। इस इरावान् की हर लहर एक अप्सरा है। एक कमला है। एक सरस्वती है।

'तू कृतार्थ हुआ राजन्, तू ने अपने होने की सीमाएँ देख ली। अब तू अपने होने की सभावना भी देख!'

'क्या मैं प्रभु जैसा ही अमिताभ हो सकता हूँ?'

'वही तो बनाने को हम यहाँ बैठे है। महावीर इस चूडान्त पर, शिष्य बनाने नही बैठा, गुरु बनाने बैठा है। हर आत्मा स्वयम् अपनी गुरु आप हो जाये। अपना भगवान् आप हो जाये। कोई अन्य स्वामी या ईश्वर अनावश्यक हो जाये। महावीर मनुष्य के चिरकाल के अनाथत्व को मिटा देने आया है!'

'अर्हत् के उस स्वाधीन ऐश्वर्य को कैसे उपलब्ध हो सकता हूँ भन्ते ?'

'निरन्तर स्वयम् अर्हत् भाव मे रह कर। स्वयम् अर्हन्त हो कर, अर्हन्त का यजन कर। *शिवोभूत्वा शिव यजेत्*। *सोहम्*, *शिवोहम्*, *अर्हतोहम्*, *सिद्धोहम्*, —यही हो तेरा मत्र!'

सुनते-सुनते दशार्णभद्र की साँसो मे औचक ही मत्र जीवन्त हो गया। उसे लगा कि वह साँस नही ले रहा, सौरभ के समुद्र मे अनायास तैर रहा है। रोशनी के बादल-यानो पर महाकाश मे उड रहा है।

दशार्णभद्र का देहभाव चला गया। उसे लगा कि उसके शरीर से सारे वस्त्राभरण यो उतर गये, जैसे फागुन की उन्मादक हवा मे जीर्ण पत्र झड कर उडते दिखायी पडते है। उसे हठात् श्रीवाणी सुनायी पडी

'तूने केवल अपने को इतना एकाग्र देखा, राजन्, कि तेरा अहकार ही स्वयम् अपना अतिक्रमण कर सोहकार हो गया। तेरी अत्यन्त आत्मरति ही चरम पर पहुँच कर विरति हो गयी। तेरी अभीप्सा ही मुमुक्षा होने को विवश हो गयी। चैतन्य की इस विचित्र लीला को देख और जान, राजन्। यह सर्व-कामपूरन है।'

और दशार्णभद्र को श्रीचरणो मे समाधि लग गयी।

उसकी सारी रानियाँ, अपने रत्नाभरणो को श्रीभगवान् के चरणो मे निछावर कर, उनकी महाव्रती सतियाँ हो गईं।

तब इन्द्र स्वयम् आ कर, आत्मजयी दशार्णभद्र और उसके अन्त पुर को नमित हो गया।

□

# २३

## चोर हो तो ऐसा हो

समकालीन ससार की चूडामणि नगरी राजगृही। जिसका सुख, विलास और वैभव सारे जम्बूद्वीप मे दन्त-कथाओ और लोकगीतो मे गाया जाता। जिस पर अच्युत स्वर्ग के कल्पवृक्षो से अदृश्य काम-रत्नो की वर्षा होती रहती। अजित् विक्रम श्रेणिक की राजनगरी राजगृही। जिसके पचशैल मे महावीर की तपो-लक्ष्मी विचरण करती है। जिसके आँचल मे महावीर को कैवल्य-लाभ हुआ। जिसके विपुलाचल पर देव-मण्डलो के स्वर्गों ने उत्तर कर, तीर्थंकर महावीर का प्रथम समवसरण रचा। जहाँ उन विश्व-त्राता प्रभु की प्रथम धर्म-देशना हुई। जिसके वैभार गिरि के शिखर जिनेन्द्र महावीर की दिव्य-ध्वनि से गुजायमान है। प्रभु के चराचर-वल्लभ प्रेम के प्रसाद से, जो वैभार पर्वत अभयारण्य हो गया है।

उसी वैभार की एक अज्ञात गुफा मे रहता है, भय का मूर्तिमान अवतार लोहखुर चोर। उसके आतक से राजगृही का सुख वैभव सदा काँपता-थरथराता रहता है। उसकी रौद्र लीला से सम्राट और श्रेष्ठियो की नीद हराम हो गयी है। उनके रत्न-निधानो मे लोहखुर ने सुरगे लगा दी है। रतिसुख मे तल्लीन सोई रानियो और सेठानियो की अकूत कटि-मेखलाएँ, जाने कौन एक अदृश्य हाथ जाने कब उडा ले जाता है। प्रजाएँ उसके आतक से त्राहि माम् कर उठती है। राजगृही का जीवन हर पल भय और सत्रास मे साँस लेता है।

लोहखुर की पत्नी थी रोहिणी। उसका एक इकलौता बेटा था रोहिणेय। जन्मघुट्टी से ही चौर्य-कला उसे सिद्ध हो गयी थी। अपने रुद्र प्रताप मे बेटा, बाप से सवाया था। और एक दिन लोहखुर चोर मृत्यु-शैया पर आ पडा। अन्तिम क्षण मे उसने रोहिणेय को बुला कर कहा .

'बेटे, तेरे आतक से जगत् काँपता है। तू चाहे तो एक दिन जम्बूद्वीप पर राज कर सकता है। पर एक बात मेरी याद रखना यह जो देवो के रचे समवसरण मे बैठ कर महावीर नामक योगी उपदेश करता है, उसका वचन तू कभी भूल कर भी न सुनना। एक शब्द भी उसका सुन लेगा, तो तेरा सर्वनाश हो जायेगा। उसके अलावा तू चाहे जहाँ स्वच्छन्द विचरना। लेकिन उस महावीर की छाया भी अपने ऊपर न पडने देना!'

रोहिणेय ने पिता के चरण छू कर, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। उसे बीज-मंत्र की तरह अपने हृदय पर अंकित कर लिया। और थोडी ही देर मे लोहखुर पचत्व को प्राप्त हो गया।

' 'रोहिणेय हर रात मातुल हाथी की तरह राजगृही पर टूटने लगा। हर दिन उसका आतक बढने लगा। अपने जीवितव्य की तरह, वह पिता की आज्ञा का पालन करता। और अपनी स्वकीया स्त्री की तरह, वह राजगृही को आधी रातो मे लूटने लगा।

ठीक तभी अनेक नगर, ग्राम, खेटक, द्रोणमुख मे विहार करते, चौदह हज़ार श्रमणो से परिवरित तीर्थंकर महावीर प्रभु राजगृही पधारे। अगोचर मे से सचरित होते सुवर्ण-कमलो पर चरण धरते प्रभु, दूर पर आते दिखाई पडे। छुप कर रोहिणेय ने भी यह दृश्य देखा। आह, काश ये सोने के कमल वह चुरा सकता! अरे किस अदीठ सोते से ये फूटते आ रहे है? वह सोता भला कहाँ छुपा होगा? उसे लूटे बिना रोहिणेय को चैन नही। लेकिन इस महावीर की चरण-चाप बिना तो वह सोता फटता नही। और महावीर को तो देखना ही उसका सर्वनाश है। पिता की आज्ञा जो है। तो फिर कैसे क्या हो?

सयोग की बात, कि उस दिन जब रोहिणेय चोरी करने निकला, तो उसे जिस दिशा का सगुन मिला, उसी की राह मे महावीर का समवसरण बिराजमान था। देखते ही वह काँप उठा। सगुन की दिशा मे लौटना तो सम्भव नही। और इस राह मे गुज़रे, तो महावीर की वाणी सुनने से बचना मुश्किल। वह बडी परेशानी मे पड गया। उसे उपाय सूझा, कि वह कानो आडे हाथ धर ले। सो कस कर कान भीचे तेज़ चाल से वह भागा जा रहा था, कि ठीक समवसरण के पास ही उसके पैर मे एक तीखा काँटा खुँप गया। चाल के द्रुत वेग के कारण काँटा गहरा धँस कर शूल-सा कसकने लगा। एक पग भी आगे चलना कठिन हो गया। निरुपाय ठिठक कर वह कराह उठा। प्राण-पीडन से बढ कर तो पिता की आज्ञा नही हो सकती। कोई उपाय न सूझा, तो वह कानो पर से हाथ हटा कर काँटा निकालने लगा। ठीक तभी उसे महावीर की वाणी सुनायी पडी

'जानो भव्यो, जिनके चरण पृथ्वी को छूते नही, जिनके नेत्रो की पलके झपकती नही, जिनकी पुष्पमाला कुम्हलाती नही, जिनके शरीर प्रस्वेद और रज से रहित होते है, वही देवता कहे जाते हैं। यही है देव की एकमात्र पहचान!'

महावीर का शब्द-शब्द रोहिणिया ने सुन लिया, और पिता की आज्ञा को भेद कर, वह उसके हृदय मे गहरा उतर गया। अनर्थ अनर्थ हो गया! महाप्रतापी श्रेणिक तक जिससे आतकित था, उस रोहिणेय की पगतलियो मे पसीना आ गया। हाय, अब क्या होगा। पिता का दिया मत्रादेश भंग हो

गया। सर्वनाश 'सर्वनाश हो गया। और रोहिणिया चीखा 'और नही ' और नही 'बहुत हुआ।' और दोनो हाथो से कस-कस कर कान भीचता, वह भाग कर राजगृही की गुप्त सुरग मे उतर गया, जिसे उसके सिवाय कोई न जानता था।

और उस दिन दिन-दहाडे ही राजगृही मे भूकम्प आ गया। देखते-देखते तहखाने ध्वस्त हो गये। उनमे भरी अपार धनराशि लुट गयी। काले चोगे मे आचूड ढँके एक प्रेत के उपद्रवो से, अन्तपुरो मे सुन्दरियाँ चीख उठी। बात की बात मे बलात्कार-भ्रष्ट अबला की तरह राजगृही छिन्न-भिन्न हो कर आर्त्तनाद कर उठी।

प्रजाओ ने दौड कर मगधनाथ श्रेणिक को त्राण के लिये गुहारा। महाराज ने कोट्टपाल को बुला कर ललकारा 'दिन दहाडे नगरी लुट रही है, और तुम हाथ पर हाथ धरे बैठे हो? बताओ बताओ, यह कौन दैत्य हमारी प्रजाओ पर अत्याचार कर रहा है?'

कोट्टपाल ने भयार्त्त हो कर निवेदन किया

'परम भट्टारक देव, लोहखुर का पुत्र रोहिणेय चोर बाप से सौ गुना प्रबल हो कर उठा है। वह सरे आम नगर को लूटता है। अदृश्य चेटक की तरह भूगर्भी सुरगे लगा कर तहखाने फोड देता है। सामने देख कर भी हम उसे पकड नही सकते। हाथ-ताली दे कर, वह बिजली की तरह कौधता हुआ गायब हो जाता है। बन्दर की तरह उछल कर, हेला मात्र मे एक घर मे दूसरे घर मे छलाँग मार जाता है। एक उडी मार कर नगर का परकोट तक लाँघ जाता है। उसे कोई मनुष्य तो पकड नही सकता, कोई यमदूत ही उस पिशाच को पकड सकता है। मै लाचार निरुपाय हूँ, स्वामी। मेरा त्याग-पत्र स्वीकार करे!'

अजेय श्रेणिक गहरी चिन्ता मे डूब गया। जिनेन्द्र महावीर के यहाँ बिराजमान होते, ऐसा राक्षसी उत्पात? राजा निर्वाक्, शून्य ताकता रह गया। तभी अभयकुमार की आवाज सुनायी पडी

'सुनो कोट्टपाल, तुम चतुरग सेना सज्ज कर के, नगर के बाहर तैयार रक्खो। धन-सम्पदा के तहखानो मे घुस कर, तुम्हारे सैनिक वहाँ रत्न-कम्बलो मे छुप जाये। रोहिणेय के नगर-प्रवेश का पता लगते ही, सारी नगर-परिखा को सैन्यो से पाट दो। धरती के भीतर सुरगे खोद कर, भूगर्भो मे उतर जाओ। तब चारो ओर से अपने को घिरा पाकर, लाचार जाल मे फँसे हिरन की तरह वह चोर तुम्हारे सैन्यो के हाथो मे आ पडेगा।'

O O O

बुद्धिनिधान अभयदेव की युक्ति अचूक काम कर गयी। अगले ही दिन रोहिणेय को पकड कर महाराज के सामने हाजिर कर दिया गया। महाराज ने मन्त्रीश्वर अभयराज को आदेश दिया.

'सज्जन की रक्षा और दुर्जन का संहार, यही राज-कर्त्तव्य है, अभय राजा। इस प्रजा-पीडक को प्राण-दण्ड दे कर, प्रजा को अत्याचार से उबारो।'

धीर कण्ठ से अभय बोले

'छल-बल से पकडा गया है यह दुर्दान्त पराक्रमी चोर, तात। इसकी चोरी जब तक प्रमाणित न हो, और अपना अपराध यह स्वीकार न कर ले, तब तक इसको प्राण-दण्ड किस विधान के अन्तर्गत दिया जाये, महाराज? शासन का सचालन विधान बिना कैसे हो? किस आधार पर इसका निग्रह किया जाये? औचित्य और न्याय की तुला आपकी ओर देख रही है!'

अभय राजकुमार की मंत्रणा को कौन चुनौती दे सकता है। श्रेणिक सुन कर सन्नाटे मे आ गये। राजा ने खिन्न स्वर मे कहा

'तो वत्स अभय, तुम्ही वह उपाय योजना कर सकते हो, कि जिससे इस बलात्कारी लुटेरे पर शासकीय कार्यवाही की जा सके। तुम्ही पकड सकते हो इस असम्भव चोर को!'

अभय राजकुमार खिलखिला कर बोले 'आप देखते जाइये बापू, क्या-क्या होता है। होनी अपनी जगह होती है, अभय का खेल उससे रुकता नही। होनी और करनी एक हो जाती है, तात, मेरी इस चतुरग-चौपड मे। और तभी तो अचूक कार्य-सिद्धि होती है। आप देखे, महाराज, रहस्य के भीतर रहस्य है। क्या विस्मित होना ही काफी नही?'

श्रेणिक की बोली बन्द हो गयी। सकट की तलवार सर पर लटकी है, और अभय पहेलियाँ बुझा रहा है। मगर उस अभय के सिवाय तो इसका प्रतिकार किसी और के पास नही। रोष से गर्जना करते हुए सम्राट ने आदेश किया 'जिस भी उपाय से हो, तुरन्त इस भीषण अपराधी का दमन और निग्रह करो, अभय। देर न हो!' अभय के इंगित पर रोहिणेय को भारी साँकलो मे जकड कर, हिरासत मे डाल दिया गया। और अभय उस व्यूह की रचना मे लगे, जिसमे फँस कर रोहिणेय अपना अपराध स्वीकार करने को विवश हो जाये।

○ ○ ○

जीवन का कवि था अभय राजकुमार। वह मानव मन का परोक्ष शिल्पी, और चेतना का वास्तुकार था। अपनी पारगामी कल्पना से ही वह सत्य के सूक्ष्मतम छोर तक पहुँच जाता था। इसी से, जब भी उसे मानव चित्त की निगूढ गति-विधियो मे प्रवेश करना होता, तो वह उसकी बिम्ब रचना करता। चक्रव्यूह निर्मित करता। कोई दुर्ग या स्थापत्य रच कर, उसमे लक्षित मानव मन को चारो ओर से घेर लेता, और उसे अपने मनचाहे मार्ग से बाहर निकाल लाता।

सो रोहिणेय के कुटिल मन का ग्रंथिभेद करने के लिये भी, अभय ने एक स्थापत्य की रचना की। महामूल्य रत्नो से जडे एक सात खण्ड के महल मे, उसने रोहिणेय को बडे मान-सम्भ्रम पूर्वक रक्खा। महल ऐसा, जैसे अमरावती का ही कोई खण्ड पृथ्वी पर आ पडा हो। गन्धर्वों के नेपथ्य-सगीत से सारा महल निरन्तर गुजायमान रहता है। अपरूप सुन्दरियाँ रोहिणेय को चारो ओर से घेर कर, अपने हाथों उसे मदिरा पान कराती रहती हैं। एक दिन मदिरा की मादन मधुर गन्ध मे डूबता-उतराता वह बेसुध हो गया। गहरी मर्च्छा के अतल मे डूब कर वह अचेत हो गया। तभी उसे देव-दूष्य वस्त्र धारण करा दिये गए।

नशा उतरने पर रोहिणेय ने जो अपने आसपास देखा, तो निस्तब्ध हो गया। मानो कि वह किसी कल्प-स्वर्ग की उपपाद शैय्या मे अँगडाई भर कर जागा हो। अरे क्या उसका जन्मान्तर हो गया? सदा की परिचित पृथ्वी जाने कहाँ विलुप्त हो गयी। मुकुट-कुण्डल धारी देव-देवागना जैसे स्त्री-पुरुष चहुँ ओर जयजयकार करते सुनायी पडे। 'जय नन्द, जय नन्द, ईशानपति इन्द्र जयवन्त हो!' रोहिणिया कुछ पूछने की मुद्रा मे ताकता रह गया। तभी उन स्त्री-पुरुषो ने कहा 'भय का कारण नही, हे भद्र रोहिणेय। आप इस विशाल विमान मे देवेन्द्र हो कर जन्मे है। आप हमारे स्वामी हैं, और हम सब आपके किंकर है। अब आप इन अप्सराओ के साथ शक्रेन्द्र के समान क्रीडा करें?'

रोहिणेय विस्मय से अवाक् हो रहा। वह सोचने लगा 'कहाँ से कहाँ आ गया मैं? क्या सचमुच ही मैंने रातोरात देव-योनि मे जन्म ले लिया? कल तक का चोर आज देवेन्द्र हो गया?' तभी किन्नर-गन्धर्वों ने सगीत-नृत्य का समारोह प्रारम्भ कर दिया। रोहिणेय हर्ष से रोमाचित हो कर, आकाश के हिण्डोलो पर पेंग भरने लगा। अप्सराएँ उसे गोद मे ले-ले कर नव-नव्य मधुर आसवो का पान कराने लगी। वह आनन्द मे झूमने लगा। वह सचमुच ही जन्मान्तर और लोकान्तर का ज्वलन्त अनुभव करने लगा।

तभी सुवर्ण की छडी ले कर कोई पुरुष वहाँ आया। उसने उन गन्धर्वों और अप्सराओं से कहा 'अरे तुम यह सब क्या कर रहे हो?' उन्होने उत्तर दिया कि 'अरे प्रतिहार, हम अपने स्वर्गपति देवेन्द्र को, अपनी कला और सौन्दर्य द्वारा प्रसन्न कर रहे है।' प्रतिहार ने कहा 'सो तो योग्य ही है। लेकिन स्वर्ग के नियमानुसार पहले नवजन्मा इन्द्र से देवलोक के आचार तो सम्पन्न करवाओ।' देव-गन्धर्वों ने पूछा 'क्या-क्या आचार करवाना होगा?' प्रतिहार ने उपालम्भ के स्वर मे कहा 'अरे नये स्वामी को पाने के हर्ष मे तुम लोग देवलोक के आचार ही भूल गये? सुनो हमारे स्वर्ग का विधान जब कोई नया देव यहाँ जन्म लेता है, तो पहले उसे अपने पूर्व जन्म के सुकृत्यो और दुष्कृत्यो का आत्म-निवेदन करना पडता है। उसके बाद ही वह स्वर्गों के सुख-भोग का अनुभव कर सकता है।'

विधि आरम्भ हुई। प्रतिहार ने रोहिणेय से कहा 'हे भद्रमुख नव-जन्म। देवता, तुम अपने पूर्व जन्म के सुकृतो और दुष्कृतों का वर्णन करो। और फिर इस स्वर्ग के सुखो का निर्बाध भोग करो।' सुन कर रोहिणेय विचार मे पड़ गया। उसे किसी षड्यन्त्र की गन्ध आने लगी। 'यह देवो का स्वर्ग है, या मेरा कारागार? मैं यहाँ देव हूँ, या अपराधी अभियुक्त हूँ?' वह सावधान हो गया। उसने अपने चित्त को एकाग्र किया और वह सहसा ही, चीज़ो को, स्थितियो को आरपार देखने लगा।

देखते-देखते अनायास ही एक आवरण जैसे हठात् विदीर्ण हो गया। उस दिन तीर्थंकर महावीर के जो शब्द उसने अनचाहे ही सयोगात् सुन लिये थे, वे जीवन्त मत्र-ध्वनि की तरह उसके हृदय मे गूँजने लगे। प्रभु ने देवो की पहचान के जो लक्षण बताये थे, उन्हे वह आसपास के स्त्री-पुरुषो मे टोहने लगा। 'अरे, इनके चरण तो पृथ्वी का स्पर्श कर रहे है। रज और प्रस्वेद से इनके शरीर मलिन है। इनकी पुष्प-मालाएँ कही से कुम्हलाई-सी दीख पड़ती हैं। और यह क्या ? ये तो आँखें टिमकार रहे है, इनके पलक झपक रहे हैं। नही, ये देव नही हैं, ये देव नही है।

सर्वज्ञ महावीर के वचन उसके हृदय के तलातल को बीध कर, उसे झकझोरने लगे। उसे एक अद्भुत् प्रत्यभिज्ञान-सा हुआ। वह आपे में आ गया। वह सचेतन हो गया। उस कपट-स्वर्ग का पर्दा उसकी आँखो पर से फट गया। यथार्थ का सामना करते हुए उसने निवेदन किया 'मेरे पूर्व भव के सुकृत्य सुनें, देवगण। मैंने बिगत जन्म मे सुपात्रो को दान दिया है। जिन-चैत्यो का निर्माण कराया है। उनमे जिन-बिम्ब प्रतिष्ठित करवाये है। अष्टाग पूजा द्वारा उनका पूजन-अर्चन किया है। तीर्थ-यात्राए की हैं। सद्गुरु की सेवा की है। देव, गुरु, शास्त्र की आराधना मे ही मैंने वह सारा जीवन बिताया है।'

'अब अपने पूर्व भव के दुष्कृत्यो का निवेदन करो, भद्र!'—उस दण्ड-धारी प्रतिहार ने याद दिलाया। उत्तर मे रोहिणेय बोला 'देव, गुरु, शास्त्र के नि य समागम और ससर्ग में रहने से कोई दुष्कृत्य तो मुझसे हो ही न सका!' दण्डनायक ने कहा 'कोई मनुष्य आजीवन एक-से ही स्वभाव या आचार से तो जो सकता ही नही। अत हे भद्र, जो कुछ भी चोरी-जारी, लूट-फाँट, कोई बलात्कार, या पर-पोडन किया हो तो स्पष्ट स्वीकारो। पाप का निवेदन किये बिना, अपने पुण्य से अर्जित इस स्वर्ग के सुख को भोग न सकोगे!'

रोहिणेय ने अट्टहासपूर्वक ज़ोर से हँस कर कहा

'अरे भले मानुष, तुम्हारा प्रश्न ही बेतुका और असंगत है। जो ऐसे दुष्कृत्य किये होते, तो भला मैं यह स्वर्ग लोक क्यो कर पा सकता था? क्या भला, अन्धा भी पर्वत पर चढ़ सकता है?'

दण्डनायक निरुत्तर हो गया। षड्यंत्र विफल हो गया। प्रतिहार ने आकर सारी घटना अभयकुमार से कही। अभयकुमार ने महाराज-पिता को सारी स्थिति की जानकारी दे दी। फिर चोर को सामने प्रस्तुत कर दिया। और चुप खड़े रह गये। श्रेणिक बोले

'तो मानव मन का मन्मथ अभयकुमार भी रोहिणेय चोर को न पकड़ पाया? उसका अपराध प्रमाणित न हो सका। मृत्युदण्ड का भय भी उससे अपराध स्वीकार न करा सका!'

'लक्ष्य करें बापू, आपने ही अपने मुख से अभी स्वीकारा, कि यह चोर मृत्यु-भय को लाँघ गया है। इसी से तो मृत्यु दण्ड का भय भी उससे अपराध स्वीकार न करा सका?'

'तो ऐसे विचित्र चोर के साथ क्या बर्ताव किया जाये, अभय राजा?'

'उसे छोड दे महाराज, उसे मुक्त कर दे, देव!'

'प्रजापति होकर प्रजा के पीडक को मुक्त कर दूं? पकड कर भी उसका प्रतिकार न कर सकूं? तो मेरा क्षात्र धर्म पृथ्वी पर चिरकाल के लिये कलंकित हो जायेगा! यह तुम क्या कह रहे हो, अभय?'

'ठीक ही तो कह रहा हूँ, बापू! रोहिणेय का परित्राण भी तो आपके क्षात्र धर्म को ललकार रहा है, महाराज!'

'लेकिन वह हो कैसे?'

'उसे अपने स्वभाव मे विचरने को मुक्त कर दीजिये। पकड में आये चोर को आप छोड़ देंगे, तो वह छूटकर क्या चोर रह सकेगा?'

श्रेणिक अवाक्। राज-परिषद् स्तम्भित। महाराज का गंभीर स्वर सुनाई पड़ा

'अपनी राह पर अभय विचरो, रोहिणेय। हम तुम्हे मुक्त करते हैं!'

निमिष मात्र मे, रोहिणेय के तलातल उलट-पलट कर स्तब्ध हो गये। उसके सारे पाप-अपराध उसकी आँखो से जलधारा बनकर बहते आये। उसने महाराज और अभय राजा को भूमिष्ठ हो प्रणाम किया। और चुपचाप वहाँ से धीरे-धीरे जाता दिखायी पडा।

○ ○ ○

श्रीमण्डप मे निस्तब्धता छायी है। निस्पन्द प्रभु का मौन तमाम चराचर मे गहराता जा रहा है। ओंकार ध्वनि भी स्तम्भित है।

'मैं रोहिणेय चोर, श्रीचरणो मे शरणागत हूँ, देवार्य! मैं अपने सारे पापो और अनाचारो को प्रभु के सामने स्वीकार करने आया हूँ। मुझे

अर्हन्त महावीर के सिवाय त्रिलोक मे, कोई मार भी नहीं सकता, तो तार भी नही सकता। मैं अपनी चोरियो का निवेदन करूँ, भगवन् ?'

प्रभु निरुत्तर, नासाग्र दृष्टि से केवल देखते रहे। केवल सुनते और जानते रहे।

'मेरे पापो का अन्त नही। मेरी ग्लानि का पार नही। मैं पश्चात्ताप की आग मे रात-दिन जल रहा हूँ। मुझे इससे उबारें, नाथ !'

'ग्लानि क्यो ? पश्चाताप कैसा ?'

'मैं चोर जो हूँ, भगवन्, महाचोर। लुटेरा, सर्वस्वहारी !'

'किसे लूटता है ? सर्वस्व किसका है ?'

'मैं साहूकारो को लूटता हूँ, श्रेष्ठियो को लूटता हूँ, राजाओ और रानियो को लूटता हूँ। उनका सर्वस्व हर लेता हूँ !'

'सर्वस्व किसका है ?'

'साहूकार का, सम्राट का। नगर जनो का।'

'यहाँ कुछ किसी का सर्वस्व नही। सब अपना-अपना सर्वस्व है। बाहर और घर, कुछ किसी का नही। स्वत्व है केवल तत्त्व, केवल आत्मत्व। केवल अपनत्व।'

'लेकिन धन तो सम्राट और साहूकार का ही है न, भगवन् ? मैं तो उसका चोर हूँ !'

'धन यहाँ किसी व्यक्ति का नही, वर्ग का नही, समस्त लोक का है। जब तक साहूकार है, तब तक चोर रहेगा ही। जब तक सर्वस्व का स्वामी सम्राट रहेगा, तब तक सर्वस्वहारी कोई रहेगा ही ! जब तक धन का सग्रह है, तब तक उसका लुटेरा रहेगा ही। जब तक सत्ता और सम्पत्ति कही केन्द्रित रहेगी, तब तक उसका आक्रमणकारी और अपहर्ता पृथ्वी पर पैदा होता ही रहेगा।'

'तो भगवन् मैं चोर नही ? मैं अपराधी नही ? मैं पापी नही ?'

'चोर तू अपना है, अपराधी तू अपना है, पापी तू अपना है, हत्यारा तू अपना है। किसी सेठ-साहूकार और सम्राट का नही ! किसी धनपति या सत्तापति का नही। जो स्वयम् ही चोर है, उनका चोर तू कैसे हो सकता है ? जो स्वयम् ही बलात्कारी है, उनका बलात्कारी तू कैसे हो सकता है ? जो स्वयम् ही हत्यारे है, उनका हत्यारा तू कैसे हो सकता है ?'

'तो फिर मैं कौन हूँ, भगवन् ?'

'इन दोनो से परे जो तीसरा है, वही तू है। तृतीय पुरुष, जो इस दुश्चक्र से ऊपर है। और जो चाहे, तो इसे उलट सकता है, तोड़ सकता है। वही तो महावीर है !'

'तो मुझे तार दें, हे मेरे तारनहार। मुझे भी अपने ही जैसा बना लें।'

'तारक यहाँ कोई किसी का नही। तुझे स्वयम् ही अपने संवेद और सवेग से तर जाना होगा। तुझे स्वयम् ही आप हो जाना पडेगा। वही महावीर ने किया, वही तुझे भी करना होगा।'

'लेकिन आपने मुझे तारा है, भगवन्, यह तो प्रमाणित है। मेरे दुष्ट बुद्धि पिता ने आपका वचन सुनने की मुझे सख्त मनाई कर दी थी। लेकिन पैर मे शूल गड गया, तो लाचारी मे अनजाने ही आपके वचन सुन लिये। उससे जो ज्ञान मिला, जो पहचान मिली, उसी के बल तो मैंने सम्राट और मत्री का चक्रव्यूह भी तोड दिया। वे मुझे पकड न सके, उनकी शक्ति मुझे अपराधी सिद्ध न कर सकी। जिन प्रभु के कुछ शब्दो ने ही मुझे इतनी बडी सत्ता दे दी, वे ही तो मुझे भव-सागर से भी तार सकते है।'

'तू उनके स्वार्थी न्याय-विधान से परे चला गया। अब तू अपना न्याय-पति स्वयम् हो जा रे, अपना सत्य और न्याय तू स्वयम् हो जा रे, अपना आईन-कानून तू स्वयम् हो जा रे, अपना स्वामी तू स्वयम् हो जा रे! तो कोई सम्राट, कोई साहुकार, कोई सत्ता तुझे पकड न सकेगी। उनकी सत्ता-सम्पदा तेरे चरणो मे आ पडेगी!'

'मैं अपनी उस महामत्ता मे उठ रहा हूँ, भगवन्! यह कैसा चमत्कार है?'

'तथास्तु। चोर हो तो ऐसा हो, जिसने समस्त लोक सम्पदा के भद्रवेशी चोरो के तख्ते तोड दिये। तहखाने उलट दिये। उनके चोरी के धन को अन्तिम रूप से चुरा लिया!'

'अब मेरे लिये क्या आदेश है, भगवन्? मैं प्रभु का क्या प्रिय करूँ? जिनका धन मैंने चुराया है, वह उन्हे ही लौटा दूँ?'

'जिनका वह धन है ही नही, उन्हे क्यो लौटायेगा? चोरी का धन चोरो को ही वापस लौटायेगा रे?'

'तो उसका मैं क्या करूँ, भगवन्?'

'धन-सत्ता के स्वामियो ने जिन्हे वचित कर, लोक का सारा धन अपने लिये बटोर लिया है, उन दीन-दरिद्रो, अभाव-पीडितो को बाँट दे वह सम्पदा। वह सर्व की है, सो सर्व को ही दे दे।'

'उसके उपरान्त क्या करूँ, भगवन्?'

'हो सके तो लोक-लक्ष्मी के अपहर्ता और बलात्कारी शोषक और शासक का, तू इस पृथ्वी और इतिहास मे से मूलोच्छेद कर दे। जन्मान्तरो मे यही पराक्रम अटूट करता चला जा। जब तक यह न कर दे, विराम नही। जिस

दिन तू यह कर देगा, उस दिन जगत् के जीवन मे व्यक्ति और वस्तु मात्र की सत्ता स्वतन्त्र हो जायेगी। स्व-भाव धर्म का शासन उतरेगा। तू उसका शास्ता हो, और तब तू आपोआप ही तर जायेगा!'

'तलवार के बल, प्रभु?'

'अपने आप के बल, अपने दर्शन, ज्ञान और वीर्य के बल। तब ज्ञान तलवार होकर काटेगा, और तलवार ज्ञान होकर तारेगी। अपने बलात्कारी बाहुबल को, तारक क्षात्र बल मे परिणत कर दे। और तारक क्षत्रिय होकर तलवार धारण नही करेगा रे?'

'प्रभु का आदेश है, तो अवश्य करूँगा।'

'तो तेरी तलवार मारकर भी तार देगी। तुझ मे अर्हन्तो और सिद्धो का अनन्त वीर्य सचरित होगा। तेरी जय हो, रोहिणेय!'

रोहिणेय को दिखायी पडा कि, गन्धकुटी के रक्त-कमलासन पर महावीर नही, एक नग्न तलवार खडी है। और उसमे ज्ञान के सूरज फूट रहे है। और वह तलवार रोहिणेय के मूलाधार मे उतरती चली आ रही है। उसकी अँतडियाँ कट रही है, तहे बिंध रही हैं।

और उसकी नस-नस मे अजस्र माधुर्य उमड रहा है। उसके पोर-पोर मे यह कैसा सर्वभेदी वीर्य हिल्लोहित हो रहा है। और वह अपने ही भीतर से उठ रहे वैश्वानर की ज्वालाओ मे समाधिस्थ हो गया।

☐

## २४

# वीतराग के लीला-खेल

ठीक दिवोदय की बेला मे महादेवी चेलना, अपने 'एक-स्तम्भ प्रासाद' की छत पर खड़ी केशो मे कघी कर रही हैं। सामने वैभार की वनालियों मे गुलाबी ऊषा फूट रही है। दिशाओ को चूमते घनसार बालो मे एकाएक मणि-जटित कघी उलझ कर जाने कहाँ खो गयी। महादेवी की उठी बाँहो के कमनीय कोण अचल मे चित्रित-से रह गये।

पीठ पीछे ध्रुव पश्चिम मे उन्हे योजनो पार एक दूरगम दृश्य दिखायी पडा। आँख से परे का कोई दूर-दर्शन? नीली चमकीली नीहार के मण्डल मे से यह क्या दिखायी पड रहा है? विपुल विशाल सैन्य का धँसा आ रहा प्रवाह। हजारो-हज़ार अश्वारोहियो के चमचमाते शस्त्र-फलो का वन। उसके आगे अश्वारूढ चौदह मुकुटबद्ध राजाओ की चलायमान हारमाला। और सब से आगे प्रचण्ड श्वेत अश्व पर सवार, नग्न खड्ग ताने धावमान है कोई रुद्र प्रतापी आक्रमणकारी राजेश्वर। चेलना स्तम्भित, अचल उन्मीलित नयनो देखती रह गई ''।

ठीक तभी आपातकालीन घण्टनाद सुन कर, सम्राट श्रेणिक राज सभा मे आ बिराजे। हठात् एक दण्ड-नायक ने आ कर हाथ जोड निवेदन किया

'परम भट्टारक मगधनाथ जयवन्त हो। महाराज, अवन्तीपति चण्डप्रद्योत अपने चौदह माण्डलिक राजाओ और विशाल सैन्य के साथ प्रलय के पूर की तरह मगध पर चढा आ रहा है। सूचनार्थ निवेदन है।'

श्रेणिक ने मानो आँख से सुना और कान से देखा। आक्रमणकारी जामाता चण्डप्रद्योत को शायद पता नही, कि मगध के सिहासन पर अब सम्राट श्रेणिक नही, सर्वजयी महावीर बिराजमान हैं। साम्राज्य अब उन्ही का है, वही देखे। लेकिन प्रभु के लोकपाल के नाते मेरा कर्त्तव्य इस घडी क्या है? प्रजाओ की रक्षा के लिये, क्या त्यागी हुई तलवार को फिर से उठाना होगा?

'आयुष्यमान् अभय राजा, युद्ध द्वार पर आ लगा है। क्या करना होगा।'

अनेक औत्पातिकी विद्याओ का धनी अभयकुमार मुस्करा आया। बोला

'उज्जयिनी-पति प्रद्योत तो हमारे जामाता और जीजा भी हैं, महाराज। उनका स्वागत ही तो हो सकता है! उनकी युद्ध-कामना को तुष्ट किया जायेगा। मेरे युद्ध के वे अतिथि भले आयें। चिन्ता की क्या बात है?'

'लेकिन हम तो अपने सारे सैन्य-शस्त्र अर्हन्त महावीर को अर्पित कर चुके! सैन्य बिना समर का सामना कैसे करोगे?'

'मगधेश्वर के नहीं, महावीर के सैन्य संग्राम लड़ेंगे, महाराज! महावीर का धर्मचक्र आततायी को पल मात्र मे पदानत कर देगा!'

'महावीर के सैन्य समर खेलेंगे? महावीर का धर्मचक्र शत्रु का शिरच्छेद करेगा? महावीर युद्ध लड़ेंगे? कैसी विपरीत बात कर रहे हो, अभय?'

'जानते तो है, बापू, महावीर से बड़ा योद्धा तो इस समय त्रिलोकी मे कोई नही। वे अविरुद्ध प्रभु, बलात्कारी के विरुद्ध सतत् युद्ध-परायण है!'

'निश्चल निर्ग्रंथ सर्वजयी महावीर और युद्ध-परायण है? यह क्या अपलाप सुन रहा हूँ, अभय राजा! और धर्मचक्र तो मारक नही, तारक होता है।'

'लोक का परित्राता तीर्थंकर, हर पल योगी और योद्धा एक साथ होता है, बापू। उसका धर्मचक्र पाप का सहारक, और पापी का तारक एक साथ होता है। जिस महावीर ने कर्मो के जन्मान्तर-व्यापी अभेद्य जगलो को भेद कर भस्म कर दिया, उसके आगे चण्डप्रद्योत का चण्डत्व क्या टिक सकेगा?'

'यह सब मेरी समझ के बाहर है, अभय राजा। मै अब शस्त्र नही उठाऊँगा। वह मैं कब का त्याग चुका।'

'आप नहीं उठायेंगे, तो महावीर शस्त्र उठायेगा, महाराज! अनिर्वार है उस परम प्रजापति की तलवार। उसके धर्मचक्र पर अवन्तीनाथ का वीर्य परखा जायेगा!'

'तो फिर रण का डंका बजवा दो, आयुष्यमान्। आक्रमणकारी प्रद्योत तुम्हारे युद्ध का अतिथि हो। और उसके बाद जामाता प्रद्योत का मेरे भोजन की चौकी पर स्वागत है!'

अभयकुमार ठहाका मार कर हँस पड़ा :

'खूब कहा आपने, बापू, फ़ैसला हो गया। रणांगण मे उन्हे निपटा कर, फिर आपके भोजनागार मे लिवा लाऊँगा!'

'तो मगध के समुद्र-कम्पी शखनाद से दिशाओं को थर्रा दो, अभय। रण का मारू बाजा बजवाओ। प्रजाओ को सावधान कर दो। सीमान्त को हमारे कोटि-भट योद्धाओं से सज्ज कर दो। तुम्हारी जय हो, मगध की जय हो, महावीर की जय हो!'

'यह सब अनावश्यक है, बापू। मै अकेला ही काफी हूँ, चण्डप्रद्योत के लिये। प्रजाओ की शान्ति भंग नहीं करनी होगी। धर्मचक्र भूतल पर नही, भूगर्भ मे सचार और संहार करता है। आप निश्चिन्त हो जायें, महाराज। और मन्त्रियो, सामन्तो, सेनापतियो, सावधान! यह सवाद राज-सभा से बाहर, हवा भी न सुन पाये।'

'तो क्या अकेले जाओगे, बेटे? अकेले जीत आओगे उस चण्डकाल प्रद्योत को? जानूं तो कैसे?'

'धर्म-चक्र के योद्धा का रहस्य, अभी जगत ने नही जाना, देव। समय आने पर आप जानेंगे। आप प्रतीक्षा करें, बापू, यथा समय विजय-सम्वाद आप तक पहुँचेगा। मैं आज्ञा लेता हूँ, तात।'

कह कर, सम्राट-पिता को माथा नवां कर, क्षण मात्र मे अभय राजकुमार वहाँ से छूमन्तर हो गया।

O O O

महाबलाधिकृत सेनापति अभयकुमार ने राजगृही के स्कन्धावार को आदेश दिया, कि वे सावधान रह कर, हर क्षण आदेश की प्रतीक्षा करे।

ठीक दिया-बत्ती की बेला है।

एक उत्तुग काम्बोजी अश्व पर सवार हो कर, अभय राजकुमार यो धीर गति मे जा रहे है, जैसे खेलने को निकले हो। मानो तफरी करने जा रहे हो। पीछे कुछ हजार, सैन्य नही, राज-मजदूर फावडा-कुदाली कन्धो पर उठाये चल रहे है। कई सौ सुन्दरी प्रतिहारियाँ सर पर सुवर्ण-मुद्राओ से भरे टोकने उठाकर, हँसती-बलखाती, ठिठोली करती चल रही है। और चारो ओर मशाले उठाये, मशालचियो का घेरा, कृष्ण पक्ष की रात मे भी जगल की राह को हजारो ज्वालाओ से उजालता चल रहा है। मानो कि तमसारण्य के भेदन को, कोई अपार्थिव रोशनी का जुलूस चल रहा है।

इस बीच चार-पाँच दिनो मे अभयकुमार ने, शत्रु-सैन्य के शिविर डालने योग्य, एक सीमा-प्रागण के मैदान को साफ-स्वच्छ करवा दिया था। घास-फूस, झाडी-झखाड कटवा कर, सफेद पुते सीमा-स्तम्भ गडवा कर, आक्रमण-कारी मेहमान के स्वागत मे मानो चौपड-सी बिछा दी थी। नदी तट की गेल पर सफेद बालू बिछवा दी थी। घोडो के चरने योग्य गोचर-भूमि भी पास ही लगी हुई थी।

गन्तव्य पर पहुँच कर महाराज अभयकुमार ने, अपने कुदालची-मशालची सैन्य को विराम का आदेश दिया

'कुछ देर विश्राम करो, साथियो, और फिर जैसा बताया है, इस सारे मैदान की बालिश्त भर जमीन खोद कर, किनारो पर मिट्टी का ढेर लगाते जाओ। और प्रतिहारियो, तुम खुदी हुई जमीन मे, खूब फैला कर सुवर्ण मुद्राएँ डालती जाओ, और उतने भूखण्ड को मिट्टी से पाटती जाओ। सारे मैदान मे अपने टोकनो मे भरी सुवर्ण मुद्राएँ बिछा दो, और उसे माटी की मोटी तहों से ढाँक दो। और राजपत्ति, उसके बाद सारी जगह मे मिट्टी डाल

कर उसे पाटक-चक्र से अच्छी तरह कुटवा-पिटवा कर, एक दम समतल स्वाभाविक धरती बनवा दो।'

मशालो के उजाले मे सारी रात काम चलता रहा। और सवेरा होते ही, एक सपाट निर्जन मैदान शत्रुवाहिनी का मानो स्वागत करता दिखायी पड़ा।

अनन्तर, एक दिन अचानक मगध के सीमान्त पर रणसिंगे बजने लगे। और युद्ध के दमामो का घोष आकाश के कानों को बहरा करने लगा। खबर आयी, कि चण्डप्रद्योत के सैन्यो ने राजगृही को यो चारो ओर से घेर लिया है, जैसे समुद्र ने किनारे तोड कर भूगोल को आक्रान्त कर लिया हो। अभय राजा द्वारा पूर्व-नियोजित मैदान का निमत्रण अचूक सिद्ध हुआ। प्रद्योत और उसके माण्डलिको के सैन्यो ने वही छावनी डाल दी। इस बीच आक्रमण की तैयारी और व्यूह-रचना मे दो-तीन दिन निकल गये।

तभी एक सवेरे अचानक कोई गोपन लेख-वाहक, नगी तलवारो के बीच प्रद्योतराज के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। प्रद्योत ने अविलम्ब उसका लम्बा आलेख-पट खोल कर पढा। लिखा था

'अजितबली राजाधिराज चण्डप्रद्योत को प्रणाम करता हूँ। मेरी महादेवी-माँ चेलना, आपकी महारानी शिवादेवी की छोटी बहन है। उस नाते आप मेरे आदरणीय मौसा हैं। फिर आप अपने एक पूर्व विवाह के नाते मगधनाथ के जामाता भी है, तो मेरे बहुत प्यारे और प्रणम्य जीजा भी है। सो आप तो हमारे अभिन्न आत्मीय है। आपका हित, हमारा हित है। इसीसे सखेद सूचित करना पड रहा है, कि आप एक भीषण षड्यत्र के चक्रव्यूह मे ग्रस्त है। अत आप को चेतावनी देना हमारा प्रथम कर्तव्य है। आप तो जानते है, मैं सदा का तटस्थ स्वभावी हूँ। इसीसे सम्राट-पिता का और आपका हित एक साथ देखने को विवश हूँ।

'जाने महाराज, आपके चौदहो माण्डलिक राजाओ को श्रेणिकराज ने फोड लिया है। उन्हे अपने अधीन करने के लिए, सम्राट ने गुप्त रूप से उनके पास बेशुमार सुवर्ण मुद्राएँ भेजी है। इसी से वे मौका देख कर, आप को बाँध कर मगधनाथ के हवाले कर देगे। प्रमाण यह है, कि उन्होने वे सारे हिरण्य अपने-अपने डेरो की भूमि मे गडवा दिये है। दो-चार डेरो मे कुदाली मारते ही, सुवर्ण द्रव्य से भरे लोह-सम्पुट हाथ आ जायेगे। क्यो कि दीपक के होते हुए, भला अग्नि को कौन देखेगा ? हाथ कंगन को आरसी क्या ?

चिरकाल आपका हितैषी,
अभय राजकुमार'

अवन्तीनाथ की त्योरियाँ चढ़ गयी। अपने क्रोध के ज्वालागिरि को उन्होने दबा लिया। युद्ध के किसी गूढ प्रयोजन का संकेत दे कर, दो-चार माण्डलिक

राजाओ के आवास-शिविरो की भूमि खुदवायी गयी। ढेर-ढेर सुवर्ण-मुद्राएँ निकल आयी !

प्रद्योत को लगा, कि उसके अजेय पौरुष और वीरत्व में इस क्षण बट्टा लग जायेगा। एक शब्द भी वह नही बोला। तत्काल अपने तुरग पर चढ़ कर, वह उज्जयिनी की ओर भाग निकला। उसको यो भागते देख कर, उसकी सेनाएँ भी सब कुछ वही छोड कर, उसके पीछे ही पलायन कर गयी। इस अबूझ भगदड से आतंकित हो कर साथ के मुकुटबद्ध चौदह नरेन्द्र भी चील-कौवो की तरह, जिस हाल मे बैठे थे, उसी हाल मे भाग निकले। उनकी सेनाएँ भी तितर-बितर हो कर, राह के जगलो मे प्राण बचाने को घुस पडी। तभी अभयकुमार के सकेत पर, मगध की सेनाएँ पलायित शत्रु के परित्यक्त शिविर-क्षेत्र पर टूट पडी। शत्रुदल के पीछे छूटे तमाम रथो, अश्वो, हाथियो, शस्त्रायुधो, द्रव्य-मजूषाओ और खाद्यान्न के भण्डारो पर अधिकार कर, वे उन्हे राजगृही मे ले आये।

उधर प्राण नासिका मे चढा कर भागे चण्डप्रद्योत ने, उज्जयिनी के महालय में पहुँच कर ही दम लिया। उसके पीछे ही भागे आये, उसके सारे माण्डलिक राजा और महारथी भी। उन्हे केश बाँधने का भी अवकाश न मिला। तो घोडो की ज़ीन कौन कसे ? रथ जोतने की किसे पडी थी ? सो खुले केश, मुकुट-छत्रहीन, जाने कितने दिन-रात यात्रा करते, असज्ज घोडो की नगी पीठ पर सवार, वे भी एक दिन उज्जयिनी मे प्रवेश करते दीखे।

प्रद्योतराज के साथ वे सब मन्त्रणा-गृह मे बन्द हो गये। उन्होने सौगन्ध उठा कर अपने मण्डलेश्वर उज्जयिनी-पति को विश्वास दिला दिया, कि वे सब निर्दोष है। यह सब विश्व-विश्रुत उत्पाती अभय राजकुमार की औत्पातकी विद्या का षड्यन्त्र है। चण्डप्रद्योत ओठ काट कर अपने क्रोध को घूँटने लगा। उसने अपने बत्तीसो दाँत भीच कर, विक्रान्त पदाघात से धरती को दहलाते हुए प्रतिज्ञा की 'अभयकुमार, तुम्हे अपनी इस कूट-बुद्धि का मूल्य चुकाना पडेगा !'

O O O

उधर हर्षातिरेक मे श्रेणिकराज बोले

'आयुष्यमान् अभय राजा, यह तुम्हारा कूटचक्र है कि महावीर का धर्मचक्र ?'

'कूट हो कि धर्म हो, महाराज, दोनो ही की गति सपाट नहीं, वह चक्राकार ही तो हो सकती है। कूटचक्र कब धर्मचक्र हो जाता है, और धर्मचक्र कब कूटचक्र हो जाता है, यह सर्वज्ञ महावीर के सिवाय और कौन जान सकता है, बापू ?'

'तुमने तो बिना तलवार ही समर जीत लिया, बेटे। सब कुछ समझ से बाहर होता जा रहा है !'

'सीधी तो बात है, बापू ! यदि एक कूट से हज़ारो-हज़ारो गर्दनें कटने से बच गईं, तो उसे क्या आप झूठ कहेंगे ? सत्य सपाट नही होता, बापू, वह एक सर्वतोमुखी प्रकाश होता है । लाखो निर्दोष मानवो का रक्तपात जिसने बचा दिया, लाखो माँगो का सिंदूर जिसने उवलन्त रखा, लाखो बच्चो को अनाथ होने से जिसने उबार लिया, वही क्या परम सत्य नही है ? '

'अर्हन्त महावीर से पूछ कर ही बता सकूँगा, कि क्या कभी सत्य भी झूठ हो सकता है, और क्या झूठ भी सत्य हो सकता है ?'

'अनेकान्त-चक्रवर्ती महावीर का उत्तर, अभी और यहाँ सुन रहा हूँ, देव ?'

'ज़रा सुनूँ तो भला, क्या है वह उत्तर ?'

'धर्मचक्र से बडा कोई कूटचक्र नही, क्यो कि वह जब प्रवर्त्तन करता है, तो उसके तेजो-प्रवाह मे जगत् के सारे कूटचक्र ध्वस्त हो कर बह जाते है !'

'इन विरोधाभासो को समझना, मेरे वश का नही, अभय !'

'विरोधो की नोक पर ही सत्य का सूर्य फूटता है, बापू । उसे समझा नही जा सकता, सिर्फ जिया जा सकता है । महावीर अविरल क्रियाशक्ति का प्रवाह है। दर्शन, ज्ञान और क्रिया उस मे हर पल एकाकार है !'

'अपनी चेतना मे उन प्रभु को अनुपल प्रवाहित अनुभव करता हूँ। लेकिन वह अनुभव प्रमाणित कैसे हो ? वह प्रत्यक्ष जीवन-यथार्थ कैसे हो ?'

'इतिहास की धमनियो मे एक दिन वह स्पन्दित होगा। पृथ्वी की माटी मे एक दिन वह मूर्त होगा । जीवन का यथार्थ होगा एक दिन वह अनेकान्त का सूर्य !'

महाराज अभय राजकुमार की वह तेजोदीप्त मुख-मुद्रा अवाक् देखते रह गये। अभय के मुँह से बरबस ही हँसी फूट पडी।

'अरे बापू, आप तो बहुत गम्भीर हो गये ? यह सब एक अनिर्वार परिणमन । एक अविराम लीला । एक अन्तहीन खेल। खेलते जाइये, और पार होते जाइये। रुके कि राग हुआ, कि मारे गये। आप गम्भीर हो कर सोचते हैं, बापू ! सोच निरर्थक है। सिर्फ स्वयम् आप होते जाना है, रहते जाना है। निर्विचार। महाजीवन की तरगो मे लीला भाव मे रमते जाना है !'

'लेकिन महावीर तो वीतराग है ? उसके यहाँ लीला कैसी ?'

'जो वीतराग है, वही तो सहज लीला भाव से जी सकता है, देव। निश्चल महावीर त्रिलोक और त्रिकाल मे पल-पल लीलायमान है। आपने यह देखा नही क्या, महाराज ?'

'अभय राजकुमार के लीला-खेल जो देख रहा हूँ ! अब देखने को क्या बाकी रह गया है ?'

अभय के मुक्त अट्टहास से, राजगृही के क्रीड़ा-कुजो मे विजयोत्सव की धूम मच गयी। □

२५

# अजीब आसमानी आदमी

एकदा उज्जयिनी-पति चण्डप्रद्योत ने क्रोध से हुंकार कर अपनी भरी राजसभा के बीच चुनौती फेंकी

'है कोई ऐसा विचक्षण शूरमा मेरे राज्य में, जो उल्कापाती अभय राजकुमार को बाँध लाये, और मेरे सिपुर्द कर दे ? मैं उसे निहाल कर दूंगा।'

कुछ देर सन्नाटा छाया रहा। कि हठात् एक गणिका महाराज के सम्मुख आयी। नतमाथ अभिवादन कर के बोली

'महाराज यदि आज्ञा दे, तो मैं यह करतब कर दिखाऊँ!'

'ओ, तुम भुवनेश्वरी ? भगवान् महाकालेश्वर की देवदासी। निश्चय ही उस कूटचक्री को तुम्हारा कुटिल कटाक्ष ही वशीभत कर सकता है। जय महाकाल, जय महाकाल!'

'भूतभावन भोलानाथ की दासी सेवा में प्रस्तुत है, महाराज। मेरे साथ दो और भी सुन्दरियाँ जायेंगी। प्रभु आदेश करें।'

'कांचन-कामिनी की हमारे यहाँ क्या कमी है, सुन्दरी! मंत्रीश्वर आदित्य प्रताप, भुवनेश्वरी जो सरजाम चाहे, उसे दो, और शीघ्र एक उत्तम अश्वों का रथ जुड़वा कर उसे तत्काल राजगृही रवाना कर दो।'

एक चित्रित यवनिकाओं से बन्द रहस्यमय रथ राजगृही के मार्ग पर तड़ित्-वेग से पलायमान है। भीतर चुप बैठी भुवनेश्वरी को सूझा धर्मात्मा है अभय राजकुमार, उसे धर्म-छल से ही तो वश किया जा सकता है। सो उसने और उसकी संगिनी सुन्दरियों ने केश खोल कर उज्ज्वल श्वेत वस्त्र धारण कर लिये। मार्ग में दिखायी पड़ा एक साध्वी-मठ। भुवनेश्वरी ने रथ रुकवा दिया, रथिक को आज्ञा दी कि पास की पान्थशाला के रथागार में रथ खोल कर, वहीं आवास ग्रहण करे। साध्वी-मठ की अधिष्ठात्री महाश्रमणी, इन ज्ञान-पिपासु सुन्दरियों को पा कर प्रसन्न हुई। उन्हें अपनी शिष्या के रूप में अंगीकार कर लिया। वे तीनों ही गणिकाएँ व्युत्पन्न मति और चतुरा थीं। कुछ ही दिनों में उन्होंने जिनेश्वरी उपासना के सारे ही अंगों का भली-भाँति अभ्यास कर लिया। वे सर्व विधियों में बहुश्रुत और प्रवीण हो गईं। एक दिन उन्होंने अपनी गुरुआइन से 'सम्मेत शिखर' की तीर्थयात्रा और वन्दना के लिये जाने की आज्ञा चाही।

उनकी साधना-आराधना से प्रसन्न महाश्रमणी ने उन्हें सहर्ष अनुमति दे दी। ''और वे चुपचाप अपने रथ पर आरूढ़ हो, राजगृही की ओर प्रस्थान कर गयीं।

तीन जगत् को छलने मे समर्थ माया की तीन मूर्तियो जैसी वे तीनों, श्रेणिक के नगर-प्रान्तर मे आ पहुँची। उन वारागनाओ ने नगर बाहर के एक उद्यान में आवास ग्रहण किया। फिर वे चैत्यो के दर्शन की इच्छा से राजगृही नगरी में आयीं। मगधेश्वर के 'सहस्रकूट चैत्यालय' मे जा कर उन्होने अतिशय विभूति के साथ नैषेधिकी आदि क्रियाएँ कर के, जिनेन्द्र देव की विधिवत् पूजा-आराधना की। फिर मालकोश इत्यादि अनेक राग-रागिनियो के साथ प्रभु का स्तुतिगान आरम्भ किया।

ठीक उसी बेला अभय राजकुमार देव-वन्दना के लिये चैत्यालय मे आये। उज्ज्वल वेशी, मुक्तकेशी, तीन अनजान सुन्दरियो के उस दिव्य सगीतमय स्तवन-गान को सुन कर, अभयकुमार भक्ति-भाव से विभोर और स्तब्ध हो रहे। दूर ही खडे हो कर वे तन्मय भाव से सुनते रहे, ताकि उनकी उपासना मे बाधा न पहुँचे। इसी कारण उन्होने रग-मण्डप मे भी प्रवेश नही किया।

स्तवन पूरा होने पर उन उपासिकाओ ने, मुक्ता-शुक्ति मुद्रा द्वारा प्रणिधान पूर्वक प्रार्थना की। अशीर्ष प्राणिपात किया, और उठ कर चलने को उद्यत हुई। तभी अभय राजकुमार देव-मण्डप मे प्रवेश करते दिखायी पडे। सहज स्मित के साथ उन्होने अतिथि उपासिकाओ की अभ्यर्थना की। उनके सुन्दर सात्विक वेश और उपशम भाव से प्रसन्न गद्गद् हो कर, अभय देव ने उनकी प्रमुखा से निवेदन किया

'मेरा अहोभाग्य है, कल्याणियो, कि आप जैसी साधर्मी साधिकाओं का समागम हुआ। सहधर्मी जैसा बान्धव तो जगत् मे कोई नही होता। मेरी प्रगल्भता को क्षमा करे, देवियो। क्या आपका परिचय पाने का सौभाग्य मेरा हो सकता है? यहाँ कैसे आना हुआ? कहाँ आवास ग्रहण किया है? और ये दोनो आपकी सगिनियाँ कौन है, कि जिनके सग स्वाति और अनुराधा नक्षत्रो के बीच आप चन्द्रलेखा की तरह शोभित है?'

प्रमुखा कपट-श्राविका बहुत ही मृदु मधुर कोयल स्वर मे बोली

'मैं उज्जयिनी नगरी के एक धनाढ्य व्यापारी की विधवा स्त्री हूँ। ये दोनो मेरी पुत्र-वधुएँ है। ये भी काल-धर्म से मेरी ही तरह वृक्ष-विच्छिन्न लताओ के समान विधवा हो गयी है। सो भर यौवन मे ही प्रभात के तारो की तरह कुम्हला गयी है। विधवा होते ही इन्होने मुझ से व्रत-ग्रहण के लिये अनुमति चाही थी। पतिहीना विधवा त्रिलोकपति प्रभु की सती ही तो हो सकती है। मैंने इन मे कहा कि—मैं भी अपना यह उत्तर यौवन अर्हन्त को ही नैवेद्य करूँगी। तत्काल तो हम कुछ काल गार्हस्थ्य मे ही रह कर उत्तम श्राविका व्रतो का पालन करें, शास्त्राध्ययन और तीर्थयात्रा द्वारा साधना-उपासना करे। इस द्रव्य-पूजा द्वारा चित्त का निर्मलीकरण कर के ही हम

प्रव्रज्या ग्रहण करें, और फिर अपने ही भगवान् आत्मा की भाव-पूजा मे परायण हो जायें। इसी कारण अभी हम चैत्य-वन्दना हेतु तीर्थ-यात्रा पर निकली हैं।'

अभयकुमार सुन कर करुणा और वात्सल्य से भर आये। सौन्दर्य और संयम की यह मधुर कारुणिक मुद्रा, कही गहरे मे उनके हृदय को विदग्ध कर गयी। वे आत्मीय हो आये और विनीत स्वर मे बोले

'आपका दर्शन कर मन पावन हो गया, देवियो! सौन्दर्य, सगीत और सयम की यह सयुति देख प्रणत हो गया हूँ। आज आप मेरा आतिथ्य ग्रहण करें। सहधर्मी का आतिथ्य तीर्थ से भी अधिक पवित्र होता है।'

प्रमुखा कपट-श्राविका ने मुग्ध कटाक्षपात करते हुए, लज्जा से आँखें झुका, मुस्करा कर कहा

'आप के उदात्त भाव की आभारी हूँ, अपरिचित बन्धु! आज तो हमारा तीर्थोपवास है, सो क्षमा चाहती हूँ।'

'तो फिर कल प्रात काल आप हमारा घर पावन करें!'

'अब तक आपका परिचय पाने का सौभाग्य न हो सका, महाभाग बन्धु?'

'मगध के आवारा पन्यचारी अभय राजकुमार का नाम आपने नही सुना? आर्यावर्त मे उसकी उद्दण्डता अनजानी तो नही। अरे, आप मुझ से डर गयी क्या?'

कपट-श्राविकाएँ खूब जोर से हँस पडी

'मगध के सर्वमोहन युवराज अभय कुमार की पराक्रम-गाथा तो सारे जम्बूद्वीप की रमणियाँ गाती हैं। लोकगीतो के उस महानायक को प्रणाम करती हूँ।'

'प्रणाम करके बाद को पछताना न पडे, यही देख ले, देवी! हाँ, तो कल प्रात काल हमारा राजद्वार आपकी पग-धूलि की प्रतीक्षा करेगा!'

प्रवीणा भुवनेश्वरी ने ठीक सुयोग पा कर, बात मे जैसे सगीत की मुरकी लगायी

'अगला ही क्षण अनिश्चित है, युवराज, तो कल प्रात काल का निर्णय करने वाली मैं कौन होती हूँ?'

'आप के इस सम्यक् ज्ञान और अवधान से मै आप्यायित हुआ, देवी। तो कल सवेरे फिर यही मैं आप को आमन्त्रित करने आऊँगा। देखें, उपादान के गर्भ मे क्या है!'

कह कर अभय कुमार उनसे बिदा ले, चैत्य-वन्दना के लिए देवालय मे प्रवेश कर गये।

○ ○ ○

अगले दिन का सूर्योदय जाने कितनी होनी-अनहोनी कथाओ का कमल-कोश खिलाता आया।

उस दिन प्रात काल नियत समय पर अभयकुमार 'सहस्रकूट चैत्यालय' मे आये। और बडे अहोभाव तथा मान-सम्भ्रम के साथ उन कपट-श्राविकाओं को आमन्त्रण दे, अपने प्रासाद मे लिवा लाये। उन्हें अपने गृह-चैत्य की वन्दना करवायी। फिर उन्हें बडी आवभगत से भोजन कराया। उपरान्त पुष्कल द्रव्य-वसन तथा धार्मिक उपकरणो की भेट दे कर उन्हें बिदा किया।

अन्यदा उन जोग-मायाओ ने अभयकुमार को अपने आवास पर आमंत्रित किया। नाना प्रकार के भोजन-व्यजनो द्वारा उन्होंने अभय राजा का आतिथ्य सत्कार किया। उपरान्त 'चन्द्रहास सुरा' मे मिश्रित सुगन्धित जल का उन्हे पान कराया। फिर उन्हे शयन खण्ड मे ले गई, और एक पुष्प-सज्जित उज्ज्वल शैया पर उन्हें बैठा कर, वे तीनो उन पर विजन डुलाने लगी। थोडी ही देर मे अभय को लगा, कि जैसे कोई अति मधुर और मार्दवी योग-निद्रा उन्हे छाये ले रही है। देखते-देखते वे गहरी नीद मे मूर्च्छित हो गये।

तब उन कपट-श्राविकाओ ने रेशम से गुँथी रग-बिरगी मोटी रज्जु के जाल द्वारा, अभयकुमार के अचेत शरीर को चारो ओर से इस तरह जकड कर बाँध दिया, जैसे कोई मधु-चक्र रच दिया हो। और तब स्थान-स्थान पर सकेत करके रक्खे हुए रथो द्वारा, उन्होने अभय राजा को उज्जयिनी पहुँचा दिया।

एक दिन, दो दिन, तीन दिन बीत गये, अभय राजकुमार महालय नही लौटे। श्रेणिकराज चिन्ता मे पड गये। अनेक चर और सवार उनकी खोज मे चारो ओर दौडाये गये। खोजते-खोजते वे सयोगात् उन कपट-श्राविकाओ के यहाँ भी जा कर पूछ-ताछ करने लगे। वे मानो बडी ही चिन्ताकुल मुद्रा बना कर बोली 'हाँ, अभय राजा हमारे यहाँ आये तो थे, लेकिन वे तो फिर तत्काल ही लौट गये थे।' हताश हो कर वे अनुचर अन्यत्र उनकी खोज मे भटकने लगे। पचशैल के कान्तारो और गुफाओ को छानने लगे। लेकिन सब निष्फल।

उधर वे उज्ज्वल वेशिनी वारागना श्राविकाएँ, स्थान-स्थान पर नियोजित अश्वो तथा रथो द्वारा यथा समय उज्जयिनी पहुँच गयी। 'चन्द्र-हास सुरा' का नशा शुक्ल पक्ष की चन्द्र-कला की तरह उत्तरोत्तर बढता हुआ, पूर्णिमा के चन्द्र-मण्डल की भाँति अभय की चेतना को समुद्र-ज्वार-सा आलोडित करने लगा। उसी अवस्था मे रज्जु-बद्ध अभयकुमार को एक पालकी मे लिटा कर, गणिका भुवनेश्वरी ने चण्डप्रद्योत के सामने हाज़िर कर दिया।

राजा के हर्ष का पार न रहा। पूछा 'किस उपाय से ऐसा चमत्कार कर सकी, भुवनेश्वरी? पवमान् की तरह निर्बन्धन् अभयकुमार को जगत् की कोई सत्ता नही बाँध सकती। उसे तुम बाँध लायी? कैसे, कैसे? भला बताओ तो, कैसे यह असम्भव सम्भव हुआ?'

महाकालेश्वर की देवदासी भुवनेश्वरी ने बताया, कि किस प्रकार धर्म-छल कर के वह दुर्दान्त अभयकुमार को बाँध लायी है। क्षात्र-मर्यादा के पालक नीतिमान अवन्तिनाथ को यह बहुत अरुचिकर लगा, कि धर्म के विश्वासी साधुमना अभयकुमार को यो धर्म-छल करके वह बाँध लायी है। तुरन्त आदेश दिया, कि अभय को पाश-मुक्त करके, उनके योग्य उच्चासन पर महाराज की दायी ओर आसीन किया जाये। तत्काल यथावत् आज्ञा का पालन किया गया।

मानो कि दीर्घ निद्रा से जाग कर अँगडाई लेते हुए, अभय ने स्थिति को पहचाना। बडी मीठी और शरारती मुस्कान के साथ उन्होने प्रद्योतराज की ओर निहारा। विनयपूर्वक उनका अभिवादन किया। तब प्रद्योत ने बात को विनोद मे उडा देने के ख्याल से, हँसते हुए अभय से कहा

'नि शस्त्र विजेता चतुर-चूडामणि अभयकुमार को, उज्जयिनी की एक वारांगना यो बाँध लायी, जैसे कोई मार्जारी शुक-पक्षी को पकड लायी हो! भला यह असम्भव कैसे सम्भव हो सका, अभय राजकुमार?'

'धन्य है अवन्तीनाथ की बुद्धिमत्ता और नीतिमत्ता! आपके इस पराक्रम से पृथ्वी पर क्षात्र-धर्म की नयी मर्यादा स्थापित हो गयी!'

कह कर, अभय राजकुमार ठहाका मार कर हँस पडा। सुन कर प्रद्योत लज्जित भी हुआ, और कोपायमान भी। फिर सत्तामद से इठलाते हुए व्यग की हँसी हँस कर कहा

'चाहो तो तुम्हे मुक्त कर दूँ, अभय राजा!'

'अपने बन्धन और मुक्ति दोनो का स्वामी मै स्वयम् हूँ, महाराज! वह सत्ता मैंने आपके हाथ नही रक्खी। मैं अपने ही उपादान से यहाँ बन्दी हूँ, राजन्। आपके या आपकी वेश्या के छल-बल से नही। अब तक आपने मुक्त अभय के खेल देखे, अब जरा बन्दी अभय कुमार की लीला भी देखे। कुछ आपका मनोरजन हो जायेगा। आपके चण्ड प्रताप का नशा जरा हलका हो जायेगा। आपकी क्रोधाग्नि को मेरे चन्दन-जल की वर्षा की जरूरत है। नही तो आपका नाडी-चक्र छिन्न-भिन्न हो जायेगा!'

चण्डप्रद्योत इस अपमान से आग-बबूला हो गया। भीषण क्रोध से अट्टहास कर बोला

'अच्छा तो देखता हूँ, कैसे तुम अपने बन्धन और मुक्ति के स्वामी हो!'

कह कर उज्जयिनी पति ने एक सुवर्ण से मढ़े फौलाद के पिंजडे-नुमा कक्ष मे, अभय को राजहस की तरह कैद करवा दिया। अभय ने हँस कर कहा.

'यह पिंजडा तो मैं चुटकी बजाते मे तोड कर भाग सकता हूँ, महाराज। मेरा स्वायत्त कारागार ही मुझे बाँधे रखने को पर्याप्त है। अपनी खुशी

जो आप बँध आया है, उसे बाँध कर रखने का आपका यह बाल-चापल्य बडा मनोरंजक है, उज्जयिनीपति। अपनी मुक्ति और अपनी मर्यादा समुद्र स्वयम् ही हो सकता है। आप अपने पिंजडे मे उसे बन्द रख कर मन बहलाना चाहते हैं, तो उस अनिरुद्ध को क्या आपत्ति हो सकती है!'

चण्डप्रद्योत को लगा कि पिंजडे मे अभयकुमार नही, वह स्वयम् ही बन्दी हो गया है। उसकी शिराएँ तन कर टूटने लगी। उसके कपाल मे रक्त पछाडे खाने लगा। उसके शरीर का हाड-पिंजर जैसे अभी-अभी फट पडेगा।

चण्डप्रद्योत की साँस घुटने लगी। कैसे इस अनिर्वार का प्रतिकार करे? इस असम्भव पुरुष के साथ क्या सलूक किया जाये? क्या इसका कोई निवारण नही इस पृथ्वी पर?

○ ○ ○

चण्डप्रद्योत के राज्य मे अग्निभीरु रथ, शिवादेवी रानी, अनलगिरि हाथी और लोहजघ नामा लेखवाहक (पत्रवाहक) दूत—ये चार अप्रतिम रत्न माने जाते थे। राजा बारम्बार लोहजघ को अनेक राज्यादेशो के लेख ले कर भृगुकच्छ भेजा करता था। उसके निरन्तर आवागमन तथा नित-नये शासनादेशो से भृगुकच्छ के लोग बहुत त्रस्त हो गये। हर दिन पच्चीस योजन आता है, और हर बार एक नये हुक्म की तलवार हमारे पर पर टाँग जाता है। लोगो ने मिल कर गुप्त परामर्श किया। क्यो न हम इस लोहजघ का काम तमाम कर दे, ताकि सदा के लिये इस सकट का ही अन्त हो जाये।

उन्होने एक उपाय-योजना की। लोहजघ के पाथेय मे जो अच्छे लड्डू रखे थे, वे चुरा लिये, और उनके स्थान पर विष-मिश्रित लड्डू रख दिये। लोहजघ अपना कर्त्तव्य कर, सहज भाव से अवन्ती की ओर चल पडा। अवन्ती की सीमा मे प्रवेश कर वह एक नदी के तट पर, अपने पाथेय के लड्डू निकाल कर कलेवा करने बैठा। हठात् कुछ अपशकुन हुए। वह तुरन्त वहाँ से आगे बढ गया। और एक सरसी तट के कदली कुज मे पाथेय खाने बैठा। वहाँ भी एक के बाद एक कई अपशकुनो ने उसे चौंका दिया। किसी भयानक अदृष्ट की आशका से वह काँप उठा। भूखा-प्यासा ही वह भागता हुआ उज्जयिनी आ पहुँचा। आ कर उसने महाराज से सारा वृत्तान्त कहा।

राजा को जैसे किसी अपार्थिव उत्पात की आशंका हुई। एक अवार्य भय से वह लोमहर्षित हो उठा। अभय राजकुमार का फौलादी सुवर्ण पिंजडा उसके कपाल से टकराने लगा। मेरी सत्ता का वज्र क्या लौट कर मुझी पर टूट रहा है? अभय कुमार की अकल्प्य पराक्रम-कथाएँ, उसके मस्तिष्क मे जैसे मारण-मत्र की तरह भन्नाने लगी। 'कुछ भी तो असम्भव नही, इस आसमानी आदमी के लिये!' 'इस सकट की घडी मे इसे बन्दी रखना खतरनाक है, तो मुक्त करना और भी खतरनाक!' 'राजा की बुद्धि जवाब दे गयी। मत्रियो की अक्ल को पसीना आ गया।

हठात् प्रद्योतराज को एक तुक्का सूझा स्वयम् बुद्धिनिधान अभयकुमार से ही क्यो न इस दैवी उत्पात का रहस्य पूछा जाये। राजा हँसते-हँसते पिंजड़े के पास गये और सारी घटना अभय राजा को सुना कर जिज्ञासा की

'अभय राजा, तुम तो हवाओं पर सवारी करते हो। अगम-निगम के भेद जानते हो। ज़रा बताओ तो, हमारे पवनजयी लेखवाहक लोहजघ के साथ यह कौन प्रेतलीला हो रही है ? उसके बिना तो हमारा तत्र ही ठप्प हो जाये।'

'ज़रा वह पाथेय के लड्डुओ की थैली तो मँगवाइये, महाराज!'

तुरत लोहजघ ने वह थैली ला कर हाजिर कर दी। पिंजडे की शलाखो मे से हाथ निकाल, अभय ने उस थैली को सूँघा। और तत्काल बोल उठा

'इसमे विशिष्ट प्रकार के द्रव्यो के सयोग से दृष्टिविष सर्प उत्पन्न हो गया है। यदि लोहजघ ने यह थैली खोली होती, तो वह विष-ज्वाला से दग्ध हो कर वही भस्म हो जाता। लोहजघ शकुन-विद्या का गूढ ज्ञानी लगता है, इसी से उसकी प्राण-रक्षा हो गयी। भृगुकच्छ मे, जान पडता है, आपके राज्य का राहु जन्म ले चुका है, महाराज, सावधान! और इस थैली को आप तुरन्त किसी सुदूर निर्जन अरण्य मे पराङ्मुख रह कर छुडवा दें। वर्ना इसमे से अनेक सर्पजाल फूट कर अपनी फूत्कार-ज्वाला से जाने कितनी बस्तियो को भस्म कर देंगे।'

राजा ने शीघ्र ही वैसी व्यवस्था का आदेश दिया। फिर अवन्तीश्वर ने मानो बडे प्यार से हँस कर कहा

'तुम तो चिन्तामणि पुरुष हो, देवानुप्रिय। तुम्हे नही छोडना अब तो और भी अनिवार्य हो गया है। लोहजघ को बचा कर, तुमने मेरे साम्राज्य को बचा लिया। अपनी मुक्ति के सिवाय और कोई भी वरदान माँग लो, सहर्ष दे दूंगा। तुमसे अधिक कुछ भी महँगा नही पडेगा मेरे लिये!'

'मुक्ति तो मैं माँग कर लेता नही, महाराज। वह सत्ता मैंने आपके हाथ कब सौपी ? लेकिन इस वरदान को मेरी धरोहर रखे अपने पास। समय आने पर ले लूंगा।'

कह कर अभय राजकुमार जैसे बिजली की फुलझडियो की तरह हँस पडा। सारे जम्बूद्वीप के राजा जिस चण्डप्रद्योत के आतक से थर्राते रहते हैं, वही चण्डप्रद्योत अपने बन्दी अभय राजकुमार की इस सहज कौतुकी हँसी से थर्रा उठा।

वह इस अजीब आसमानी आदमी को थाहने लगा।

और उसे लगा, कि उसकी अपनी तहे भेद कर ये कैसे रहस्यो के सफेद भूत एक पर एक उठे आ रहे हैं!·· □

२६

# कृष्ण-कमल में बजता जल-तरंग

मेरी छत के ईशान कोण मे एक छोटा-सा लता-मण्डप है। उस पर आज कृष्ण-कमल का बडा सारा एक फूल खिला है। उसके ठीक ऊपर उग आया है चाँद। कृष्ण-कमल की नीलिमा चाँदनी मे बेमालूम-सी अपनी आभा छिटका रही है।

यह कैसा अपलाप घटित हुआ है! कृष्ण-कमल तो सबेरे खिलता है न। पर यह क्या हुआ, कि आज औचक ही रात मे खिल आया है। एक विचित्र अपार्थिवता के बोध से मैं भर आया। शरीर मे रोमाच और कम्पन के हिलोरे दौड रहे है।

मैं बेबस हो कर बिस्तर पर जा लेटा। लेटते ही मुझे लगा, कि मुझ पर योग-तन्द्रा-सी छाने लगी है। तन-बदन मे सहसा ही अकारण सुख ऊर्मिल होता अनुभव हुआ। मन हठात् नीरव, निष्कम्प हो गया। एक गहन शून्य मे अपने को विसर्जित होते अनुभव किया। देखते-देखते मैं नही रह गया। सब कुछ एकदम निस्तब्ध नि शब्द हो गया। कही कोई एक दर्शक मात्र रह गया। और उसके दर्शन मे पिछली कई कहानियाँ जीवन्त हो कर, एक चल-चित्र की तरह खुलती चली गई। वे ठीक सामने घटित होने लगी। और यह क्या है, कि अधिकांश कहानियो के नायक के रूप मे अभय राजकुमार ही लीलायमान दिखाई पड़ रहा है। यह महावीर की कथा है, कि अभय राजकुमार की? लेकिन यह भी तो है, कि खेलता है अभयकुमार, और वह सारा खेल मानो महावीर मे से आता है, और छोर पर उन्ही मे निर्वापित हो जाता है।

एकाएक कृष्ण-कमल के लता-मण्डप मे से सुनाई पडा

'वीरेन्द्र वासुदेव!'

एक अजीब निरतिशय सुख के ज्वार के साथ मैं आपे मे आ गया। जैसे किसी अन्तरिक्ष के पलँग पर मैं जागा।

'मैं मैं मैं वासुदेव कैसा?'

'हाँ, वीरेन्द्र, तुम वही हो, मैं भी वही हूँ!'

'तुम कौन?'

'मैं अभय राजकुमार, तुम्हारी आत्मा का सहचर!'

मैं सहज ही प्रत्यायित हुआ, और एक अकथ्य सुख के पुलक-कम्पनो मे सैरने लगा। बरबस ही मेरे मुँह से निकला

'मुझे भी तो प्राय ऐसा ही लगा है, अभय राजा, कि तुम्हारी कथा नही, अपनी ही कथा लिख रहा हूँ। लेकिन मैं यह वासुदेव कैसा ?'

'देवानाप्रिय वीरेन्द्र वासुदेव !'

'अरे अरे, मेरा उपहास न करो, अभय दा, मैं लज्जा से मरा जा रहा हूँ। निरस्तित्व हुआ जा रहा हूँ। मुझे रहने दो, अभय राजा, निरा वीरेन् ही रहने दो।'

'लेकिन यह महावीर को मजूर नही, कि तुम अब भी अपना असली स्वरूप न पहचानो। तुम हो वीरेन्द्र वासुदेव !'

'कौन वासुदेव, कैसा वासुदेव !'

'वासुदेव कृष्ण का तेजाशी पुत्र। महावीर के लीला-नायक वासुदेव कृष्ण का तिर्यक्गामी वशधर—वीरेन्द्र। वही मैं और वही तुम भी तो हो !'

और हठात् जैसे एक गहरे धक्के के साथ पट-परिवर्तन हुआ। देखता क्या हूँ, कि अपनी शैया मे मैं नही लेटा हूँ, अभय राजकुमार लेटा है, कि जाने कृष्ण वासुदेव लेटा है। और मैं जाने कहाँ से यह सब केवल देख रहा हूँ। कृष्ण-कमल के नील ज्योत्स्नाविल लता-मण्डप मे चल रही है एक छाया-खेला। कभी मैं अभय हो जाता हूँ, और कभी अभय 'मैं' हो जाता है। और कृष्ण-कमल की नीलाभा मे तैर रही है एक वीतराग मुस्कान। अरे, ये तो महावीर के धनुषाकार ओठ हैं। और अचानक फिर एक त्रिभगी मुद्रा, तिर्यक मुस्कान। नटखट और लीला-चचल।

'ठीक ही तो देख रहे हो, वीरेन्द्र वासुदेव ! वीतराग पुरुष महावीर जब जीवन को जीते है, तो उस स्वत स्फुरित परिणमन-लीला का ही नाम है—कृष्ण वासुदेव, अभय वासुदेव, वीरेन्द्र वासुदेव !'

'कहते क्या हो, अभय दा, अहम् के उस आसमान से तो खन्दक मे ही गिरूँगा मैं। मुझे अपनी ना-कुछ हस्ती मे ही रहने दो न। एक निर्बन्धन् अकिचन्, लोक-निर्वासित कवि।'

'निर्बन्धन् अकिचन्, लोक-निर्वासित कवि ही तो वासुदेव होता है। वह तुम हो जन्मजात, इसी से तो अनुत्तर योगी की रचना कर सके हो !'

'मैं तो सृष्टि और इतिहास मे घटित ही न हुआ, अभय दा। मेरा होना या न होना, माने ही क्या रखता है। मुझे यहाँ कौन पहचानता है ?'

'घटित तुम कहाँ नही हो ? और फिर भी अघटित हो, इसी से तो महावीर ने तुम्हें चुना है। कि तुम्ही उनकी महाभाव लीला का सम्यक् गान

कर सकते हो। प्रभु के आदेश से ही तुम्हारे पास आया हूँ, कि तुम्हें तुम्हारी असली और अन्तिम पहचान करा दूँ। क्या तुम अपने को ही महावीर में; मुझ मे, सब मे नही रख रहे ?'

'तुमने मेरी चोरी पकड़ ली अभय दा, अब आगे कलम कैसे चले ?...'

'कलम तो आप ही चलेगी, उसे चलाने या न चलाने वाले तुम कौन होते हो !'

'अभय दा, ज़रा सामने आओ न ! तुम्हे देखने को व्याकुल हो उठा हूँ।'

'मुझे अपने से भिन्न देखना चाहोगे, मेरे वीरेन्द्र वासुदेव ? अपने ही को देखो न, अभय तो हर पल तुम्हारे जीवन मे तदाकार खेल रहा है।'

एक अविचल प्रतीति के गहन सुख से मैं एक दम आश्वस्त, विश्रब्ध हो गया। प्रश्न, विचार, वाचा समाप्त अनुभव हुए।

तभी अचानक एक खूब अल्हड़ दुरन्त खिलखिलाहट सुनाई पडी। अभय राजकुमार की वही लीला-चपल, उन्मुक्त, प्रगल्भ हँसी।

'सुनो वीरेन्, आज एक और कथा तुम्हे सुनाने आया हूँ, जिसे तुम यथा-प्रसग न कह पाये थे। मैंने वह तुम से ओझल रख ली थी, क्यों कि मैं तब तुम से टकराना नही चाहता था। याद करो बरसो पहले का वह प्रसग, जब चण्ड प्रद्योत ने विन्ध्याचल मे अनलगिरि हाथी का एक मायावी रूप बनवा कर छुड़वा दिया था, और उस युक्ति से उसने वत्सराज उदयन को बँधवा मँगवाया था। यह उसी समय की बात है, जब मैं प्रद्योत के यहाँ सुवर्ण के पिंजरे मे बन्दी रक्खा गया था। प्रद्योत के पूछने पर, मैंने ही उदयन को बँधवा मँगवाने की उपरोक्त युक्ति उसे बतायी थी।

'बात यह थी, कि चण्ड प्रद्योत अपनी अगारवती रानी की परमा सुन्दरी बेटी वासवदत्ता को गान्धर्व विद्या मे निपुण बनाना चाहता था। वासवी की एकान्त गान-लहरी को चुपके से सुन कर, प्रद्योत प्राय स्तब्ध विभोर हो रहता। अरे, यह तो जन्ममा ही गाधर्वी है—मेरी बेटी ! इसकी इस विद्या को विकसित करना होगा। कहाँ मिले वह गुरु, जो वासवदत्ता के सगीत मे नाद-ब्रह्म को जगा दे। · सो प्रद्योत ने मेरा परामर्श माँगा। मैंने कहा—सीधे वासुकी नाग से जिस उदयन को देववीणा प्राप्त हुई, चित्ररथ और विश्वावसु गन्धर्व आधी रातो जिसकी मातगी वीणा के वादन पर उतर आते हैं, तुम्बरु गन्धर्व जिसकी वीणा के तूम्बो मे आ कर बैठता है, वही पृथ्वी पर इस समय मूर्तिमान देव-गन्धर्व है। यों तो वह आयेगा नही। उसे पकड़वा मँगवाओ। वह वन में, अपने संगीत से गजेन्द्रो को भी मोहित कर बाँध लेता है। जैसे वह अपने गीत से हाथियो को बाँध लाता है, ठीक उसी उपाय से उसे भी बाँध कर लाया जा सकता है। ···आपके अनलगिरि हाथी पर

उदयन की निगाह जाने कब से लगी है। उसी का नकली काष्ठ रूप बनवा कर विन्ध्याचल में छुड़वा दो, और वहीं उदयन को मोहित कर बाँध लायेगा।'

'कैसे उस नकली हाथी द्वारा उदयन को पकड़वा मँगवा गया, वह कथा तो तुमने लिखी ही है, वीरेन। पर आज जान लो, कि अभय की युक्ति से ही उदयन को तब बन्दी बना कर लाया जा सका था।'

'हर कथा के भीतर, एक और अन्तर-कथा है। तो तब की एक अन्तर-कथा अब तुम्हे बताता हूँ। तुमने जो कथा लिखी है तब की, उसमे एक और भी फल्गू बह रही थी, वह तुम से ओझल रह गई। जानो वीरेन, यह उदयन भी तो तुम्हारी-हमारी जाति का ही है न। खेलने के सिवाय और कोई काम नही, प्यार करने के सिवाय और कोई व्यापार, विहार, व्यासग नही। सो बन्दी हो कर उदयन, एक जोर का ठहाका मारता हुआ ही प्रद्योत के सामने आया। अपने सुवर्ण-पिंजर मे से मै सारा तमाशा देख रहा था। प्रद्योत ने भी हँस कर ही, उसे विजय-गर्व के साथ अपने निकट बैठाया। फिर कहा कि—मेरे एक एकाक्षी पुत्री है, एक आखवाली लडकी। कह लो कि कानी है। उसे ब्याहेगा भी कौन। उसके कठ मे दिव्य सगीत लहरी है। उसे गान्धर्वी कला सिखाओ, देवानुप्रिय उदयन। तुम तो गन्धर्वो के भी मनमोहन हो। तुम्हारे सिवाय यह परा विद्या वासवी को और कौन सिखा सकता है!

'उदयन को तत्काल छुटकारे का कोई उपाय न सूझा। उसने प्रद्योत का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार लिया। प्रद्योत ने कहा—मेरी दुहिता कानी है, सो तुम उसे कभी देखना नही, वर्ना वह लज्जित, म्लान और खिन्न हो जायेगी। उधर अन्त पुर मे जा कर प्रद्योत ने अपनी बेटी वासवदत्ता से कहा—कि तुझे गान्धर्वी कला सिखाने को जो गन्धर्व-गुरु आया है, वह कुष्ठी है, सो उसे प्रत्यक्ष कभी देखना नही। देख लेगी तो भयभीत और जुगुप्सित हो कर, उससे विद्या न सीख पायेगी। वासवी ने पिता की शर्त स्वीकार कर ली।

'अन्त पुर मे, वासवी के कक्ष मे एक सघन रेशमीन यवनिका डाल दी गई। और बीच मे यह आवरण रख कर, वासवी उदयन से संगीत-कला सीखने लगी। उस दौरान वह उदयन की सगीत-मोहिनी से ऐसी विकल और मोहित हो गई, कि उसका जी चाहा कि वह उदयन को देखे। देखे बिना प्राण को विराम नही। एक दा सीखते समय वह इतनी सम्मोहित हो गई, कि शून्यमनस्क और उदास हो आई। सीखना दूभर हो गया। वीणा चुप हो गई। कण्ठ-स्वर डूब गया। विद्या की धारा भग हो गई। उदयन इस धारा-विक्षेप से सहसा ही क्षुब्ध हो उठा। उत्तेजित हो कर बोल पडा

'अरी ओ कानी, तूने स्वर-भग कर दिया! कहाँ लगा है तेरा मन? तू मेरी सगीत-सरस्वती का अनादर करेगी री? ढीठ कहीं की!'

'सुन कर वासवी की मुग्धता भीषण क्रोध मे उबल पडी

'अरे ओ कोढ़ी, तेरा ऐसा दु साहस ! तू स्वयम् कुष्ठी है, यह भूल गया, और मुझे कानी कहता है ? अरे मेरी आँखे देख लेगा, तो अपना सगीत भूल जायेगा। · ले देख और जान, कि तेरा सगीत अधिक मोहक है, या मेरी आँखें ! .'

' कह कर तैश मे वासवदत्ता ने एक झटके से यवनिका हटा दी। दोनो एक-दूसरे को देख कर स्तब्ध हो रहे। वासवदत्ता के सौन्दर्य मे उदयन का सगीत, छोर पर पहुँच कर डूब गया। उसके कुँवारे वक्षोजो मे उदयन की मातंग-विमोहिनी वीणा आपोआप बजने लगी। और वासवदत्ता का सौन्दर्य, उदयन के सगीत मे अधिक-अधिक अनावरण होता गया वह एक विदेहिनी लौ मात्र हो कर रह गयी।

'उस दिन के बाद से उदयन और वासवी एक प्राण, एक आत्म, एक तन हो कर जीने लगे। सगीत की सागरी शैया मे, उनके शरीर परस्पर मे आरपार लहराने लगे। वे निर्भय और निर्बाध मना हो कर, सारी मर्यादाओ से परे, अपना युगल जीवन जीने लगे। यह गोपन रहस्य, वासवदत्ता की एक विश्वासपात्र धात्री दासी के सिवाय, और कोई नही जानता था।

'उन्ही दिनों प्रद्योतराज का अनलगिरि हाथी, एकदा अचानक सॉकले तोड, महावत को धराशायी कर भाग निकला। वह मदमत्त महाहस्ति सारे नगर को रौदता हुआ, भारी ध्वस करने लगा। आतक के मारे सारा नगर जनशून्य हो गया। तब फिर प्रद्योतराज को याद आया मैं–अभय राजकुमार। सो मेरे पिंजडे पर आ कर पूछा कि किस उपाय से इस पागल हाथी को वश किया जाये ? मैंने उनसे कहा कि तुम्हारे महल मे ला बिठाया है मैंने गन्धर्वजयी उदयन को। केवल उसका सगीत ही इस गजेन्द्र की महावासना को शान्त कर सकता है। सो प्रद्योत के अनुरोध पर उदयन ने, महल के वातायन पर वासवदत्ता के साथ बैठ कर, युगल वीणा-वादन किया। अनलगिरि हाथी खिंचा चला आया उनकी ओर। और वातायन के ठीक नीचे आ कर वह शान्त, स्तब्ध हो कर प्रणत मुद्रा मे झुक गया।

'तब प्रद्योतराज ने मुझ से आ कर कहा, कि मैं छुटकारा पाने के सिवाय, एक और कोई भी वरदान माँग लूँ। मैंने कहा—अभी इस वरदान को भी मेरी धरोहर रूप रखो, राजन्, समय आने पर माँग लूँगा।···

'इसके बाद किस तरह अनिल-वेगा हस्तिनी पर, वत्सराज उदयन वासवदत्ता का हरण कर ले गया, वह कथा तो तुमने लिख ही दी है, वीरेन् ! अवन्तीनाथ के उस सुवर्ण-मढ़े फौलादी पिंजड़े में क़ैद रह कर ही, मैंने इतिहास को जाने कितनी जगह से तोडा, और मनचाहा मोड़ा, और

उसके जाने कितने दूरगामी और कालभेदी परिणाम हुए, इसका लेखा-जोखा किसके पास है। तुम्हारा जीवन भी तो किस कारागार से कम है, वीरेन! तुम्हारे सारे नाडी-चक्र को, जाने कितनी ही साँकलें एक साथ जकडे हुए है। फिर भी हर दिन तुम जाने-अनजाने, न मालूम कितने खेल अपनी आँखो, शब्दो, प्यारो और प्रहारों से ऐसे खेलते रहते हो, कि उससे इतिहास की नाडियाँ झनझनाती रहती है, उसके हृत्स्पन्दन मे आँधियाँ और बसन्त एक साथ आते-जाते रहते है। काश तुम जान पाते, वीरेन, कि तुम कौन हो? तुम समय मे नही, समयसार मे घटित हो रहे हो। तुम घट मे नही, घटाकाश मे सक्रिय हो। तुम इतिहास मे नही, उसके उत्स मे चल और बोल रहे हो। इसी से तुम सदा अनपहचाने रहोगे पृथ्वी के पटल पर। केवल तुम्हारा निर्नाम, निश्चिन्ह सचार महाकाल की धारा मे प्रमाणित होता रहेगा।'

और सहसा ही वह आवाज खामोश हो गई। ' लेकिन ओ अभय दा, तुम ने कथाधारा बीच मे ही क्यो तोड दी? बताया नही तुमने, कि उस सोने के पिंजडे से तुम कैसे, कब मुक्त हुए? क्या फिर तुम राजगृही नही लौटे? क्या हुआ तुम्हारा?'

ठीक चाँद के नीचे कृष्ण-कमल की नीलिमा फिर प्रोद्भासित हो उठी। सारी छत मे एक नीला-दूधिया-सा उजाला छा गया। और सुनाई पडा

'इतनी बडी बात हो जाने पर भी, बहुत छोटी बात पूछी तुमने, वीरेन्! पिंजडे की भली कही। प्रद्योत की क्या ताब थी, कि वह मुझे पिंजडे मे बन्द रखता। ऐसे तो कई कारागार सिर्फ चतुरग खेलने के लिये, मैं खुद रचता और भग कर देता हूँ। और पिंजडा भला कहाँ नही है। यह अस्तित्व, इतिहास, जीवन के चढाव-उतार, सारा तमाम तो एक नित नये पिंजडो का सिलसिला है। एक प्रकाण्ड कारागार, जिसे हम खुद रचते है कदम-कदम पर, और खुद ही तोडते चलते है। दूसरी कोई ताकत नही, हम से बाहर, जो हमे कैद कर सके। तुम्हारी पीडा को मैं समझ रहा हूँ, वीरेन्। तुम मुक्त हो हर पल, फिर भी अपने को बन्दी मानने के भ्रम मे पडे हो। जान कर भी, अनजाने बने हो! खिलाडी जो ठहरे। खैर, छोडो यह बात।

'तुम्हे जल्दी है अपनी कथा आगे बढाने और पूरी करने की। तो प्रासगिक कथा को समापित करूँ, ताकि तुम आगे बढ सको।

' एक और भी लीला तब उज्जयिनी मे हुई। जाने किस कारण से उस महानगरी मे भीषण आग लग गई। आकाश चूमती लपटे मानो अभी-अभी सारी उज्जयिनी का लील जायेगी। प्रद्योतराज फिर मेरे पिंजडे के द्वार पर हाजिर दिखाई पडे। बोले--'भाई अभय, लाखो प्राण इस सत्यानाशी अग्निकाण्ड मे हवन हो रहे हैं। कोई उपाय बताओ, कि यह महाकृत्या शान्त हो सके।' मुझे बरबस हँसी आ गई। मामूली-सी बात का इतना बडा

बावेला—सत्यानाश ! अरे भाई, मैं कोई जादूगर तो नहीं, मान्त्रिक-तान्त्रिक या परित्राता नहीं। फिर भी मुझे जाने क्या सूझा, सो मैंने तपाक से कहा : 'सुनें महाराज, जैसे विष का उपाय विष है, वैसे ही अग्नि का निवारण केवल अग्नि है। तत्काल कहीं और आग लगवा दीजिये, किसी निर्जन मे, तो ये अग्निदेव उस अर्घ्य से शान्त हो जायेंगे।' विचित्र हुआ, कि वह उपाय फौरन किया गया, और उज्जयिनी का अग्निकाण्ड देखते-देखते एक दम शान्त हो गया। राजा प्रद्योत ने प्रसन्न हो कर मुझ से तीसरा वरदान माँगने को कहा। मैंने कहा 'इसे भी मेरी धरोहर रख ले अपने पास, ठीक समय पर माँग लूँगा आप मे।' प्रद्योतराज की बुद्धि से बाहर हुआ जा रहा था, मेरा यह सारा क्रीड़ा-व्यापार। उनकी हर समस्या मैंने सुलझा दी, तो मुझ पर वे सन्देह भी कैसे कर सकते थे। अभय से पा रहे थे वे केवल अभयदान, और निर्भय होते जा रहे थे। मन उनका नर्म, नम्र और नि.शक होता चला जा रहा था। सो मुझ पर शका करना उनके बस का नहीं रह गया था।

'उन्ही दिनो एक और सकट अवन्ती पर अचानक टूट पडा। कोई अश्रुत-पूर्व महामारी चल पड़ी, और सारे अवन्ती देश मे व्याप गई। हर दिन जाने कितने मानुष और पशु का भोग वह लेने लगी। प्रद्योतराज फिर मेरे पास दौड़े आये 'भाई अभय राजा, तुम्हारे सिवाय त्रिलोकी मे इस महामारी का निवारण कौन कर सकता है। शीघ्र उपाय बताओ, भाई।' मै तो कुछ सोचता नही, वीरेन्। ठीक समय पर कोई चुम्बक-सा मुझ मे कौंध उठता है। और फिर मुँह से जो निकल जाये, वही कारगर उपाय हो जाता है। मैंने कहा 'महाराज, परेशानी का कारण नही। अभी आप ज़रा अपने अन्त पुर मे जायें। आपकी सारी रानियाँ, सोलहो सिंगार किये आप की प्रतीक्षा मे है। उनमे से जो रानी अपनी दृष्टि से आप को जीत ले, उसी का नाम ज़रा मुझे बता जाये।'

'राजा तत्काल अपने अन्त पुर मे गया। शिवादेवी के कटाक्ष से वह पल मात्र मे ही विजित हो गया। प्रद्योत ने आ कर मुझे वह नाम बता दिया! 'ओ, शिवा मौसी! उनका कटाक्ष अमोघ है, महाराज। उनसे तो आप सदा हारे है। वे है सर्व मानमर्दिनी, सर्व असुरदलिनी महाकाली। तो उन्ही महारानी शिवादेवी के हाथो कूराम्न की बलि दिलवा कर, भूखे भूतो की पूजा कराइये, उनकी जनम-जनम की दमित बुभुक्षा-वासना का शमन कराइये। उस बलि को ग्रहण करने के लिये, जो भूत सियाल के रूप मे सामने आये, उसी के मुख मे महादेवी कूरबलि का क्षेपण कर दें। फिर देखिये क्या होता है!' अपना तो कोई तीर कभी नाकाम होता नहीं, वीरेन्। क्यो कि मैं सोचता नहीं, तत्काल कहता और करता हूँ। शिवादेवी की कूरबलि से वह अशिव महामारी रातोरात शान्त हो गई। कैसे यह हो गया, इसका

विज्ञान मुझे पता नहीं, मैं स्वयम् चकित हूँ देख कर, कि यह कौन सर्वसत्ताधीश मेरी रक्त-शिराओं मे नित नये खेल रचा रहा है।

'सबेरे ही प्रद्योतराज बडे कृतज्ञ और हर्षित भाव मे मेरे पास दौडे आये। बोले—'विचित्र हो तुम, देवानुप्रिय अभयदेव ! मैं तुम्हें छोड नही सकता। और तुम भी मानो छूटना नही चाहते। तुम्हारे साथ कैसे बरतूं, क्या सुलूक करूँ, समझ मे नही आता। फिर माँग लो एक और वरदान। जो माँगोगे दे दूँगा, उज्जयिनी का सिहासन भी। लेकिन तुम्हे छोड़ूँगा नही। तुम्हे सदा मेरे अधीन रहना होगा।' मै मदा की तरह एक जोर का ठहाका मार कर हँस पडा। फिर बोला·

'सुनें अवन्तीनाथ चण्डप्रद्योत, आज मै अपने चारो धरोहर वरदान एक साथ माँगे लेता हूँ। 'आप अनलगिरि हाथी पर महावत बन कर बैठे। और मैं पीछे अम्बाडी मे शिवादेवी के उत्सग मे बैठूं। फिर आप अपने तृतीय रत्न अग्निभीरु रथ को तुडवा कर, उसके काष्ठ से चिता रचवाये। और तब हम तीनो एक साथ उस चिता पर चढ जायें ! '

' सुन कर महाप्रतापी चण्डप्रद्योत को लगा, कि उसके पैरो के नीचे से धरती हट गई है। वह अभी-अभी एक तिमिरान्ध अतल पाताल मे समा जायेगा। उसने दोनो हाथो की अजलि जोड कर, मेरे आगे घुटने टेक दिये। बोला 'क्षमा करो अभय राजा, तुम्हे बाँध कर रख सके, ऐसी शक्ति सत्ता मे विद्यमान नही। तुम्हें बाँध ही न पाया, तो कैसे कहूँ, कि तुम्हे मुक्त करता हूँ !'

'चलते समय मैंने अपने घोडे की रकाब मे पैर रख छलाँग मारते हुए कहा

'आपने तो मुझे धर्म-छल से बँधवा मँगवाया, प्रद्योतराज। और वह भी कुटिनी वेश्याओ द्वारा। आपके इस शूरातन की बलिहारी है ! लेकिन अब जगत् एक और भी शूरातन देखेगा। मै आप को सब की आँखो आगे, दिन के धौले उजाले मे, ठीक आप के नगर के चौक मे से सरे बाजार हर ले जाऊँगा। और आप स्वयम् उस समय चिल्ला-चिल्ला कर उद्घोषणा करते जायेंगे—मैं राजा हूँ·· मैं प्रद्योत हूँ मै राजा हूँ !'

देवानाप्रिय अभय राजकुमार ने घोडे को एड दी, और वे धुर पूर्व के महापथ पर घोडा फेकते हुए, क्षण मात्र मे ही जाने कहाँ ओझल हो गये।

मै एक झटके के साथ योग-तन्द्रा से बाहर आ कर पुकारता ही रह गया 'अरे अभय दा, फिर कब तुम से भेट होगी। एक बार बता जाओ न ' —मगर उत्तर कौन देता ?

·और हठात् यह क्या देखता हूँ, कि मेरी शैया मे गहरी निद्रा मे सोये है अभय राजकुमार! कृष्ण-कमल मे चाँदनी अपनी किरणो से 'जल-तरग' बजा रही है।·

मैं तब कहाँ था, कौन था, मुझे नही मालूम· ! □

२७

# केवल बहते जाना है

उज्जयिनी मे इन दिनो एक विचित्र घटना हुई है। चारो ओर नगर मे उसकी चर्चा है। सुदूर 'प्रवाल द्वीप' का कोई श्रेष्ठी, नगर के राजमार्ग की एक ऊँची हवेली मे आ कर बस गया है। उसके दुमजिले के अलिन्द पर हर सन्ध्या, दो सुन्दरी कन्याएँ नित नये सिंगार कर के बैठी दिखायी पडती हैं। नवदुर्गा जैसा दैवी सौन्दर्य। अभिजात गौरव भगिमा। लेकिन उनके मदभीने लोचनो मे अप्सरा का सूक्ष्म कटाक्ष खेलता रहता है। नगर के सारे रसिक हर साँझ उस ओर से गुजरे बिना रह नही पाते। और हृदय मे एक कसक का बिच्छू-दश ले कर घर लौटते हैं। हाय, इस काटे का इलाज नही!

रसिक-राजेश्वर अवन्तीनाथ ने यह सम्वाद सुना, तो उस रात सो न सके। अगली सन्ध्या ही महाराज अपने रथ पर आरूढ हो कर, उस हवेली से गुजरे। उनकी दो आँखे, तिमजिले की चार आँखो से मिली, तो हट न सकी। रथ को भी क्षण भर रुक जाना पडा। पहिये ही मानो मर्च्छा खा गये! महाराज पर जैसे किसी ने मोहिनी सिन्दूर छिडक दिया। उनकी आँखो मे जाने कैसी काजली-नीली रात अँज गई। उन चार लोचनो की कजरारी कोरो से उनका हृदय पोर-पोर बिधा जा रहा था। दरबार और अन्त पुरो से राजा गैरहाजिर हो गये। उनके निज कक्ष के कपाट जो बन्द हुए, तो खुलने का नाम नही।

आखिर एक साँझ महाराज की एक गुप्त दूती, श्रेष्ठी के आवास पर पहुँच गई। उसने संकेत भाषा मे महाराज का सदेश, उन दोनो सुन्दरियो को सम्प्रेषित किया। उन अल्हड कुटिल लडकियो ने दूती का खूब मजाक उड़ाया, और उसे निकाल बाहर किया। दूती हर साँझ नये-नये सन्देश और महार्घ भेंट-उपहार ले कर आने लगी। और हर दिन उसे तिरस्कृत, अपमानित हो कर लौटना पडता। वह सोच मे पडी, हमारे महराज तो जगत-जीत कोटिभट योद्धा हैं। उनके प्रताप से दिगन्त काँपते है। और वे इन कौडी-मोल बिकने वाली गणिकाओ का अपमान भला क्यो सहते चले जा रहे हैं? ओह, ऐसी अजेय होती है नारी के कटाक्ष की मोहिनी!' दूती ने हार नही मानी। वह कई बार सात परकोट भेद कर, परकीया राजरानियो तक को महाराज के पास ले आयी, तो ये तुच्छ रूपजीवाएँ क्या चीज है!

आखिर एक दिन वे रूपसियाँ जरा नर्म हो आईं। उन्होंने दूती से कहा कि 'हमारे सदाचारी श्रेष्ठी-पिता, हमारे शील पर सदा पहरा लगाये बैठे रहते है। उन्हें यह असह्य है, कि कोई पुरुष हमारे कौमार्य की कटि-मेखला भग करे। आज से सातवे दिन हमारे ये सरक्षक पिता कुछ दिनो के लिये उज्जयिनी से बाहर जा रहे है। अपने राजा से कहना, कि तभी वे गुप्त रीति से हमारे यहाँ आये। तब उन्हे हमारा सग-सुख प्राप्त हो सकेगा।'

उधर श्रेष्ठी ने प्रद्योतराज से कुछ मिलती-जुलती शक्ल वाले अपने एक अनुचर को, कृत्रिम रूप मे पागल बना डाला। उसे पागलपन के कुशल अभिनय का पक्का अभ्यास करा दिया। श्रेष्ठी के रूप-विन्यासकार, आलेपन, उपटन तथा रगो की सहायता से, उस अनुचर के चेहरे-मोहरे को ठीक प्रद्योत जैसा ही रचाव दे देने। और उस पागल का नाम भी रख दिया गया प्रद्योत।

श्रेष्ठी लोगो मे चर्चा करते कि—'मेरा यह भाई वातुल हो गया है। प्रेत की तरह जहाँ-तहाँ भटकता है, और मनमाना प्रलाप करता है। बडी मुश्किल मे इसे सम्हाले रखना पड रहा है। कोई उपाय नही सूझ रहा, कि कैसे इसे ठीक करूँ।' सो श्रेष्ठी प्रति दिन उसे एक खटिया पर लिटा, रस्सियो से बँधवा कर, चार आदमियो के कन्धो पर उठवा, किसी वैद्य के घर उपचार के लिये ले जाता। उस समय सरे बाजार खाट पर बँधा जा रहा वह पागल उन्मत्त हो कर, आर्त्त कण्ठ से विलाप करता हुआ उच्च स्वर मे कहता 'मैं प्रद्योत हूँ मै प्रद्योत हूँ अरे यह श्रेष्ठी बलात् मेरा हरण कर के ले जा रहा है!'

○ ○ ○

उधर सातवाँ दिन आया। सो प्रद्योतराज, वादे के अनुसार उन दो सुन्दरियो का सहवास प्राप्त करने को, गुप्त वेश मे श्रेष्ठी की हवेली पर आ पहुँचे। कक्ष मे प्रवेश करत ही, उसके चारो दरवाजों से श्रेष्ठी के सुभट काले बुर्के पहने निकल आये। और उन्होंने पलक मारते मे ही, उस सुरामत्त कामान्ध राजा को कस कर मुश्को से बाँध लिया। फिर उसे घनघोर मदिरापान करवा कर, एक कमरे मे बन्द कर दिया। अगले दिन रोज के मामूल के अनुसार, श्रेष्ठी उसे खाट पर बँधवा कर, दिन-दहाडे धौली दोपहर, सरे राह वैद्य के घर ले जाने के बहाने मे ले कर चल पडा। राह पर जाते हुए प्रद्योतराज को कुछ होश आया। अपनी बद्ध स्थिति का उन्हे कुछ बोध हुआ। वे खाट पर जकडे आर्त्त कण्ठ से पुकारते जा रहे थे

'अरे मै प्रद्योत हूँ, अरे मैं राजा हूँ। यह दुष्ट श्रेष्ठी मेरा हरण करके ले जा रहा है। अरे सुनो, मैं राजा हूँ, मैं प्रद्योत हूँ!··मुझे इस फरेबी श्रेष्ठी से छुडाओ छुडाओ! ओ मेरे प्रजाजनो, मैं तुम्हारा राजा हूँ, मैं प्रद्योत हूँ···!'

लोगो ने राजा की इस आर्त्त पुकार पर कोई ध्यान न दिया। उन्होंने तो यही समझा, कि श्रेष्ठी हर दिन के नियमानुसार अपने पागल भाई को वैद्य के घर ले जा रहा है। और वैसा ही तो प्रलाप कर रहा है 'मैं राजा हूँ...मैं प्रद्योत हूँ ।' कपट-श्रेष्ठी ने एक-एक कोस पर, वेगीले अश्वो वाले रथ पहले से ही नियोजित करवा रक्खे थे। उन्ही के द्वारा अनुक्रम से महा प्रतापी चण्डप्रद्योत को ठीक राजगृही नगरी मे पहुँचा कर, अभय राजकुमार के महल मे महामात्य अतिथि की तरह बडे सम्मान-सम्भ्रम से रक्खा गया। प्रद्योतराज समझ गये, कि किसने यह मजाक उनके राजाधिराजत्व के साथ किया है। ऐसी हिम्मत पृथ्वी पर केवल एक ही व्यक्ति की है वह जो कहता है, वही कर के दिखा देता है!

ठीक समय पर अभय राजकुमार ने कक्ष मे पहुँच कर अवन्तीनाथ के चरण छुए, और मृदु मधुर स्वर मे बोला

'अरे वाह-वाह जीजा-मौसा, आखिर आपकी पहुनाई हमारे यहाँ हुई! आपकी चरण-धूलि मेरे कक्ष मे पडी। हम गौरवान्वित हुए। यो तो आप आते नही। क्यो कि मगध मे आप जब भी आये, आक्रमणकारी हो कर आये। तो आज आपको मेहमान बना कर ले आना पडा मुझे!'

'मेहमान बना कर, या बन्दी बना कर, अभय राजा?'

'आपको बन्दी बनाया कामिनी के कटाक्ष ने, मौसा। मै तो आपको उस नागपाश से छुडा लाया। और मैं आपको उज्जयिनी के सरे बाजार लाया। आप ने पुकार कर सारी उज्जयिनी से कहा—कि मैं राजा हूँ मैं प्रद्योत हूँ! लेकिन आप पर किसी ने विश्वास ही न किया, तो मैं क्या करता। मैं तो आपको बन्द कर, कैद कर, चोर राह से न लाया। राजमार्ग से लाया। 'मै राजा, मैं प्रद्योत ' पुकारते हुए आप को लाया। और कामिनी के कटाक्ष-रज्जु से तो आप स्वयम् ही बँधे। वह बन्धन बाँधने वाला मैं कौन, और खोलने वाला भी मैं कौन?'

'अनुत्तर खिलाडी हो तुम, अभय राजा! तुम से शत्रुत्व कैसे किया जाये, तुम से कैसे लडा जाये, यही एक प्रस्तुत समस्या है। मगध पर अब आक्रमण कर के भी कोई क्या पा सकता है। उसके द्वार तो तुमने चौपट चारो दिशाओ पर खोल दिये है!'

हरसिंगार के झरते फूलो की तरह हँस कर अभय बोले

'अरे मौसाजी, आये हैं तो कुछ दिन मगध पर राज करिये! और सुन्दरियो की भी यहाँ कमी न रहेगी। राजगृही की जनपद-कल्याणी सालवती, आप के साथ उज्जयिनी के केतकी-कुजो मे बितायी राते भूल नही सकी है! उसी की खातिर रह जाइये कुछ दिन!'

'सारी बातो की बात तो यह है, आयुष्यमान् अभय, कि जो तुम ने कहा, कर दिखाया। मैं राजा हूँ···मैं राजा हूँ···मैं प्रद्योत हूँ· ·मैं राजा हूँ—आदि मैं चिल्लाता रहा। और तुम मुझे ठीक उज्जयिनी की छाती पर से खुले आम बाँध लाये। मुश्किल यह पड़ गई है, कि इसे कपट भी कहूँ, तो कैसे कहूँ। दुनिया का कौन कपट तुम्हारे सरलपन को छल सकता है?'

'अरे जीजाजी, आप तो मेरे कूट-कौशल पर भी मोहित हो गये। मुझ से बड़ा कूट आप को कहाँ मिलेगा। · पर्वत-कूट, हिमवन्त पर्वत का एकाकी कूट! कितना दुर्गम, अगम, सर्पिल चक्रिल राहे। आसमान के कँगूरो पर पैर धर कर चलना! ऐसे जटिल और हवाई आदमी को आपने सरल कैसे समझ लिया?'

'हवा से अधिक सरल तो कुछ भी नही, अभय राजा। पर अगम्य है वह। उसे कोई पकड पाया क्या आज तक?'

'हाँ, महावीर ने पकड लिया है। मेरी साँस पर आ बैठा है वह। कुम्भक मे मेरी हवा बाँध देता है! इन दिनो उसी से छुटकारा पाने की फिक्र मे हूँ!'

'महावीर ने तुम्हे पकड़ा है, या तुमने महावीर को? यही एक पहेली है!'

'सत्ता के दोनो ही ध्रुव समान रूप से सत्य और अनिवार्य है, मौसा। उन दोनो के चुम्बकीय सन्तुलन पर ही तो ब्रह्माण्ड ठहरा है, महाराज!'

'अरे तुम तो तत्त्वज्ञानी भी हो, आयुष्यमान्! तुम्हारे आयामो का अन्त नही।'

'तत्त्वज्ञानी नही, तूफानी कहे, राजन्। तूफान, जो सारी बाधाओ को तोड़ता हुआ, सब कुछ को उडा ले जाता है। तूफान मे जीता हूँ, ताकि त्रिकाली ध्रुव का भान बना रहे। और उस पर टिके बिना चैन न पा सकूँ!'

तभी अचानक दो सुन्दरी कुमारियाँ, उज्ज्वल वेश मे वहाँ उपस्थित हुई। प्रद्योतराज ने उन्हे देखते ही पहचान लिया। वे कुल-कन्याएँ महारानी चेलना देवी के महल मे, अवन्तीनाथ को भोजन पर लिवा ले जाने आई थी। प्रद्योतराज उन्हे देख कर कुछ लजा-से गये।

'सकोच का कारण नही, राजेश्वर, ये कन्याएँ आपके बाल चापल्य पर मुग्ध है। यही आपको पहुँचाने उज्जयिनी जायेगी आपके साथ!'

'अभय राजा, मुझे जीने दोगे या नही?'

'अपनी कामना का सामना करे, राजन्। जीवन और मुक्ति के बीच की ग्रंथि वही खुलती है। मुँह छुपा कर कब तक जियेंगे?'

'तुम कहना क्या चाहते हो, अभय? कि इ बात का कोई छोर भी है?'

'कई छोर एक साथ हैं, राजेश्वर। हर बात के, हर भाव के, हर वस्तु के और हर व्यक्ति के। यही तो संकट है। एक छोर पर टँग गये, कि बीच से गायब। खेल मे यही सुविधा है, कि सारे छोर एक साथ उसमे टकराते हाथ हैं। और उस टकराव मे से निकलते ही जाने का जो मजा है, वह कह कर बताना मुश्किल है, राजन्!'

'तुम्हारी बात मेरे पल्ले नही पड रही, अभय।'

'कुछ बात हो, तो पल्ले पडे न? बात कोई है ही नही, केवल बाव है। बात माने हवा। और हवा मे बटोरने को क्या है, केवल बहते ही तो जाना है!'

चण्ड प्रद्योत खूब जी खोल कर हँस पडे। वे बह आये। अनायास आगन्तुक कन्याओ के कन्धो पर हाथ रख, वे बडे सहज भाव से अभय राजा के साथ, महादेवी चेलना के महल की ओर चल पडे। □

# परिशिष्ट

◆

*निवेदन है कि इस परिशिष्ट के अन्तर्गत जो 'परिप्रेक्षिका' प्रस्तुत है, उसे पाठक-मित्र पुस्तक समाप्त कर लेने के उपरान्त ही पढ़े। कृति और पाठक के बीच वह न आये, यह वांछीय है। इस 'परिप्रेक्षिका' में उन सारे प्रस्थान-बिन्दुओं, रचनात्मक समस्याओं और मुद्दों को स्पष्ट कर दिया गया है, जिन्हें लेकर भ्रान्ति हो सकती है, प्रश्न और विवाद उठ सकते हैं।*

◆

# परिप्रेक्षिका

सन् १९७३ के अप्रैल महीने मे श्रीमहावीर जयन्ती के दिन 'अनुत्तर योगी' का यह सर्जन अनुष्ठान आरम्भ हुआ था। गत अप्रैल १९८१ मे इसे चलते आठ वर्ष पूरे हो गये, और अब नौवां वर्ष चल रहा है। सन् ७८ की फरवरी मे तृतीय खण्ड निकला था, और अब सन् ८१ का सितम्बर आ लगा है तब जा कर कही चतुर्थ खण्ड प्रकाशन की अनी पर आ खडा हुआ है। इस खण्ड का मूलपाठ (टेक्स्ट) तीन महीनों से छपा पडा है, और केवल इस अनिवार्य 'परिप्रेक्षिका' के लिए प्रकाशन रुका रहा है। इन रुकावटों की पीडा को स्वयम् रचनाकार ही भोग और समझ सकता है, अन्य कोई नही।

इन आठ-नौ वर्षों के दौरान कितनी दैविक, दैहिक, भौतिक बाधाओं के बीच से इस सर्जन को चलना पडा है, उसकी कल्पना निरे मानुष भाव मे सम्भव नहीं है। स्वयम् उनके भोक्ता—मेरे लिये भी नहीं। मेरे ही आश्चर्य की सीमा नहीं, कि इतने मारक सघर्षों के मुसलसल दौर के बीच भी, कैसे इस किस्म का विस्तृत, गहन और सूक्ष्म रचना-कर्म जारी रह सका। एक ऐसा सृजन, जिसका नायक मनुष्य हो कर भी केवल मनुष्य पर समाप्त नही था, बल्कि वह मानुषिक सीमाओं से परे का अतिक्रान्त पुरुष भी था। यही उसकी नियति थी, और इसी कारण आज वह भगवत्ता के सिंहासन पर प्रतिष्ठित और पूजित है। इतिहास मे घटित हो कर भी, इतिहास से बाहर खडा आदमी। लोक मे हो कर भी लोकोत्तर की ऊँचाइयों को छूता और भेदता एक अतिमानव। और रचना मे उनके मानव और अतिमानव रूपों को एक साथ, सयुक्त और परस्पर मे सक्रान्त और समानान्तर घटित होना था। महावीर भगवान था या नही, यह रचना के लिए प्राथमिक नहीं। प्राथमिक यह है कि महावीर मनुष्य था। इतिहास मे उसके घटित होने का प्रमाण मौजूद है। लेकिन उसकी पूर्णता और भगवत्ता का साक्ष्य भी इतिहास मे आलेखित है कि एक मनुष्य ही अपने परम पौरुष और पराक्रम से भगवान् हो कर पृथ्वी पर चला।

मेरे इस नौ वर्ष व्यापी रचनाकाल के कष्टों, बाधाओं, व्याघातों का इतिहास भी, महावीर के मानुष से अतिमानुष होने के संघर्ष-क्रम से कहीं जुडा हो, तो मनोविज्ञानत कोई आश्चर्य का कारण नही। द्वितीय खण्ड मे

प्रभु का तपस्या काल आलेखित है, जिसका समापन उनके कैवल्य-लाभ मे होता है। तपस्या काल मे मेरे प्रभु को मानुषोत्तर दैविक, दैहिक, भौतिक बाधाओ और कष्टों से गुजरना पडा। या कहे कि उन्होंने स्वयम् ही यातना के इन अभेद्य अन्धकारों मे उतर कर, उनमे चलना, उन्हे झेलना स्वीकार किया। हर दुख को चरम तक जाने बिना, उसका निराकरण कैसे हो ? प्राणि मात्र को दुख से तारने की नियति ले कर ही जन्मा था तीर्थंकर महावीर। वह चाहता या न चाहता, इस नियति को तो अपने परान्त तक पहुँचना ही था। और महासत्ता के उस विधान के अन्तर्गत महावीर को लोक और लोकान्तर मे सम्भाव्य हर कष्ट के मूल तक मे उतर कर उसे भोगना ही था ताकि उससे मुक्त होने का उपाय लोक के तमाम प्राणियों की चेतना मे उद्बोधित किया जा सके।

प्रथम खण्ड १९७४ मे निकला और द्वितीय खण्ड १९७५ मे। लेकिन फिर तृतीय खण्ड १९७८ मे ही निकल सका। द्वितीय खण्ड के समापन मे महावीर तो सारे दैविक, दैहिक, भौतिक त्रितापों को चरम तक भोग कर, चुका कर, सर्वज्ञ अर्हन्त भगवान् हो गये। लेकिन अब शायद रचनाकार की बारी थी, कि उन उपसर्गों को रच कर, उनके प्रत्याघातो को स्वयम् अपने जीवन मे भोगने को बाध्य हो जाये। मनोविज्ञानत भी यह समझा जा सकता है। उपसर्ग-पर्व की रचना के दौरान भी मेरे कष्टभोग सतत् जारी थे। लेकिन उसका सर्जन कर चुकने पर ही उन कष्टभोगों के परिपाक को चरम परिणति पर पहुँचना था—शायद। तृतीय खण्ड मे तो महावीर पारमेश्वरीय ऐश्वर्य से परिवरित हो कर पृथ्वी पर त्रिलोक और त्रिकाल के चक्रवर्ती के रूप मे चल रहे थे। उस सुख और वैभव की कोई उपमा नहीं हो सकती। लेकिन प्रभु के इस भागवदीय ऐश्वर्य की रचना करते समय, रचनाकार उसके समानान्तर ही, विगत उपसर्ग-पर्व के प्रत्याघातों को भी झेल रहा था। विपुल दुखों के कर्दम मे चलते हुए ही, त्रैलोक्येश्वर महावीर के अन्तरिक्षचारी चरणों मे रचनाकार को सुवर्ण के कमल खिलाने थे। सो इस दुहरे-तिहरे सघर्ष के चलते तृतीय खण्ड के बाहर आने में तीन वर्ष लग गये।

और तृतीय खण्ड निकलने के समानान्तर ही सन् ७८ के अन्त मे ही, मैं टोटल नर्वस-ब्रेकडाउन के खतरे में पड गया। एक ओर रचनान्तर्गत सघर्षों और उपसर्गों का दबाव-तनाव था, दूसरी ओर अस्तित्व को उच्चाटित कर देने वाली परिवेशगत बाधाओं का अटूट सिलसिला मेरी नसों को तोड़े दे रहा था। अपने उसी छिन्न-भिन्न नाडी-चक्र को अपने पदांगुष्ठ तले दाब कर, आखिर मैंने जैसे नागों के फणामण्डल पर सिंहासन जमाया, और श्रीसुन्दरी आम्रपाली की चेतना के सूक्ष्मतम और कोमलतम सौन्दर्य-लोकों में स्वप्न-विहार करने लगा। वह एक विचित्र अनुभव था। सृजन-स्वप्नों के उन ललित-कोमल

पराग प्रदेशों मे प्रवेश करते ही, कराल मारकता जैसे काफूर हो गई। मैं एक नये ही लोकान्तर मे मानो नवजन्म पा गया। सौन्दर्य और मार्दव के इस चन्दन-कपूरी सम्पर्श मे जैसे मैं अनन्त जीवन और यौवन की वासना से भर उठा। कराल पर कोमल की विजय का यह साक्षात्कार, मेरे रचनाकार के जीवन की एक अद्भुत मोक्षानुभूति है। महावीर के सपनों और विरह मे जीती आम्रपाली के साथ, मै देश-काल के अब तक अननुभूत आयामों मे विचरने लगा। लगातार कई सप्ताह एक फन्तासी की नानारगी रत्निम नीहारिका मे जीने का वह सुख कह कर बताना मुश्किल है। ऐसा लगता था, कि जैसे किन्हीं अनतिक्रम्य विश्वों मे मै सक्रमण और अतिक्रमण करता चला जा रहा था। साथ मे थी स्वप्न, सौन्दर्य, कला और कोमलता की साराशिनी देवी आम्रपाली। मानो कि देवी अपने वक्षद्वय की बिस-तन्तु तनीयसी गहराई मे मेरा वहन कर रही थीं। वहाँ से सृजन के जो अनाहत स्रोत पी कर मैं उठा, तो ख्याल आता रहा कि जरूर कहीं कोई सोमसुरा अस्तित्व मे है, या रही होगी।

अजस्र चला वह सृजन का प्रवाह मार्दव, माधुर्य, ज्ञान, प्रकाश, ऊर्जा और शक्ति का एक सयुक्त धारासार प्रस्रवण। फरवरी १९७९ से सितम्बर १९७९ तक, कुल आठ महीनों के बीच चतुर्थ खण्ड के सत्ताईस अध्याय लिखे गये। सकल्प यह था कि चतुर्थ खण्ड मे ही अतिरिक्त दो सौ पृष्ठ लिख कर, श्री भगवान् के तीर्थंकर काल को मोक्ष-प्रस्थान तक ले जा कर, समापन कर दिया जाये।

लेकिन गत आठ महीनों मे जो अनवरत सृजन-श्रम का दबाव मेरे नाडी-मण्डल पर रहा, उसने मुझे शरीरत फिर निढाल और हतप्राण-सा कर दिया। आत्मबल और मनोबल चाहे जितना ही ऊर्जस्वल रहा हो, लेकिन शरीर ने साथ छोड दिया। शरीर इतना श्रान्त, क्लान्त, श्लथ और विजडित हो गया, कि कोई चिकित्सा उसमे प्राण का सचार न कर सकी। तिस पर उसी काल में ऐसी परिवेशगत आक्रान्तियाँ भी ऊपरा-ऊपरी आयीं कि जीने की आशा ही दुराशा होती दीखी। जैसे किसी पैशाची शक्ति ने मेरी जीवनी-शक्ति ही मुझ से छीन ली थी। अन्दर रोशनी और प्रातिभ ऊर्जा वैसी ही अमन्द थी, लेकिन काया मुमुर्षुप्राय हो पडी थी। आँते कमजोर पड गई थीं, और आमातिसार का असर दीखा। शरीर क्षीण हो चला। हैरत मे था कि आखिर यह यज्ञ-भग का दृश्य क्यों कर उपस्थित हुआ है ? मेरी रक्तवाहिनियों मे आठ वर्ष से निरन्तर सचारित महावीर के होते भी, शरीर इतना लाचार कैसे हो गया ? शायद इसलिए, कि एक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ अर्हत के तेज को निरन्तर झेलते-सहते जाने और रचते जाने के स्ट्रैन को मेरे मानवीय शरीर की सीमाएँ बर्दाश्त न कर सकीं।

खैर, इसकी कैफ़ियत जो भी हो, मगर इस निढालता के चलते किताब रुक गई। सन् ८० के मई महीने मे तबीयत सम्हली, और २३ मई को फिर रचना पर बैठने का सकल्प किया था, कि एक विचित्र अकस्मात् घटित हुआ। ठीक २३ मई ८० की सुबह मैंने 'भारतीय विद्याभवन' में 'नवनीत' के सम्पादकीय आसन पर अपने को बैठा पाया। किताब रुक गई, 'नवनीत' शुरू हो गया। महान मुन्शी के जीवन-काल मे 'भारती' का सम्पादन किया था, और भवन ने जब 'नवनीत' लिया, तो मुझे विवश कर दिया, कि 'भारती' मे जो विज़न उतरा था, उसे 'नवनीत' मे फिर जीवन्त करना होगा।

मानो कि किसी मानुषोत्तर आदेश और विधान तले मैं 'नवनीत' करने को बाध्य कर दिया गया। बाध्यता बाहरी से अधिक भीतरी थी। पूज्य मुन्शीजी 'भारती'-काल के मेरे सम्पादन-कार्य से बेहद प्रसन्न थे। वे मेरे विज़न और चिन्तन दोनों के अनन्य प्रेमिक हो गये थे। उन्हें स्पष्ट प्रतीति हो गई थी कि भवन की पत्रिका 'भारती' को जिस तरह के सम्पादक की जरूरत थी, वह उन्हे मुझ मे मिल गया है। भारत की ऋतम्भरा प्रज्ञा को हमारे समय की भाव-चेतना, भाषा और रूपाकारों मे ढालने का काम अनायास ही मुझ से हुआ था, जो कि मुन्शी की दृष्टि मे भवन की एक उपलब्धि थी। कई दशकों से हिन्दी की पत्रिकाएँ निरी साहित्यिक हो कर रह गई थीं। सर्वतोमुखी जीवन-चिन्तन और सास्कृतिक मूल्य-बोध उनमे लुप्तप्राय था। 'भारती' मे मैंने साहित्य, सस्कृति और जीवन-दर्शन का एक स्वाभाविक समन्वय किया था। पश्चिम मे निरन्तर विकासमान ज्ञान-विज्ञान और कला-रूपों को मैंने 'भारती' मे, भारतीय मनीषा के नित-नव्यमान प्रज्ञा-स्रोतों से सयुक्त किया था। यह चीज़ समूचे भारतीय साहित्य, कला और पत्रकारत्व मे तब भी ग़ायब थी, और आज भी लक्षित नहीं होती।

इसी कारण जब भवन ने 'नवनीत' लिया, तो फिर मेरी पुकार हुई। मैंने अपनी लाचारी निवेदन की कि 'अनुत्तर योगी' के चलते यह भार उठाना मेरे नाडीचक्र से परे की बात है। मगर मेरे पीछे द्वार बन्द कर दिया गया था, और मुझ से कहा गया कि अब आप छटक कर जा नहीं सकते। भवन के सचालकों के उस स्नेहपूर्ण आग्रह के सम्मुख मैंने अपने को विगलित और समर्पित पाया। ऐसी आत्मीयता, और किसी के काम की ऐसी कद्रदानी आज भारत मे अन्यत्र दुर्लभ है। मुझे महान मुन्शी के, अपने प्रति वल्लभ-भाव का स्मरण हो आया। उन्होंने मुझे चेतना-स्तर पर अपने साथ तदाकार देखा था। ऐसा विरल ही होता है, यह मुन्शीजी ने अनुभव किया था। इसी से 'भारती'-काल के उन पाँच वर्षों मे मुन्शी और भवन के परिचालकों ने मुझे एक राजपुत्र की तरह लाड-प्यार और गरिमा के साथ भवन मे रक्खा। यह सब इतने आत्मिक घनत्व का दबाव था, कि मैं नकार न सका, और 'नवनीत' पर आ बैठा।

बैठते ही बेशुमार कामों और दायित्वों के मधुप-गुंजन से मैं बेतहाशा आक्रान्त हो गया। मेरा मारांशिक कृतित्व 'अनुत्तर योगी' पड़ा रह गया, और 'नवनीत' मुझ पर सवार हो गया। इस चिन्ता से मेरा दिमाग एक भयंकर उलझन, दुविधा और परेशानी मे पड गया। मेरी नींद उड गई। विरमना और सोना-बैठना तक मुहाल हो गया। मेरा नाडी-चक्र चरमराने लगा। "तभी एक रात बिस्तर पर लेटते ही, मुझ पर ध्यान-तन्द्रा-सी छा गई। और उसमे अपनी ही गहराई मे से आती एक आवाज़ सुनाई पड़ी . 'नवनीत' और अनुत्तर योगी मे कोई विरोध या भिन्नता नहीं है। 'नवनीत' को 'अनुत्तर योगी' का ही एक लोक-व्यापी प्रस्तार (प्राजेक्शन) होना है।" 'नवनीत' अनुत्तर योगी महाविष्णु का ही व्यासपीठ होगा, महासत्ता के नवयुगीन प्रकाश का विश्व-व्यापी आकाशवाणी केन्द्र होगा।' हर चीज़ अपने नियत समय पर घटित होती है। 'अनुत्तर योगी' भी अपने नियत समय पर ही समाहित हो सकेगा। 'नवनीत' उसमे बाधक नही, उसका परिपूरक और सम्वाहक शक्ति-ध्रुव सिद्ध होगा। " यह एक अन्तरबोधजन्य स्फुरणा थी जिसमे सर्वतोमुखी समाधान था। सो द्वन्द्वमुक्त हो कर मैं एकाग्र भाव से 'नवनीत' मे जुट गया। 'नवनीत' के मेरे सम्पादन के इन अठारह महीनों मे उपरोक्त भविष्यवाणी प्रमाणित हुई है।

प्रस्तुत प्रश्न फिर भी था कि 'अनुत्तर योगी' कब, कैसे पूरा हो ? और सहसा ही एक रात फिर ध्यान-तंद्रा मे उत्तर मिला "अनुत्तर योगी' के चतुर्थ खण्ड के चार सौ टंकित पृष्ठ तैयार हैं . पूर्वगामी हर खण्ड के बराबर ही वॉल्यूम तुम्हारे हाथ मे है इसे प्रेस मे जाने दो ! चतुर्थ खण्ड निकल जाये, और एक और अन्तिम पचम समापन-खण्ड करना होगा।' " एक तलवेधक आघात के धक्के से मैं जाग उठा। एक स्वतन्त्र पचम खण्ड और करना होगा ? इस कल्पना से ही मैं थर्रा उठा। मगर एक अटल अनिर्वार नियति सामने खडी थी, और उसे समर्पित होने के सिवाय और कोई चारा मेरे लिए नहीं था। मुझे सहज ही उद्बोधन मिला, कि चार का अक महावीर को मजूर नहीं पाँच के मांगलिक यान्त्रिक-अकासन पर ही उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की परिपूर्ण मूर्ति उभर सकती है। यह उद्बोधन मुझे अचूक समाधानकारी प्रतीत हुआ। और चतुर्थ खण्ड प्रेस मे दे दिया गया।

लेकिन समानान्तर ही 'नवनीत' का दैनिक दायित्व-भार था, और शरीर मेरा पहले से ही टूटा, निढाल और अस्वस्थ चल रहा था। दोहरे-तिहरे परिश्रम के चलते उसके स्वस्थ होने का सवाल ही नहीं उठता था। तिस पर निजी जीवन मे ऊपरा-ऊपरी बेशुमार विपत्तियाँ टूटती गईं। नवम्बर ८० मे पत्नी को हृदय-रोग का भयंकर दौरा पडा और वह मरते-मरते बची। सो 'अनुत्तर योगी' की प्रेस कॉपी जाँचने और फिर उसके प्रूफ-सशोधन के

कार्य मे तीन-चार महीने लग गये। खैर, किसी तरह चतुर्थ खण्ड का मूल पाठ (टेक्स्ट) छप गया, तो अचानक मेरी अविकसित मस्तिष्क बीस वर्षीया अबोध बिटिया लवलीना जल गयी। तब एक महीना उसकी वेदना को झेलते हुए जिस मानुषोत्तर यन्त्रणा मे बीता, वह मानुष-गम्य नही, केवल ईश्वर-गम्य है। लवलीना के घाव मे रूझ आयी, तो आवनक वह विक्षिप्त प्राय हो गई। बच्ची के पागल हो जाने का खतरा माथे मे धमाके मारने लगा। तिस पर अपना स्वास्थ्य चकनाचूर थकान, श्राति और क्लांति की गण्यता तो बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी। उनसे ऊपर उठ कर केवल अपनी आत्मिक ऊर्जा के बल पर सघर्ष करते जाना था, कर्म करते जाना था। सो अब भी जारी है।

○ ○ ○

'अनुत्तर योगी' के हर खण्ड मे पश्चात्-भूमिका लिखना अनिवार्य रहा। कारण अपने रचनाकार की परिपूर्ण स्वतन्त्र चेतना के चलते, अपनी 'डायनामिक' रचना-प्रज्ञा और प्रक्रिया के चलते, 'अनुत्तर योगी' में भाव-सवेदन, विचार, आचार, वाणी और साहित्य के रूप-शिल्पन तक के सारे प्रचलित ढाँचे, लीके और रूढियाँ टूटती चली गई थी। महावीर मूलत विश्व-पुरुष थे, लेकिन वे एक सम्प्रदाय विशेष के प्रतिमाभूत पूजित पाषाण के आसन पर भी कैद रक्खे गये है। इस जडीभूत कारागार की दीवारो को तोडकर महावीर की सार्वलौकिक, सर्वकालिक मौलिक व्यक्तिमत्ता और प्रगतिमत्ता को ठीक आज के मनुष्य के चेतना-स्तर पर नव-नव्यमान गत्यात्मकता के साथ जीवन्त करने की रचनात्मक चुनौती भी मेरे सामने पहले ही दिन से खडी थी। और अब तक प्रकाशित तीनों खण्डों मे भरसक उस चुनौती का उत्तर मैंने दिया है। फलत रूढिग्रस्त अनेक जडीभूत धार्मिक-नैतिक मर्यादाएँ और अवधारणाएँ टूटी हैं, तख्ते टूटे और उलट-पुलट हुए है। एक उपद्रवी, विप्लवी, प्रतिवादी, क्रान्तिकारी, अतिक्रान्तिकारी, चिरन्तन युवा महावीर धरती पर जीते, चलते, बोलते सामने आये है। और उपन्यास का स्थापित ढाँचा भी, बेतहाशा टूटता ही गया है, जैसा कि वर्तमान भारतीय साहित्य मे शायद ही अन्यत्र कहीं हुआ होगा। यह केवल मेरी मान्यता नहीं है, समझदार और जानकार समीक्षकों ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है।

जाहिर है कि एक खतरनाक पराक्रम करने की गुस्ताखी मुझ से बराबर हुई है। हर अवतार या पैग़म्बर प्रतिवादी और विप्लवी तो होता ही है। जडीभूत पुरातन को ध्वस्त कर के वह नव्य जीवन्त रचना करता है। ऋषभदेव, कृष्ण, बुद्ध, क्राइस्ट, मोहम्मद, जरथुस्त्र आदि अवतार पुरुष— और कबीर, ज्ञानेश्वर आदि सारे मध्यकालीन सन्त और योगी, विद्रोही,

भंजक और नवसर्जक एक साथ हुए हैं। सो महावीर भी तो वही हो सकते थे। यह महासत्ता के गतिमत्तत्व (डायनमिज्म) का एक नैसर्गिक विधान और तर्क-विन्यास है। ऐसे मे यह जरूरी हो जाता है, कि रचना मे आविर्भूत पुरुषोत्तम की क्रान्तिकारी गतिमत्ता को उसके मूल सत्ता-स्रोत से संगत करके, उसकी उस नैसर्गिक उन्मुक्त स्थिति को, कट्टर सम्प्रदायवादियों के सम्मुख, स्पष्ट किया जाये। वर्ना साम्प्रदायिक जडत्व की चट्टाने अनर्थक अवरोध की सृष्टि भी कर सकती है। इसी कारण उसे समय से पूर्व ही तोड देने के लिए महावीर के विद्रोही, प्रतिवादी, गुस्ताख और विध्वंसक रूप की आधारिक न्यायता और औचित्य को प्रमाणित करना जरूरी था—ठीक शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान और महावीर की मूलगत धर्म-देशना के आधार पर ही। और उनके नवसर्जक और युग-विधाता रूप को भी इसी आधार पर सुदृढता के साथ संस्थापित करना था। साथ ही साहित्य के स्थापित मान-दण्डों के टूटने से उत्पन्न होने वाली समीक्षकीय बौखलाहट को भी जवाब देना अनिवार्य था। ताकि इस कृतित्व के अतिक्रान्तिकारी और रूपान्तरकारी स्वरूप को सही जमीन पर समझा-परखा जा सके। चमत्कार यह हुआ है, कि सहज भावक और पूर्वग्रहमुक्त हजारो पाठक तो 'अनुत्तर योगी' को बेहिचक पीते गये और आस्वादित करते चले गये। लेकिन साहित्य के कई बहुपठित, प्रशिष्ठ और 'सॉफिस्टीकेटेड' समीक्षक वितर्क-विकल्पो मे ही उलझ कर, कृति मे डूबने से वंचित रह गये।

ये सारी स्थितियाँ मेरे मन मे पूर्व प्रत्याशित थी, और इसी कारण प्रथम खण्ड से ही पश्चात्-भूमिकाएँ लिखना मेरे लिए अनिवार्य हुआ, ताकि कृति के सही अवबोधन का धरातल निर्मित हो सके। इतिहास का विजनरी और कल्प-दर्शनात्मक अवगाहन और अवबोधन भी, रचना के स्तर पर कई ऐतिहासिक तथ्यों का एक रासायनिक रूपान्तरण करता है। उपलब्ध दार्शनिक वाङमय की शाब्दिक अर्थपरक सीमाएँ भी रचना मे टूटती हैं। अत धर्म-दर्शन, योग-अध्यात्म और इतिहास के रूढिबद्ध पण्डितो की सम्भाव्य तलबी के जवाब को भी पहले से ही प्रस्तुत हो जाना जरूरी था। इसी कारण ये लम्बी पश्चात्-भूमिकाएँ हर खण्ड के साथ अनिवार्य हुईं। और जाने-अनजाने इन भूमिकाओं मे पुराण, इतिहास-पुरातत्त्व, धर्म-दर्शन, योग-अध्यात्म तथा साहित्य-दर्शन और कला-शिल्प के कई कुँवारे अछूते प्रदेशों मे रिसर्च-अन्वेषण भी हुआ है।

चतुर्थ खण्ड मे भी ऐसे ही कई उपद्रव और विप्लव सर्जना में घटित हुए है। अत यह तो अर्जेण्ट था ही कि प्रस्तुत 'परिप्रेक्षिका' लिखी जाये, और उसके बिना ग्रन्थ बाहर न आये। लेकिन सारे ही धर्म-ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं, कि जब भी कोई कल्याण-यज्ञ होता है, तो उसमें विरोधी आसुरी

शक्तियो द्वारा उत्पन्न ध्वंसक विघ्न अनिवार्यतः आते ही है। सो बमुश्किल इस खण्ड का मूलपाठ अनेक बाधाएँ पार कर के छप भी गया, तो केवल पश्चात्-भूमिका के लिए उसे चार महीने रुके रहना पड़ा। प्रिय लवलीना का जलना और उसका विक्षिप्त होना, मेरी नस-नस को तोड़ देनेवाली अस्वस्थता, ये सब अन्तराये उक्त विरोधी शक्तियों द्वारा उत्पन्न विघ्नों के सिवाय और क्या कही जा सकती है ? अस्तु।

चतुर्थ खण्ड के लिए मेरे प्यारे हजारो जाने-अनजाने पाठको की प्यासी पुकार मुझ तक बराबर पहुँचती रही है। उसने जहाँ मुझे उद्विग्न किया है, वहीं कृतार्थता बोध भी कराया है, कि सार्वभौमिक लोक-हृदय मे मेरी यह अनगढ़ कृति इस कदर जज्ब हो सकी है। आश्चर्य होता है कि 'अनुत्तर योगी' जैसी एक सूक्ष्म और दुरूह किताब लोकप्रियता की अनी पर कैसे आ खड़ी हुई है ? तुलसीदास, शरच्चन्द्र या विमल मित्र के साथ यह घटित होना समझ मे आता है, लेकिन मुझ जैसे, अड़ाबीड़ कुँवारे जगलो के रचना-यात्रिक के साथ यह घटित होना, मेरी समझ के बाहर होता जा रहा है।

यहाँ जो किताब के विलम्बित होने के कारणभूत निजी सघर्षो और उलझावों का मैने खुल कर जिक्र किया है, उसका एक बुनियादी कारण है। इस कैफियत से यह स्पष्ट होता है, कि एक ईमानदार, गैर-दुनियादार, स्वप्न-जीवी और एकनिष्ठ रचनाकार की रचना-यात्रा कितनी दुर्गम दुरारोह होती है, कितनी तपस्याओ के अग्नि-वन और कितनी बाधाओ के विन्ध्याचल उसे भेदने पड़ते है। ऐसे मे यह इतिवृत्त केवल मेरा नही रह जाता, हर सत्यव्रती रचनाकार की गर्दिशों का यह आइना हो जाता है। यह व्यक्ति 'मैं' का तारीफनामा नही, किसी भी आत्महोता रचनाकार की स्थिति का एक तद्गत (ऑब्जेक्टिव) आलेखन है। वैसा आत्महोता मैं हूँ या नहीं, यह निर्णय मेरा नही, उन्हीं का हो सकता है, जो मेरे जीवन-व्यापी सघर्ष के अनवरत साक्षी रहे हैं। वैसे अपने बारे मे खुल कर लिखने का साहस मुझ से सदा अनायास हुआ है। और यह मुझे स्वाभाविक ही लगता है। इसमे सकोच या दुविधा का अनुभव मुझे कभी न हुआ। मेरी यह प्रतीति है, कि हर सच्चे रचनाकार मे यह निर्भीकता और बेहिचक साहस होना चाहिए, कि वह अपने सर्जक को अपने व्यक्ति 'मैं' से अलग करके देख सके। अहम् सम्बन्धी रूढ नैतिक मान्यताओं से ऊपर उठ कर जो सोहम् के चेतना-स्तर से न बोल सके, वह एक मुक्त कलाकार कैसे हो सकता है ?

○ ○ ○

एक बहुत सगत सवाल मेरे हर पाठक और समीक्षक की ओर से उठता नजर आया है। ऐसा क्यों हुआ कि मूलत तीन खण्डों मे आयोजित कृति तीन खण्डो मे समाप्त न हो सकी, और वह पाँचवे खण्ड तक खिचती

चली गई ? स्वयम् लेखक भी यह निर्धारित न कर सका, न जान सका, कि इसे कहाँ विराम लेना है ? ऐसा क्यों ? क्या यह इस बात का द्योतक नहीं, कि लेखक अनगढ़ है, और योजनाबद्ध सगठित रूप से रचना करने की कला-सामर्थ्य से वह वचित है ?

वैसे इसका एक सीधा उत्तर यह है, जो पहले भी दे चुका हूँ, कि इस रचना का स्वामित्व आरम्भ से ही मैंने अपने हाथ नही रक्खा। शुरू से ही स्वयम् महावीर को मैं इसका विधाता, नियोजक निर्णायक मान कर चला हूँ। खास कर जब हम किसी भागवदीय व्यक्तिमत्ता का सर्जन करते है, तो क्या यही स्वाभाविक स्थिति नही होती ? साहित्य के इलाके मे भागवदीय व्यक्तित्व की इस विलक्षणता को शायद ऐसी कोई अलग स्वीकृति न भी हो लेकिन इस रचना के दौरान मुझे भगवत्ता के रचना-स्वामित्व का स्पष्ट साक्षात्कार हुआ है। इसे मैं कैसे झुठला सकता हूँ ?

मूलत महावीर का जीवन हमे तीन सुस्पष्ट विभागो मे उपलब्ध होता है। प्रथम विभाग पूर्व-जन्म कथा से आरम्भ हो कर, यहाँ उनका अवतरण, उनका तीस वर्ष व्यापी कुमारकाल, और अन्तत उनका गृह-त्याग, जिसे महाभिनिष्क्रमण कहते है। प्रथम खण्ड मे यह विभाग सहज ही सिमट गया है। द्वितीय विभाग गृह-त्याग के उपरान्त महावीर का साढे-बारह वर्ष व्यापी दीर्घ और दारुण तपस्याकाल, और उसकी चरम परिणति मे उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति। यह भी सहज ही द्वितीय खण्ड मे समाहित हो सका है। तृतीय विभाग कैवल्य-लाभ के उपरान्त श्रीभगवान् का तीर्थंकर हो कर धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए अनवरत अभियान प्रजाओं के पास जाना, गुमराह आत्माओं का अनायास आवाहन, बिना किसी इरादे के वीतराग भाव से सृष्टि के कण-कण, जीव-जीव, जन-जन को अपने परिपूर्ण और मुक्तिदायक प्रेम से आप्लावित करना, उन्हे उद्बोधित और सम्बोधित करना उनके तरणोपाय का उपदेश (धर्म-देशना) निसर्गत तीर्थंकर के श्रीमुख से उच्चारित होना एक ऐसी सार्वभौमिक भाषा मे, जो मनुष्य ही नहीं, प्राणि मात्र को उनके अपने हृदय मे ही स्वयम् रूप मे अवबोधित हो जाती है जिसे 'दिव्यध्वनि' कहा गया है।

तीर्थंकर का यह धर्मचक्र प्रवर्त्तन तृतीय खण्ड मे समाहित न हो सका। इस विभाग की उपलब्ध सामग्री की सम्भावनाओ को जब मैने अवगाहा, तो पाया कि उसमे कई ऐसे जन्मान्तरीण और वर्तमान व्यक्तित्व, चरित्र, पात्र और कथानक थे, जिनमे गहरे उतरने, अन्वेषण करने, रचने की अपार सम्भावना और गुजाइश थी उनके सम्मुख मेरा सोचना, या उन्हे योजनाबद्ध करना, इतना छोटा पड गया, कि सोच समाप्त हो गया, और पात्र तथा

कथानक स्वयम् ही अपने मौलिक उपादान मे से रूपाकार लेते दिखाई पडे। मैं निमित्त मात्र रह गया और जैसे महावीर स्वयम् ही अपने धर्मचक्र-प्रवर्तन का शिल्पन करने लगे। मानव चरित्र के अकथ-अगम रहस्यों के तलातल आपोआप ही रचना मे खुलने और रूपायित होने लगे।

तब हुआ यह कि हर खण्ड के औसत पृष्ठों की सीमा पर ही मुझे तृतीय खण्ड रोक देना पडा। उसके बाद नाडीभग से गुजरा, और अपनी सत्ता ही अपने काबू से बाहर हो गई। और मेरे उस काँपते अस्तित्व को आम्रपाली ने अपने आँचल मे सहेज कर, मुझे फिर रचना-सन्नद्ध कर दिया, जिसका जिक्र पहले कर चुका हूँ। चतुर्थ खण्ड अजस्र प्रेरणा के साथ उतरने लगा और अतिरिक्त दो सौ पृष्ठ उसी खण्ड मे लिखकर, ग्रथ को समापित करने की मेरी योजना भी मानो कि मेरे हाथ न रक्खी गयी। थक कर निढाल, नि सत्व, अस्वस्थ और निष्क्रिय हो गया। और उसी अन्तराल मे मुझे 'नवनीत' पर बैठा दिया गया। बाद को स्पष्ट हुआ, मानो कि इसमे भी महावीर का ही कोई ईश्वरीय षड्यत्र था। मेरे न चाहते भी पचम खण्ड लिखने की तलबी मेरे सामने आ खडी हुई। और इस डेढ वर्ष मे जैसे अनुत्तर योगी महावीर 'नवनीत' के व्यासपीठ से धर्मचक्र-प्रवर्तन करते दिखाई पडे। मै आश्चर्य से स्तब्ध हूँ, और केवल 'निमित्त मात्र भव सव्य-साचिन्' हो रहने को बाध्य हूँ।

यह विस्तार क्यो उत्तरोत्तर बढता ही चला गया, इसका उत्तर भाविक पाठक स्वयम् ही रचना को पढने के दौरान पाते चले जायेंगे। फिर भी इस सन्दर्भ मे जो कैफियत मेरे लक्ष्य मे आती है, उसे यहाँ प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। बल्कि शायद पाठक और समीक्षक को कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से इस विस्तार के औचित्य को समझने मे मदद मिलेगी।

चतुर्थ खण्ड को जिस मुकाम पर रोक देना पडा है, वहाँ तक महावीर के धर्मचक्र-प्रवर्तन का भूगोल पूर्वीय आर्यावर्त्त तक ही सीमित रह जाता है। उनके समवसरण का विहार (अभियान) घूम-फिर कर मगध, वैशाली चम्पा, काशी-कोशल और वत्सदेश (कौशाम्बी) से आगे जाता नहीं दिखाई पड़ता। लेकिन फिर एक मोड आता है, महावीर की आगमोक्त कथा मे ही। धुर पश्चिमोत्तर के सिन्धुसौवीर देश की राजधानी वीतिभय नगर से प्रभु को पुकार सुनाई पडती है। वहाँ के राजा उदायन, जो महावीर के मौसा भी थे, दूर से और अनदेखे ही चिर काल से महावीर के भक्त और प्रेमी थे। महावीर की मौसी और उदायन की रानी प्रभावती ने और उन्होंने, भगवान् के कुमारकाल मे ही गोरोचन चन्दन काष्ठ से उनके कुमार-स्वरूप की एक मूर्ति बनवाई थी, जिसे 'जीवन्त स्वामी' की सज्ञा प्रदान की गई थी। आज जो

अकोटा से प्राप्त 'जीवन्त स्वामी' की कांस्य प्रतिमा बडौदा म्यूजियम में सुरक्षित है, वह शायद परम्पराओं मे सक्रमित होती हुई महावीर के उसी तत्कालीन मूल स्वरूप 'जीवन्त स्वामी' की ही प्रतिच्छबि हो तो क्या आश्चर्य है ! कम-से-कम मेरी तो यही दृढ प्रतीति है। क्योंकि उस काल की 'जीवन्त स्वामी' संज्ञा आज भी उस मूर्ति के साथ अक्षुण्ण जुडी हुई है। खैर, यह एक मेरा अनुसन्धान मात्र है, जो शायद आगे इतिहास-पुरातत्त्व के शोधकों की शोध का विषय भी हो सकता है।

यहाँ प्रासंगिक यह है कि, वीतिभय की महारानी-मौसी प्रभावती और उनके पति राजा उदायन की दुरगम और अचाक्षुष भक्ति की पुकार को तीर्थंकर महावीर टाल न सके, और वे पहली बार पूर्वीय आर्यावर्त्त की सीमा का अतिक्रमण करके अपने विशाल सघ महित पश्चिमोत्तर सीमान्त की ओर प्रस्थान कर गये।

प्रभु का यह महाप्रस्थान, समकालीन भूमण्डल के समग्र 'ग्लोब' की दिग्विजय के प्रस्थान-बिन्दु के रूप मे हाथ आता है। और ठीक इसी मुकाम पर औचक ही महावीर के रचनाकार को एक विज़नरी साक्षात्कार होता है कि तीर्थंकर का धर्मचक्र-प्रवर्त्तन अपने समय के भूगोल के विस्तारों मे भी 'ग्लोबल' यानी सार्वभौमिक हुए बिना रह नहीं सकता। समकालीन पृथ्वी के तमाम ज्ञात छोरों तक गये बिना मानो वह समापित नहीं हो सकता। यह मानो तीर्थंकर के धर्मचक्र-प्रवर्त्तन की अनिवार्य नियति है।

मानो कि इसी नियति के इगित पर श्री भगवान् राजा उदायन और रानी प्रभावती की पुकार पर सीधे वीतिभय की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। और फिर घटनाक्रम कुछ इस तरह चलता है, कि वहाँ से लौटते हुए प्रभु उज्जयिनी और उसके बाद दशपुर आते हैं। महामालव के प्राचीन नगर दशपुर का यह नामकरण, घटनावश उसी समय होता है। यह शायद निरा आकस्मिक नही, कि 'अनुत्तर योगी' के रचनाकार वीरेन्द्र का जन्म इसी दशपुर यानी आज के मन्दसौर नगर मे हुआ था। इसका सम्भवत क्या गहन आशय रहा होगा, इसका स्पष्टीकरण पाठको को पचम खण्ड मे सांकेतिक रूप से हो सकेगा। कल्प-दर्शन (विज़न) के वातायन पर ही लेखक को इस आशय का अनायास साक्षात्कार होता है। और इस दशपुर नगर के समवसरण, मे महावीर के गृह-त्याग के बाद पहली बार सोमेश्वर और वैनतेयी श्रीभगवान के समीप उपस्थित होते है। ग्रीक दासी बाला वैनतेयी को सामने पाकर, उसकी आँखों के जल मे प्रभु को मानो भूमध्य सागर के जल-जलान्त उछलते दिखायी पडे। और उनमे मे यूनान (ग्रीस), इस्रायेल (मिस्र) और पारस्य (पर्शिया) की पुकार भी सुनायी पडी। अन्तरिक्षचारी प्रभु के लिए

वहाँ की समवसरण-यात्रा भी सहज और अनायास ही हो सकती थी।... और फिर लौटती परिक्रमा मे पूर्वीय महाचीन भी क्यों नही, जहाँ उस काल उस बेला लाओत्से और कन्फ्यूसियस बोल रहे थे। सवत्सरिक काल मे कुछ दशकों का अन्तर रहा भी हो, तो उसे मैंने इस ग्रंथ मे नगण्य कर दिया है, और एक अखण्ड महासमय की धारा मे अतिक्रमण कर गया हूँ।

महावीर का समवसरण ग्रीस, इस्रायेल, पारस्य, महाचीन आदि तक गया या नही, इसका निर्णय मैने इतिहास पर नही छोडा है। इतिहास बेचारे की क्या हस्ती, जो महाकालेश्वर महावीर के सारे विहारों, प्रस्थानों और क्रियाकलापो को समेट सके, या उनका पारदर्शन कर सके। वह तो कोई विज़नरी रचनाकार ही, अपने कल्प-वातायन से कर पाता है, क्योंकि वह कालभेदी भूमा का साक्षात्कारी होता है। पचम खण्ड मे मेरी इस गुस्ताखी से आपका साबिका पडेगा।

इस विज़न से एक बहुत गहरी तात्त्विक बात हाथ आती है। सर्वज्ञ अर्हन्त तीर्थंकर तो अपनी मूल स्थिति से ही त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती होते हैं। सो उनका मौलिक धर्मचक्र-प्रवर्त्तन तो उनकी देश-कालातीत आत्मा मे ही निसर्गत आपोआप घटित होता है, होता ही रहता है। बाहर के देश-काल मे उसकी एक नैमित्तिक मूर्त अभिव्यक्ति मात्र होती है। पर वह तीर्थंकर तो एक साथ, एकाग्र, अपनी अन्तश्चेतना के ध्रुव पर आसीन रह कर ही सर्वकाल और सर्वदेश की असख्य आत्माओ मे एकबारगी ही यात्रा करता है, एक अविभाज्य तात्त्विक कालधारा मे ही अनायास वह सर्व का आश्लेष निरन्तर करता रहता है। मै इसे 'आन्तर अवकाश' (इनर स्पेस) मे धर्मचक्र-प्रवर्त्तन कहना चाहूँगा, ठीक आज की भाषा मे। लेकिन चूँकि तीर्थंकर का तीर्थंकरत्व प्रकट पृथ्वी पर तभी सम्पन्न और सार्थक माना जा सकता है, जब वह अपने समय के सम्पूर्ण भूमण्डल (ग्लोब) के बाहरी अवकाश (आउटर स्पेस) मे भी, ठीक भौगोलिक सार्वभौमिकता मे घटित हो सके। उसके बिना तमाम समकालीन पृथ्वी की प्यास को कोई मूर्त और प्रत्यक्ष उत्तर कैसे मिल सकता है ?

इसी सचेतना में से मुझे स्पष्ट साक्षात्कार हुआ, कि समकालीन भूगोल के छोरों तक महावीर की समवसरण-यात्रा घटित होना तीर्थंकर की एक अनिवार्य नियति है। परिपूर्ण प्रेम की इस पार्थिव दिग्विजय के बिना, मानो महावीर का तीर्थंकरत्व धरती पर प्रमाणित नहीं हो सकता। और इसी प्रत्यय से प्रेरित हो कर पंचम खण्ड मे प्रभु को समकालीन पृथ्वी के छोर छूना ही होगा। और वहाँ से लौटने पर मगध-वैशाली के युद्ध का सूत्र-सचार अनायास मानो अकर्त्ता महावीर द्वारा होना है। युद्ध मानो प्रलय का प्रतीक है। जीर्ण-

जर्जर और जड़ीभूत मृत जगत का प्रलय हुए बिना नये जगत का उदय कैसे हो सकता है। 'विश्वोदय-प्रलय नाटक नित्य साक्षी' की त्रिकालिक लीला ही मानो मगध-वैशाली के युद्ध मे घटित होती है। और इस युद्ध के अनन्तर श्री भगवान जैसे ठीक नियति-निर्धारित रूप से निर्वाण की ओर महाप्रस्थान करते दिखायी पड़ते है सिद्धालय मे पलायन कर जाने के लिए नही, दीप-निर्वाण की तरह नही, बल्कि मोक्ष के कपाट तोड कर उसके सिद्धालय के अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य के अविनाशी ऐश्वर्य को अपने युग-तीर्थ की तमाम आत्माओ के भीतर अभिसिंचित कर देने के लिए।

तीर्थंकर वह, जो अपने देश-काल मे एक नूतन सर्वत्राता युग-तीर्थ का प्रवर्त्तन करे। इसी महोद्देश्य की परिपूर्ति के लिए श्री भगवान् अपने समकालीन विश्व और समय के भीतर एक मूर्त प्रत्यक्ष, भौगोलिक और युगीन यात्रा भी करते है। जो तीर्थंकर युगावतार न हो, अपने युग और समय का अतिक्रान्तिकारी स्रष्टा और विधाता न हो, उसकी हमारे लिए क्या उपादेयता हो सकती है? वह भले ही अपनी मौलिक आन्तरिक सत्ता मे सर्वज्ञ अर्हन्त और सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी हो, लेकिन हमारे समय मे जब तक उसकी यह इयत्ता और गुणवत्ता प्रत्यक्ष रूप मे प्रमाणित न हो, तब तक हम तीर्थंकर महावीर को कैसे पहचान सकते है, उसे कैसे अपने और अपने समय के लिए सुलभ कर सकते है?

यही 'अनुत्तर योगी' के रचनाकार का वह विज़न है, जिसके चलते यह ग्रथ अनिवार्यत और ठीक एक मूर्त क्रमिकता मे पचम खण्ड तक खिचता चला जा रहा है। पचम खण्ड के उपसहार मे, ठीक निर्वाण की उप कालीन ब्राभा-वेला मे अनायास प्रभु के श्रीमुख से अनेक भविष्यवाणियाँ उच्चरित होती है, जिनमे हमारे समय के इतिहास का भी अनावरण होता है, तथा हमारे काल के प्रमुख युगान्तरकारी व्यक्तित्वो, घट-चक्रो और मोडो पर भी प्रतीकात्मक प्रकाश पडता है।

मै समझता हूँ, कि इस कैफियत से पाठकों और समीक्षक-मित्रो को ग्रथ के इस विस्तार और अमाप इयत्ता का कारण-विज्ञान अवबोधित हो सकेगा। इत्यलम्।

○ ○ ○

इस बीच प्राय कई समझदार समीक्षक मित्रो को कहते सुना है कि 'अनुत्तर योगी' मे अब तक उपलब्ध उपन्यास का स्वीकृत ढाँचा (स्ट्रक्चर) टूट गया है। कुछ लोगों ने यह प्रश्न भी उठाया है कि 'अनुत्तर योगी' को उपन्यास कहा जाये, या काव्य कहा जाये, या आखिर इसे क्या कहा जाये? क्योंकि उपन्यास-विधा का प्रस्थापित स्वरूप इसमे हाथ नही आता। बल्कि

यह एक विशुद्ध महाकाव्य ही अधिक है। कविता की तमाम शर्तों को बेशक यह पूरा करता है, मगर उपन्यास इसे कैसे कैसे कहें ? क्योंकि इसमें उपन्यास का कोई सर्वमान्य सिलसिला हाथ नहीं आता। इसका सारा गद्य इस क़दर गीत्यात्मक (लिरिकल) है, कि उपन्यास की गद्यात्मक मूर्तता इसमें गायब दिखायी पड़ती है। एक तरल, अबन्ध्य काव्य-प्रवाह में ही यह सारी कृति रची गई है, जो किसी भी ठोस वास्तविक तट-बन्ध को नहीं स्वीकारती। इस प्रकार की आलोचनाओं के फलस्वरूप एक बात अवश्य प्रमाणित होती है, कि 'अनुत्तर योगी' न तो उपन्यास है, न निरा काव्य है, बल्कि कोई एक तीसरी ही असज्ञनीय विधा इसमें आविर्भूत होती दिखायी पड़ती है। एक तरह से यही कथन सही कहा जा सकता है।

वस्तुत हकीक़त यह है कि इसे लिखना आरम्भ करते समय मेरे मन में ऐसी कोई सतर्क धारणा नहीं थी कि मैं इसमें उपन्यास का पूर्व-निर्धारित ढाँचा तोड़ूँ। असल में कोई शिल्पगत पूर्व-परिकल्पना मेरे मन में थी ही नहीं। शिल्प या रूप-बन्ध के स्तर पर जो कुछ भी हुआ है, वह अपने आप ही होता चला गया है। मानो कि इसके शिल्पी या स्थापत्यकार स्वयम् इसके महानायक महावीर ही रहे। वे मुझ से जिस तरह लिखवाते चले गये, मैं लिखता चला गया। गोया कि अपनी कथा का रूप-निर्धारण महावीर ने मेरे हाथ रक्खा ही नहीं, वे स्वयम् ही जैसे इसमें स्वत रूपायित होते चले गये। इसके अतिरिक्त इसका अन्य कोई स्पष्टीकरण मेरे लिए सम्भव नहीं है।

जब कई समीक्षकों ने एक ही बात बार-बार दोहराई कि इसमें ढांचा टूटा है, तो मानो अपने सृजन की योग-निद्रा से उचट कर एकाएक किसी सबेरे यह खबर मैंने जैसे किसी अखबार की हेड-लाइन में पढ़ी और मैं चकित हो गया, कि क्या सचमुच ऐसा कुछ हुआ है ? ठीक उसी तरह, जैसे कोई किशोरी हठात् मुग्धा होने पर, लोगों की उसके रूप-यौवन पर मुग्ध-विभोर होती दृष्टि से वह सचेतन होकर जाने, कि उसके शरीर में कुछ ऐसा रूपान्तर हुआ है, जो सारे परिवेश की सम्मोहित दृष्टि का केन्द्र बन गया है। और तब मानो वह स्वयम् ही अपने रूप-लावण्य पर आत्म-मुग्ध हो जाये, और लजा जाये, नज़रें झुका कर आप ही अपने सौन्दर्य की समाधि में निमग्न हो जाये।

वस्तुत यह आलोचना मुझे सही और अच्छी ही लगी। यह जान कर मुझे आल्हाद का रोमांच ही अनुभव हुआ कि मेरे हाथों कुछ ऐसा अघटित घटित हुआ है, जो भारतीय साहित्य में इससे पूर्व नहीं हुआ था। पश्चिम में तो उपन्यास का स्ट्रक्चर (ढाँचा) बहुत पहले ही टूट चुका था। हेनरी प्रूस्त, जेम्स जॉयस और वर्जीनिया वुल्फ यह काम बहुत पहले ही कर चुके

थे। मगर भारतीय साहित्य मे यह जानकारी मौजूद होते हुए भी, किसी बड़े से बडे उपन्यासकार ने भी यह साहस नहीं किया था, या वैसा करने की कोई ज़रूरत किसी को महसूस न हो सकी थी। सच तो यह है कि किसी भी बडी और स्वाभाविक रचना मे ढाँचा इरादतन तोड़ा नहीं जाता, वह आपोआप ही टूटता है। तो मानना होगा कि वह रचना या रचनाकार की किसी भीतरी ज़रूरत मे से ही टूटता है। हकीकतन मेरे साथ भी यही हुआ होगा। क्योंकि प्रयोग करने के लिए प्रयोग करना कभी मेरे स्वभाव मे न रहा, जब भी मुझ से प्रयोग हुआ, मेरी खास तरह की अन्तश्चेतना और उसकी रचनात्मक आवश्यकता मे से ही हुआ। लेकिन यह तो अब एक सर्व-स्वीकृत तथ्य हो चुका है, कि 'अनुत्तर योगी' मे उपन्यास का परम्परागत ढाँचा टूटा है। और इसे मै अपने तईं एक उपलब्धि ही मानता हूँ, दोष नही। वैसे भी मैंने आलोचक या पाठक को लक्ष्य मे रख कर कभी नहीं लिखा। जो भी लिखा, प्रथमत अपनी विलक्षण आत्मानुभूति और आत्माभिव्यक्ति के तकाज़े मे से ही लिखा।

इस सन्दर्भ मे मुझे दो वर्ष पूर्व 'पूर्वग्रह' मे प्रकाशित धनजय वर्मा के एक विस्तृत लेख का ध्यान आता है, जिसमे उन्होंने बडे साहसपूर्वक भारतीय उपन्यास पर यह टिप्पणी की थी, कि हम पश्चिम से आयातित एक ढाँचे की परिपाटी को ही पीट रहे है, किसी ने अब तक उपन्यास के प्रस्थापित ढाँचे को तोडने की कोई पहल या पराक्रम नही किया है। उसके बाद स्वयम् धनजय ने मुझ से यह ज़िक्र भी किया था, कि वस्तुत उनका वह लेख 'अनुत्तर योगी' की उनके द्वारा आगे की जाने वाली समीक्षा की भूमिका ही था, और उसके उत्तरार्द्ध-स्वरूप जो लेख अब वे लिखेंगे, उसमे वे यह स्थापना करेंगे कि 'अनुत्तर योगी' का रचनाकार इस मामले मे अपवाद स्वरूप है, और उसने स्थापित औपन्यासिक ढाँचे को तोड़ने की साहसिक पहल की है। प्रकारान्तर से धनजय वर्मा से पहले ही श्रीराम वर्मा और प्रभात कुमार त्रिपाठी भी यह बात अपने ढग से कह चुके थे, इसका उल्लेख न करना उन दोनों साहित्य-मर्मज्ञ मित्रो के प्रति अन्याय होगा।

यहाँ इस सन्दर्भ मे यह कह देना भी ज़रूरी है कि 'अनुत्तर योगी' का भावक पाठक बिना किसी ऐसे विवाद मे पड़े उसे अपनी जड़ों से सीधा पीता चला गया है, और उसे इसमे वह परितृप्ति और समाधान मिला है, जो उसे अन्यत्र आज तक कहीं न मिल सका था। इसमे ढाँचा टूटने, और एक अधिक तर्पक विधा के आविष्कृत होने की बात स्वत: ही गर्भित है। सच पूछो तो किसी भी कृति का सच्चा मूल्यांकनकार उसका भाविक और सुरसिक पाठक ही होता है, कोई रचनाकार या समीक्षाकार नहीं। क्योंकि लेखक और

समीक्षक आमतौर पर संस्कारबद्ध, रूढिबद्ध और 'सॉफिस्टीकेटेड' ही होते है। पाठक ही मुक्तचेता और रचना का सच्चा स्वाभाविक गृहीता और अवबोधक होता है। 'अनुत्तर योगी' के हजारों पाठकों के अभिमत से यह सत्य और तथ्य प्रमाणित हुआ है।

O O O

'अनुत्तर योगी' मे ढाँचे का टूटना जिस तरह एक दिन अकस्मात् 'ब्रॉड-कास्ट' की तरह चारों ओर से सुनाई पड़ा था, उसी तरह एक दिन हठात् यह टेलीकास्ट भी देखने-सुनने मे आया कि–'अनुत्तर योगी' सही मानों मे एक 'विशुद्ध भारतीय उपन्यास' है। मै हैरान देख कर, कि 'विशुद्ध भारतीय उपन्यास' कोई खास चीज होती है क्या ? भारतीय जीवन को ले कर लिखा गया, हर हिन्दुस्तानी लेखक का उपन्यास क्या भारतीय ही नही होता है ?

बकिम, रवीन्द्र, शरत्, ताराशकर, विभूतिभूषण, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, वात्स्यायन, विमल मित्र, खाण्डेकर, राजा राव, मुल्कराज आनद, हजारी प्रसाद द्विवेदी, और हमारे तमाम आंचलिक उपन्यास– ये सब क्या विशुद्ध भारतीय नही ?

तभी शिलालेख या कहिये आकाश-लेख की तरह एकाएक कही पढने को मिला।

" इधर पाश्चात्य प्रभाव मे हमारा साहित्य इतना प्रभावित है, कि वह कभी-कभी पाश्चात्य वाङमय का हिन्दी अनुवाद-सा लगता है। ऐसी स्थिति मे आधुनिक साहित्य मे निखालिस भारतीय उपन्यास लिखने का श्रेय वीरेन्द्रजी को जाना चाहिए। 'अनुत्तर योगी' किस माने मे विशुद्ध भारतीय है, इसका स्पष्टीकरण जरूरी है। इस उपन्यास का केन्द्रीय व्यक्तित्व और इस महागाथा का अनुभव समस्त भारतीय सस्कृति का एक विशुद्ध परिणमन है। वैज्ञानिक बुद्धिवाद के प्रभाव मे आकर हमारा आज का बौद्धिक पुरातीन जगत के अतीन्द्रीय अनुभवों का, विराट् व्यक्तित्वों तथा अतिमानवीय घटनाओं का या तो अविश्वास करने की मुद्रा मे रहता है, अथवा उन्हे बुद्धि-सम्मत पहराव देने का प्रयास करते हुए मूल मिथकीय अनुभव को ही नकार देता है।

"भारतीय योग-साधना, ध्यान-धारणा, भक्तिपरायणता, अलौकिक चमत्कारों की वास्तविकता, केवलज्ञानी एवं त्रिकालचेता विराट् व्यक्तित्व की उपस्थिति मे सहज आस्था, जन्म और मरण का शाश्वत सत्ता की सापेक्षता मे लहर और समुद्र की तरह रिश्ता, जन्म-जन्मान्तरवाद और कर्म-वाद मे विश्वास, मूल सत्ता के गुणात्मक रूप को स्वीकार करते हुए भी,

*मनुष्य की दृष्टि से उसका चरम शिवत्व और सौन्दर्य से सयुक्त होना, सभी गोचर द्वद्वों एव सघर्षों का अन्ततोगत्वा सत्ता की समरसता मे विलीयमान होना—आदि भारतीय संस्कृति के कुछ ऐसे विश्वास 'अनुत्तर योगी' के अनुभव की पीठिका है। और यही पीठिका उमे एक विशुद्ध भारतीय उपन्यास प्रमाणित करती है। "*

—डा० चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

*('उपन्यास स्थिति और गति' ग्रथ से साभार)*

डॉ० बांदिवडेकर सबसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने *'अनुत्तर योगी'* पर *'निखालिस भारतीय उपन्यास' की मुद्रा अंकित की। फिर डॉ० श्यामसुन्दर घोष ने कहा कि 'अनुत्तर योगी'—'भारतीय सस्कृति का चित्रागार है'।* इसके *अनन्तर श्रीराम वर्मा ने भोपाल के 'साक्षात्कार' मे लिखा कि "इधर निर्मल वर्मा विशुद्ध भारतीय उपन्यास के सम्भाव्य स्वरूप की खोज मे हैं। अपनी तमाम खोज के बावजूद वे अपने उपन्यासों मे पाश्चात्य वास्तववाद (रियालिज्म) से उबर नहीं पा रहे है। जबकि वीरेन्द्र कुमार जैन ने 'अनुत्तर योगी' के रूप मे विशुद्ध भारतीय उपन्यास लिख कर, उसके मौलिक स्वरूप का साक्षात्कार करा दिया। वीरेन्द्र कुमार जैन तो भौतिक यथार्थ यानी 'रियालिज्म' को स्वीकारते ही नहीं, उस पर रुकते ही नही। उनके सृजन का स्रोत है 'रियालिटी' (मौलिक सत्ता), और समस्त जगत्-जीवन को भी वे इसी 'रियालिटी' के परिप्रेक्ष्य मे ही देखते-जानते और अनुभूत करते हैं।—आदि" ठीक शब्द इस वक्त सामने नहीं हैं, मगर श्रीराम वर्मा का आशय नि सन्देह ठीक यही है वक्तव्य के मारे तथ्य यही हैं।*

*डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने कहा कि — 'अनुत्तर योगी' मे वीरेन्द्र-कुमार जैन ने वेदव्यास बनने की कोशिश की है। इसमे 'महाभारत' की यह प्रतिज्ञा स्पष्ट झलकती है कि—'जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नही है, जो जहाँ भी है—वह सब यहां एक साथ है।'—आदि।" डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इसे भारतीय आत्मा का अनादिकालीन महाकाव्य कहा, और डॉ० विवेकी राय ने इसकी विशुद्ध भारतीयता को विस्तार से विवेचित किया।*

*इन तमाम सन्दर्भों के सिलसिले मे ही मुझे पहली बार जानने को मिला कि साहित्य मे इधर 'विशुद्ध भारतीय उपन्यास' जैसी किसी चीज की तलाश चल रही है। और इस तलाश के लक्ष्य को समझने मे मैं अब भी असमर्थ हूँ। रवीन्द्र और शरत् का कथा-साहित्य क्या भारत की अन्तश्चेतना से ही अनुप्राणित नहीं? दक्षिण भारत के सभी दिग्गज कथाकारों ने क्या भारत की महान जीवन्त परम्परा को ही आलेखित नहीं किया? प्रेमचन्द के 'गोदान' के होरी मे क्या भारत की आदिम आत्मा ही नहीं बोलती? हमारे*

सारे आंचलिक उपन्यासों मे क्या भारत की आदिम माटी की गन्ध ही नहीं महक रही ? क्या कमलादास के आत्मकथात्मक उपन्यास 'मेरी कहानी' मे भारत की आत्मा ने ही पश्चिम का शरीर धारण नहीं किया है ?

तब फिर वह क्या विशिष्ट अवशिष्ट है, जिसके अभाव मे 'भारतीय उपन्यास' के प्रकृत स्वरूप की तलाश अब भी जारी है ? यह तलाश कथ्य-गत है या शिल्पगत है ? क्या कोई अनादि-अनन्तकालीन भारत हो सकता है ? यह क्यों कर सम्भव है ? निरन्तर परिवर्तनशील देश-काल मे कोई भी देश या सस्कृति-विशेष अक्षुण्ण रूप से चिरन्तन-शाश्वत कैसे कही जा सकती है ? ये प्रश्न उत्तर मांगते है, और इनका उत्तर देने का दु साहस मैं यहाँ नही करूँगा।

मगर एक बात जरूर ध्यान मे आती है--इस सन्दर्भ मे। भारत की अनाद्यन्त खोज की उपलब्धि साराशत यह है कि "द्वन्द्व और द्वन्द्वातीत सूक्ष्म और स्थूल, आत्मिक और भौतिक, मूर्त और अमूर्त, दोनों ही अपनी जगह सत्य है। 'एकोह बहुस्याम्' कह कर 'वह एकमेव' ही दो हो कर फिर बहु हुआ है. वही है यह जगत्-सृष्टि, यह जोवन। इसी से भारत का कहना है, कि द्वन्द्वातीत मे द्वन्द्व का इनकार नही है, और द्वन्द्व मे द्वन्द्वातीत का इनकार नही है। वैसे ही आत्मिक मे भौतिक का, और भौतिक मे आत्मिक का इनकार नहीं है। समुद्र मे तरग का, और तरग में समुद्र का इनकार नहीं है। अमूर्त ही मूर्त हुआ है, और मूर्त की मुक्ति अमूर्त मे ही सम्भव है। अखण्ड अमूर्त का साक्षात्कार हुए बिना, खण्ड मूर्त मे पूर्णत्व का प्राकट्य सम्भव नहीं। द्वन्द्व और द्वन्द्वातीत मे जो एक साथ खेल रहा है, वही भारत है, वही भारतीय आत्मा की अस्मिता है। एक मे अनेक, और अनेक मे एक की लीला का दर्शन-आस्वादन, यही भारत की विशिष्ट अन्तश्चेतना है। जिस उपन्यास या गाथा मे इस लीला का स्पष्ट और सीधा साक्षात्कार तथा मूर्तन हो, शायद उसे ही 'विशुद्ध भारतीय' उपन्यास की सज्ञा प्रदान की जा सकती है। यह शाश्वत कथा की पटभूमिका पर ही सम्भव है। शाश्वत कथा के लिए सब से उपयुक्त फॉर्म है मिथक, पुराकथा। क्योंकि उसमे तात्का-लिकता होते हुए भी सार्वकालिकता होती है। वह काल मे घटित होते हुए भी, महाकालीन, सर्वकालीन और कालातीत एक साथ होती है।

एक और भी बात विशुद्ध भारतीय कथा-साहित्य के लाक्षणिक स्वरूप को उजागर करती है। उसमे फन्तासी और वास्तविकता दोनों एकाग्र रूप से सयुक्त पायी जाती है। उसमे त्रासदी और कॉमेदी (सुखान्तिका) द्वन्द्व और द्वन्द्वातीत का निर्वाह एक साथ होता है। उसका अन्त सदा कॉमेदी में होता है। उसमे वास्तविक ससार जोवन के स्तर पर त्रासदी का चित्रण

चरम तक होता है, अस्तित्वगत संत्रास को परा सीमा तक आलेखित किया जाता है। लेकिन उपसंहार में सुखान्तिकता अनिवार्य है। नरक है, मृत्यु है, मगर अन्ततः स्वर्ग है, अमरता है, शाश्वती (इटर्निटी) है। आज का अधिकांश पाश्चात्य साहित्य अस्तित्वगत द्वन्द्व और त्रासदी पर ही समाप्त है। भारत द्वन्द्व और त्रासदी को सम्पूर्ण स्वीकारता तो है, पर उसकी कथा का उपसंहार द्वन्द्वातीत शाश्वत मिलन में होना जैसे अनिवार्य है। क्यों कि अन्ततः शाश्वत जीवन ही परम सत्य है, ध्रुव स्थिति है।

इसी कारण हमारे क्लासिक साहित्य मे वास्तव और दन्तकथा का, यथार्थ और मिथक का, स्वप्न और तथ्य का, मूर्त और अमूर्त का, वज्र-कठोर और कुसुम-कोमल का सुन्दर और असुन्दर का अद्भुत सम्मिश्रण और सामंजस्य दिखायी पड़ता है।

यहाँ यह भी लक्षित करना होगा कि पश्चिम के क्लासिकों मे भी मिल्टन का महाकाव्य 'पेरेडाइज़ लॉस्ट' पर ही समाप्त नहीं होता, 'पेरेडाइज़ रिगेन्ड' मे ही उसकी चरम परिणति होती है। दान्ते ने 'कॉमेडिया डिविना' ही लिखी, 'ट्रैजेडिया डिविना' नहीं। 'इनफर्नो' मे नरकों के तमाम मण्डलों और पातालों को पार कर के, 'पर्गेटोरियो' मे आत्मशुद्धि के अग्नि-स्नान से गुज़र कर, 'पेरेडिसो' मे कवि 'पेरेडाइज़' के उद्यान-सरोवर के तट पर अपनी दिवगता विरहिता प्रिया बीट्रिस से पुन. मिलता है, और वह मिलन-सुख शाश्वत हो जाता है।—यानी क्रूसीफिक्शन ही सत्य नही, रिसरेक्शन भी उतना ही सत्य है : बल्कि वही अन्तिम और शाश्वत सत्य है।

इस शाश्वती का साक्षात्कार ही भारतीय सृजन का परम अभीष्ट या लक्ष्य कहा जा सकता है। 'अनुत्तर योगी' मे द्वन्द्व और द्वंद्वातीत, काम और पूर्णकाम, का यह सामंजस्य कहाँ तक सिद्ध हो सका है, भगुर मे अमर का और ऐन्द्रिक में अतीन्द्रिक का दर्शन-आस्वादन कहाँ तक विश्वसनीय हो सका है, शाश्वती की अनुभूति ठीक मनोवैज्ञानिक स्तर पर कहाँ तक रूपायित हो सकी है, यह निर्णय सच्चे भावक और भाविक पाठकों, लेखकों और समीक्षकों के हाथ है। उसमे मेरा क्या दखल हो सकता है ? इतना ही जानता हूँ, कि अधोलोक के अतल अन्धकारों में, नग्न निर्द्वंद्व खेल कर भी, अन्ततः मैं ऊर्ध्व के ज्योतिर्मय वातवलयों मे ही तैरता पाया गया हूँ, उड्डीयमान हो सका हूँ। जीवन मे पल-पल चरम त्रासदी को जी कर भी, अन्ततः सदा सुन्दर के स्वप्न में ही उत्क्रान्त होता रहा हूँ, जीता रहा हूँ। इत्यलम्।

○ ○ ○

हमारे साहित्य में 'विशुद्ध भारतीय उपन्यास' की तलाश जो आज इस शिद्दत से हमारे बौद्धिकों के बीच चल पड़ी है, उसका एक और भी सचोट

कारण है। भारत के सरनाम अंग्रेज़ी प्रकाशकों की रिपोर्ट है, कि विदेशों में तथाकथित आधुनिक भारतीय उपन्यास की माँग तेजी से कम होती जा रही है। नौबत यहाँ तक आ पहुँची है, कि पहला सस्करण भी पडा रह जाता है। वजह यह बतायी जाती है, कि जागृत और रोशन पश्चिमी पाठक की भारत के उस कथा-साहित्य मे दिलचस्पी नहीं रह गई है, जिसमें पश्चिमी सभ्यता से आक्रान्त भारतीय चरित्रों का आलेखन होता है। पश्चिम के पिटे-पिटाये अस्तित्ववादी और अतियथार्थवादी पात्रों की पुनरावृत्ति या भद्दी नकल, और सत्रास, अकेलेपन तथा दिशाभ्रम की पश्चिमी समस्याओं का हमारे नये उपन्यास मे जो प्राबल्य बढता जा रहा है, वह पश्चिमी पाठक को तृप्त नहीं करता। वह उसे अपनी ही जूठन या वमन लगता है। उसमे उसे भारत का वह आन्तरिक मनुष्य नहीं मिलता, जिसे जानने-समझने की उसे तीव्र उत्कण्ठा और प्यास है। सच तो यह है, कि पश्चिम भारतीय उपन्यास मे भारत की आदिम आत्मा से संपृक्त हो कर, उसकी जडों मे उतर कर, वह शांति और समाधान पाना चाहता है, जो भारतीय चेतना की चिरकालीन विरासत रही है। भारत की वह गहनगामी सास्कृतिक परम्परा, जो उसके क्लासिक महाकाव्यों और उसकी कलाओ मे उपलब्ध है, वह आज के भारतीय मनुष्य मे कहाँ तक जीवन्त है, यही जानने के लिये पश्चिम आज उत्कण्ठित है। आधुनिक जापानी साहित्य और मनुष्य मे चूंकि जापान की शाश्वती परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप से जीवित है, इसी कारण पूर्व के साहित्यों मे जापानी साहित्य ही अपेक्षाकृत आज के पश्चिमी मनुष्य को अधिक तृप्त करता है।

मगर यह एक कटु सत्य है, कि आधुनिक भारतीय बौद्धिक और सर्जक चूंकि अपनी सनातन जीवन्त परम्परा से कट गया है, इसी कारण पश्चिमी जगत् मे आज का भारतीय उपन्यास एक हृद के बाद अपनी अपील खोता जा रहा है। टाइट जीन्स् और टाइट जर्सियों मे कसी आज की थियेटर करने वाली वे लडकियाँ और लड़के, जो सिगरेट और शराब की प्याली हाथ मे उठाये अपनी कृत्रिम समस्याओं और त्रासदियों से उलझ रहे है, वह सारा कुछ पश्चिम से आयातित है. पश्चिमी मानस के लिये वह अत्यन्त मॉनोटोनस है, उसका अपना ही वमन है, उसकी अपनी ही क्रॉनिक ट्रैजेडी है। उसे पढना उसे ग्लानिजनक और निहायत अरोचक तथा कृत्रिम लगता है। यही कारण है कि तथाकथित आधुनिक भारतीय उपन्यास पश्चिम मे 'फ्लॅट' हो चुका है, उसका कोई असर नहीं पडता।

भारत का प्राचीन स्थापत्य, शिल्प, वास्तु, भारत का क्लासिकल सगीत और नृत्य, भारत की पारम्परिक स्वप्न-फन्तासी-जनित चित्रकला, उसके

मिथक और गहन गर्भवान प्रतीक ही पश्चिमी मानस को आज अधिक आकृष्ट करते हैं। पश्चिम का पाठक वर्तमान भारतीय साहित्य में, उस खोये हुए स्वप्न को फिर से जीवन्त पाना और जीना चाहता है। इसी से यह भी रिपोर्ट मिलती है, कि भारत के पुराकथात्मक साहित्य की माँग आज पश्चिमी दुनिया में बढ़ती जा रही है। पश्चिम से उधार लिया हुआ भीषण यथार्थवाद और अस्तित्ववाद जब आज के हिन्दुस्तानी साहित्य में वल्गेराइज़ हो कर व्यक्त होता है, तो पश्चिम के पाठक को उससे मतली होती है। वह अपनी मशीनी सभ्यता से उत्पन्न मतली, ऊब, उलझन, अशांति, हिस्टीरिया को भारत के साहित्य में पढ़ने को ज़रा भी तैयार नहीं।

मतलब कि औद्योगिक-यान्त्रिक सभ्यता से थका-हारा मृतप्राय, ह्रासोन्मुख, पराजित पश्चिमी मनुष्य मानव-जाति के खोये हुए मिथक और स्वप्न को ही भारत के वर्तमान साहित्य में खोजता है, उसके अपने ही पिटेपिटाये भीषण यथार्थ की पुनरावृत्ति नहीं। जब कि हमारे वर्तमान बौद्धिक सर्जक की मति ठीक इससे उलटी चल रही है। वह पुराकथा, स्वप्न और फन्तासी को पलायन कह कर उसका तिरस्कार करता है, उसे अप्रासंगिक कहता है। वह पश्चिम में निष्फल हो चुकी सतही क्रांतियों के साहित्य को ही प्रासंगिक मानता है, और उसे 'भोगा हुआ यथार्थ', की संज्ञा देकर उसी को पीटने-दुहराने में अपनी आधुनिकता की सच्ची कृतार्थता अनुभव करता है।

इस सतही यथार्थवाद और प्रगतिवाद से ग्रस्त होने के कारण ही, आज का भारतीय बौद्धिक, सर्जक 'मायथोलॉजी' के सही अभिप्राय और आशय को समझ नहीं पाता है। और पुराकथा को अयथार्थ, असत्य और मिथ्या कल्पना-जल्पना मानता है। तथाकथित यथार्थ के निरे भौतिकवादी चश्मे से पुराकथा के पात्रों की जीवन्तता को समझना सम्भव ही नहीं है। पुराकथा का फलक या कैनवास कॉस्मिक (वैश्विक) होता है, निरा देश-कालगत भौगोलिक, प्रादेशिक या ऐतिहासिक नहीं होता। इसी से पुराकथा के पात्र, व्यक्ति और व्यक्तित्व होकर भी, निरे वैयक्तिक नहीं होते, वे वैश्विक होते हैं वे समग्र 'कॉस्मॉस' या वैश्विक सत्ता के ही संयोजक घटक होते हैं। वे प्रतीक-पुरुष और प्रतीक-नारियाँ होते हैं, जो सृष्टि की विभिन्न, विविध और द्वन्द्वात्मक आदिम शक्तियों-परिबलों (Forces) के व्यंजक और प्रतिनिधि प्रतिरूप होते हैं। पुराकथा की सार्थकता और प्रासंगिकता को आकलित करने का यही एक मात्र सही नज़रिया हो सकता है। यथार्थवादी पट या पात्र एक हद के बाद मॉनोटोनस, निर्जीव पुनरावृत्ति मात्र हो ही जाते हैं। जबकि पौराणिक पात्र देश-काल से सीमित प्रतिबद्ध न होने के कारण सदा ताज़ा और जीवन्त लगते हैं, क्योंकि वे अनन्त असीम 'कॉस्मॉस' के परिप्रेक्ष्य में से आविर्भूत

होते हैं। यानी कि मिथिकल पात्र और चरित्र सीधे कॉसमॉस या कॉस्मिक विराट में से कट कर ही अवतीर्ण होते हैं। इसी कारण, इस अनन्तता और अजस्रता की वजह से ही उनकी अपील शाश्वत, चिरन्तन, और निरन्तर तरोताज़ा बनी रहती है।

'अनुत्तर योगी' उसी अनन्त ब्रह्माण्डीय फलक पर लिखा गया है। इसी कारण उसके पात्र वैयक्तिक होकर भी वैश्विक हैं, तत्कालीन होकर भी सर्वकालीन हैं, ऐतिहासिक होकर भी पराऐतिहासिक हैं, सामाजिक होकर भी परा-सामाजिक हैं, प्रासगिक होकर भी शाश्वत की परम्परा से जुड़े हुए हैं, भौगोलिक होकर भी ब्रह्माण्डीय हैं, प्रादेशिक होकर भी सार्वभौमिक हैं, खण्ड होकर भी अखण्ड हैं, सीमित-सान्त होकर भी अनन्त-असीम हैं, सूक्ष्म परमाणविक होकर भी स्थूल पिण्डात्मक हैं, रक्तमांस के वास्तविक नर-नारी होकर भी, वायवीय हैं—'इथीरियल' हैं, पार्थिव होकर भी आत्मिक और अन्तरिक्षीय हैं। उनमें फन्तासी और रियालिज्म का सहज ही सामजस्य और समन्वय हुआ है। इसी कारण उनकी अपील अनायास सर्वकालीन और सार्वदेशिक हो गई है। पुराकथा की सचरना की इस 'एनाटॉमी' को सम्यक् भावेन समझ लेने पर ही, पुराकथा की सत्यता, यथार्थता और 'अभी' और 'यहाँ' उसकी प्रासंगिकता को सही मानों मे आकलित और अवगाहित किया जा सकता है।

O O O

कोई भी रचनाकार जब रचना करता है, तो उसे पता नही होता है, कि उसके रचना-विस्तार की ठीक-ठीक प्रक्रिया क्या होगी ? एक धुंधली आकार-रेखा (कण्टूर) भर उसके सामने होती है निपट एक फलक-स्तरीय रेखांकन। मगर रचना के दौरान जब वह गहराइयों को थाहता है, तो उसके अनजाने ही जाने कितने ही अपूर्व गोपन-गूढ रहस्यों का अनावरण और सृजन होता चला जाता है, जिसका कोई पूर्वाभास उसे नहीं होता, और रचना करते समय भी न वैसा कोई इरादा होता है, न उस उद्घाटन-आविष्कार का पता चल पाता है।

प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड उस मुकाम पर खुलता है, जब महावीर तीर्थंकर होने के बाद पहली बार प्रकटतः वैशाली आ रहे हैं—या आते हैं। उनके स्वागत की सारी तैयारी स्वभावत पूर्व के तोरण-द्वार पर ही होती है। नगर के अन्य तीन दिशागत द्वार यों भी मगध-वैशाली के वर्षों व्यापी शीतयुद्ध के चलते बन्द हैं। मगर अजब है कि महावीर अकस्मात् वैशाली के कीलों-साँकलों जडित वर्षों से बन्द पश्चिमी द्वार के सामने आ खड़े होते हैं। उनके दृष्टिपात मात्र से द्वार सारी अर्गलाएँ तोडकर खुल पड़ते हैं। और कठोर वीतराग महावीर बिना किसी इरादे के देवी आम्रपाली के 'सप्तभौमिक'

प्रासाद के सामने से गुजरते हैं, और ठीक उसके मुखद्वार के आगे ठिठक जाते हैं।"

प्रश्न उठता है, कि महावीर वैशाली आये हैं, या आम्रपाली के द्वार पर आये हैं ? लेकिन महावीर सथागार के भाषण मे कह चुके थे कि उनके मन आम्रपाली ही वैशाली है। वे दोनो नदाकार अस्तियाँ हैं। यहाँ रचना के दौरान एक रहस्य खुलता है आम्रपाली सृष्टि की आद्याशक्ति परात्परा नारी-माँ का प्रतीक है। आद्याशक्ति माँ के भीतर मे ही विश्व का सृजन और मूर्तन होता है। वैशाली है उसी आद्या के मूर्त प्रकटीकरण (मैनीफेस्टेशन) का एक मीनियेचर प्रतीक। उसमे आदिम नारी-माँ ने ही रूपाकार धारण किया है जब भी वह नारी-शक्ति विषम हो जाती है, या कर दी जाती है, तो सारी सृष्टि विषम और विसम्वादी हो जाती है। बलात्कार पूर्वक आम्रपाली को नगर-वधू बनाना ही नारी-शक्ति का वैषम्यीकरण है, विसम्वादीकरण है। इसी से वैशाली भी विषम, विसम्वादी, बेसुरी और सघर्षाक्रान्त हो गई है। फलत सारा समकालीन जगत भी।

महावीर पुरुष या शिव के प्रतीक है। वे मानवों द्वारा विकृत विषम कर दी गई प्रकृति या आद्या-शक्ति की मुक्ति के लिये ही मानो वैशाली आये है। प्रथम बार भी वे उसी केन्द्रीय--ध्रुवाकर्षण से खिंच कर वे वैशाली आने को विवश हुए थे। इसी से सथागार के भाषण मे उनके ध्रुपद की टेक थी आम्रपाली। महाशक्ति माँ अनादृत है, सुवर्ण के कारागार मे बन्दी है, इसी से मानो विग्रह-सघर्ष है, युद्ध है, विरोधी आसुरी शक्तियों का प्राबल्य है। मगधेश्वर श्रेणिक के मन मे भी वैशाली जीतना इसीलिये अनिवार्य था, कि आम्रपाली को पाये बिना उनका दिग्विजयी चक्रवर्तित्व और साम्राज्य विस्तार सम्भव न था। आद्याशक्ति माँ, विपथगामी पुरुषशक्ति की होड, स्पर्द्धा और युद्ध (देवासुर-सग्राम) का विषय बन गयी थी। मातृशक्ति जब तक असुर के तामसिक कारागार मे मुक्त न हो, तब तक मगल-कल्याणी वैशाली या जगत्-सृष्टि की रचना नही हो सकती।

आम्रपाली का, महावीर को बिना देखे भी, उनके प्रति जो अदम्य और अनिर्वार आकर्षण है, जो परा प्रीति है, वह प्रकृति की पुरुष के प्रति, शक्ति की शिव के प्रति अप्रतिवार्य गुरुत्वाकर्षिणी शक्ति का ही द्योतन या 'मैनीफेस्टेशन' है। मगध-वैशाली का देवासुर-सग्राम, तत्कालीन जगत् या मगध-वैशाली मे शोषण और पीडन की बलात्कारी शक्तियों का प्राबल्य, ये सब मानो शिव-शक्ति या प्रकृति-पुरुष के वियोग का ही परिणाम है।

सथागार के भाषण में इसी कारण महावीर आम्रपाली की मुक्ति को ही, वैशाली की मुक्ति का एकमात्र उपाय बता गये थे। बता गये थे कि

*नि.शस्त्रीकरण हो, हिंसा और मारण का निवारण हो, तभी शिव-शक्ति के सम्वादी मिलन द्वारा स्वतंत्र, निरापद सृष्टि सम्भव है। उस आदेश का पालन न हुआ।*

*"फलत आम्रपाली का पीड़न जारी रहा। परात्पर शिव-पुरुष महावीर के वियोग मे वह दिन-दिन अधिक विकल-पागल होती गई। अत. श्रीभगवान जब युग-परित्राता तीर्थंकर होकर उठे, तो वे नितान्त अकर्त्ता और निःसंकल्प वीतराग भाव से मानो वैशाली नही आये, आम्रपाली के द्वार पर ही आये। आद्या पराशक्ति आम्रपाली इतनी हताहत कुंठित और ग्रंथि-विजड़ित हो गई थी, कि उस अवस्था मे अपने परम प्रीतम शिव के श्रीमुख-दर्शन और आरती-अर्चन का साहस भी वह न जुटा सकी। वह प्रभु के सामने आ ही न सकी। द्वार पक्ष से अपने परमेश्वर की झलक मात्र पाकर वह मूर्च्छित हो गयी।*

*· ठिठके महावीर गतिमान हो गये। महाकाल और इतिहास उनका अनुसरण करने लगा। विश्व-सृष्टि के विकृत हो गये काम के प्राकृतीकरण और स्वाभावीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई हठात् श्रीभगवान वैशाली के जगत्-विख्यात प्रमद-केलिवन-'महावन उद्यान' मे प्रवेश कर गये। कामेश्वर शिव ने पथभ्रष्ट काम के पुनरुत्थान के लिये ही, मानो वैशाली के कामवन मे ही अपना समवसरण बिछाया।*

*वैशाली का तारुण्य इससे आतंकित हो गया क्षोभ और आक्रोश से भर उठा। उन्हें लगा कि महावीर उनकी स्वाभाविक वृत्ति और जीवनी-शक्ति काम का उच्चाटन और दहन करने आये है। उन्हे कामकेलि से वंचित करने आये है। यथामुहूर्त अगली सुबह की धर्म-देशना मे श्रीभगवान ने उद्-बोधन-आश्वासन दिया "मै तुम्हारे काम को तुमसे छीनने नहीं आया, उसे परि-पूर्ण करने आया हूँ। मै तुम्हारे विकृत और अधोमुख हो गये काम को प्रकृत, पूर्ण, अचूक, अखण्ड और ऊर्ध्वगामी बनाने आया हूँ। मै तुम्हारे आलिंगनो और चुम्बनों को भंगुर मास-माटी की सीमा से उत्क्रान्त करके उन्हे भूमा के राज्य मे अमर, निरन्तर और शाश्वत बनाने आया हूँ। मै तुम्हे निरन्तर मैथुन की परात्परा कामकला सिखाने आया हूँ। मै उसे पशुत्व से ऊपर उठा कर पशुपतिनाथ बनाने आया हूँ। "*

*आशय है कि इसके बिना पशुजय सम्भव नही, सृष्टि के वैषम्य और शोषण-पीड़न का निवारण सम्भव नही। काम के ऊर्ध्वीकरण के बिना सृष्टि कृतार्थ, परितृप्त और पूर्ण नही हो सकती, सम्वादी नहीं हो सकती। सृष्टि का मूलाधार है धृति . धारण करना धर्म। धर्मपूर्वक अर्थ और काम का पुरुषार्थ किये बिना--मोक्ष का मुक्तकाम पूर्णकाम अविनाशी योग सम्भव*

नहीं। उसके बिना निरन्तर मैथुन का आनन्द-भोग उपलब्ध नहीं हो सकता।

काम विकृत हो गया है कि युद्ध है, गृह-युद्ध का दानव ललकार रहा है। उसका निर्दलन और मूलोच्चाटन करने के लिये रक्त-क्रान्ति अनिवार्य है। रक्त-क्रान्ति अर्थात्---रक्त का रूपान्तर। विकृत हो गये रक्त का अति-क्रमण और सशोधन करके, विशुद्ध पूर्णकाम रक्त द्वारा सृष्टि की मांगलिक और सम्वादी रचना का आयोजन। वर्तमान जगत् के गृहयुद्ध और रक्त-क्रान्ति की भी तात्विक भूमिका यही है यही हो सकती है।

यदि अधिकार वासना बनी है, यदि वैशाली और आम्रपाली व्यक्ति, वर्ग और जनपद विशेष के स्वामित्व की वस्तु बनी रहेगी, तो काम का उत्थान और ऊर्ध्वीकरण सम्भव नहीं। यदि वह न हो, तो सर्वनाश और प्रलय अनिवार्य है। सत्यानाश होकर ही रहेगा। सत्यानाश (प्रलय) के बिना, सत्यप्रकाश (नवोदय) सम्भव न हो सकेगा। इसी प्रलयकर भविष्यवाणी पर चतुर्थ खण्ड का प्रथम अध्याय समाप्त हो जाता है।

O O O

प्रभु के परात्पर सौन्दर्य की झलक मात्र पाकर आम्रपाली चरम वियोग-व्यथा की परान्तक समाधि मे निमज्जित हो जाती है। उसे जैसे किसी पार्थिवेतर सत्ता-आयाम मे निष्क्रान्त या निर्वासित हो जाना होता है। वहाँ उसके परम पुरुष के लिये, उसकी विरह-व्यथा पराकाष्ठा पर पहुँचती है। फलत उसके मूलाधार मे भूकम्प होता है। उसके विक्षोभ से मूलाधारस्थ उसकी कुण्डलिनी-शक्ति सर्पिणी की तरह फुफकार कर जाग उठती है। कुण्डलिनी ही है सृष्टि की आद्या चिति-शक्ति। अपने परात्पर प्रीतम परशिव सदाशिव परम पुरुष के मिलन की चरमोत्कण्ठा से, वह अधिकाधिक पागल-विकल होती चली जाती है। विक्षुब्ध विक्रुद्ध सर्पिणी की तरह बेतहाशा लहराती हुई यह कुण्ड-लिनी आत्म-शक्ति, उसके मेरु-दण्ड मे अवस्थित षट्चक्रो का उत्तरोत्तर भेदन करती चली जाती है। इस अन्तर्मुखी ऊर्ध्वयानी यात्रा मे, विभिन्न मनोकामिक (मनोवैज्ञानिक) भाव-सवेदनी शक्तियो के केन्द्रभूत विभिन्न षट्चक्रो का भेदन बलात् होता जाता है। अन्त पर पहुँचते-पहुँचते उसकी विरहावस्था इतनी आत्मविस्मरणकारी हो जाती है, कि उसका अहगत 'मैं' या आत्मभाव विलुप्त हो जाता है। उसके सारे वस्त्र-अलकार, कचुकि-बन्ध, नीवि-बन्ध टूटते चले जाते हैं। सारे अहगत कोष एक-एक कर उतरते चले जाते हैं। आज्ञाचक्र मे पहुँचने पर वह अपने स्वरूप मे मानो ध्यानावस्थित तल्लीन हो जाती है। यहीं उसे नीलबिन्दु का दर्शन होता है। परा प्रीति और परा रति का नील प्रकाश उसकी सुनग्ना काया को चारो ओर से आवरित कर

लेता है। उसका देहकाम उद्भिन्न उत्फुल्ल अम्भोज की तरह उत्क्रान्त होकर, अपने परम पुरुष की परात्पर देह में रमणलीन होने के लिये व्याकुल हो उठता है। तब चरम दैहिक (कामिक) विरह की यौगिक समाधि की नोक पर, आम्रपाली के भीतर से बन्द कक्ष मे, नीलबिन्दु से प्रस्फुटित नील प्रभा के भीतर से अनायास वहाँ महावीर प्रकट हो उठते हैं। सदेह मिलन की उसकी परात्पर महावासना के उत्तर मे, प्रभु उसके सम्मुख अपने आत्मकाम परमकाम शरीर को अव्याबाध रूप से मुक्त उत्सर्गित कर देते हैं। रूप-लावण्य-सौंदर्य के उस महाकाम समुद्र-पुरुष का वह पूर्णकाम, अस्पर्श, परमोष्म आलिंगन पाकर आम्रपाली महाभाव की चरम-स्पर्श समाधि मे मूर्च्छित हो जाती है। अनन्तर सहस्रार के महासुख-कमल की नित्य मैथुनी शैया मे शिव-शक्ति का परम मिलन-सायुज्य घटित होता है। साक्षात्कार होता है, कि शिव और शक्ति दो नहीं एक ही हैं। वह एकमेव आत्म-पुरुष ही सृष्टि के प्राकट्य के लिये शिव-शक्ति की द्वैत-लीला मे रम्माण होता है। और ठीक उसी अविभाज्य मुहूर्त मे, वह अपने आत्मिक एकत्व और अनन्यत्व की सभोग-समाधि मे भी निरन्तर तल्लीन रहता है।

ये सारी चीजें रचनाकार के लिये पूर्व-निर्धारित या पूर्व-गृहीत परिकल्पनाएँ (कॉन्सेप्ट) नहीं होती हैं। कॉन्सेप्ट होता है--बुद्धि-मानसिक परिकल्पन। रचनाकार प्रथमत कोई कॉन्सेप्ट बना कर नहीं चलता। मूलत ये सारी चीजें कोई बौद्धिक कॉन्सेप्ट हैं भी नहीं। ये सत्ता मे विद्यमान प्रकृत मुकाम या मौलिक सरचनाएँ है। ये सृष्टि के गर्भगृही देवालय मे नित्य शाश्वत अनादि-निधन-रूप से बिराजमान हैं। रचनाकार अपने सवेदन की सृजन यात्रा मे, रचना-प्रक्रिया के दौरान ही अनायास अनजाने इनसे गुज़रता है, और इनका अनावरण-आविष्कार करता चला जाता है। कुण्डलिनी-शक्ति, षट्चक्र आदि कोई बौद्धिक, काल्पनिक या मात्र भावनात्मक अवधारणाएँ नहीं। ये साक्षात्कृत सनातन तत्त्व और सत्वभूत नित्य सद्भूत सत्य और तथ्य है। इनका अस्तित्व अमूर्त के भीतर होकर भी, हर मूर्त पदार्थ मे ये अधिक ठोस, सघन, सभर और अक्षुण्ण है।

आम्रपाली मानो मेरे शरीरान्तिक नाडीभग के छोर पर, आद्याशक्ति माँ के रूप मे, स्वयम् ही मेरे परित्राण को चली आई। मेरी और उसकी आत्मिक विरह-वेदना एकीभूत और तादात्म हो गयी और तब उस माँ ने मुझे अपने स्तन-द्वय के बीच की बिमनन्तु तनीयसी गोपन गहराई में सगोपित करके, आत्म-साक्षात्कार के अथवा परम मिलन के देवालय मे पहुँचा दिया। अन्तत आत्मा-माँ ही रह गई, मैं न रह गया।

○ ○ ○

साहित्य-जगत् मे भी प्राय चीज़ें रूढि और रिवाज से चलती हैं। पुराने ज़माने मे यह रिवाज था कि हर कृतिकार अपनी कृति की भूमिका अवश्य

लिखता था। अब रिवाज यह हो गया है, कि कृतिकार भूमिका नहीं लिखता. मानता है कि भूमिका लिखना गैरज़रूरी है। जो कथ्य है, वह रचना मे रचा या कहा जा चुका है. उसे भूमिका मे अलग से कहने की ज़रूरत नहीं। वह एक प्रकार का आरोपण है, पाठक या गृहीता भावक की समझ पर अविश्वास करना है। मेरे मन ये दोनों ही रूढिगत रिवाज हैं। और मैं किसी चलन या रिवाज का कायल नहीं न कभी था, न हो सकता हूँ।

बर्नार्ड शॉ ने अपने छोटे-छोटे नाटकों की भी, अपनी कृति से कई गुनी ज्यादा बडी भूमिकाएँ लिखी हैं। आज वे साहित्य की एक महान धरोहर हो गई हैं। उसका एक गहरा कारण है, जिसे समझना होगा। जैसा कि ऊपर बता चुका हूँ, कोई भी मौलिक रचनाकार किसी उपलब्ध दर्शन, धारणा या कॉन्सेप्ट को सामने रखकर रचना नही करता–कर सकता नहीं। क्योकि रचना कोई बौद्धिक उपक्रम नहीं है। चिन्तन्, दर्शन या अवधारणा उसका लक्ष्य नहीं। रचना मे सत्ता, सृष्टि, जगत और जीवन का एक आत्मिक सम्वेदनात्मक और अनुभूति-मूलक ग्रहण और साक्षात्कार ही होना चाहिए। लेकिन रचना हो जाने पर, उसमे से फलश्रुति के रूप मे दर्शन, चिन्तन्, मूल्यान्वेषण और परिकल्पन (कॉन्सेप्ट) स्वत उत्स्फूर्त होकर हमारे सामने आते है। उससे भावक को परितोष, समाधान, द्वद्व-विसर्जन, मार्ग-दर्शन और तर्पण का सुख अनायास मिलता है। रचना को पढते हुए ही, गृहीता भावक की अन्तश्चेतना मे आपोआप ही ये सारी चीजे नवोन्मेष और नव्य विकास के कमलो की तरह प्रस्फुटित होती चली जाती है।

रचना सम्पन्न हो जाने पर, रचनाकार ही अपनी रचना की अन्तरिमाओ ( Interiorities ) का सर्वप्रथम साक्षी, और गहिरतम अवबोधक होता है। रचना मे अनायास जो रहस्य खुले है, जो सत्य प्रकाशित हुए है, उनका वही निकटतम पारद्रष्टा और विश्वसनीय परिद्रष्टा होता है। क्योंकि रचना उसकी अपनी ही आत्मा की प्रसूता आत्मजा होती है। जैसे जनेत्री माँ ही अपनी सन्तान के समूचे भीतर-बाहर को अधिकतम समझ पाती है, उसी प्रकार एक कृतिकार ही अपनी कृति के अनन्त रहस्यों का सम्भवत सबसे अधिक गहरा अवबोधक और अन्तर-ज्ञानी होता है। मेरा ख्याल है कि जो रचनाकार जितना ही अधिक गहनगामी और असामान्य होता है, अपनी रचना की भूमिका लिखना उसके लिये उतना ही अधिक अनिवार्य तकाजा हो उठता है। बर्नार्ड शॉ अपने वक्त मे जी कर भी, उससे सीमित न हो सके थे, उसके अनुसारी न हो सके थे। उन्होंने अपने वक्त की हदों को तोड कर अवबोधन के नये क्षितिज और वातायन खोले थे। इसी कारण अपने पाठक के साथ पूर्ण तादात्म्य और सायुज्य स्थापित करने के लिये, उन्हे अपनी अतिक्रान्तिकारी रचनाओं की भूमिका लिखना अनिवार्य लगा था।

मेरी अपनी छोटी हस्ती की सीमा मे, मुझे भी ऐसी ही विवशता महसूस हुई है। यह वाकई मेरी अन्तिम लाचारी रही, कि अपने वक्त के दौरों और चलनों को आत्मसात् करके भी, मैं उन पर रुक न सका। उनसे बाधित और प्रतिबद्ध न हो सका। मेरे भीतर जन्मजात रूप से ऐसी माँगे, पुकारें और तकाज़े थे, जो नॉर्मल मानवीय मनोविज्ञान की सीमा मे कहीं भी अँट नहीं पा रहे थे। मुझे अपने जीने, खडे रहने, अस्तित्व धारण करने तक के लिये, अपनी धरती और अपना आकाश स्वयम् ही रचना पडा। हर अगला कदम बढाने के लिये मुझे अपना रास्ता खुद ही खोलना पड़ा। हर अगले पग-धारण के लिये मुझे अपनी चेतना मे से ही एक नया ग्रह-नक्षत्र (प्लेनेट) रचना पडा। सारा ज़माना एक तरफ, और मैं उससे ठीक उलटी तरफ चला। इसी कारण वर्तमान साहित्य मे मेरी पहचान भी आसान न हो सकी। अनपहचाने, अवहेलित रह जाने का खतरा सदा मेरे सामने रहा। अनादि से आज तक के सारे धर्म-शास्त्र, योग-अध्यात्म, दर्शन-विज्ञान भी मानो मेरी निराली पुकार का उत्तर न दे पाये। इसी मे मुझे कदम-कदम पर नये मोड और नये रास्ते तोडने पडे। --ज़िन्दा रहने तक के लिये।

यही कारण है कि मुझे अपनी रचनाओ की लम्बी भूमिकाएँ लिखने को विवश होना पडा। इसे मेरा अहकार नही, मेरी लाचारी माना जाये। ऊपर जो चतुर्थ खण्ड के आरम्भिक अध्यायों मे अनायास उद्घाटित मर्मों, तत्वो और प्रतीकों का विशद विवेचन मैने किया है, उसका भी कारण यही है, कि जिन परावाक् सूक्ष्मताओ, अन्तरिमाओ और गहनिमाओ मे मुझे उतरना पडा है, उनका समीचीन साक्ष्य प्रस्तुत करना मुझसे इतर किसी के लिये भी शायद शक्य न होता। उडान हो कि अवगाहन हो, कि विस्तार हो, कि अतिक्रमण हो, उनमे इतना परात्पर होता गया हूँ, कि ठोस मूर्त धरती, आसमान या किसी सूक्ष्मतम रूपाकार पर तक टिकाव मेरे वश का ही न रहा। ऐसे मे मेरी इन अन्तर्गामी और ऊर्ध्वगामी यात्राओं के शून्यावगाही विक्रमों और अतिक्रमणों का साक्ष्य दूसरा कोई कैसे दे पाता। रचना मे तो सब सीधा सपाट खुलता नही, खुलना चाहिये भी नही तब मेरी उन खतरनाक उत्तानताओ, गहराइयों, चढाइयों और उतराइयो की खबर कैसे मिल पाती, जो हर मनोविज्ञान या केवलज्ञान तक की हदों से बाहर चली जाती रही है। क्यो मेरी ये भूमिकाएँ इतनी अनिवार्य हुईं, इसकी कैफियत को चुका देना आज अनिवार्य हो गया, इसी से उस बारे मे अपना अन्तिम शब्द कह कर, मैं एक अद्भुत उऋणता, निष्कृति और कृतज्ञता महसूस कर रहा हूँ।

○ ○ ○

आम्रपाली को केन्द्र में रख कर ही अब तक सारी बात चली है। तो उस बारे मे उठने वाले एक तीखे तथ्यात्मक प्रश्न का उत्तर दे कर ही इस प्रकरण को समाप्त करना उचित होगा। आगम और इतिहास दोनों ही स्रोतों मे महावीर के साथ आम्रपाली के जुड़ाव का कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। फिर क्या वजह है कि मैं आम्रपाली को महावीर के साथ जोड़े बिना रह न सका? शुरू मे यह बात मेरे लक्ष्य मे कतई कही नही थी, कि आम्रपाली को महावीर के साथ जुड़ना है, या जोडना है। यही कह सकता हूँ, कि कथा का प्रवाह स्वयम् ही मेरी कलम को उस ओर ले गया। मानो कि मौलिक सत्ता मे उपादान रूप से महावीर और आम्रपाली का जुड़ाव विद्यमान था, और मेरी कलम की नोंक पर वह अनायास ही अनावरित या आविष्कृत हो गया।

अनावरण अथवा आविष्कार ही सृजन की सर्वोपरि उपलब्धि होती है। जो वास्तव के सतही जगत् मे या इतिहास मे पहले ही से उपस्थित और आलेखित है, उसका पुनर्-सृजन कला नही, शिल्प या कारीगरी मात्र है। जो अस्तित्व मे प्रत्यक्ष न होते हुए भी, सत्ता के अतल मे छुपा पड़ा है, अथवा जो कही इन्द्रियगोचर है ही नही, उसका इन्द्रियगम्य अनावरण या आविष्कार ही मेरे मन कला का चरम प्राप्तव्य हो सकता है। इतिहास देश-काल से सीमित एक तथ्यात्मक सिलसिला मात्र होता है। अब तक गहराई के आयामो मे उसका सरोकार नही रहा था। लेकिन एर्नाल्ड टॉयनबी और ओसवाल्ड स्पेंगलर जैसे कुछ इतिहास-दार्शनिकों ने इतिहास को पारदर्शी तत्त्व-दर्शन का विषय बनाया, और पश्चिम मे तथ्यात्मक इतिहास का स्थान 'फिलासॉफी ऑफ हिस्ट्री' ने ले लिया। यानी सच्चा इतिहास वह, जो काल-क्रम मे घटित मानवो और घटनाओ की अन्तश्चेतना का अन्वेषण करे। अपनी परिणति मे जो तत्वज्ञान, मनोविज्ञान और आत्मज्ञान बने। प्रकट रूपाकारो के पीछे की चेतनागत स्फुरणाओ का जो अन्वेषण और मूर्तन करे।

इसी स्थल पर इतिहास क्रिएटिव (सृजनात्मक) हो गया। कहे कि निरा इतिवृत्त न रह कर, वह कलात्मक सृजन बन गया। जो कही लक्षित नही था, उसका उद्‌घाटन, अनावरण और आविष्कार भी इतिहास का विषय बन गया। इतिहास की रिसर्च, मानव मन और आत्मा की 'रिसर्च' हो गयी। इतिहास मे घटित मानवो और घटनाओ को उनकी तमाम गहराइयों मे थाहा गया, छाना-बीना गया। तब इतिहास ऐन्द्रिक ज्ञान की सीमा का अतिक्रमण करके इन्द्रियेतर ज्ञान के राज्य मे प्रवेश कर गया। वस्तुत यह राज्य ही कलाकार का अन्वेषण-राज्य है। मानो कि कलाकार जाने-अनजाने ही प्रच्छन्न सर्वज्ञता की चेतना मे उन्मेषित और अनुप्राणित होता है।

रचना के क्षेत्र मे इस सर्वज्ञता का माध्यम होती है कल्पना-शक्ति, मनुष्य की कल्पक चेतना। उसकी पहुँच अज्ञात अनन्त-निःसीम के प्रदेशों तक में होती है। मौलिक सत्ता मे अव्यक्त रूप से नित्य विद्यमान रूपाकार और परिणमन तब कलाकार की चेतना मे स्वत प्रस्फुरित होते हैं। उसकी तीव्रतम अनन्तगामी सवेदना ही उन्हे पकड और खींच कर मूर्त आकारों मे रूपायित कर देती है। इसी को विज़नरी 'फ़ेकल्टी' यानी पारदर्शी प्रज्ञा कहते है। कोई भी बडा कलाकार विज़नरी, पारदर्शी हुए बिना रह नहीं सकता।

जाहिर है कि आलेखित इतिहास-पुरातत्व मे आम्रपाली के साथ महावीर के जुडाव का कोई सकेत या सम्भावना तक उपलब्ध नहीं है। फिर भी रचना-प्रक्रिया की विज़नरी उडान या अवगाहन मे जैसे 'अनुत्तर योगी' के रचनाकार के विज़न-वातायन पर वह सयोग मानो हठात् अनावृत (रिवील) या आविष्कृत हो गया। यों भी शोध के क्षेत्र मे तार्किक सगतियों के क्रम द्वारा भी नये तथ्यों के निर्णय का उपक्रम प्रचलित है ही। महावीर यदि अपने समय के सर्वप्रकाशी सूर्य थे, तो आम्रपाली भी अपने समय की एक यत्परोनास्ति नारी-शक्ति थी। वह केवल रूप-लावण्य की इरावती अप्सरा ही नही थी, प्रतिभा और प्रज्ञा की भी वह सवत्रुवरेण्या माविश्री थी। ऐसा लगता है जैसे महावीर के भीतर के सविता-नारायण के महावीर्य, महाकाम तेजस्फोट को झेलने के लिये ही, उसका जन्म हुआ था। इसी से वह किसी एक की भार्या न होकर, नियति से ही सर्वकल्याणी श्रीसुन्दरी के सिंहासन पर आसीन हुई। बाहरी व्यवस्था के बलात्कार को अपनी अन्त शक्ति से प्रतिरोध दे कर, उसके सारे बन्धनों को तोड कर, उसने केवल महावीर को ही मानो अपने एकमेव वरेण्य पुरुष के रूप मे चुना।

बहुत सगत तर्क है यह, कि वैशाली के देवांशी सूर्यपुत्र महावीर, और वैशाली की एक अनन्य देवांशिनी बेटी आम्रपाली का जुडाव न हो, वह सम्भव ही कैसे हो सकता है। तो तर्क, सवेदन, कल्पन, विज़न—इन सारी मानवीय ज्ञान की स्फुरणाओं के एकाग्र और सर्वभेदी तथा पारदर्शी प्रवेग की नोक पर आम्रपाली के तत्वगत सत्य-स्वरूप का जैसे रचनाकार को आकस्मिक साक्षात्कार हो गया, और अत्यन्त स्वाभाविक रूप से महावीर के साथ उसका जुडाव सृजन मे बरबस ही एक अचूक प्रत्यय के साथ आविर्भूत हो गया। पुरानी मसल चरितार्थ हुई कि 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'। कवि की आत्मिक सवेदन-ऊर्जा और अनिर्वार संवेग ने इतिहास के अँधियारे आवरण चीर दिये, और आम्रपाली तथा महावीर की सत्य-कथा ने प्रकट होकर, जैसे इतिहास और महाकाल की धारा को मानो एक नया ही मोड दिया। एक महान् अतिक्रान्ति घटित हो गई। मेरे मन यही किसी भी महान

सृजन की सब से बड़ी उपलब्धि हो सकती है। सर्जक व्यक्ति वीरेन्द्र यहाँ माने नही रखता, वह गौण है, वह माध्यम या ट्रांसमीटर या टेलीविज़न मात्र है। जो उपलब्धि हुई है, जो सृष्टि या साक्षात्कार हुआ है, वही महत्व-पूर्ण है। यशोगान उसी का हो सकता है, व्यक्ति वीरेन्द्र का नहीं। उसका नाम एक दिन काल की धारा में लुप्त हो जायेगा, लेकिन जो सत्ता का 'मैनी-फ़ेस्टेशन' (प्रकटीकरण) इस रूप मे हुआ है, वही काल को चुनौती देता हुआ भी, महाकाल के पट पर अक्षुण्ण रहेगा। मनुष्य की असंख्य आगामी पीढ़ियों की रक्त-वाहिनियो मे ससरित होता चला जायेगा।

बाद को आम्रपाली भगवान बुद्ध को समर्पित हुई, उनकी थेरी भिक्षुणी हुई, इस तथ्य और उपरोक्त सत्य मे मुझे कोई विरोध नहीं दिखायी पड़ता। महावीर के ही उत्तरांशी (काउण्टर-पार्ट) बुद्ध के प्रति आम्रपाली का आत्म-समर्पण एक प्रकार मे महावीर के प्रति उसके आन्तरिक समर्पण का ही, आगे जाकर एक तथ्यात्मक "मैनीफ़ेस्टेशन' (व्यक्तीकरण) हो जाता है। तब अनायास महावीर बुद्ध हो जाते है, और बुद्ध महावीर हो जाते हैं। व्यक्तित्वों का यह पारस्परिक अन्त सक्रमण तो आज के नवीनतम कहे जाते साहित्य मे भी एक आम बात हो गई है। इत्यलम्।

O O O

श्रीभगवान वैशाली से कोशल देश की राजनगरी श्रावस्ती आये हैं। वहाँ का राजा प्रसेनजित तक्षशिला का स्नातक रहा था। पर उसकी चेतना पैशाचिक थी। वह भीतर मे अत्यन्त कायर कापुरुष था। लेकिन उसकी सत्ता-लोलुपता और काम-लम्पटता का अन्त नही था। वह केवल अपने ही लिये जीता था सारा जगत्, उसके सारे सौन्दर्य, ऐश्वर्य, सम्पदाएँ केवल उसके अपने लिए ही भोग्य पदार्थ मात्र थे। मानो कि सारी सृष्टि केवल उस अकेले के भोग के लिये ही बनी थी। अपने बाद के हर अगले पदार्थ और मनुष्य को, प्राणि मात्र को वह केवल अपने भोग और भक्षण की वस्तु समझता था। बिना बाहुबल, शौर्य और वीर्य के भी, वह अपनी राजसत्ता और सैन्य के बल पर ही सारी पृथ्वी का चक्रवर्ती हो जाना चाहता था। वह अहोरात्र आत्म-रति, हत्या, रक्तपात, बलात्कार और पाप के पंकिल कीचड मे ही जीता था। इतना भय और आतक उसने अपने आसपास उत्पन्न किया था, कि स्वयम् ही अपने आप से सदा भयभीत रहता था।

इसी से श्रीभगवान के आगमन की ख़बर पाकर वह सर से पाँव तक थर्रा उठा था। उसके सारे पाप नग्न प्रेत-छायाएँ बनकर उसके आस-पास नाचने लगे थे। ऐसा यह प्रसेनजित बर्बर उपभोक्ता नारकीय चेतना का मूर्तिमान प्रतीक और प्रतिनिधि था। अतिभोग के कारण वह नपुंसक हो

गया था। फिर भी उसकी लम्पटता का अन्त नहीं था। उसके अन्तःपुर सैकड़ों अपहरिता कुमारियों और सुन्दरियों से भरे पड़े थे। पश्चिमी सीमान्त के गान्धार गणतन्त्र की तेजीमती बेटी कलिंगसेना वत्सराज उदयन की प्रियतमा थी। उसके प्यार की हत्या करके, उसे भी अपनी धाक से वह बलात् ब्याह लाया था। उसने मालाकार कन्या मल्लिका के असामान्य रूप-सौन्दर्य से मोहित होकर बलात् उससे ब्याह कर, उसे कोशलदेश की पट्ट-महिषी बना दिया था। लेकिन शूद्र कन्या होते हुए भी, सर्वहारा वर्ग की यह बेटी सारे आत्मिक गुणों की खान थी। उसके सुन्दर शरीर से भी अधिक सुन्दर थी उसकी आत्मा। उसने अपने सतीत्व, शील, निःशेष समर्पण और सेवा से कापुरुष अत्याचारी व्यभिचारी पति के बर्बर हृदय को जीत कर उसे चरणानत कर दिया था। एक ओर भद्र, कुलीन, अभिजातवर्गीय प्रसेनजित था, जो शोषण-पीड़न, बलात्कार की आसुरी शक्तियों का प्रतीक था, तो दूसरी ओर शोषित-दलित शूद्र सर्वहारावर्ग की बेटी मल्लिका थी, जो आत्मा के सारभूत सौन्दर्य का जीवन्त विग्रह थी। चतुर्थ अध्याय में सत् और असत्, तमस् और प्रकाश, सुर और असुर वर्ग के इस द्वंद्व का ही ठीक जीवन के स्तर पर चित्रण हुआ है।

प्रसेनजित ने अपनी सैनिक सत्ता के आतंक के बल पर ही कपिलवस्तु के गणतंत्र की एक बेटी को ब्याह कर जन-शक्ति को पद-दलित कर देना चाहा था। लेकिन कपिलवस्तु के शाक्यों ने चतुराई बरती। उन्होंने अपनी एक स्व-औरस जात दासी-पुत्री को धोखे से शाक्य-कन्या कह कर प्रसेनजित को ब्याह दिया था। उसका पुत्र हुआ विडुढभ, जो शाक्यों का दासी-जात दलित-वीर्य भागिनेय था। मानो कि उसके रूप में प्रभु-वर्ग के वंशोच्छेद के लिये ही, सर्वहारा वर्ग की विपथगामी विद्रोही शक्ति ने अवतार लिया था। कथा-प्रसंग ऐसा मोड़ लेता है, कि विडुढभ के सामने प्रसेनजित और शाक्य, दोनों ही अभिजात कुलीनों के षड्यंत्र का भेद खुल जाता है। तब वह सत्यानाश का ज्वालामुखी होकर उठता है, और उसके प्रलयकर क्रोध की फूत्कार एक ओर प्रसेनजित का सर्वनाश कर देती है, तो दूसरी ओर रातोंरात वह सारे शाक्य-वंश को अपनी तलवार के घाट उतार देता है। इस प्रकार इस अध्याय में सर्वहारा दलित वर्ग और प्रभुवर्ग का चिरकालीन संघर्ष आपोआप ही चित्रित होता है, और अपनी ही जगाई हिंसा-प्रतिहिंसा की आग में, दोनों ही वर्गों के प्रतिनिधि जल कर भस्म हो जाते हैं। शाक्यों का वंश-विनाश करके लौटता हुआ विडुढभ भी राह में एक नदी पार करते हुए सैन्य सहित डूब कर स्वाहा हो जाता है। इतिहास के इस क्रिया-प्रतिक्रियाजनित दुश्चक्र का इस अध्याय में अनायास ही नितान्त, वास्तविक और जीवन्त चित्रण हो सका है।

श्रावस्ती के उस समवसरण मे तीर्थंकर महावीर स्वयम् केवल एक वीतराग पारद्रष्टा के रूप मे इस सत्यानाश के साक्षी, द्रष्टा और स्रष्टा के रूप मे सम्मुख आते दिखाई पडते हैं। उनकी कैवल्य-प्रभा के त्रिलोक-त्रिकालवर्ती प्रकाश मे ही मानो इतिहास का यह सारा आद्योपान्त नाटक अपनी समग्रता मे घटित होता है।

इसी समवसरण मे कोशल और साकेत के ही नही, तमाम समकालीन आर्यावर्त के सर्वोपरि धन-कुबेर अनाथ-पिण्डक और मृगार श्रेष्ठी भी भगवान के सामने उपस्थित होते है। सर्वग्रासी सम्पत्ति-स्वामित्व के वे प्रतिनिधि है। वे मानो अपनी अकूत सम्पत्ति और दान से भगवान को भी खरीद लेने आये है। प्रभु के साथ उनका लम्बा सम्वाद चलता है। उसमे प्रभु उनकी आसुरिक स्वार्थी, सर्वस्वहारी काचन-लिप्सा का घटस्फोट करके उन्हे ध्वस्त-पराजित कर देते हैं। मानो कि भगवान के आगामी युगतीर्थ (हमारा समय) मे होने वाले वणिक-वश के मूलोच्छेद का उस दिन की धर्म-सभा मे ही मगलाचरण हो जाता है। इस प्रकार श्रावस्ती का वह समवसरण त्रिकालिक इतिहास के अनावरण और घनस्फोट का एक अतिक्रान्तिकारी सीमान्तरण सिद्ध होता है। बर्बर उपभोक्ता सत्ता-सम्पत्ति स्वामियो के इतिहास-व्यापी सर्वस्वहारी षड्यत्र का उस दिन जैसे अन्तिम रूप से पर्दाफाश हो जाता है।

लेकिन प्रभु तो सर्व के समदर्शी, समानभावी, वीतराग आत्मीय थे। उनके मन मे तो सर्वहारी, सर्वस्वहारी और सर्वहारा किसी के प्रति राग-द्वेष या पक्षपात नहीं था। केवल महासत्ता के इतिहासगत अनिवार्य तर्क और विधान का अनावरणकारी दर्शन मात्र उन्होंने अपनी कैवल्य-प्रभा मे कराया था। उनकी मौलिक स्थिति तो सर्वदर्शी, वीतराग, अकर्त्ता की ही थी। पर मानो उनका वह स्वयम्भू ज्ञान तेज ही, जीवन और कर्म के स्तर पर परम कर्तृत्व-शक्ति के रूप मे वाक्मान होता है। और प्रभु के श्रीमुख से महासत्ता स्वयम् ही जैसे उद्घोषणा करती है, कि यदि सत्ता-सम्पत्ति-स्वामी अपने सर्वभक्षी अधिकार-मद का त्याग नहीं करते हैं, तो प्रभु स्वयम् अपने आगामी युगतीर्थ मे जैसे उनसे उनके ये झूठे अधिकार छीन लेंगे, और उस महाशक्ति के अतिक्रान्तिकारी विस्फोट द्वारा, लोक मे स्वत ही सर्वहारा की प्रभुता स्थापित हो जायेगी। तब भद्र नहीं, शूद्र राज्य करेंगे। तब मिथ्या का मायावी राज्य समाप्त होकर, सत्य का सर्वभाता साम्राज्य स्थापित होगा।

और अन्तत प्रभु उपसंहार मे मरण के तट पर खडे सर्वहारा प्रसेनजित को आश्वासन देते हैं, कि वह चाहेगा तो मृत्यु मे भी महावीर उसके साथ

ही रहेंगे। सामने खड़ी मृत्यु भी तब महावीर के सिवाय और कुछ न रह जायेगी। जीवन और मृत्यु दोनों ही मे भगवान समान रूप से उपस्थित हैं। यह परात्पर सत्य यहाँ अनायास प्रकाशित होता है।

O O O

ढाई हजार वर्ष पूर्व का, ईसापूर्व की छठवीं शती का भारत ही नहीं, उस काल का समस्त विश्व एक युगान्तर की मौलिक प्रसव-पीड़ा से गुजर रहा था। सारी समकालीन पृथ्वी के ज्ञात देशों मे समान रूप से एक तीव्र असन्तोष और अशान्ति व्याप रही थी। अब तक के स्थापित आदर्श और मूल्य निष्प्राण, निस्तत्व और खोखले साबित हो चुके थे। इतिहास के सदा के तर्क के अनुसार, मौजूदा वाद (थीसिस) का संतुलन भग होकर वह निरर्थक साबित हो चुका था। आदर्श जीवन मे प्रवाहित न रह कर, निरे निर्जीव बुत भर रह गये थे। फलत. सर्वत्र पाखण्ड का बोलबाला था। स्थापित स्वार्थ नग्न होकर खेल रहे थे, और उन्होंने जन-जीवन को दबोच कर उसका भयकर शोषण आरम्भ कर दिया था।

तब ठीक प्रकृति और इतिहास के तर्क ने ही, ध्वस्तप्राय वाद के विरुद्ध एक प्रचण्ड प्रतिवादी शक्ति को जन्म दिया। एक सार्वभौमिक असन्तोष और बेचैनी ही इस प्रतिवादी शक्ति के अवतरण की प्राथमिक भूमिका थी। तमाम सड़े-गले जर्जर ढाँचों को उखाड फेकने के लिये नवोत्थान की स्वयम्भू शक्तियाँ जैसे एक सर्वनाशी विप्लव और प्रलय की तरह लोक मे घूर्णिमान दिखायी पड़ीं। यूनान, इस्रायेल, पारस्य, महाचीन और भारत मे समान रूप से इन प्रतिवादी शक्तियों का विस्फूर्जन होने लगा।

आर्यावर्त मे आनन्दवादी वेद और ब्रह्मवादी उपनिषद् के प्रवक्ता ब्राह्मण अपनी ब्राह्मी ज्ञानमर्यादा से विच्युत हो चुके थे। वणिक-प्रभुता के सर्वग्रासी प्राबल्य ने ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही को पथ-भ्रष्ट कर दिया था। अस्सी प्रतिशत प्रजा निरक्षर थी, और अज्ञानान्धकार मे भटक रही थी। ब्राह्मण वणिक और क्षत्रिय का क्रीतदास होकर दिशाहारा प्रजा को अधिकाधिक भटका और भरमा रहा था। वेद और उपनिषद् की जीवन्त ज्ञानधारा सूख चली थी, उसके सम्वाहक ब्राह्मण ऋचाओं और सूत्रों का उपयोग केवल अपनी ऐहिक लालसाओं की तृप्ति के लिये कर्म-काण्डों मे कर रहे थे।

तभी सत्य के स्वयम्भू वैश्वानर जाग उठे। कुछ विरल सत्यनिष्ठ आत्माओं मे उन्होंने असन्तोष और विप्लव का ज्वालागिरि जगाया। आगम और इतिहास मे आलेखित है कि सत्य की अग्नि से प्रज्जवलित ये कुछ विद्रोही, प्रजाओं मे घूम-घूम कर स्थापित धर्म और ब्राह्मणों तथा सवर्णियों के पाखण्डों का घटस्फोट करने लगे। उन्होंने धूर्त प्रवचक कर्मकाण्डों के

झूठ को नंगा करके, तमाम स्थापित वादों को नकार दिया। उनकी सड़ी-गली जड़ों को झझोड़ कर उच्छिन्न कर दिया। एक विराट् नकार की विस्फोटक आवाज़ से सारे आर्यावर्त की पृथ्वी के गर्भ दहलने लगे। ये विद्रोही इस काल नवयुगीन तीर्थंकर या तीर्थकों के रूप मे ख्यात हुए। इनमे छह तीर्थक् प्रमुख माने गये हैं। इन्ही छह तीर्थकों मे शाक्यपुत्र गौतमबुद्ध और निगण्ठ नातपुत्त महावीर की भी गणना होती थी।

इनमे सर्व प्रथम तीर्थंकर महावीर ही पूर्णत्व को उपलब्ध हुए, यह एक इतिहास-प्रमाणित तथ्य है। उन्होंने ही उस युग के प्रचण्ड नकार को सकारों मे परिणत करके विधायक जीवन-दर्शन और मुक्तिमार्ग लोक को प्रदान किया। उनकी कैवल्य-प्रभा ने प्रकट होकर स्वयम् ही उनकी सर्वोपरि प्रभुता और शक्तिमत्ता को लोक मे उजागर कर दिया। प्रस्तुत खण्ड के पाँचवें अध्याय मे, जब भगवान विहार करते हुए फिर श्रावस्ती आये, तो संयोगात् उस काल के चार प्रमुख क्रान्तिकारी तीर्थक् एक साथ ही तीर्थंकर महावीर के समवसरण मे उपस्थित हुए आर्य पूर्ण काश्यप, आर्य अजित केश-कम्बली, आर्य प्रकुध कात्यायन और आर्य सजय-वेलट्ठि-पुत्र। ये चारों ही सनातन आर्य धर्म की मृतप्राय परम्परा के ध्वसक थे। इन चारों ने ही सारे प्रस्थापित वादों और धर्मों को नकार कर स्वतन्त्र चर्या अगीकार कर ली थी, अपना स्वतन्त्र दर्शन तथा मुक्तिमार्ग अपने लिये रच लिया था, और उसी का प्रवचन वे लोक मे करते फिर रहे थे।

महावीर की धर्म-पर्षदा मे वे महावीर को चुनौती देकर उनसे वाद करने आये थे यानी उन्हे नकार कर उनका प्रतिवाद करने आये थे। श्रीभगवान की कैवल्य प्रज्ञा तो मलत ही अनैकान्तिक थी। अनेकान्त में नकार अनावश्यक हो जाता है। क्योंकि सापेक्षतया और यथास्थान उसमे नकार और स्वीकार दोनों का समावेश ही सम्भव है। श्रीभगवान ने मुक्त हृदय से वात्सल्य और विनयपूर्वक इन सब तीर्थकों का स्वागत किया। उनकी स्वतन्त्र चेतना, प्रज्ञा और प्रखर सत्यनिष्ठा का प्रभु ने जयगान किया। प्रकारान्तर से उन्हे अपने ही समकक्ष माना। फिर भी हर तीर्थक ने भगवान को चुनौती दी कि वे महावीर का प्रतिवाद करने और उन्हे नकारने आये हैं। उन्होंने प्रश्न उठाये, तर्क किये। भगवान ने उनके तर्कों का काट नहीं किया। प्रतिप्रश्न करके ही, उनके प्रश्नों को व्यर्थ कर दिया। फलश्रुति मे हर तीर्थक् को अनायास एक अतलगामी समाधान स्वत ही प्राप्त हो गया। भगवान ने उन्हे पराजय बोध न होने दिया . अन्तत. उन सब को 'जयवन्त' कह कर उद्बोधित किया। सबको अपनी कैवल्य-प्रभा की निःसीम विराट् भूमा मे आत्मसात् कर लिया। एक-एक करके हर तीर्थक् अनायास मौन भाव से विनत होकर साधुप्रकोष्ठ मे उपविष्ठ होते चले गये।

उस युग के विस्फोटक असन्तोष को मानो जैसे अन्तिम नही, बल्कि अनन्त उत्तर मिल गया। यह प्रसग बहुत महत्वपूर्ण और युगान्तरकारी रूप मे घटित होता है।

○ ○ ○

आगम और इतिहास मे उस काल की भारतीय प्रतिबाधी शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप मे उपरोक्त छह तीर्थ कों का ही उल्लेख एकत्र मिलता है। लेकिन आजीवक मत के प्रवर्तक मक्खलि गोशालक का नाम इस पंक्ति में दस्तावेज नहीं पाया जाता। हाँ, अलग से उसके व्यक्तित्व और कृतित्व का लेखा-जोखा सभी प्रामाणिक स्रोतों मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। सच पूछिये तो महावीर और बुद्ध के बाद उस काल के विद्रोही क्रान्तिकारियों मे गोशालक का व्यक्तित्व ही सबसे अधिक शक्तिमान, प्रभावशाली और प्रभाकर दिखायी पड़ता है। वस्तुत. भारतीय स्रोतों मे उपलब्ध सामग्री मे उसके साथ पूरा न्याय नहीं हो सका है। उसके विलक्षण 'डायनमिक' योगदान को काफी हद तक दबा दिया गया है। उसकी कोई विधायक स्वीकृति सम्भव ही न हो सकी, जब कि महावीर और बुद्ध की परम्परा के अलावा, गोशालक के आजीवक-सम्प्रदाय की परम्परा ही देर तक टिकी रह सकी थी।

जैन और बौद्ध आगमों मे गोशालक के विकृत और विद्रूप पक्ष की तस्वीर को ही अधिक उभारा गया है। क्योंकि महावीर और बुद्ध का सबसे प्रचण्ड विद्रोही और विरोधी वही था। उसने श्रमण धर्म के त्याग-मार्ग के ठीक विरोध में, चारवाक्, बृहस्पति और ग्रीक एपीक्यूरस की तरह ही भोग-मार्ग को बड़ी दृढ़ और सशक्त बुनियाद पर स्थापित किया था। उसने अपने चिर यातना-ग्रस्त जीवन के कटु अनुभवों से यही सत्य साक्षात् किया था, कि सृष्टि-प्रकृति और मनुष्य का जीवन एक अनिवार्य अटल नियति से चालित है। नियति द्वारा नियोजित एक क्रमबद्ध पर्यायों के सिलसिले से गुजर जाने पर, एक दिन ठीक नियत क्षण आने पर मुक्ति आपोआप ही घटित हो जाती है। नियति ही सर्वोपरि-सत्ता और शक्ति है, वही अन्तिम निर्णायक है। सो मुक्तिलाभ के लिये पुरुषार्थ और पराक्रम व्यर्थ है। कोई पुरुष नहीं, पुरुषकार नहीं, पुरुषार्थ नहीं, कोई कर्तृत्व कारगर नहीं। तब व्यर्थ ही तप-त्याग करके आत्मा का पीड़न क्यों किया जाये? जीवन को तलछट तक और भरपूर भोगो, खाओ-पिओ, मौज उड़ाओ: चरम सीमा तक—पान (सुरापान), गान-तान, नृत्य, पुष्प, विलास, भोग-विलास और युद्ध करो। जीवन को भोग में ही सार्थक और परिपूरित करो, छोर पर मुक्ति तो खड़ी ही है, उसकी चिन्ता क्या? उसके लिये खटना क्यों?

गोशालक का यह उत्तंग भोगवाद, ब्राह्मणो और श्रमणों के त्याग और पुरुषार्थ-प्रधान मोक्ष या निर्वाणवाद का, सब से सशक्त और सफल विरोधी सिद्ध हुआ था। इसी कारण भारतीय आगमों मे और इतिहास मे भी उसकी काली तस्वीर ही अधिक सामने आती है, उसकी उजली तस्वीर नहीं। उसके नियतिवादी दर्शन मे भी एक आंशिक सत्य तो था ही, जिसको परोक्ष रूप से ब्राह्मण और श्रमण दर्शन मे एक सापेक्ष समर्थन तो मिलता ही है। तिस पर जैनागम मे तो अपवाद रूप से गोशालक को अधिक विधायक स्वीकृति प्राप्त है। प्रथमत यह कि तपस्याकाल मे मौन विचरते महावीर का वही प्रथम अनुगत शिष्य हुआ था। स्पष्ट अहसास होता है कि महावीर ने उसे अनायास अपनाया था, अपने एक बाल्य शिशु के रूप मे उसे अपना वीतराग मार्दव और वात्सल्य भी अनजाने ही दिया था। सो प्रभु को छोड कर वह जा न सका। कथा-क्रम मे आखिर छह वर्ष बाद वह प्रभु को छोड गया था मगर इस प्रेरणा और अभीप्सा के साथ, कि वह भी एक दिन महावीर का समकक्षी होकर ही चैन लेगा। सो महावीर के कैवल्यलाभ कर परिदृश्य पर प्रकट होने से पूर्व, उसने एक बार तो भारतीय जन-मानस पर अपनी अचूक प्रभुता स्थापित कर ही ली थी। लेकिन महावीर जब सर्वज्ञ अर्हन्त होकर लोक-शीर्ष पर सूर्य की तरह प्रभास्वर हुए, तो गोशालक का स्वच्छन्द भोगवाद फीका और प्रभावहीन होता दिखाई पड़ा। तब क्रुद्ध होकर उसने प्रभु के समवरण में जा कर उन्हे ललकारा, विवाद किया और अन्तत उन पर अग्निलेश्या प्रक्षेपित करके उन्हे भस्म कर देना चाहा। पर वह प्रहार नाकाम हो गया। वह महादाहक कृत्या लौट कर गोशालक के शरीर में ही प्रवेश कर गई। फलत: वह भयंकर दाह-ज्वर मे सात दिन-रात तक जलता रहा। सन्निपातग्रस्त हो गया। इस सन्निपाती प्रलाप मे भी वह अपने भोगवादी दर्शन का उद्घोष अदम्य ऊर्जा के साथ करता रहा। और उसकी अन्तिम साँस भी उसी अवस्था में छूटी।

उसके देहान्त के उपरान्त पट्टगणधर गौतम ने महावीर से जिज्ञासा की कि—'मर कर गोशालक किस योनि मे जन्मा है।' उत्तर मे महावीर ने कहा कि—'उसने अच्युत स्वर्ग में उत्तम देवगति प्राप्त की है। क्योंकि अपनी मूल चेतना मे वह आत्मकामी था, मुमुक्षु था, और तपस्वी भी था। अपने ऊपर अग्निलेश्या-प्रहार के बावजूद महावीर ने उसे क्षमा ही किया था, उसके आगामी आत्मोत्थान और भावी मोक्षलाभ का अचूक वचन भी उसे दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल जैनागम में ही उसके उजले पक्ष पर भी यथास्थान रोशनी पड़ती है। और महावीर के निकट उसे स्वीकृति भी प्राप्त होती है।

वस्तुतः भारतीय विद्या के विदेशी शोध-पण्डितों ने ही गोशालक के विधायक व्यक्तित्व, और उसके दर्शन की सकारात्मक उपलब्धि को अधिकतम पुनर्-अनावरित (Rediscover) करके, उसके व्यक्तित्व और कृतित्व को एक अचूक प्रतिवादी शक्ति के रूप मे भव्य स्वीकृति दी है। खास कर विख्यात इण्डोलाजिस्ट डा० बाशम का ग्रंथ "आजीवकाज़" (AJEEVKAS) इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है।

'अनुत्तर योगी' के पात्रों मे मक्खलि गोशालक गिनेचुने प्रमुख पात्रों मे से एक अत्यन्त विशिष्ट और महत्वपूर्ण पात्र हो सका है। उस काल की उत्क्षिप्त प्रतिवादी शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप मे उसका चरित्र और व्यक्तित्व बहुत ऊर्जस्वल है, और इतिहास की विपथगामी वाम शक्ति के विस्फोट का वह एक पुंजीभूत विस्फूर्जन और मूर्तिमान स्वरूप है। इसी कारण उसके सांगोपाग चरित्र की तहों तक जाने के लिये, मैं उसके तमाम प्रामाणिक स्रोतों का गहराई से अध्ययन और मन्थन शुरू से ही बराबर करता जा रहा था। तत्सम्बन्धित स्वदेशी और विदेशी तमाम प्राप्त साहित्य को यथाशक्य उलटा-पलटा था। फलत उसकी एक नितान्त तटस्थ और तद्गत इमेज मुझ मे स्वत उभरती चली गई थी। किसी भी पूर्वग्रही अभिनिवेश से मैं ग्रस्त न हो सका था। यही कारण है कि मैं 'अनुत्तर योगी' मे उसका एक सर्वनिरपेक्ष और स्वतत्र व्यक्तित्व आलेखित करने मे किसी क़दर सफल हो सका हूँ। बुद्ध और महावीर की महत्ता या किसी भी विदेशी आकलन की ऐकान्तिकता से मैं बाधित न हो सका हूँ। मेरी कृति मे भी अन्ततः वह बेशक महावीर के एक भयकर विरोधी और प्रतिद्वद्वी के रूप मे ही घटित हुआ है। वह होने मे ही उसकी सार्थकता है। और तथ्यात्मक दृष्टि से यह एक हकीकत भी है। फिर भी महावीर की तमाम प्रभुता के बावजूद, उसके व्यक्तित्व को मैने केवल महावीर या बुद्ध के झरोखे से नहीं देखा है। उसे अपनी स्वाधीन इयत्ता (आयडेण्टिटी) मे पूर्णता के साथ, एक वाम शक्ति-पुरुष के रूप मे सहज ही प्राकट्यमान (मैनीफेस्ट) मे होने दिया है। मैंने कोई निजी हस्तक्षेप नहीं किया है, उसे महासत्ता मे से स्वयम् ही निसर्गत आविर्भूत होने दिया है।

'अनुत्तर योगी' मे सब से पहले वह द्वितीय खण्ड मे सामने आता है। वह स्वभाव से और जन्मजात ही विद्रोही प्रकृति का था। सुन्दर सुकुमार था, लेकिन अपने दलित वर्ग, अकुलीन वश, और अपनी परम्परागत अपमानजनक आजीविका के निरन्तर आघातों से अन्दर मे वह बहुत कटु-कठोर, और घृणा से कुण्ठित हो गया था। यायावर मख-भाटों की जघन्य वृत्ति से उसका हृदय बहुत हताहत और विषाक्त हो गया था। सो अपने अन्नदाता अभिजात भद्रों की भौण्डी तस्वीरें बनाने, तथा उनकी कुत्सा को नग्न करने

के कारण, उसके पिता की आजीविका चली गई। फलत पिता ने उसे घर से निकाल दिया। वह नितान्त अनाथ, सर्वहारा हो गया। उसने महाश्रमण महावीर की करुणा, और प्राणिमात्र के अनन्य शरणदाता और वल्लभ के रूप मे ख्याति सुनी थी। सो भटकता हुआ वह नालन्दा पहुँचा, और वही महावीर से उसका प्रथम मिलन हुआ।

इस बिन्दु से लगाकर, महावीर से उसके अन्तिम विदा लेने तक के छह वर्ष के काल को, मैंने जैनागम की गोशालक-कथा के आधार पर ही अपनी मौलिक सृजनात्मकता के साथ लिखा है। उसके व्यक्तित्व का जो विजन (साक्षात्कार) मेरे भीतर स्वत आकार ले रहा था, उसके उपोद्घात के लिये उसकी आरम्भिक जैन कथा ही नितान्त उपयुक्त थी।

महावीर से प्रथम साक्षात्कार होते ही, प्रभु की 'सद्य विकसित कमल जैसी आँखों' ने उसे सदा के लिये वशीभूत कर लिया था। यह मानो जीव पर शिव की अचूक मोहिनी का आघात था। इसने क्षण मात्र मे ही गोशालक को महावीर की चेतना के साथ तदाकार और अभिन्न कर दिया था। वह तो जन्म से ही अनगारी, बेघरबार यायावर मख भाटो का बेटा था। सो घर तो यो भी उसने जाना ही नही था। फिर जब प्रसगात् उसके पिता ने उसे निकाल दिया, तो वह अन्तिम रूप से अनाथ, अशरण और अनागार हो गया। जगत् उसके लिये शून्य हो गया। अपने अन्तिम अकेलेपन मे वह अवश छूट गया। अपना कहने को अब उसका ससार मे कोई बचा ही नही था। कोई सदर्भ, कोई जुड़ाव या मुकाम (Belonging), कोई हीला-हवाला उसका नहीं रह गया था। ऐसी ही आत्मा महावीर के प्रति अन्तिम रूप से समर्पित हो सकती थी। भगवान जब किसी को पूरी तरह लेना चाहते है, तब जगत् से उसकी जन्मनाल काट कर उसे चारो ओर से निपट अकेला कर ही देते है।

इस चेतना-स्थिति के कारण ही गोशालक महावीर से पहली मुलाक़ात के क्षण मे ही, अन्तिम रूप से उनके साथ जैसे तद्रूप हो गया था। इसी से वह प्रभु के तपस्याकाल के सारे उपसर्गों, आक्रातियो, कष्टो और यातनाओं मे विवश भाव से भागीदार हो कर रहा। जब ससार मे उसके जीने का कोई कारण बचा ही नहीं था, तो महावीर को ही उसने जीने के एक अटल कारण के रूप मे स्वीकार लिया था। कष्ट कितना ही क्यों न हो, हर क्षण मृत्यु मे गुज़रना ही क्यों न पडे, फिर भी महावीर के भीतर और सग जीते चले जाना ही उसके लिये एकमात्र अनिवार्य नियति रह गयी थी।

महावीर का शिष्य होने के लिये वह एक अत्यन्त उपयुक्त पात्र था। गौरवर्ण, सुकुमार, इकहरे बदन का यह लड़का आरपार सरल, निष्पाप था। भीतर-बाहर वह पारदर्श रूप से एक था। अपने भीतर की सारी अवचेतन तहों, भूखों, प्यासों, वासनाओं और अँधेरों को जैसे वह अपनी हथेलियों पर लिये हुए चलता था। इतिहास मे चिरकाल से शोषित-निपीडित दलित परित्यक्त सर्वहारा वर्ग के जन्मान्तरों से संचित अभाव, बुभुक्षा, दमित तृष्णा-वासना, आत्महीनता, आत्म-दैन्य, विक्षोभ, व्यग्र-विद्रूप, कटुता, अदम्य और रुद्र क्रोध तथा विक्षोभ का वह पुंजीभूत अवतार था। फिर भी उसके भीतर जैसे कोई शाश्व सरल शिशु सदा अकारण किलकारियाँ करता रहता था। निपट निरीह, भोला, मूर्ख, अकिंचन एक बालक। लेकिन पूर्वजन्म के विकास-सस्कार से वह एक जन्मजात कलाकार था। अपनी साँस मे कविता का सौन्दर्य-बोध, और आँखों मे चित्रकला का रंगीन विश्व ले कर ही वह पैदा हुआ था। उसमे कोई असाधारण पारदर्शी प्रतिभा थी, एक सर्वभेदी जिज्ञासा और अनिर्वार मुमुक्षा थी। मखवश मे जन्म लेने के कारण, मखों के परम्परागत पेशे—कविता, चित्रकला और गायन की शिक्षा भी उसने अपने पिता से प्राप्त की थी। क्योंकि वही उनकी आजीविका का आधार था।

वह चिरकाल के नंगे, भूखे, अवहेलित, दलित अनगार सर्वहारा का एक ऐतिहासिक अवतरण था। अपने सामने आने वाले जीवन के हर यथार्थ और पाखण्ड को वह अपने व्यग्र-विद्रूप से नंगा कर के ही चैन लेता था। कही कुछ भी असत्य, असुन्दर, कपटपूर्ण, दम्भी मायाचार उसे सह्य नही था। वैसा कुछ भी सामने आने पर, वह तुरन्त रुद्र क्रोध से व्यग-अट्टहास करता हुआ, उस पर कवितात्मक वाक्-प्रहार करता था। उसकी गालियाँ भी कविताएँ ही होती थीं। उसकी कषायों मे भी भाव, रस और अलंकार था, चित्रमयता और काव्यात्मकता थी। मानो कि महावीर की स्वाभाविक विधायक चेतना की ही वह एक विभावात्मक और विनाशक प्रतिच्छवि था। महावीर के सकार को जगत् मे स्थापित करने के लिए ही, मानो वह प्रचण्ड, दुर्दान्त अन्तिम नकार और मूर्तिमान विध्वंस होकर जगत् मे चल रहा था। महावीर के 'थीसिस' के लिए, मानो कि वही एकमेव और अनिर्वार और नितान्त उपयुक्त 'एण्टी-थीसिस' था। और इस 'एण्टी-थीसिस' की विस्फोटक नोक पर से ही—मानो महावीर के आगामी युग-तीर्थ के 'सिंथेसिस' (सम्वाद-सामंजस्य) को जैसे प्रकट होना था।

इस सारे परिप्रेक्ष्य के चलते हो, महावीर के साथ के इन छह वर्षों मे वह अपने समय का और आने वाले समय का एक प्रचण्ड विद्रूपकार और व्यंगकार हो कर प्रकट हुआ था। यह एक अत्यन्त स्वाभाविक मनो-

वैज्ञानिक स्थिति है। जैनों की काल-निर्धारण के सन्दर्भ मे, हम इसी कारण उसे 'अवसर्पिणी (पतनोन्मुख) काल' के एक विदूषक के रूप मे साक्षात् करते है।

उसके इस बुनियादी चरित्र का विकास किस तरह आगे बढ़ता हुआ, अपनी चरम परिणति पर पहुँचता है, उसके सृजनात्मक स्वरूप को पाठक कथा मे पढ कर स्वयम् ही समीचीन रूप से अवबोधित कर सकेंगे। उन सारे कथा-सूत्रों को लेकर यहाँ उनका विश्लेषण करना एक अनावश्यक और निरर्थक विस्तार ही होगा।

द्वितीय खड मे छह वर्ष महावीर के साथ विचरण करने के बाद, एक ऐसी घटना घटती है, जो उसके महावीर से बिदा लेने का एक सचोट कारण बन जाती है। किसी विशिष्ट कथा-प्रसग मे वह महावीर से अग्नि-लेश्या सिद्ध करने की विधि सीख लेता है। वह कठोर तपस्या से उपलब्ध होने वाली एक ऐसी मारक शक्ति होती है, जो प्रतिरोधी-विरोधी या प्रतिद्वंद्वी को क्षण मात्र मे जला कर भस्म कर सकती है। सयोगात् किसी तपस्वी मे यदि क्रोध का विस्फूर्जन हो उठे, तो उसकी नाभि से उसकी चिर सचित तपस्या की चरमाग्नि विस्फोटित हो कर, सामने उपस्थित विरोधी को पल मात्र मे खाक कर देती है।

महावीर को गोशालक अन्तरतम से प्यार करता था, पर उनकी अभिजात वर्गीय प्रभुता के प्रति एक तीव्र दबी ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा भी उसमे सदा सुलगती रहती थी। वे प्रभु मानो उसके परम मित्र और चरम शत्रु एक साथ थे। सो जब प्रसगात् प्रभु से उसे अग्नि-लेश्या सिद्ध करने की विद्या प्राप्त हो गई, तो उसके अवचेतन मे एक अदम्य जिगीषा (विजयाकांक्षा) प्रज्ज्वलित हो उठी। अनजाने ही उसमे एक भयकर सकल्प जागा, कि वह प्रभुओं के प्रभु महावीर को भी पराजित कर, जब तक अपनी कोई प्रति-प्रभुता स्थापित न कर ले, तब तक वह चैन न लेगा। इसी अनिर्वार पुकार के धक्के से चालित हो कर, एक दिन वह मगध के एक चौराहे पर महावीर से बिदा ले कर, अपनी नियति की अटल राह पर चल पडा।

मुद्दतों तक भटकता भूखा-प्यासा, थका-हारा एक ग्राम वह श्रावस्ती की निकटवर्ती अचीरवती नदी के तट पर देवद्रुमो की छाया मे आ कर एक शिलाखण्ड पर बैठ गया। वही उसे नीद लग गई। सबेरे जाग कर ताजी हवा से वह स्फुरित हो आया। उस प्रेरणा से उन्मेषित हो कर वह एक गहरी सम्वेदना से आप्राण भर आया। अपने उद्गम, जन्म, और सर्वहारा मखों के चिरकालीन दलन-पीडन-दमन की पृष्ठभूमि पर वह अपनी इस क्षण तक की सारी आप बीती (आत्मकथा) का प्रेक्षण-साक्षात्कार करता चला गया।

अभाव की चरम अनुभूति की अनी पर उसके भीतर एक दुर्दान्त काम जागा, जो सृष्टि का उत्स है, और मनुष्य की तमाम इच्छा-वासनाओं का जो उत्प्रेरक भी है, और सर्जक तथा पूरक भी। उसके जन्मान्तरों के दमित काम में से एक सुलगता प्रश्न उठा—'क्या कहीं उसके लिए कोई नारी नहीं है? कोई नारी—जो उसे अपने भीतर लेकर, उसके सारे अभावों को भर दे, उसके अनाद्यन्त जख्मों को रुझा दे?' और तभी उसमें दुर्दान्त संकल्प जागा—'वह अग्निलेश्या सिद्ध करके, उसके बल अपने समय के तमाम तीर्थंकरों को नेस्त-नाबूद कर देगा। प्रभु वर्गों को धूलिसात् कर देगा। और उनके प्रतिनिधि त्रिलोकपति महावीर के तीर्थंकरत्व को चकनाचूर करके, अपने समय का प्रतिसूर्य और प्रति-तीर्थंकर हो कर पृथ्वी पर चलेगा।' और तभी महाशक्ति की पुकार उठी उसमें—शक्ति की स्रोत और अधिष्ठात्री नारी को प्राप्त करने के लिए।

वह चल पड़ा धूलिधूसरित, नग्न, गौर, सुंदर सुकुमार युवक। आँखों में छलछलाती दर्द और आक्रोश की सोलागर शराब। किसी अज्ञात कामायनी की तलाश का तूफानी आवेग। वह श्रावस्ती के राज-मार्गों पर अनिर्देश्य भटकता एक विशाल कुम्भारशाला के सामने अचानक ठिठक गया। सैकड़ों चलते चाकों के बीचोंबीच के केन्द्रीय उत्ताल-चक्र पर भाण्ड उतारती कुम्भार-कन्या हालाहला की निगाह उस पर पड़ गई। एक असाप 'स्पेस' में दो निगाहें टकराईं। ठगौरी पड़ गई। हठात् कुम्भार बाला खिंची चली आई, श्यामांगी परमासुन्दरी। माटी की मौलिक बेटा मृत्तिला ने, माटी के चिर पद-दलित बेटे की व्यथा को जैसे मन ही मन बूझ लिया। इंगित से आदर-पूर्वक वह नग्न श्रमण को अपने भवन में लिवा ले गई। —वह श्रीमन्त होते हुए भी, श्रमजीवी कुम्भकार वर्ग की बेटी थी।

गोशालक को उसकी नियोगिनी नारी मिल गई। हालाहला के रूप में श्रीसुन्दरी महाशक्ति ने ही अपने इस सर्वपरित्यक्त वामाचारी बेटे को जैसे अपनी गोद में ले लिया। हालाहला की कुम्भारशाला के भट्टी-गृह के एक कक्ष में बन्द रह कर, गोशालक ने कठिन तप द्वारा अग्नि-लेश्या सिद्ध कर ली। सत्यानाश का एक अमोघ अस्त्र उसे उपलब्ध हो गया। उसके मूलाधार में सुप्त उसकी कुण्डलिनी शक्ति फुँफकार कर जाग उठी। उसी का मूर्त रूप थी मानो मृत्तिका हालाहला। उससे अनन्त सृजन-प्रेरणा प्राप्त करके, उसने हालाहला द्वारा आयोजित तमाम सुख-साधनों के बीच बैठ कर, अपने स्वानुभूत नियतिवादी, भोगवादी आजीवक दर्शन के सूत्रों की रचना की। भोग के तात्त्विक आठ माध्यमों को आधार बना कर उसने अपने अष्ट-चरमवाद को रूपायित किया।

एक अजेय आत्मविश्वास से वह आप्राण उन्मेषित हो उठा। उसने अपना परम्परागत मंखवेश धारण किया। और एक सवेरे अचानक हालाहला के आम्रकुंज मे, प्रति तीर्थंकर भगवान् मक्खलि गोशालक, अपनी वामागिनी भगवती मृत्तिका हालाहला के साथ व्यासपीठ पर प्रकट हो उठे। हजारो-हजार प्रजाजन, उसके आवाहन मे खिचे चले आये। गोशालक ने अपने जीवनानुभव के अनेक चित्रपट दिखा कर, नियतिवाद को सिद्ध कर दिखाया। जब नियति अटल है, तो मुक्ति भी उसके छोर पर आपोआप ही घटित होगी। तब सयम, तप-त्याग, इन्द्रिय-दमन, देह-दमन सब व्यर्थ है, भ्रान्ति और अज्ञान है। अनर्गल हो कर ऐहिक जीवन को भोगो, सम्पूर्ण निःशेष भोगो। इस भोग मे से ही एक दिन योग और मोक्ष स्वयम् प्रकट हो जायेगा। अज्ञानी प्रजाओं को यह अनुभवजन्य सुगम भोगवाद तत्काल अपील कर गया। अद्भुत प्रत्ययकारी सिद्ध हुआ यह भोगवाद का विधायक दर्शन।

पलक मारने मे सारे पूर्वीय आर्यावर्त मे गोशालक एक प्रतितीर्थंकर के रूप मे विश्व-विख्यात हो गया। महावीर और बुद्ध अभी कैवल्य प्राप्ति की अपनी चरम तपस्या मे ही समाधिस्थ थे। वे लोक के परिदृश्य पर अभी प्रकट नही हुए थे। अभाव के इस महाशून्य मे, आधार के लिए भटकती जन-चेतना को गोशालक ने जीने का कारण, आधार, अर्थ और प्रयोजन दे दिया। सो सर्वहारा के वशवर गोशालक की वाम प्रभुता ने सारे आर्यावर्त के हृदय पर अधिकार जमा लिया।

तभी हठात् एक दिन महावीर अर्हन्त सर्वज्ञ हो कर, अपने देवोपनीत समवसरण की गन्धकुटी के कमलासन पर, लोक के मूर्धन्य सूर्य के रूप मे प्रकट हुए। उनकी कैवल्य-प्रभा के विस्फोट से गोशालक का प्रतितीर्थंकरत्व आपोआप ही मन्द, म्लान और पराजित होता गया।

गोशालक प्रलयानक क्रोध मे उन्मत्त विक्षिप्त हो कर, एक दिन आखिर महावीर के समवसरण मे जा पहुँचा। अपनी वामशक्ति के सम्पूर्ण आक्रोश के साथ उसने महावीर को ललकारा। महावीर ने उसका प्रतिकार नही किया, वे उसे स्वीकारते ही चले गये। अप्रतिरुद्ध, अनिरुद्ध भाव से वे उसे वात्सल्यपूर्वक आत्मसात् करते ही चले गये। महावीर की ओर से कोई प्रतिरोध न पा कर गोशालक की क्रोधाग्नि अपने चरम पर पहुँच गई। हठात् उसका मणिचक्र फट पड़ा, और उसकी नाभि से अग्निलेश्या की सर्वलोक-दाहिनी महाकृत्या प्रकट हो उठी। गोशालक ने महावीर पर उसका प्रक्षेपण किया। पर वह उन्हे स्पर्श न कर सकी, उनकी तीन परिक्रमा दे कर वह प्रतिक्रमण करती हुई लौट कर गोशालक के भीतर ही प्रवेश कर गई।

उसके उपरान्त गोशालक के भयंकर आत्मदाह, सात दिन-रातों तक उसकी दहन-यातना, अन्तिम साँस तक उसके विद्रोही वाम दर्शन के उच्चार, और हालाहला की गोद में ही उसके अवसान, देवलोक-गमन तक की विशद् कथा तो यथा स्थान आलेखित है ही।

यहाँ दो बातें उल्लेख्य हैं। गोशालक जब अपने ही द्वारा प्रक्षेपित अग्निलेश्या की लपटों में जलने और छटपटाने लगा—तो महावीर ने उसे वचन दिया कि वे उसकी जलन, और नरक-यातनाओं में भी उसके साथ ही रहेंगे। दूसरे यह, कि जब हालाहला ने प्रभु को समर्पित होकर उनकी सती हो जाने की बिनती की, तो प्रभु ने उसे स्वीकार न किया। उन्होंने आदेश दिया, कि वह अन्त तक गोशालक के साथ उसकी भार्या और तदात्म सहधर्मचारिणी हो कर रहे। ये दोनों प्रसंग मेरे सृजनात्मक विज़न में से ही आविर्भूत और आविष्कृत विधायक प्रस्थापनाएँ हैं।

बिना मेरी किसी पूर्व अवधारणा के ही, सृजन के दौरान ही गोशालक का चरित्र अनायास आज के वाम विद्रोही, प्रक्रुद्ध युवा ( Angry young man ) के रूप में उभरता चला गया है। ठीक आज के मनुष्य के युगानुभव के अनुरूप ही गोशालक नियतिवादी है, अस्तित्ववादी है, नितान्त भौतिक भोगवादी है। आज के अस्तित्ववादी और निःसारतावादी (निहिलिस्ट) दर्शनों की अनिर्वार त्रासदी का वह एक ज्वलन्त उदाहरण और प्रवचनकार है। प्रभुवर्गों के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग की वह चूडान्त चीत्कार और दुर्दान्त क्रान्तिघोषणा है। विपथगामी वाम-शक्ति का न तो वह मूर्तिमान अवतार ही है। आज के मूलोच्चाटित, गृहहारा, सन्दर्भहीन निर्वंश हिप्पी का मानो वह पूर्वज प्रोटोटाइप-स्वरूप उत्कट उच्छृंखल अघोरी कापालिक है। और हिप्पियों की तरह ही कहीं गहरे में उसके भीतर एक अदम्य आत्म-काम और मुमुक्षा भी जागृत है। इस धरती के मांस-माटी के भीतर ही, इसके विषयानन्द के भीतर ही, वह मुक्त आत्मानन्द प्राप्त करना चाहता है।

इस कथानक के उपसंहार में, जब महावीर को गोशालक के देहान्त का सम्वाद मिला, तो प्रभु ने उसे एक महान और चरम स्वीकृति ही प्रदान की। उसकी उग्र तपस्या-वृत्ति, उसकी अनिर्वार ज्ञान-पिपासा, तथा उसकी आप्तकामी महावासना का उन्होंने अभिनन्दन किया। उसके वामशक्तिगत विद्रोह, और उसके प्रति-तीर्थंकरत्व के क्रान्तिकारी दावे की सचाई, औचित्य और न्याय्यता को भी महावीर ने स्वीकार किया। उसे अपने समय का एक प्रचण्ड प्रतिसूर्य माना। और अन्तत यह भी कहा कि—'आर्य मक्खलि गोशालक मेरे आगामी युग-तीर्थ की अनिवार्य वाम-शक्ति और ऐतिहासिक ऊर्जा के पूर्वाभासी ज्योतिर्धर थे।' इस तरह महावीर ने उन्हें अपना ही

अग्नि-पुत्र माना। और फिर कहा कि—"मेरे आगामी युग-तीर्थ मे मिट्टी की चिर अवहेलित प्यास जब चीत्कार कर उठेगी, तो उसका उत्तर गोशालक की राह ही महावीर से मिलेगा।"

इस प्रकार मेरे सृजनात्मक विज़न के वातायन पर, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही, हमारे समय की विद्रोही वाम शक्ति और मिट्टी की प्यास-पुकार को महावीर द्वारा स्वीकृति मिली थी। मेरे प्रभु ने हमारे युग के हर नकार को मान्यता दे कर, उसे अन्तिम सकार का ही एक अनिवार्य उपक्रम मान कर, एक विधायक स्वीकृति दी है। इसमे गोशालक की मूल आगमोक्त कथा का कोई विकृतन नहीं है, इतिहास पर कोई आरोपण भी नहीं है। केवल उसका गहन मर्मोद्घाटन है, प्रतीकात्मक व्याख्यान है, उसका तलगामी मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान, और उससे प्राप्त एक मौलिक सत्य-साक्षात्कार है। ऐसा न हो, तो फिर सृजन की क्या सार्थकता ? महावीर से यदि मेरे समय की चरम पुकार को उत्तर न मिल सके, तो आखिर मै महावीर का पुनरोद्घाटन ( Rediscovery ), और पुनर्सृजन करने का कष्ट ही क्यों करूँ ?

यहाँ जरा प्रसग से हट कर एक उल्लेख करना जरूरी है। हिन्दी मे भारतीय विद्याओ के विलक्षण मनीषी और मर्मज्ञ हैं श्री कुबेरनाथ राय। स्व० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० भगवतशरण उपाध्याय के बाद आज वे ही हमारे बीच प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अप्रतिम अभिनव व्याख्याता है। अपनी इस गोशालक कथा के चित्रण मे, श्री कुबेरनाथ के अक्षय्य ज्ञानकोश के स्रोतों से गोशालक सम्बन्धी जो दुर्लभ विवरण और पारिभाषिक पदावली का मूल्यवान लाभ मुझे मिला है, उसके लिए मैं उनका हृदय मे कृतज्ञ हूँ।

○ ○ ○

प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड के प्रथम सात अध्यायों का विस्तृत विवेचन कई अनिवार्य कारणों से करना पड़ा है। वर्तमान युग के सन्दर्भ मे कामतत्व, गृहयुद्ध, रक्त-क्रान्ति आदि का जो एक नव्यमान साक्षात्कार मुझे हुआ है, उसे रेखांकित करना मुझे जरूरी लगा। इतिहास की सीमा का अतिक्रमण करके आम्रपाली का जो एक नया विज़न मुझे मिला, उसका स्पष्टीकरण भी अनिवार्य था। इस आशय से कि इतिहास को मैंने तोडा-मरोडा या झुठलाया नही है, बल्कि उसे एक उच्चतर चेतनास्तर पर प्रस्तारित है ( Project ) और उत्क्रान्त किया है। इतिहासबोध आज केवल काल-क्रमिक और घटनामूलक विवरण मात्र नही रह गया है। गहराई और ऊँचाई के आयामो मे उसका एक काव्यात्मक और दार्शनिक रूपान्तर हुआ

है। उसमे काल और कालातीत का, भौतिक और परा‌भौतिक (मेटाफ़िजिकल) का एक विलक्षण और प्रत्ययकारी सामजस्य प्रकट हुआ है। आम्रपाली की अन्तर्गामी अन्तरिक्ष-यात्रा की फन्तासी, उसमे षट-चक्र-वेध, कुण्डलिनी-उत्थान आदि की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विनियोजन, तथा अन्य अनेक मिथकों और प्रतीको का जो नियोजन अनायास हुआ है, उस पर ध्यान खींचना भी आवश्यक लगा। उस काल के छह प्रमुख तीर्थकों की स्वतन्त्र विद्रोही चेतना का वर्तमान सन्दर्भ मे अवबोधन और व्याख्यायन, तथा गोशालक के रूप मे आज की वामशक्ति के प्रतिवाद, अस्तित्ववाद, भोगवाद आदि के एक सशक्त प्रतिनिधि का सृजनात्मक अवतरण भी एक अनोखी उपलब्धि हो गया है मेरे मन। इस कारण उस पर रोशनी डालने का लोभ भी मै सवरण न कर सका।

इन सात अध्यायो के बाद बीस कहानी-अध्याय लिखे गये है। हर कहानी अपने मे स्वतन्त्र है, पर केन्द्र मे कही वह महावीर से जुड़ी है। समग्रता मे वे इस वृहद् रचना के विविध आयामी अन्तरकक्ष है। इन कहानियो को लिख कर मुझे एक गहरे सन्तोष और परिपूर्ति की उल्लसित अनुभूति हुई है। पहली बात तो यह कि ये 'विशुद्ध कहानियाँ' हो सकी हैं। सीधे-सीधे सहज सरल ढग से कहानी कहते जाने की जो रवानी और तात्कालिकता (इमिजियेसी) इन कहानियो मे मुझ से बन आयी है, वह मेरे समूचे लेखन मे एक अगला कदम है, एक नयी रचना-भूमिका का आविष्कार है। बहुत हलके-फुलके, फूल-से खिलते-नाचते मन, और निहायत हलके हाथ से मैंने इन्हे लिखा है। जैसे नदी-तट पर बैठ कर अनायास ही उसकी तरगों से खेल रहा हूँ, और उनमे बहता भी जा रहा हूँ। यूँ तो सृजन-मात्र मेरे मन एक तरग-लीला ही है सहज लीला भाव से होने मे ही उसकी असली सार्थकता है। सृजन यो भी मेरे लिए कभी श्रम-साध्य नहीं रहा, सहज स्वाभाविक हो रहा, एक अजस्र स्फुरणा मे से वह यो बहता आया है, जैसे झरने के विस्फोट मे से नदी अपने आप बहती चली आती है। जैसे किसी इलहाम या 'ट्रान्स' मे से शब्द धारासार बरसते गये है, और आपोआप ही वे रचना मे विन्यस्त होते गये है।

मेरी ऐन्द्रिक चेतना बहुत तीव्र है, मेरी अनुभूति और सवेदना अत्यन्त भावाकुल और सकुल है। मेरे भाव-प्रवाह मे एक निर्बन्धन् वैपुल्य (Exuberation) और प्राचुर्य है। मुझ मे सृष्टि के एकाग्र समग्र भोग की एक प्रचण्ड वासना है, सवासना है, एक भयकर 'फोर्स' है, जो मुझे सदा पूर्ण से पूर्णतर आत्मकाम की तृप्ति के लिए बेचैन और अशान्त रखता है। मुझे वर्तमान जगत्-सृष्टि से सन्तोष नही मै उसे एक पूर्ण सत्य, सौन्दर्य और सम्वादिता (हार्मनी) मे रूपान्तरित पाने को निरन्तर व्याकुल रहता

*हूँ। मेरी कला मे इस सबकी तलछट तक अभिव्यक्ति न हो, तो मुझे चैन नहीं आता। मेरी भाविक-वैचारिक स्फुरणाएँ भी हर बार नव्य से नव्यतर स्रोतों से आती रही हैं। उन्हें कला मे रूपायित करने के लिए मुझे हर बार नायाब से नायाबतर मौलिक भाषा का आविष्कार करना पड़ता है। इसी वजह से मेरे यहाँ बेशुमार नये शब्द बने है। अपने स्वभाव की इस तीव्रता, विपुलता और सकुलता के चलते मेरी रचना-प्रक्रिया सदा बहुत जटिल रही है। अपने भाव-स्फोट को निःशेष अभिव्यक्ति देने की आकुलता के चलते, मैंने शब्द और भाषा की तमाम सम्भावना और ताकत को चुका दिया है। शब्द को मैने इतना अधिक और अतिक्रान्ति की हदों तक लिखा कि उसके मोह से अब मैं मुक्त और निर्वेद होता जा रहा हूँ।*

*मेरे लिए हर लेखन सदा रियाज़ रहा, बेहतर से बेहतरीन कथ्य और शिल्प के आविष्कार की एक प्रयोगशाला रहा। मेरा ध्यान उपलब्धि पर कभी न रहा, सदा नव्य से नव्यतर तलाश के उपक्रम और पराक्रम पर ही रहा। अपने हर लेखन से मैंने कुछ नया सीखा है, उससे चेतना मे एक नया विकास, आत्मा मे एक नया उत्थान और शिल्प मे कोई नवीनतर मूर्तन हुए बिना न रह सका है। 'अनुत्तर योगी' मे मेरी यह प्रवृत्ति चरम पर पहुँची है। सभी अर्थों मे अपना सर्वस्व मैंने इसमे निचोड़ दिया है। लेकिन जो विज़न, बोध, महाभाव और ज्ञान इस रचना मे आविर्भूत हुआ है, वह मेरे ही भीतर के, फिर भी मुझ से परे के किसी आन्तरिक पर पार ( Beyond within ) से आया है। वह मेरा कृतित्व नहो, परात्पर चैतन्य का प्रसाद है, अवतरण है। मैं स्वयम् भी 'अनुत्तर योगी' को बार-बार पढ कर हर बार उसमे से जैसे एक नवजन्म और नवोत्थान का बोध पाता हूँ। उसमे से जीने और रचने की अजस्र प्रेरणा, वासना और शक्ति प्राप्त करता हूँ।*

*'अनुत्तर योगी' मे विपुल मात्रा मे नाविन्य का सर्जन हुआ है। चेतना के अब तक अननुभूत, अप्रकाशित नव्य से नव्यतर प्रदेशों की खोज-यात्रा, और उनमे उत्तर कर मुक्त विहार करने का एक अकथ्य सुख मैंने पाया है। इसी कारण इस ग्रथ मे मेरा शाब्दिक और भाषिक बाहुल्य, वैविध्य, घनत्व और नाविन्य पराकाष्ठा पर पहुँचा है। फलतः इस रेचन से मैं बहुत हलका और भार-मुक्त हो गया हूँ। सृजनात्मक मुक्ति का ऐसा गहरा और शाश्वत आनन्द-बोध मुझे इससे पूर्व कभी न हुआ था। मानों कि भाषातीत होने की अनी पर जा खड़ा हुआ हूँ। इस रियाज़ मे मेरी भाषा उत्तरोत्तर विरलतर, महीनतर ( Finer ) और परिष्कृत होती गई है। एक निरायास भाव-संयम और शब्द-संयम भी किसी कदर आया है। लाघव का कौशल पहली बार मुझे किसी कदर हस्तगत हो सका है। एक 'क्लासीकल सिम्पलीसिटी' भी कई मुकामों पर उपलब्ध हो सकी है।*

ऊपर उल्लिखित ये बीस कहानियाँ, इसका एक साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। इनमें क़िस्सागोई या कथा-कथन का बहाव अनायास आया है, और इन्हें लिखते वक़्त एक अजीब मास्टरी और आत्म-प्रतीति का आनन्द मुझे बराबर मिलता रहा। समग्र 'अनुत्तर योगी' में, और ख़ास कर इन कहानियों में, मिथक और प्रतीक के अलावा, लोक-कथा, दृष्टान्त-कथा और दन्त-कथा, के परम्परागत सशक्त कथा-तत्वों का भी बड़ी ख़ूबसूरती से विनियोग हो सका है।

बचपन से ही सान्त, सीमित, भंगुर जगत् मुझे ठहराव या मुकाम न दे सका। मेरा बालक चित्त सदा अनन्त, असीम, विराट् और किसी अमर शाश्वती ( eternity ) के सपने देखता रहा, उसमें अपना घर मुकाम खोजता रहा। इसी कारण शुरू से ही मेरी रचना में एक कॉस्मिक विज़न का प्रकाश आये बिना न रह सका। इस पृथ्वी के वास्तविक यथार्थ से, मुझे उस कॉस्मिक भूमा का यथार्थ ही अधिक सत्य और स्थायी लगता रहा। मानों कि यहाँ का सब कुछ उसी की एक सीमित अवम्बिबित (deflected) अभिव्यक्ति मात्र है---दर्पण में दृश्यमान नगरी की तरह।

बचपन से ही शर्त लग गई थी, कि यदि मुझे जीना है, तो उस अनन्त-असीम को यहाँ के मेरे जीवन में मूर्त और लीलायमान होना पड़ेगा। उसके बिना मेरी महावासना को विराम, तृप्ति या चैन मिल नहीं सकता। अपनी इस अभीप्सा के चलते ही मेरा सृजन स्वप्न, फन्तासी और मिथक के शाश्वत और उत्तीर्ण माध्यमों से ही सम्भव हो सका। इसी से अपनी भुक्त त्रासदी (भोगे हुए यथार्थ) को रचना में उलीचना मुझे कभी रुचिकर न हुआ। उसे लिख कर उसे उभारना और समारोहित करना मुझे पराजय और विफलता को अंगीकार करना लगा। पर मेरी जीवन-वासना पराजय न स्वीकार सकी। वह मानवेतर चेतना-प्रदेशों में, आत्मा के गह्वरतम गोपन कक्षों में, एक पूर्ण और अनन्त जीवन के अमृत स्रोतों को खोजती चली गई।

अपने सृजनात्मक जीवन के इस छोर पर, हठात् मुझ में पुकार हुई कि, एक विराट् रचना की भूमा में मैं किसी अनन्त पुरुष का सृजन करूँ। लेकिन ऐसा पुरुष, जिसमें सीमित अपूर्ण मानव की सारी त्रासद सम्वेदनाओं का निविड़तम, तीव्रतम बोध भी हो, और जो ठीक उसी मुक़ाम पर, मनुष्य की सारी कमज़ोरियों और कमियों को ज्यों का त्यों स्वीकार-समेट कर सवेदनात्मक तीव्रता और सर्वभेदी वासना के ज़ोर से ही, सीमित मनुष्य को असीम की भूमा से जीवन्त और आपूरित कर दे। प्रसंगात् मैंने इसके लिए महावीर को चुना, या कि वही माध्यम मुझे मानो प्रदान किया गया।

महावीर पर अब तक कहीं कोई पुनर्सर्जनात्मक काम हुआ भी नहीं था। और जन्मजात जैन होने से महावीर के साथ मेरा कोई आन्तरिक सायुज्य भी रहा ही होगा। वैसे प्रकटतः कृष्ण ही सदा मेरे स्वप्न के महानायक रहे हैं।

लेकिन कठोर वीतरागी, दुर्दान्त विरागी महावीर को मैंने अपनी ही शर्तों पर रचा है, उनकी शर्तों पर नहीं। मैंने उन्हें उनके लिये, उनके पूजन-वन्दन् के लिए नहीं लिखा है, अपने ही लिए लिखा है, अपनी अनन्त वासना का उत्तर पाने के लिए लिखा है। और सचमुच चमत्कार घटित हुआ। महावीर मेरी शर्तों पर ही मेरे भीतर ढलते चले आये। मेरे जीवन की सारी द्वंद्वात्मक लीलाओं मे, वे द्वंद्वातीत प्रभु अनर्गल, अबाध, विवर्जित भाव से खेलते चले गये। मेरी सारी ऐन्द्रिक तीव्रताओं और मानवीय कामना-वासनाओं को उन्होंने नकारा नहीं, स्वीकारा, उन्हे आत्मसात् किया। विधि-निषेध का द्वंद्व ही मानों उन्होंने मुझ में से समाप्त कर दिया। एक ऐसा समुद्र, जो सतह पर समस्त वासना से उत्ताल तरंगित है, पर तल में ध्रुव निश्चल भी है, और अमर्याद होकर भी अपनी मर्यादा का वह स्वच्छन्द स्वामी है। ऐसी ही कोई जीवन्मुक्त सामुद्री चेतना मुझ मे अनायास आविर्भूत हो गई है। सान्त, सीमित और भंगुर मे, अनन्त-असीम-अमर-शाश्वत के सौन्दर्य, संवेदन और सम्वादिता (हार्मनी) को जीने की एक अजीब-परा-रासायनिक ( Alchemic ) अनुभूति मुझमे सदा सक्रिय रहती है।

इस तरह 'अनुत्तर योगी' मे अनन्त पुरुष, हमारे सान्त जीवन-जगत् मे सहज भावेन लीलायमान हुआ है। हमारी सारी वासना-कामनाओं को संपूर्ण वर्जनाहीन स्वीकृति देकर, उसने हम जहाँ हैं—उसी मुकाम से ऊपर उठा देने का एक अजीब करिश्मा कर दिखाया है। प्रस्तुत खण्ड के आम्रपाली वाले प्रकरण के दोनों अध्यायों मे, और बाद की इन बीस कहानियों मे भी महावीर का यह वर्जनाहीन सम्पूर्ण मानवीय स्वीकार अपनी परा सीमा पर मूर्त हो सका है।

अतिमानव ने यहाँ मानव होना स्वीकारा है। भगवान ने यहाँ इंसान को गलबाँही डालकर, उसके साथ उसके सारे अँधेरों और वासनाओं मे चलना, क़ुबूल फ़र्माया है।

मेरी एक कविता के उपसंहार मे यह बात बड़ी तीखी, तल्ख, गुस्ताख और निर्भीक भाषा मे व्यक्त हुई है :

**मेरी रचना का अनुत्तर योगी,**
**इस महानगर की अन्धी गलियों में**
**आवारागर्दी कर रहा है।**

**उसके पद-संचार से मदिरालय में,**
**मुक्ति का महोत्सव हो गया है :**
**वेश्यालयों में सौहाग-शैयाएँ बिछ गई है।**

**"कल रात 'डंकन रोड' की एक अन्धी कोठरी में**
**कुँवारी मरियम ने एक और ईसा को जन्म दिया है :**
**सिफ़लिस और सुज़ाक के कोढ़ी अँधेरों में**
**मनुष्य का सर्वहारा, विश्वाहारा बेटा अपनी मुक्ति खोज रहा है।**
**"और मेरे अनुत्तर योगी प्रभु**
**हर क़दम पर उसके साथ गलबाँही डाले चल रहे हैं।**

*मेरे महावीर अगर इस कदर दिन-रात मेरे भीतर जीते, चलते, बोलते, बरतते हुए, मेरे संग तदाकार न चलते होते, तो 'अनुत्तर योगी' की रचना करने का कष्ट उठाना मैं किसी भी शर्त पर मंजूर नहीं कर सकता था।*

२१ नवम्बर १९८१ **—वीरेन्द्रकुमार जैन**
गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड,
विलेपारले (पश्चिम); बम्बई-५६